हिन्दी

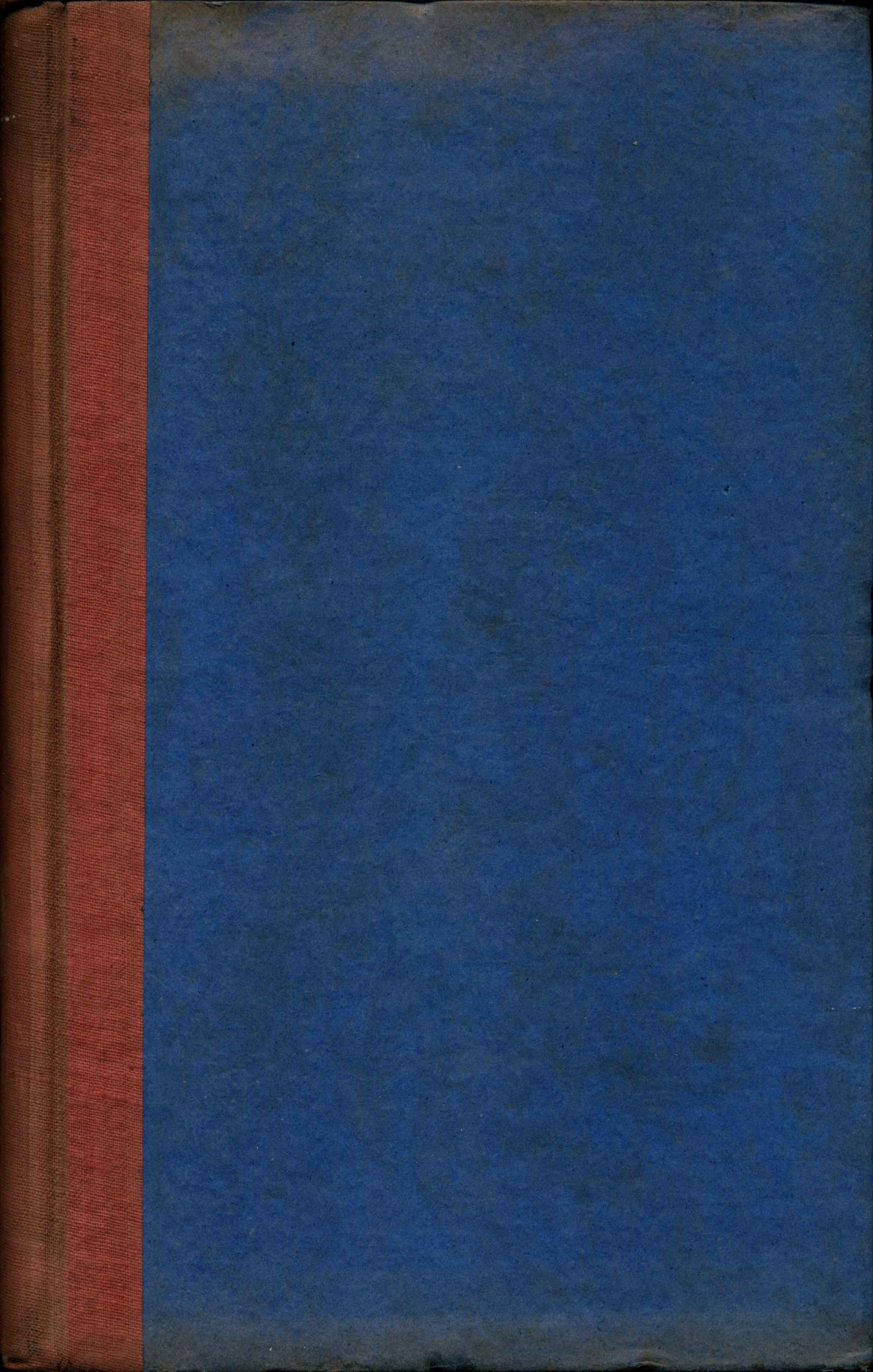
ध्वन्यालोक

ध्वन्यालोक की हिन्दी व्याख्या

व्याख्याकार
आचार्य विश्वेश्वर

सम्पादक
डा० नगेन्द्र

गौतम बुक डिपो दिल्ली



हिन्दी
ध्वन्यालोक

[ध्वन्यालोक की हिन्दी व्याख्या]

लेखक
आचार्य विश्वेश्वर सिद्धान्तशिरोमणि

●

सम्पादक
डा० नगेन्द्र एम०ए०, डी०लिट्०

प्रकाशक
गौतम बुक डिपो, दिल्ली।

प्रकाशक
गौतम बुक डिपो
नई सड़क, दिल्ली

प्रथम संस्करण
अगस्त १९५२
●
मूल्य १०)

मुद्रक
न्यू इण्डिया प्रेस
नई दिल्ली

जिनके श्रीचरणों में बैठ कर
विविध शास्त्रों के अध्ययन
एवं सूक्ष्म विवेचन का
सौभाग्य प्राप्त हुआ

जिनके शुभ आशीर्वाद ने
इस दुरूह ग्रन्थ के परिष्कार
की क्षमता प्रदान की

उन प्रातःस्मरणीय गुरुजनों के
कर-कमलों में,
या पुण्य स्मृति में,
गुरु पूर्णिमा सं० २००६ की
यह विनम्र भेंट
सादर समर्पित।

दो शब्द

राष्ट्र-भाषा हिन्दी की गौरव-वृद्धि के लिए जहाँ आधुनिक विषयों पर उच्च कोटि के नवीन ग्रन्थों के प्रकाशन की आवश्यकता है, वहाँ प्राचीन साहित्य, दर्शन आदि के सर्वोत्तम ग्रन्थों को हिन्दी-पाठक तक पहुंचाना भी आवश्यक है। इसी दृष्टि से संस्कृत साहित्य-शास्त्र के इस महत्वपूर्ण ग्रन्थ 'ध्वन्यालोक' की यह विस्तृत हिन्दी व्याख्या प्रस्तुत की जा रही है। 'ध्वन्यालोक' काव्य-दर्शन का ग्रन्थ है अतएव उसका शब्दानुवादमात्र यथेष्ट नहीं है—विषय के स्पष्टीकरण के लिए सर्वत्र ही व्याख्या भी अनिवार्य्य है। अतः 'हिन्दी ध्वन्यालोक' में शब्दानुवाद के अतिरिक्त प्रत्येक पारिभाषिक प्रसङ्ग की साङ्गोपाङ्ग व्याख्या भी कर दी गई है। स्वभावतः अनुवाद-भाग से व्याख्या-भाग का कलेवर कई गुणा होगया है और 'ध्वन्यालोक' की 'आलोक-दीपिका' एक प्रकार से एक मौलिक ग्रन्थ ही बन गई है।

यद्यपि 'हिन्दी ध्वन्यालोक' की रचना मुख्यतः हिन्दी के विद्वानों के लिए ही हुई है, फिर भी क्योंकि वह संस्कृत साहित्य का एक प्रौढ़ ग्रन्थ है इसलिए कठिन दार्शनिक विषयों की चर्चा भी अनेक स्थलों पर अनायास आ ही गई है। यह चर्चा, सम्भव है, हिन्दी के विद्वानों के लिए विशेष उपयोगी अथवा रुचिकर न हो, परन्तु हिन्दी व्याख्या के उपलब्ध होने पर संस्कृतज्ञ विद्वान् और संस्कृत के अधिकांश विद्यार्थी भी इससे लाभ उठाने का यत्न करेंगे ही—इस विचार से उनकी आवश्यकताओं को दृष्टि में रखते हुए यत्किञ्चित् कठिन शास्त्रीय मीमांसा को भी स्थान दे दिया गया है। वस्तुतः संस्कृत के इस युग-प्रवर्तक ग्रन्थ की व्याख्या में संस्कृत की मीमांसा-पद्धति का पूर्ण बहिष्कार सम्भव भी नहीं था।

ग्रन्थ के मुद्रण में इस बात का ध्यान रखा गया है कि जो लोग सरल रूप से केवल मूल ग्रन्थ का शब्दानुवाद पढ़ना चाहें उन्हें किसी प्रकार की कठिनाई न हो। इसके लिए शब्दानुवाद तथा व्याख्या भाग में अलग-अलग प्रकार के टाइपों का प्रयोग किया गया है। शब्दानुवाद को काले और शेष व्याख्या भाग को सफेद टाइप में छापा गया है। जो लोग केवल अनुवाद पढ़ना चाहें वह सफेद टाइप को छोड़ कर केवल काले टाइप में छपे अनुवाद भाग को पढ़ सकते हैं।

ग्रन्थ में आए हुए प्राकृत भाषा के उदाहरणों का छायानुवाद सुविधा की दृष्टि से उसके साथ ही दे दिया गया है। परन्तु सर्वत्र वह मूल ग्रन्थ का भाग नहीं है इसलिए उसे भिन्न प्रकार के इटैलिक टाइप में छापा गया है।

पुस्तक के प्रारम्भ में विषय-सूची एक विशेष क्रम के अनुसार दी गई है। मूल 'ध्वन्यालोक' और 'आलोकदीपिका' दोनों की विषय-सूची उसमें सम्मिलित है। उसमें पृष्ठ संख्या के अतिरिक्त कारिका संख्या का भी निर्देश किया गया है। एक कारिका के अन्तर्गत मूल तथा व्याख्या में जिन-जिन विषयों का प्रतिपादन हुआ है उनको पाठक सरलतापूर्वक जान सकेंगे। ग्रन्थ के अन्त में दो परिशिष्ट दिए हैं जिनमें से पहिले परिशिष्ट में अकारादि क्रम से कारिकाओं के आधे भागों की सूची है और दूसरे में ध्वन्यालोक में आए उदाहरण आदि की अकारादि क्रम से सूची है। उदाहरणों की सूची में उनके मूल ग्रन्थों का संकेत भी यथासम्भव कर दिया गया है।

इस ग्रन्थ के निर्माण की प्रेरणा का श्रेय मुख्यतः श्री डा० नगेन्द्र, साहित्याचार्य श्री० विश्वम्भरप्रसाद जी डबराल एम. ए., तथा मेरे स्नेह-भाजन प्रो० विजयेन्द्र स्नातक को है। इनकी प्रबल प्रेरणा एवं अनवरत आग्रह के वशीभूत होकर मुझे सन १९५१ के ग्रीष्मावकाश में ही अहर्निश परिश्रम कर इस ग्रन्थ को पूर्ण करना पड़ा। उनकी इस प्रेरणा ने न केवल इस ग्रन्थ की रचना के लिए ही मुझे उत्साहित किया अपितु मेरी चिरप्रसुप्त लेखन प्रवृत्ति को भी फिर से उद्‌बोधित कर दिया जिसके फलस्वरूप मैं लगभग एक वर्ष के स्वल्प काल में ही १. 'ध्वन्यालोक', २. 'न्यायकुसुमाञ्जलि', ३. 'तर्कभाषा', ४. 'नीति-शास्त्रम्, तथा ५. 'मनो-विज्ञान-शास्त्रम्' इन पांच ग्रन्थों के निर्माण में समर्थ हो सका। इसके लिए इन बन्धुओं का जितना आभार माना जाय थोड़ा है।

इन के साथ ही धन्यवाद के पात्र 'गौतम बुक डिपो, दिल्ली' के अध्यक्ष श्री दिलावरसिंह शर्मा हैं, जिन्होंने इस चिर-विक्रेय ग्रन्थ को प्रचुर धन-व्यय करके इस सुन्दर रूप में प्रकाशित करने का साहस किया है। इस सुन्दर रूप में ग्रन्थ को प्रकाशित करने में शर्मा जी ने जो श्लाघनीय साहस किया है उसके लिए वह हम सबकी बधाई के पात्र हैं।

श्री नगेन्द्र जी का आभार तो और भी अधिक है क्योंकि उन्होंने इस ग्रन्थ के प्रणयन और प्रकाशन में इतनी अधिक दिलचस्पी दिखाई है मानों यह उनकी ही अपनी कोई कृति हो। उन्होंने अत्यन्त अध्यवसायपूर्वक

इस ग्रन्थ की विस्तृत भूमिका लिखी है जिसमें पौरस्त्य और पाश्चात्य दोनों प्रकार की आलोचना-पद्धतियों का समन्वय करते हुए प्राचीन ध्वनि-सिद्धान्त का आधुनिक ढंग से व्याख्यान किया है। मुझे विश्वास है कि उन जैसे मर्मज्ञ आलोचक की भूमिका के साथ आज के पाठक को 'हिन्दी ध्वन्यालोक' और भी ग्राह्य हो सकेगा।

गुरुवर श्री काशीनाथ जी महाराज, श्री पं० हरिनाथ जी शास्त्री, श्री पं० रामसुख जी साहित्याचार्य एवं पूज्य श्री गोस्वामी दामोदरलाल जी महाराज जिन के चरणों में बैठ कर मुझे विविध शास्त्रों का अभ्यास एवं इस ग्रन्थ के अध्ययन का सौभाग्य प्राप्त हुआ था, आज इस संसार में नहीं हैं। यदि वे होते तो इस कृति को देखकर अत्यन्त प्रसन्न होते। आज गुरु-पूर्णिमा के इस शुभ अवसर पर उनके चरणों में न सही उनकी पुण्य स्मृति में ही इस ग्रन्थ को विद्वज्जनों के करकमलों में समर्पित करके—

"जातो ममायं विशदः प्रकामं प्रत्यर्पितन्यास इवान्तरात्मा ॥"

ग्रन्थ में सम्भवतः कुछ त्रुटियाँ रह गई हों, विद्वान् पाठक यदि उनका निर्देश करेंगे तो मुझ पर आभार होगा और अगले संस्करण में उनको दूर करने का यथाशक्ति प्रयत्न करूंगा।

गुरु-पूर्णिमा
सं० २००६

विश्वेश्वर
गुरुकुल विश्वविद्यालय, वृन्दावन

ध्वन्यालोक
तथा आलोकदीपिका की
विषय-सूची

प्रथम उद्योत
(पृ० १–६५ तक)

(अ) **मङ्गलाचरण** ३

मङ्गलाचरण की उपयोगिता। मङ्गलाचरण के तीन भेद। मङ्गल का कर्ता व्याख्याता श्रोता से सम्बन्ध।

१. **ध्वनि विषयक त्रिविध विप्रतिपत्ति तथा ग्रन्थारम्भ का प्रयोजन** [का० १] ५

ध्वनि विरोधी तीनों पक्षों का प्राचीन आधार। उन तीनों पक्षों का विपर्यय, सन्देह तथा अज्ञानमूलकत्व तथा उपादेयता तारतम्य।

अभाववादी (प्रथम) पक्ष के तीन भेद ६

(अ) गुणालङ्कारा व्यतिरिक्तत्व। (ब) प्रवादमात्रत्व। (स) गुणालङ्कारान्तर्भाव। अभाववादी पक्ष का श्लोक द्वारा उपसंहार।

भक्तिवादी (द्वितीय) पक्ष का निरूपण १२

'भक्ति' पद की चतुर्विध व्याख्या। लक्षणा और गुणवृत्ति विषयक मीमांसक मत। 'गुणवृत्ति' पद की शब्द, अर्थ तथा व्यापार परक त्रिविध व्याख्या। 'भाक्तमाहुस्तमन्ये' का सामानाधिकरण्य और उससे सूचित तादात्म्य का प्रयोजन।

अलक्षणीयतावादी (तृतीय) पक्ष १४

ध्वनि निरूपण का प्रयोजन — १४

प्रथम कारिका के पदों का पदकृत्य। रसध्वनि के प्राधान्य तथा ग्रन्थकार की प्रतिष्ठा की सूचना। 'लक्षयतां' पद की लोचन व्याख्या की आलोचना। अनुबन्ध चतुष्टय और उनका आधार। ध्वन्यालोक के अनुबन्ध चतुष्टय।

२. ध्वनि सिद्धान्त की भूमिका [का० २] — १७

द्वितीय कारिका की व्याख्या में साहित्यदर्पणकार विश्वनाथ की भ्रान्ति, उसका बीज और कारिका की व्याख्या का वैशिष्ट्य। प्रतीयमान अर्थ की अनपह्नवनीयता।

३. ग्रन्थ में वाच्य [अलङ्कारादि] के प्रतिपादन का अभाव [का० ३] — १८

वाच्य पद की अलङ्कारबोधकता।

४. प्रतीयमान अर्थ का वाच्यव्यतिरिक्तत्व [का० ४] — १९

प्रतीयमान अर्थ के वस्तु, अलङ्कार और रसादि रूप तीन भेद — २०

(प्रथम भेद) वस्तु ध्वनि की वाच्यभिन्नता के द्योतक पाँच उदाहरण — २०

वाच्य और व्यङ्ग्य के स्वरूप भेद प्रदर्शक चार उदाहरण। प्रथम उदाहरण में विध्यर्थ निरूपण। मीमांसकों की शाब्दी तथा आर्थी भावना। मीमांसक मत में प्रवर्तना का विध्यर्थत्व। प्रकृत में प्रतिप्रसव की विध्यर्थता। चतुर्थ उदाहरण की त्रिविध व्याख्या। विषय भेद परक पञ्चम उदाहरण। पञ्चम उदाहरण में वाच्य तथा व्यङ्ग्य अर्थों के विषय भेद का निरूपण।

(द्वितीय भेद) अलङ्कार ध्वनि की वाच्यभिन्नता का संकेत — २६

(तृतीय भेद) रसादि ध्वनि का वाच्यभिन्नत्व — २६

अभिधा शक्ति से व्यङ्ग्यबोध का निराकरण। अभिहितान्वयवाद में अभिमत तात्पर्याख्या शक्ति से व्यङ्ग्य-बोध का निराकरण। अन्विताभिधानवाद और व्यङ्ग्यार्थवाद। अभिहितान्वयवाद तथा अन्विताभिधानवाद का भेद। व्यङ्ग्यबोधक में उन दोनों की अक्षमता। अभिहितान्वयवाद तथा अन्विताभिधानवाद के प्रवर्तक भट्ट तथा प्रभाकर का परिचय। भट्ट लोल्लट का रस सिद्धान्त और उसकी आलोचना। धनञ्जय का प्रतीयमान अर्थ विषयक सिद्धान्त

और उसकी आलोचना। लक्षणा से प्रतीयमान अर्थ की प्रतीति का निराकरण। विशिष्ट लक्षणावाद का निराकरण। अखण्डार्थतावादी वेदान्तमत। अखण्डार्थतावादी वैयाकरण-मत। वाच्यार्थ व्यङ्ग्यार्थ का भेद। महिम भट्ट का अनुमितिवाद और उसका निराकरण।

५. **इतिहास द्वारा रस के काव्यात्मत्व का उपपादन [का० ५]** ४३
आदि कवि वाल्मीकि के श्लोक की ध्वन्यालोक तथा लोचन कृत व्याख्या में असङ्गति और उसके निराकरणार्थ विशेष व्याख्या।

६. **महाकवियों की प्रतिभा का द्योतक [का० ६]** ४५

७. **प्रतीयमान अर्थ का सहृदयसंवेद्यत्व [का० ७]** ४६
स्वर श्रुति आदि के लक्षण। प्रत्यभिज्ञा का लक्षण। श्री उत्पल-पादाचार्य का प्रत्यभिज्ञादर्शन।

८. **व्यङ्ग्य-व्यञ्जक की पहिचान आवश्यक [का० ८]** ४७

९. **व्यङ्ग्य का प्राधान्य होने पर भी वाचक के प्रथम उपादान करने का सहेतुक सदृष्टान्त उपपादन [का० ९]** ५०

१०. **व्यङ्ग्यार्थ का वाच्यार्थ प्रतीतिपूर्वकत्व [का० १०]** ५१
रस ध्वनि की असंलक्षक्रमव्यङ्ग्यता

११, १२. **वाच्य की प्रथम प्रतीति होने पर भी व्यङ्ग्यार्थ के प्राधान्य का उपपादन [का० ११, १२]** ५२
योग्यता, आकांक्षा, आसत्ति के लक्षण

१३. **ध्वनि काव्य का लक्षण [का० १३]** ५३
ध्वनि की गुणालङ्काररूपता का खण्डन। ध्वनि के अलङ्कारान्तर्भाव का निराकरण। समासोक्ति, आक्षेप आदि अलङ्कारों में व्यङ्ग्य की प्रतीति होने पर भी उसका प्राधान्य न होने से उन अलङ्कारों में ध्वनि के अन्तर्भाव का उदाहरण सहित निराकरण। इसके उपपादनार्थ उन अलङ्कारों का सोदाहरण विवेचन।

समासोक्ति में व्यङ्ग्य की अपेक्षा वाच्य के प्राधान्य का उपपादन ५६
समासोक्ति का भामह कृत लक्षण।

आक्षेप अलङ्कार में भी व्यङ्ग्य की अपेक्षा वाच्य के चारुत्व का उपपादन। ५९
आक्षेप अलङ्कार का भामहोक्त लक्षण। भामह तथा वामन के आक्षेप अलङ्कार की तुलना। वामन के आक्षेपालङ्कार और

नवीन आचार्यों के प्रतीपालङ्कार की तुलना। वामन के आक्षेपालङ्कार की भामह के समासोक्ति अलङ्कार से तुलना।

दीपक, अपन्हुति आदि में व्यङ्ग्य प्रतीत होने पर भी अविवक्षित होने से उसका अप्राधान्य ६१

भामह कृत दीपक के तीन भेद। अपन्हुति का भामहोक्त लक्षण।

अनुक्तनिमित्तक विशेषोक्ति अलङ्कार में व्यङ्ग्यकृत चारुत्व-प्रतीति का अभाव ६३

विशेषोक्ति का लक्षण और उसके तीन भेद।

पर्यायोक्त अलङ्कार में यदि व्यङ्ग्य का प्राधान्य भी हो तो उसका ध्वनि में अन्तर्भाव हो सकता है। ध्वनि का उस अलङ्कार में अन्तर्भाव नहीं हो सकता ६५

पर्यायोक्त अलङ्कार का भामह कृत लक्षण, उदाहरण और उसके व्यङ्ग्य की अप्रधानता।

अपन्हुति तथा दीपक अलङ्कारों में वाच्य के प्राधान्य का उपपादन ६५

सङ्करालङ्कार में उसका सङ्कर नाम ही व्यङ्ग्य की प्रधानता का निराकरण कर देता है फिर भी यदि कहीं प्राधान्य हो तो उसका ध्वनि में अन्तर्भाव हो सकता है। ध्वनि के महा विषय होने पर उसका अन्तर्भाव अलङ्कार में नहीं हो सकता है। इसका उपपादन ६८

सङ्करालङ्कार का लक्षण और नवीन आचार्यों द्वारा कृत तीन भेद। भामह एवं भट्टोद्भट कृत सङ्करालङ्कार के चार भेद और उनके उदाहरण। सङ्करालङ्कार में व्यङ्ग्य के सम्भावित प्राधान्य का उदाहरण।

अप्रस्तुतप्रशंसा अलङ्कार में ध्वनि के अन्तर्भाव का खण्डन ७२

अप्रस्तुतप्रशंसा अलङ्कार का लक्षण और उसके पाँच भेद। उनमें से पञ्चम भेद के तीन अवान्तर भेद। भामह कृत अप्रस्तुतप्रशंसा का लक्षण तथा उदाहरण। ध्वनि को अल-ङ्कारों में अन्तर्भाव मानने वाले पूर्वपक्ष के निराकरण का उपसंहार। ध्वनि के अभाववादी प्रथम पक्ष के तीनों अवान्तर पूर्वपक्षों के निराकरण का उपसंहार। ध्वनि शब्द के प्रयोग का ऐतिहासिक विवेचन। शब्द की उत्पत्ति और ज्ञान की

प्रक्रिया । वीचि-तरङ्ग-न्याय और कदम्ब-मुकुल-न्याय । स्फोट-वाद का परिचय । वैयाकरणों के ध्वनि शब्द का साहित्य-शास्त्र में प्रयोग का आधार । ध्वनि के अविवक्षितवाच्य तथा विवक्षितान्यपरवाच्य रूप दो भेद और उन दोनों के उदाहरण । ध्वनि विरोधी तीनों पक्षों का खण्डन किए बिना पहिले ही उसके विभाग करने लगने का उपपादन ।

१४. **ध्वनि विरोधी द्वितीय पक्ष भक्तिवाद का निराकरण [का० १४]** ८१

भक्तिवाद के तीन विकल्प—(अ) भक्ति तथा ध्वनि की पर्याय-रूपता, (ब) भक्ति का ध्वनि लक्षणत्व, (स) भक्ति ध्वनि का उपलक्षण । लक्षण, उपलक्षण, विशेषण का भेद । भक्ति को ध्वनि का लक्षण मानने में अतिव्याप्ति दोष के उपपादनार्थ ध्वनि के अभाव में भी भाक्त व्यवहार प्रदर्शक पाँच उदाहरण ।

१५. **उक्त उदाहरणों में भाक्त व्यवहार के होते हुए भी ध्वनि के अभाव के उपपादनार्थ ध्वनि विषय का निर्देश [का० १५]** ८६

१६. **रूढ़ि लक्षणास्थल में भक्ति या लक्षणा के होते हुए भी व्यङ्ग्य प्रयोजन का अभाव प्रदर्शन [का० १६]** ८६

१७. **प्रयोजनवती लक्षणा में व्यङ्ग्य प्रयोजन होने पर भी उस फल का लक्षणा से अगम्यत्व प्रदर्शन [का० १७]** ८७

रूढ़िलक्षणा, प्रयोजनवती लक्षणा अथवा विशिष्ट लक्षणा द्वारा प्रयोजन का बोध असम्भव होने से उसकी व्यङ्ग्यता अनिवार्य ।

१८ **भक्ति को ध्वनि का लक्षण मानने में अव्याप्ति दोष [का० १८]** ९१

लक्षणा तथा गौणी का भेद । अव्याप्ति दोष के समाधान का प्रयत्न और उसका निराकरण । रस ध्वनि के अनुमानगम्यत्व का निराकरण ।

१९. **भक्ति के कहीं उपलक्षण होने पर भी ध्वनि उसके अन्तर्गत नहीं [का० १९]** ९४

ध्वनि विरोधी तृतीय अलक्षणीयता पक्ष का निराकरण ।

द्वितीय उद्योत

[पृ० ६६—२१० तक]

१. **अविवक्षितवाच्य (लक्षणामूल) ध्वनि के अर्थान्तरसंक्रमित-वाच्य और अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य दो भेद [का० १]** ९६

अर्थान्तरसंक्रमितत्व तथा अत्यन्ततिरस्कृतत्व का आधार। अर्थान्तरसंक्रमित के दो उदाहरण। अत्यन्ततिरस्कृत वाच्य के दो उदाहरण।

२. **विवक्षितवाच्य (अभिधामूल) ध्वनि के असंलक्ष्यक्रम और संलक्ष्यक्रम व्यङ्ग्य दो भेद [का० २]** १०३

३. **असंलक्ष्यक्रम व्यङ्ग्य रसादि ध्वनि [का० ३]** १०४

रस प्रक्रिया। स्थायी भाव और उनके वर्गीकरण का आधार। आलम्बन और उद्दीपन विभाव। अनुभाव। व्यभिचारी भाव। रसास्वाद और रस संख्या। शान्त रस की स्थिति। रसानुभवकालीन चतुर्विध चित्तवृत्ति। रस-चतुष्टयवाद। भट्ट लोल्लट की आलोचना। श्री शङ्कुक का अनुमितिवाद। शङ्कुक के अनुमितिवाद की आलोचना। भट्ट नायक का भोजकत्ववाद और उसकी आलोचना। श्री अभिनवगुप्तपादाचार्य का अभिव्यक्तिवाद। अन्य मत। वाक्य रस। काव्य रस। भाव। रसाभास तथा भावाभास।

४. **रसवदलङ्कार से ध्वनि के भेद प्रदर्शनार्थ ध्वनि विषय का निर्देश [का० ४]** ११८

५. **रसवदलङ्कार और ध्वनि के भेद प्रदर्शनार्थ रसवदलङ्कार का विषय निर्देश [का० ५]** ११९

शुद्ध रसवदलङ्कार का उदाहरण। सङ्कीर्ण रसवदलङ्कार का उदाहरण। ध्वनि तथा रसवदलङ्कार का विषय भेद। रसों का परस्पर विरोधाविरोध। विरोधी रसों के अविरोध सम्पादन का उपाय। खण्डरस या सञ्चारी रस। रसवदलङ्कार विषयक मत-भेद। रसवदलङ्कार तथा गुणीभूत व्यङ्ग्य। ध्वनि, उपमादि तथा रसवदलङ्कार। अन्यों के मत में चेतन व्यापार में ही रसवदलङ्कार मानने पर अचेतन वर्णन परक काव्य की नीरसत्व प्रसक्ति। इस प्रकार के तीन उदाहरण जिनमें रसानुभूति होते

हुए भी अचेतन वस्तु वर्णन परक होने से नीरसत्व प्राप्त होता है। अतएव रसादि की अङ्गता में रसवदलङ्कारत्व तथा उनकी प्रधानता में ध्वनित्व का सिद्धान्त।

६. **गुण तथा अलङ्कारों का अलङ्कार्य ध्वनि से तथा परस्पर भेद प्रदर्शन [का० ६]** १३०
सिद्धान्त पक्ष। वामन मत। भामह मत। नव्य मत।

७. **माधुर्य गुण का प्रधान विषय शृङ्गार [का० ७]** १३२
एवकारस्त्रिधा मतः।

८. **सम्भोग, विप्रलम्भ शृङ्गार और करुण रस में माधुर्य का उत्तरोत्तर उत्कर्ष [का० ८]** १३४
प्राचीन दश गुणों का तीन गुणों में अन्तर्भाव प्रदर्शक चित्र।

९. **रौद्रादि रसों में ओज की स्थिति [का० ९]** १३६
दीर्घ समास वाली रचना से युक्त ओजः प्रकाशक उदाहरण। दीर्घ समासादि रहित ओजः प्रकाशक उदाहरण।

१०. **प्रसाद गुण का सर्वरससाधारणत्व [का० १०]** १३८

११. **श्रुतिदुष्टादि अनित्य दोषों का शृङ्गार में हेयत्व प्रतिपादन [का० ११]** १३९

१२. **रसादि ध्वनि के भेदों का आनन्त्य [का० १२]** १४०
सम्भोग शृङ्गार तथा विप्रलम्भ शृङ्गार के अवान्तर भेदों का प्रतिपादन।

१३. **दिङ्मात्र प्रदर्शन [का० १३]** १४१

१४. **शृङ्गार में अनुप्रास का व्यञ्जकत्वाभाव [का० १४]** १४२

१५. **शृङ्गार में और विशेषतः विप्रलम्भ शृङ्गार में यमकादि का प्रतिषेध [का० १५]** १४२
आदि शब्द के चार अर्थ। आदि पद से ग्राह्य सभङ्ग, अभङ्ग श्लेष।

१६. **शृङ्गारादि में अपृथग्यत्नसम्पाद्य अलङ्कार ही प्रयुक्त होना चाहिए [का० १६]** १४५
अपृथग्यत्ननिर्वर्त्य अलङ्कार का उदाहरण। इसी विषय के संग्रह श्लोक।

१७. **शृङ्गारादि में समीक्ष्य विनिवेशित रूपकादि ही वस्तुतः अलङ्कार होते हैं [का० १७]** १४९

१६. अलङ्कारों के सन्निवेश की समीक्षा का प्रकार [का० १८,१६] १५०
तत्परत्वेन विवक्षा का उदाहरण। नाङ्गित्वेन का उदाहरण। अवसर पर ग्रहण का उदाहरण। अवसर पर परित्याग का उदाहरण। सङ्कर तथा संसृष्टि का विषय-भेद। नातिनिर्वहरणैषिता का उदाहरण। अत्यन्त निर्वाह होने पर यत्नपूर्वक अलङ्कार के अङ्गत्व का उदाहरण।

२०. संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य के शब्दशक्त्युत्थ तथा अर्थशक्त्युत्थ भेद [का० २०] १६२

२१. शब्दशक्त्युद्भव ध्वनि [का० २१] १६३
शब्दशक्त्युद्भव ध्वनि तथा श्लेष। अलङ्कार की विषय-व्यवस्था। अलङ्कारान्तर की वाच्यता में श्लेष और व्यङ्ग्यता में ध्वनि व्यवस्था। शब्द शक्ति से अलङ्कारान्तर की वाच्यता के ४ उदाहरण, जिनमें द्वितीयार्थ के अभिधा से बोध होने का साधक प्रमाण है। अभिधा नियामक हेतु के, प्रबलतर बाधकवश अकिञ्चित्कर हो जाने से अर्थान्तर की वाच्यता का १ उदाहरण। शब्दशक्त्युद्भव ध्वनि के उदाहरण। द्वितीयार्थ प्रतीति के विषय में तीन सिद्धान्त। शब्दशक्तिमूल उपमा ध्वनि का १ और उदाहरण। शब्दशक्तिमूल विरोधालङ्कार ध्वनि के ३ उदाहरण। शब्दशक्तिमूल व्यतिरेकालङ्कार ध्वनि का उदाहरण।

२२. अर्थशक्त्युद्भव ध्वनि [का० २२] १८०
अर्थशक्त्युद्भव संलक्ष्यक्रम व्यङ्ग्य का उदाहरण। असंलक्ष्यक्रम व्यङ्ग्य से इसका भेद। उक्ति निवेदित वाच्य सिद्धयङ्ग व्यङ्ग्य। इस ध्वनि का विषय नहीं होता, इसका उदाहरण।

२३. स्व शब्द से निवेदित अर्थ, शब्दशक्त्युद्भव अथवा अर्थशक्त्युद्भव ध्वनि नहीं रहता, वाच्य सिद्धयङ्ग गुणीभूत व्यङ्ग्य हो जाता है [का० २३] १८४
शब्दशक्त्युद्भव का उदाहरण। अर्थशक्त्युद्भव का उदाहरण।

२४. अर्थशक्त्युद्भव ध्वनि के स्वतःसम्भवी तथा प्रौढ़ोक्ति सिद्ध भेद [का० २४] १८६
कविप्रौढ़ोक्तिसिद्ध वस्तुध्वनि का उदाहरण। कविनिबद्ध-प्रौढ़ोक्तिसिद्ध वस्तुध्वनि के उदाहरण का संकेत। स्वतःसम्भवी वस्तुध्वनि के २ उदाहरण।

२५. **अर्थशक्त्युद्भव अलङ्कार ध्वनि [का० २५]** १६०

२६. **अलङ्कार ध्वनि की बहुविषयता [का० २६]** १६१

२७. **अलङ्कार के व्यङ्ग्य होने पर भी, वाच्य के व्यङ्ग्यपरक होने पर ध्वनि नहीं [का० २७]** १६१

इसका उदाहरण। वाच्य अलङ्कार के व्यङ्ग्यपर होने पर ही ध्वनि व्यवहार के रूपक ध्वनि के २ उदाहरण। उपमा ध्वनि के २ उदाहरण। आक्षेप ध्वनि का उदाहरण। शब्दशक्तिमूल अर्थान्तरन्यास ध्वनि का उदाहरण। अर्थशक्तिमूल अर्थान्तरन्यास ध्वनि का उदाहरण। शब्दशक्तिमूल व्यतिरेक ध्वनि का उदाहरण। उत्प्रेक्षा ध्वनि का उदाहरण। उत्प्रेक्षा वाचक शब्दों के अभाव में भी उत्प्रेक्षा के समर्थक दो उदाहरण। अर्थशक्त्युद्भव श्लेष ध्वनि का उदाहरण।

२८. **ध्वन्यङ्गता से अलङ्कारों का चारुत्वोत्कर्ष [का० २८]** २०४

२९. **वस्तु से अलङ्कार व्यङ्ग्य होने पर ध्वनित्व [का० २९]** २०४

३०. **अलङ्कार से अलङ्कार व्यङ्ग्य होने पर ध्वनित्व [का० ३०]** २०५

३१. **ध्वन्याभास या गुणीभूतव्यङ्ग्य [का० ३१]** २०६

ध्वन्याभास के दो उदाहरण। वाच्यार्थ के पुनः प्रतीयमान का अङ्ग होने पर ध्वनित्व ही होता है इसका, उदाहरण।

३२. **अविवक्षित वाच्य [लक्षणामूल] ध्वनि का [गुणीभूत व्यङ्ग्यत्व] आभासत्व [का० ३२]** २०६

३३. **केवल व्यङ्ग्य प्राधान्य ही ध्वनि का लक्षण [का० ३३]** २१०

तृतीय उद्योत

[पृ० २११—३४०]

१. **अविवक्षित वाच्य [२ भेद] और विवक्षित वाच्य के संलक्ष्यक्रम व्यङ्ग्य [१५ भेद] की पदप्रकाशता तथा वाक्यप्रकाशता रूप दो भेद [का० १]** २११

अविवक्षित वाच्य के अत्यन्त तिरस्कृत वाच्य भेद की पद प्रकाशता के ३ उदाहरण। अविवक्षित वाच्य के अर्थान्तर संक्रमित वाच्य भेद की पद प्रकाशता के २ उदाहरण। अविवक्षित के अत्यन्त-

तिरस्कृत वाच्य भेद की वाक्यप्रकाशता का एक उदाहरण। अविवक्षित के अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य की वाक्यप्रकाशता का उदाहरण। विवक्षितवाच्य के शब्दशक्त्युद्भव भेद में पदप्रकाशता का उदाहरण। विवक्षितवाच्य के शब्दशक्त्युद्भव भेद में वाक्यप्रकाशता का उदाहरण। विवक्षितवाच्य के अर्थशक्त्युद्भव भेद के अन्तर्गत कविप्रौढ़ोक्तिसिद्ध प्रभेद की पदप्रकाशता का उदाहरण। विवक्षितवाच्य के अर्थशक्त्युद्भव भेद के अन्तर्गत कविप्रौढ़ोक्तिसिद्ध भेद की वाक्यप्रकाशता का उदाहरण। विवक्षितवाच्य के अर्थशक्त्युद्भव भेद के अन्तर्गत स्वतःसम्भवी की पदप्रकाशता का उदाहरण। विवक्षितवाच्य के अर्थशक्त्युद्भव भेद के अन्तर्गत स्वतःसम्भवी की वाक्यप्रकाशता का उदाहरण। ध्वनि की पदप्रकाशता का उपपादन।

२. असंलक्ष्यक्रम व्यङ्ग्य के प्रकाशक के चार भेद [का० २] २२४

३-४. वर्णों की रसद्योतकता [का० ३-४] २२५

पदों की असंलक्ष्यक्रम रसद्योतकता का उदाहरण। पदावयव की रसद्योतकता का उदाहरण। वाक्यप्रकाश असंलक्ष्यक्रम व्यङ्ग्य के शुद्ध तथा सङ्कीर्ण भेदों के उदाहरण।

५. त्रिविध संघटना [का० ५] २२६

रीति, सङ्घटना, मार्ग शैली का ऐतिहासिक विश्लेषण।

६. संघटना की रसव्यञ्जकता [का० ६] २३१-२४३

सङ्घटना तथा गुणों के सम्बन्ध विषयक तीन मत। गुण तथा सङ्घटना का अभेदवादी वामन मत। गुण तथा सङ्घटना के भेदवादी पक्ष में गुणों को सङ्घटनाश्रित मानने वाला भट्टोद्भट मत। सङ्घटना को गुणाश्रित मानने वाला सिद्धान्त पक्ष। वामन तथा उद्भट के प्रथम तथा द्वितीय मत में गुणों के विषय नियम का व्यभिचार दोष। उसके उपपादन के लिए शृङ्गार में दीर्घसमासा रचना के दो उदाहरण। तथा रौद्र में असमासा रचना के दो उदाहरण। गुणों के सङ्घटनास्वरूपत्व तथा सङ्घटनाश्रयत्व का खण्डन तथा रसाश्रितत्व का समर्थन। गुणों के शब्दाश्रितत्व का वैकल्पिक समाधान और शब्दालङ्कारों से गुणों का भेद। ओज गुण का अनियत सङ्घटनाश्रितत्व। अव्युत्पत्तिकृत दोष कवि की

प्रतिभा के बल से दब जाता है। सङ्घटना का नियामक वक्ता, वाच्य आदि का औचित्य। कवि या कविनिबद्ध वक्ता के रसभाव-रहित होने पर रचना का कामाचार, रसभाव समन्वित होने पर सङ्घटना का नियम। प्रसाद गुण का सर्वरससाधारणत्व।

७. **रचना का नियामक विषयाश्रित औचित्य [का० ७]** २४८

काव्य के प्रबन्ध, मुक्तक, आदि भेद। पर्यायबन्ध आदि भेदों में रचना के नियम।

८. **पद्यात्मक काव्यों के नियामक औचित्य ही, गद्य रचना के भी नियामक [का० ८]** २५४

९. **रसबन्धोक्त औचित्य में, विषय भेद से किञ्चित् परिवर्तन [का० ९]** २५४

१०-१४. **प्रबन्ध में असंलक्ष्यक्रम रसादि ध्वनि के व्यञ्जकत्व के पाँच प्रकार [का० १०-१४]** २५६-२५७

दिव्य, मानुष्य, उत्तम, मध्यम प्रकृति के पात्रों के अनुरूप स्थायी-भावों का वर्णन ही विभावादि का औचित्य है। उत्तम प्रकृति के नायक आदि के ग्राम्य शृङ्गार वर्णन का निषेध। ऐतिहासिक कथा में भी रस के अनुरूप परिवर्तन करने की अनुमति। नाटक आदि में भी केवल शास्त्रीय मर्यादा के पालन के लिए सन्ध्यङ्गादि रचना का निषेध। अवसर पर रसों का उचित उद्दीपन और प्रकाशन तथा अलङ्कारों के अतिशय प्रयोग का निषेध।

१५ **संलक्ष्यक्रम व्यङ्ग्य ध्वनि से भी असंलक्ष्यक्रम व्यङ्ग्य रसादि ध्वनि अभिव्यक्त होती है [का० १५]** २६७

इसके चार उदाहरण।

१६. **सुप्, तिङ्, वचन, कृत्, तद्धित, समास, कारक आदि से रसादि की प्रकाशता [का० १६]** २७०

सुबादि के व्यञ्जकत्व के १६ उदाहरण। शब्दों के रस व्यञ्जकत्व का उपपादन। प्रबन्ध तथा मुक्तकों में रसबन्धार्थ।

१७. **रस विरोधियों के परिहार की आवश्यकता [का० १७]** २८८

१८-१९. **पांच प्रकार के रस विरोधी तत्त्व [का० १८-१९]** २८९

२०. **विरोधी रसों अथवा रसाङ्गों के सह सन्निवेश के दो नियम [का० २०]** २९६

विप्रलम्भ शृङ्गार में मरण की अङ्गता का विवेचन। बाध्यत्वेन

विरोधी रस के सह समावेश के २ उदाहरण। स्वाभाविक और समारोपित अङ्गभाव प्राप्ति के उदाहरण। दो विरोधी रसाङ्गों की तीसरे प्रधान रस के अङ्ग रूप में वर्णन की अदोषता। अनुवादांश में विरोध की अदोषता। नाटक में विरुद्ध रसाङ्गों के अभिनय का प्रकार। स्मर्यमाण विरोधी रसाङ्गों की अदोषता।

२१ **एक रस की प्रधानता अविरोध का मुख्य उपाय [का० २१]** ३१२

२२. **अनेक रसों में एक की अङ्गिता का उपपादन [का० २२]** ३१३

२३. **प्रधान रस का अन्य रसों द्वारा पोषण [का० २३]** ३१३

२४. **रस विरोध के परिहार का द्वितीय उपाय, विरोधी रस के परिपोषण का अभाव [का० २४]** ३१६

२५. **रस विरोध परिहार का तृतीय उपाय एकाश्रय विरोधी का भिन्नाश्रयत्व [का० २५]** ३२१

२६. **विरोधी रसों के बीच में दोनों के अविरोधी रस से व्यवधान चतुर्थ प्रकार [का० २६]** ३२३

२७. **रसान्तर से व्यवधान होने पर विरोधी रसों का अविरोध [का० २७]** ३२६

२८. **रसों के विरोधाविरोध का उपसंहार [का० २८]** ३२७

२९. **शृङ्गार में विरोध परिहार अनिवार्य [का० २९]** ३२८

३०. **विरोधी रसों में भी शृङ्गार का पुट सम्भव [का० ३०]** ३२८

३१. **विरोधाविरोध के ज्ञान से व्यामोहाभाव [का० ३१]** ३३१

३२. **रसानुगुण शब्दार्थ योजना कवि का मुख्य कर्म [का० ३२]** ३३१

३३. **द्विविध वृत्तियां [का० ३३]** ३३२

वाच्य और व्यङ्ग्य की सहप्रतीति का पूर्वपक्ष और उसका समाधान। वाच्य और व्यङ्ग्य प्रतीति में क्रम का उपपादन। व्यञ्जकत्व के विपरीत मीमांसक आदि का पूर्वपक्ष और उसका समाधान। अभिधा और व्यञ्जना का कार्यभेद। अभिधा और व्यञ्जना का रूप भेद। पदार्थ-वाक्यार्थ-न्याय के खण्डन द्वारा तात्पर्यशक्ति से व्यञ्जना का भेद निरूपण। गुण प्रधान भेद तथा आश्रय भेद से वाच्य और व्यङ्ग्य का भेद। 'अभिधा' और गुणवृत्ति लक्षणा का रूप भेद से भेद। अभिधा और लक्षणा का विषय भेद। अभिधा, लक्षणा व्यञ्जना तीन शक्तियों की स्थापना। अविवक्षित वाच्य ध्वनि का गुणवृत्ति लक्षणा से

अभेद का पूर्वपक्ष। इसका समाधान। गुणवृत्ति और व्यञ्जकत्व का भेद। वाचकत्व व्यञ्जकत्व का स्वाभाविकत्व तथा औपाधिकत्व कृत भेद। लिङ्गत्व न्याय से अभिधा व्यञ्जना का भेद। शब्दार्थ का नित्य सम्बन्ध मानने वाले मीमांसक के मत में भी व्यञ्जकत्व रूप औपाधिक सम्बन्ध का उपपादन। मीमांसक मत में व्यञ्जकत्व का अविरोध। वैयाकरण तथा नैयायिक मत में व्यञ्जकत्व का अविरोध। व्यङ्ग्य की अनुमेयता विषयक पूर्वपक्ष। उसका १ प्रौढ़िवाद से और २ यथार्थ उत्तर। शब्दों का अनुमेय तथा प्रतिपाद्य द्विविध विषय। प्रतिपाद्य विषय के वाच्य और व्यङ्ग्य दो भेद। व्यङ्ग्यार्थ का शब्द सम्बधित्व। व्यञ्जकत्व का लिङ्गत्व अनावश्यक। स्वतः परतः प्रामाण्य वाद।

३४. अनुमेय अभिप्राय आदि व्यङ्ग्य ध्वनि नहीं। ध्वनि का उपसंहार [का० ३४] ३८८

३५. गुणीभूत व्यङ्ग्य [का० ३५] ३८९

३६. गुणीभूत व्यङ्ग्य की उपादेयता [का० ३६] ३९२

३७. व्यङ्ग्य के संस्पर्श से वाच्य का चारुत्व [का० ३७] ३९३

अतिशयोक्ति से वाच्यालङ्कार चारुत्व। अलङ्कारों की गुणीभूत व्यङ्ग्यता के नियम।

३८. प्रतीयमान काव्य का भूषण [का० ३८] ४०३

३९. काकु से प्रकाशित गुणीभूत व्यङ्ग्य [का० ३९] ४०४

४०. गुणीभूत व्यङ्ग्य में ध्वनि योजना का निषेध [का० ४०] ४०७

४१ गुणीभूत व्यङ्ग्य की भी रसादि की आलोचना से ध्वनिरूपता सम्भव [का० ४१] ४०९

प्राधान्याप्राधान्य विवेक के अभाव में भ्रान्ति के उदाहरण। अप्रस्तुतप्रशंसा में वाच्य के विवक्षित, अविवक्षित, विवक्षिताविवक्षित होने के उदाहरण।

४२-४३. चित्र काव्य का लक्षण [का० ४२-४३] ४१८

चित्र काव्य की स्थिति और उसके अधिकारी की व्यवस्था।

४४. सङ्कर संसृष्टि में ध्वनि के भेद [का० ४४] ४२४

लोचनकार के अनुसार ३५ ध्वनि भेद। काव्यप्रकाशकृत ५१ ध्वनि भेद। लोचन तथा काव्यप्रकाश के भेदों की तुलना।

संसृष्टि सङ्कर भेद से लोचन की गणना । लोचन की एक और चिन्त्य गणना । काव्यप्रकाश तथा साहित्यदर्पण की गणना । गुणन-प्रक्रिया । सङ्कलन-प्रक्रिया । साहित्यदर्पण की सङ्कलन प्रक्रिया की शैली । सङ्कलन की लघु प्रक्रिया । काव्यप्रकाश की द्विविध शैली का कारण । स्वप्रभेद सङ्कीर्ण, स्वप्रभेद संसृष्ट, गुणीभूत व्यङ्गच सङ्कीर्ण, गुणीभूत व्यङ्गच संसृष्ट, वाच्यालङ्कार सङ्कीर्ण, वाच्यालङ्कार संसृष्ट, संसृष्टालङ्कार सङ्कीर्ण, संसृष्टालङ्कार संसृष्ट ध्वनि के ८ उदाहरण ।

४५. **ध्वनि के भेद-प्रभेदों की गणना अशक्य होने से यह दिङ्मात्र प्रदर्शन है [का० ४५]** ४४७

४६. **सत्काव्य के करने या समझने के लिए ध्वनितत्व का परिज्ञान आवश्यक है [का० ४६]** ४४७

४७. **ध्वनितत्व को स्पष्ट रूप में न समझने के कारण ही पूर्वाचार्यों ने 'रीतियां' प्रवृत्त कीं [का० ४७]** ४४७

४८. **ध्वनि में ही वृत्तियों का अन्तर्भाव [का० ४८]** ४४६

वामनाभिमत उपनागरिका आदि शब्दाश्रित, तथा भरताभिमत कैशिकी आदि वृत्तियों का ध्वनि में अन्तर्भाव । ध्वनि के अलक्षणीयत्व या अनाख्येयत्व का निराकरण । ध्वनि लक्षण का उपसंहार ।

चतुर्थ उद्योत

[पृ० ४५४ से ४६१ तक]

१. **ध्वनि तथा गुणीभूत व्यङ्गच से प्रतिभा का आनन्त्य [का० १]** ४५४

२. **ध्वनि संस्पर्श से पुरातन विषयों में नूतनता का संचार [का० २]** ४५५

अविवक्षित वाच्य के अत्यन्त तिरस्कृत वाच्य तथा अर्थान्तिर संक्रमित वाच्य ध्वनि भेदों के सम्पर्क से पुराने विषय में अपूर्वता संचार के तुलनात्मक दो उदाहरण । असंलक्ष्य व्यङ्गच के संस्पर्श में अपूर्वता संचार के दो उदाहरण ।

३. **इसी प्रकार से रसादि का अनुसरण [का० ३]** ४५६

४. **रस के संस्पर्श से अर्थों की अपूर्वता [का० ४]** ४६१

शब्दशक्त्युद्भव ध्वनि, अर्थशक्त्युद्भव ध्वनि, कविप्रौढ़ोक्तिसिद्ध तथा कवि निवद्धवक्तृप्रौढ़ोक्तिसिद्ध के संस्पर्श से अपूर्वत्व के चार उदाहरण।

५. अनेक प्रकार के व्यङ्ग्यों में से रस की प्रधानता [का० ५] ४६५

प्रबन्ध काव्य में एक ही मुख्य रस होना चाहिए। रामायण में करुण रस की मुख्यता। महाभारत में शान्त रस तथा मोक्षरूप पुरुषार्थ की मुख्यता। इस विषय पर पूर्वपक्ष और उसका समाधान।

६. ध्वनि तथा गुणीभूत व्यङ्ग्य के सम्बन्ध से काव्यार्थ की अनन्तता [का० ६] ४७३

७. वाच्यार्थ से भी अर्थ का आनन्त्य [का० ७] ४७४

अवस्थाभेद से एक ही अर्थ के नूतनत्व का उदाहरण। अचेतन में चेतनारोप से नूतनत्व। देशभेद तथा कालभेद पर ही अर्थ का नानात्व। इस विषय में पूर्वपक्ष और उसका समाधान।

८-१०. अवस्था, देश, कालादि भेद से रसानुकूल रचना का आनन्त्य [का० ८, ९, १०] ४८३

११. अन्यों के साथ विषयों का सादृश्य कवि के लिए दोषाधायक नहीं [का० ११] ४८४

१२. प्रतिबिम्बवत्, आलेख्यवत्, तुल्यदेहिवत् त्रिविध सादृश्य [का० १२] ४८५

१३. प्रथम दो सादृश्य हेय, तृतीय उपादेय [का० १३] ४८५

१४. चन्द्र के सादृश्ययुक्त मुख के सौन्दर्य के समान सादृश्य होने पर भी काव्य सौन्दर्य सम्भव [का० १४] ४८६

१५. अक्षरयोजना से विविध वाङ्मय के समान परिमित अर्थों से अपरिमित काव्य [का० १५] ४८७

१६. पूर्वच्छाया से अनुगत होने पर भी सुन्दर वस्तु की रचना अनुचित नहीं [का० १६] ४८८

१७. स्वयं सरस्वती कवि की सहायक [का० १७] ४८९

उपसंहार के दो श्लोक। ४९१

—भूमिका—

ध्वनि सिद्धान्त

ले० डा० नगेन्द्र

ध्वनि-सिद्धांत (भूमिका)

१. पूर्ववृत्त [ध्वनि सम्प्रदाय का संक्षिप्त इतिहास]

२. ध्वनि का अर्थ और परिभाषा

३. ध्वनि की प्रेरणा—स्फोट सिद्धांत

४. ध्वनि की स्थापना
   [क] व्यञ्जना का आधार
   [ख] ध्वनि के विरोधी

५. काव्यत्व का अधिवास : वाच्यार्थ में या व्यङ्गयार्थ में ?– आचार्य शुक्ल के मत की आलोचना।

६. ध्वनि के भेद—ध्वनि की व्यापकता।

७. ध्वनि और रस

८. ध्वनि के अनुसार काव्य के भेद

९. ध्वनि में अन्य सिद्धांतों का समाहार

१०. ध्वनि और पाश्चात्य साहित्य
   [क] ध्वनि का मनोवैज्ञानिक विवेचन
   [ख] पाश्चात्य काव्य-शास्त्र में ध्वनि की प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष स्वीकृति : तद्विषयक संकेतों का विश्लेषण
   [प्लेटो से लेकर अधुनातन आचार्यों तक]

११. हिन्दी में ध्वनि-सिद्धांत की मान्यता।
   [प्राचीन तथा नवीन काव्य एवं काव्य-शास्त्रों में ध्वनि-विषयक संकेतों का विश्लेषण-विवेचन]

१२. उपसंहार ध्वनि-सिद्धांत की परीक्षा
   [अ] ग्रंथकार
   [आ] ध्वन्यालोक का प्रतिपाद्य विषय

भूमिका

ध्वनि सिद्धान्त

[लेखक—डा० नगेन्द्र एम्. ए., डी. लिट्]

पूर्ववृत्त—अन्य सम्प्रदायों की भांति ध्वनि सम्प्रदाय का जन्म भी उसके प्रतिष्ठापक के जन्म से बहुत पूर्व ही हुआ था। "काव्यस्यात्मा ध्वनिरिति बुधैर्यः समाम्नातपूर्वः" । ध्वन्यालोक १, १ । अर्थात् काव्य की आत्मा ध्वनि है ऐसा मेरे पूर्ववर्ती विद्वानों का भी मत है" । वास्तव में इस सिद्धान्त के मूल संकेत ध्वनिकार के समय से बहुत पहले वैयाकरणों के सूत्रों में स्फोट आदि के विवेचन में मिलते हैं। इसके अतिरिक्त भारतीय दर्शन में भी व्यञ्जना एवं अभिव्यक्ति [दीपक से घर] की चर्चा बहुत प्राचीन है। ध्वनिकार से पूर्व रस, अलङ्कार और रीतिवादी आचार्य अपने-अपने सिद्धान्तों का पुष्ट प्रतिपादन कर चुके थे, और यद्यपि वे ध्वनि सिद्धान्त से पूर्णतः परिचित नहीं थे, फिर भी आनन्दवर्धन का कहना है कि वे कम से कम उसके सीमान्त तक अवश्य पहुंच गये थे। अभिनवगुप्त ने पूर्ववर्ती आचार्यों में उद्भट और वामन को साक्षी माना है। उद्भट का ग्रन्थ भामह-विवरण आज उपलब्ध नहीं है, अतएव हमें सबसे प्रथम ध्वनि-संकेत वामन के वक्रोक्ति विवेचन में ही मिलता है। वहाँ "सादृश्याल्लक्षणा वक्रोक्तिः" लक्षणा में जहां सादृश्य गर्भित होता है, वहां वह वक्रोक्ति कहलाती है। सादृश्य की यह व्यञ्जना ध्वनि के अन्तर्गत आती है, इसीलिए वामन को साक्षी माना गया है।

ध्वन्यालोक एक युग-प्रवर्तक ग्रन्थ था। उसके रचयिता ने अपनी असाधारण मेधा के बल पर एक ऐसे सार्वभौम सिद्धान्त की प्रतिष्ठा की जो युग-युग तक सर्वमान्य रहा। अब तक जो सिद्धान्त प्रचलित थे वे प्रायः सभी एकाङ्गी थे। अलङ्कार और रीति तो काव्य के बहिरङ्ग को ही छूकर रह जाते थे, रस सिद्धान्त भी ऐन्द्रिय आनन्द को ही सर्वस्व मानता हुआ बुद्धि और कल्पना के आनन्द के प्रति उदासीन था। इसके अतिरिक्त दूसरा दोष यह

था कि प्रबन्ध काव्य के साथ तो उसका संबन्ध ठीक बैठ जाता था, परन्तु स्फुट छन्दों के विषय में विभाव, अनुभाव, व्यभिचारी आदि का सङ्घटन सर्वत्र न हो सकने के कारण कठिनाई पड़ती थी और प्रायः अत्यन्त सुन्दर पदों को भी उचित गौरव न मिल पाता था। ध्वनिकार ने इन त्रुटियों को पहिचाना और सभी का उचित परिहार करते हुए शब्द की तीसरी शक्ति व्यञ्जना पर आश्रित ध्वनि को काव्य की आत्मा घोषित किया।

ध्वनिकार ने अपने सामने दो निश्चित लक्ष्य रखे हैं—१ ध्वनि-सिद्धान्त की निर्भ्रान्त शब्दों में स्थापना करना, तथा यह सिद्ध करना कि पूर्ववर्ती किसी भी सिद्धान्त के अन्तर्गत उसका समाहार नहीं हो सकता। २—रस, अलङ्कार, रीति, गुण और दोष विषयक सिद्धान्तों का सम्यक् परीक्षण करते हुए ध्वनि के साथ उनका सम्बन्ध स्थापित करना और इस प्रकार काव्य के एक सर्वाङ्गपूर्ण सिद्धान्त की एक रूप-रेखा बाँधना। कहने की आवश्यकता नहीं कि इन दोनों उद्देश्यों की पूर्ति में ध्वनिकार सर्वथा सफल हुए हैं। यह सब होते हुए भी ध्वनि सम्प्रदाय इतना लोकप्रिय न होता यदि अभिनवगुप्त की प्रतिभा का वरदान उसे न मिलता। उनके लोचन का वही गौरव है जो महाभाष्य का। अभिनव ने अपनी तल-स्पर्शिनी प्रज्ञा और प्रौढ़ विवेचन के द्वारा ध्वनि-विषयक समस्त भ्रान्तियों और आक्षेपों को निर्मूल कर दिया और उधर रस की प्रतिष्ठा को अकाट्य शब्दों में स्थिर किया।

ध्वनि का अर्थ और परिभाषा

ध्वनि की व्याख्या के लिए निसर्गतः सबसे उपयुक्त ध्वनिकार के ही शब्द हो सकते हैं :

यत्रार्थः शब्दो वा तमर्थमुपसर्जनीकृतस्वार्थौ।
व्यंक्तः काव्यविशेषः स ध्वनिरिति सूरिभिः कथितः॥

जहाँ अर्थ स्वयं को तथा शब्द अपने अभिधेय अर्थ को गौण करके 'उस अर्थ को' प्रकाशित करते हैं, उस काव्य-विशेष को विद्वानों ने ध्वनि कहा है।

उपर्युक्त कारिका की स्वयं ध्वनिकार ने ही और आगे व्याख्या करते हुए लिखा है : यत्रार्थो वाच्यविशेषो वाचकविशेषः शब्दो वा तमर्थं व्यंक्तः, स काव्यविशेषो ध्वनिरिति।

अर्थात् जहां विशिष्ट वाच्य रूप अर्थ तथा विशिष्ट वाचक रूप शब्द 'उस अर्थ को' प्रकाशित करते हैं वह काव्य विशेष ध्वनि कहलाता है।

यहां 'तमर्थम्' 'उस अर्थ' का वर्णन पूर्व-कथित दो श्लोकों में किया गया है :

प्रतीयमानं पुनरन्यदेव वस्त्वस्ति वाणीषु महाकवीनाम्।
यत्तत्प्रसिद्धावयवातिरिक्तं विभाति लावण्यमिवाङ्गनासु॥

प्रतीयमान कुछ और ही चीज है जो रमणियों के प्रसिद्ध [मुख, नेत्र, श्रोत्र, नासिकादि] अवयवों से भिन्न [उनके] लावण्य के समान महाकवियों की सूक्तियों में [वाच्य अर्थ से अलग ही] भासित होता है।

अर्थात् 'उस अर्थ' से तात्पर्य है उस प्रीतीयमान स्वादु (चर्वणीय, सरस) अर्थ का जो प्रतिभा-जन्य है, और जो महाकवियों की वाणी में वाच्याश्रित अलङ्कार आदि से भिन्न, स्त्रियों में अवयवों से अतिरिक्त लावण्य की भाँति कुछ और ही वस्तु है। अतएव यह विशिष्ट अर्थ प्रतिभाजन्य है, स्वादु [सरस] है, वाच्य से अतिरिक्त कुछ दूसरी ही वस्तु है, और प्रतीयमान है।

सरस्वती स्वादु तदर्थवस्तु निःष्यन्दमाना महतां कवीनाम्।
अलोकसामान्यमभिव्यनक्ति परिस्फुरन्तं प्रतिभाविशेषम्॥

उस स्वादु अर्थवस्तु को बिखेरती हुई बड़े-बड़े कवियों की सरस्वती अलौकिक तथा अतिभासमान प्रतिभा विशेष को प्रकट करती है।

इस पर लोचनकार की टिप्पणी है :—

सर्वत्र शब्दार्थयोरुभयोरपि ध्वननव्यापारः। ... .. । स [काव्य विशेषः] इति। अर्थो वा शब्दो वा, व्यापारो वा। अर्थोऽपि वाच्यो वा ध्वनतीति शब्दोऽप्येवं व्यङ्ग्यो वा ध्वन्यत इति। व्यापारो वा शब्दार्थयोर्ध्वननमिति। कारिकया तु प्राधान्येन समुदाय एव वाच्यरूपमुखतया ध्वनिरिति प्रतिपादितम्।

अर्थात् सर्वत्र शब्द और अर्थ दोनों का ही ध्वनन व्यापार होता है। ... ... 'वह काव्यविशेष' का अर्थ है : अर्थ, या शब्द या व्यापार। वाच्य अर्थ भी ध्वनन करता है और शब्द भी, इसी प्रकार व्यङ्ग्य [अर्थ] भी ध्वनित होता है। अथवा शब्द अर्थ का व्यापार भी ध्वनन है। इस प्रकार कारिका के द्वारा प्रधानतया समुदाय शब्द, अर्थ—वाच्य [व्यञ्जक] अर्थ और व्यङ्ग्य अर्थ तथा शब्द और अर्थ का व्यापार ही ध्वनि है।

अभिनवगुप्त के कहने का तात्पर्य यह है कि कारिका के अनुसार ध्वनि संज्ञा केवल काव्य को ही नहीं दी गई वरन् शब्द, अर्थ और शब्द अर्थ के व्यापार इन सब को ध्वनि कहते हैं।

ध्वनि शब्द के व्युत्पत्ति-अर्थों से भी ये पांचों भेद सिद्ध हो जाते हैं :

१. ध्वनति यः स व्यञ्जकः शब्दः ध्वनिः—जो ध्वनित करे या कराये वह व्यञ्जक शब्द ध्वनि है।

२. ध्वनति ध्वनयति वा यः सः व्यञ्जकोऽर्थः ध्वनिः—जो ध्वनित करे या कराये वह व्यञ्जक अर्थ ध्वनि है।

३. ध्वन्यते इति ध्वनिः—जो ध्वनित किया जाये वह ध्वनि है। इसमें रस, अलङ्कार और वस्तु—व्यङ्ग्य अर्थ के ये तीनों रूप आ जाते हैं।

४. ध्वन्यते अनेन इति ध्वनिः—जिसके द्वारा ध्वनित किया जाये वह ध्वनि है। इससे शब्द अर्थ के व्यापार—व्यञ्जना आदि शक्तियों का बोध होता है।

५. ध्वन्यतेऽस्मिन्निति ध्वनिः—जिसमें वस्तु, अलङ्कार रसादि ध्वनित हों उस काव्य को ध्वनि कहते हैं।

इस प्रकार ध्वनि का प्रयोग पांच भिन्न-भिन्न परन्तु परस्पर सम्बद्ध अर्थों में होता है : १. व्यञ्जक शब्द, २. व्यञ्जक अर्थ, ३. व्यङ्ग्य अर्थ, व्यञ्जना [व्यञ्जना व्यापार], और व्यङ्ग्य-प्रधान काव्य।

संक्षेप में ध्वनि का अर्थ है व्यङ्ग्य, परन्तु पारिभाषिक रूप में यह व्यङ्ग्य वाच्यातिशायी होना चाहिए : वाच्यातिशायिनि व्यङ्ग्ये ध्वनिः [साहित्य दर्पण]। इस आतिशय्य अथवा प्राधान्य का आधार है चारुत्व अर्थात् रमणीयता का उत्कर्ष 'चारुत्वोत्कर्ष-निबन्धना हि वाच्यव्यङ्ग्ययोः प्राधान्यविवक्षा' [ध्वन्यालोक]। अतएव वाच्यातिशायी का अर्थ हुआ वाच्य से अधिक रमणीय—और ध्वनि का संक्षिप्त लक्षण हुआ : "वाच्य से अधिक रमणीय व्यङ्ग्य को ध्वनि कहते हैं।"

ध्वनि की प्रेरणा—स्फोट सिद्धान्त

ध्वनि सिद्धान्त की प्रेरणा ध्वनिकार को वैयाकरणों के स्फोट सिद्धान्त से मिली है। उन्होंने स्पष्ट स्वीकार किया है कि 'सूरिभिः कथितः' में

सूरिभिः (विद्वानों द्वारा) से अभिप्राय वैयाकरणों से है क्योंकि वैयाकरण ही पहले विद्वान हैं और व्याकरण ही सब विद्याओं का मूल है। वे श्रूयमाण (सुने जाते हुए) वर्णों में ध्वनि का व्यवहार करते हैं।

लोचनकार ने इस प्रसंग को और स्पष्ट किया है। उन्होंने वैयाकरणों के स्फोट सिद्धान्त के साथ आलंकारिकों के इस ध्वनि सिद्धान्त का पूर्णतः सामंजस्य स्थापित करते हुए तद्विषयक पृष्ठाधार की साङ्गोपाङ्ग व्याख्या की है। ध्वनि के पाँचों रूप—व्यञ्जक शब्द, व्यञ्जक अर्थ, व्यङ्ग्य अर्थ, व्यञ्जना व्यापार तथा व्यङ्ग्य काव्य—सभी के लिए व्याकरण में निश्चित एवं स्पष्ट संकेत हैं।

लोचनकार की टिप्पणी का व्याख्यान करने के लिए मैं अपने मित्र श्री विश्वम्भरप्रसाद डबराल की ध्वन्या- लोक-टीका से दो उद्धरण देता हूँ।

"जब मनुष्य किसी शब्द का उच्चारण करता है तो श्रोता उसी उच्चरित शब्द को नहीं सुनता। मान लीजिये मैं आप से १० गज की दूरी पर खड़ा हूँ। आपने किसी शब्द का उच्चारण किया। मैं उसी शब्द को नहीं सुन सकता जो आपने उच्चरित किया। आपका उच्चरित शब्द मुख के पास ही अपने दूसरे शब्द को उत्पन्न करता है। दूसरा शब्द तीसरे को, तीसरा चौथे को और इस प्रकार क्रम चलता रहता है जब तक कि मेरे कान के पास शब्द उत्पन्न न हो जावे। इस प्रकार सन्तान रूप में आये हुए शब्दज शब्द ही को मैं सुन सकता हूँ। यह शब्दज शब्द ध्वनि कहलाता है। भगवान् भर्तृहरि ने भी कहा है "यः संयोगवियोगाभ्यां करणैरुपजन्यते। स स्फोटः शब्दजः शब्दो ध्वनिरित्युच्यते बुधैः॥" करणों (Vocal organs) के संयोग और वियोग (क्योंकि उनके खुलने और बन्द होने से ही आवाज़ पैदा होती है) से जो स्फोट उपजनित होता है वह शब्दज शब्द विद्वानों द्वारा ध्वनि कहलाता है। वक्ता के मुख से उच्चरित शब्दों से उत्पन्न शब्द हमारे मस्तिष्क में नित्य वर्तमान स्फोट को जगा देते हैं। यही वैयाकरणों की ध्वनि है। इसी प्रकार आलंकारिकों के अनुसार भी घंटा-नाद के समान अनुरणन रूप, शब्द से उत्पन्न, व्यङ्ग्य अर्थ ध्वनि है।

वैयाकरणों के अनुसार "गौः" शब्द का उच्चारण होने पर हम "ग् औ और : (विसर्ग)" इन की पृथक्-पृथक् प्रतीति करते हैं। इनकी एक साथ तो स्थिति हो नहीं सकती। यदि ऐसा हो तो पौर्वापर्य का अवकाश ही नहीं

रहेगा। तीन भिन्न शब्द एक साथ हो ही नहीं सकते । "गौ :" शब्द के सुनने पर हमारे मस्तिष्क में नित्य वर्तमान स्फोट रूप "गौः" की प्रतीति होती है। किन्तु इसके पहले ही केवल "ग्" शब्द को सुनते ही इस प्रतीति के साथ स्फोट रूप "गौः" की अस्पष्ट प्रतीति भी होती है जो "औ" और ":" तक आ जाने पर पूर्णतया स्पष्ट हो जाती है।" (श्री विश्वम्भरप्रसाद डबराल)

इसको आचार्य मम्मट की व्याख्या के आधार पर और स्पष्ट रूप से समझ लीजिये : गौः शब्द में "ग्", 'औ', और " : " ये तीन वर्ण हैं। इन तीन वर्णों में से गौः का अर्थ बोध किसके द्वारा होता है ? यदि यह कहें कि प्रत्येक के उच्चारण द्वारा तो एक वर्ण ही पर्य्याप्त होगा, शेष दो व्यर्थ हैं। और यदि यह कहें कि तीनों वर्णों के समुदाय के उच्चारण द्वारा तो वह असम्भाव्य है, क्योंकि कोई भी वर्ण-ध्वनि दो क्षण से अधिक नहीं ठहर सकती अर्थात् विसर्ग तक आते आते 'ग्' की ध्वनि का लोप होजाएगा जिसके कारण तीनों वर्णों के समुदाय की ध्वनि का एक साथ होना सम्भव न हो सकेगा । अतएव अत्यन्त सूक्ष्म विवेचन के उपरान्त वैयाकरणों ने स्थिर किया कि अर्थ-बोध शब्द के 'स्फोट' द्वारा होता है अर्थात् पूर्व-पूर्व वर्णों के संस्कार अन्तिम वर्ण के उच्चारण के साथ संयुक्त होकर शब्द का अर्थ-बोध कराते हैं।

"भर्तृहरि भी यही कहते हैं : 'प्रत्ययैरनुपाख्येयैर्ग्रहणानुग्रहैस्तथा। ध्वनिप्रकाशिते शब्दे स्वरूपमवधार्यते।" ग्रहण के लिए अनुगुण (अनुकूल), अनुपाख्येय (जिन्हें स्पष्ट शब्दों में व्यक्त नहीं किया जा सकता) प्रत्ययों (Cognitions) द्वारा ध्वनि रूप में प्रकाशित शब्द (स्फोट) में स्वरूप स्पष्ट हो जाता है। यहाँ वैयाकरणों के अनुसार, नाद कहलानेवाले, अन्त्यबुद्धि से ग्राह्य स्फोटव्यञ्जक वर्ण ध्वनि कहलाते हैं। इसके अनुसार व्यञ्जक शब्द और अर्थ भी ध्वनि कहलाते हैं—यह आलंकारिकों का मत है।

हम एक श्लोक को कई प्रकार से पढ़ सकते हैं । कभी धीरे-धीरे कभी बहुत शीघ्र, कभी मध्यलय, कभी गाते हुए तथा कभी सीधे-सीधे । किन्तु सभी समय पर यद्यपि हम भिन्न-भिन्न ध्वनियों का प्रयोग करते हैं, अर्थ केवल एक ही प्रतीत होता है। यह क्यों? वैयाकरणों का कहना है कि शब्द दो प्रकार का होता है। एक तो स्फोट रूप में वर्तमान प्राकृत शब्द दूसरा विकृत । हम जिन शब्दों का प्रयोग करते हैं वे उस स्फोट-रूप प्राकृत की अनुकृति मात्र हैं

प्राकृत शब्द का एक नित्य स्वरूप होता है, उसकी अनुकृतियों (models) में विभिन्नता हो सकती है। विकृत शब्दों का उच्चारण-रूप यह विभिन्न व्यापार भी वैयाकरणों के अनुसार ध्वनि है। आलंकारिकों के अनुसार भी प्रसिद्ध शब्द-व्यापारों से भिन्न व्यञ्जकत्व नाम का शब्द-व्यवहार ध्वनि है। इस प्रकार व्यङ्ग्य अर्थ, व्यञ्जक शब्द, व्यञ्जक अर्थ और व्यञ्जकत्व व्यापार—यह चार तरह की ध्वनि हुई। इन चारों के साथ एक रहने पर समुदाय-रूप काव्य भी ध्वनि है। इस प्रकार लोचनकार ने वैयाकरणों का अनुसरण करके पांचों में ध्वनित्व सिद्ध कर दिया।"
[श्री वि० प्र० डबराल]

इस विवेचन का सारांश यह है :—

१. जिसके द्वारा अर्थ का प्रस्फुटन हो उसे स्फोट कहते हैं।

२. शब्द के दो रूप होते हैं—एक व्यक्त अर्थात् विकृत रूप। दूसरा अव्यक्त अर्थात् प्राकृत (नित्य) रूप। व्यक्त का सम्बन्ध वैखरी और अव्यक्त का सम्बन्ध मध्यमा वाणी से है जो वैखरी की अपेक्षा सूक्ष्मतर है। पहला स्थूल ऐंद्रिय रूप है, यह उच्चारण की विधि के अनुसार बदलता रहता है। दूसरा सूक्ष्म मानस रूप है जो नित्य तथा अखंड है। यह हमारे मन में सदैव वर्तमान रहता है और शब्द अर्थात् वर्णों के संघात विशेष को सुनकर उद्बुद्ध हो जाता है। इसको शब्द का स्फोट कहते हैं। स्फोट का दूसरा नाम 'ध्वनि' भी है।

३. जिस प्रकार पृथक्-पृथक् वर्णों को सुनकर भी शब्द का बोध नहीं होता है वह केवल स्फोट या ध्वनि के द्वारा ही होता है, इसी तरह शब्दों का वाच्यार्थ ग्रहणकर भी काव्य के सौंदर्य की प्रतीति नहीं होती वह केवल व्यङ्ग्यार्थ या ध्वनि के द्वारा ही होती है।

४. व्याकरण में व्यञ्जक शब्द, व्यञ्जक अर्थ, व्यङ्ग्य अर्थ, व्यञ्जना-व्यापार तथा व्यङ्ग्य काव्य—ध्वनि के इन पाँचों रूपों के लिए निश्चित संकेत मिलते हैं। यह स्फोट शब्द, वाक्य और प्रबन्ध तक का होता है।

इस प्रकार शब्द-साम्य और व्यापार-साम्य के आधार पर ध्वनिकार ने व्याकरण के ध्वनि-सिद्धान्त से प्रेरणा प्राप्त कर अपने ध्वनिसिद्धान्त की उद्भावना की।

ध्वनि की स्थापना

आगे चलकर ध्वनि का सिद्धान्त यद्यपि सर्व-सामान्य-सा हो गया परन्तु आरम्भ में इसे घोर विरोध का सामना करना पड़ा। एक तो ध्वनिकार ने ही पहले से बहुत कुछ विरोध का निराकरण कर दिया था, उसके उपरान्त मम्मट ने उसका अत्यन्त योग्यतापूर्वक समर्थन किया जिसके परिणामस्वरूप प्रायः सभी विरोध शांत हो गया।

ध्वनिकार ने तीन प्रकार के विरोधियों की कल्पना की थीः—एक अभाववादी, दूसरे लक्षणा में ध्वनि (व्यञ्जना) का अन्तर्भाव करनें वाले, और तीसरे वे जो ध्वनि का अनुभव तो करते हैं, परन्तु उसकी व्याख्या असम्भव मानते हैं।*

सबसे पहले अभाववादियों को लीजिए। अभाववादियों के विकल्प इस प्रकार हैं : १. ध्वनि को आप काव्य की आत्मा (सौंदर्य) मानते हैं—पर काव्य शब्द और अर्थ का सम्बद्ध शरीर ही तो है। स्वयं शब्द और अर्थ तो ध्वनि हो नहीं सकते। अब यदि उनके सौंदर्य अथवा चारुत्व को आप ध्वनि मानते हैं, तो वह पुनरावृत्ति मात्र है, क्योंकि शब्द और अर्थ के चारुत्व के तो सभी प्रकारों का विवेचन किया जा चुका है।

शब्द का चारुत्व तो शब्दालङ्कार तथा शब्द गुण के अन्तर्गत आजाता है, और अर्थ का चारुत्व अर्थालङ्कार तथा अर्थगुण में। इनके अतिरिक्त वैदर्भी आदि रीतियां और इनसे अभिन्न उपनागरिका आदि वृत्तियाँ भी हैं जिनका सम्बन्ध शब्द अर्थ के साहित्य (मिश्र शरीर) से है। सभी प्रकार के शब्द और अर्थगत सौंदर्य का अन्तर्भाव इनमें हो जाता है। अतएव ध्वनि से आशय यदि शब्द और अर्थ-गत चारुत्व से है तो उसका तो सम्यक् विवेचन पहले ही किया जा चुका है—फिर ध्वनि की क्या आवश्यकता है। यह या तो पुनरावृत्ति या अधिक से अधिक एक नवीन नामकरण मात्र है, जिसका कोई महत्व नहीं।

---

* काव्यस्यात्मा ध्वनिरिति बुधैर्यः समाम्नातपूर्व-
स्तस्याभावं जगदुरपरे भाक्तमाहुस्तमन्ये।
केचिद् वाचां स्थितमविषये तत्वमूचुस्तदीयं,
तेन ब्रूमः सहृदयमनःप्रीतये तत्स्वरूपम्। (ध्वन्यालोक)

२. दूसरे विकल्प में परम्परा की दुहाई दी गई है। यदि प्रसिद्ध-परम्परा से आये हुए मार्ग से भिन्न काव्य-प्रकार माना जाय तो काव्यत्व की ही हानि होती है। इनकी युक्ति यह है कि आखिर ध्वनि की चर्चा से पहले भी तो काव्य का आस्वादन होता रहा है, यदि काव्य की आत्मा का अन्वेषण आप अब कर रहे हैं तो अब तक क्या लोग मूर्खों की भाँति अभाव में भाव की कल्पना करते रहे हैं। यदि ध्वनि प्रसिद्ध काव्य-परम्परा से भिन्न कोई मार्ग है तो अब तक के काव्य के काव्यत्व का क्या हुआ ? वह तो इस प्रकार रह ही नहीं जाता। इनके कहने का तात्पर्य यह है कि ध्वनि से पूर्व भी तो काव्य था और सहृदय उसके काव्यत्व का आस्वादन करते थे। यदि काव्य की आत्मा ध्वनि आप ने अब ढूँढ़ निकाली है तो पूर्ववर्ती काव्य का काव्यत्व तो असिद्ध हो जाता है।

कुछ लोग ध्वनि के अभाव को एक और रीति से प्रतिपादित करते हैं। वे कहते हैं कि यदि ध्वनि कमनीयता का ही कोई रूप है तब तो वह कथित चारुत्व-कारणों में ही अन्तर्भूत हो जाता है। हां, यह हो सकता है कि वाक् के भेद-प्रभेदों की अनन्तता के कारण लक्षणकारों ने किसी प्रभेद विशेष की समाख्या न की हो और उसी को आप खोज निकाल कर ध्वनि नाम दे रहे हों। परन्तु यह तो कोई बड़ी बात न हुई। यह तो झूठी सहृदयता मात्र है।

ध्वनि के अस्तित्व का निषेध करने वालों की युक्तियों का सारांश यही है। ये एक प्रकार से अभिधा या वाच्यार्थ में ही व्यञ्जना या ध्वनि का अन्तर्भाव करते हैं।

ध्वनि-विरोधियों का दूसरा वर्ग उसको लक्षणा के अन्तर्गत मानता है इन लोगों को भाक्तवादी कहा गया है।

तीसरा वर्ग ऐसे लोगों का है जो ध्वनि को सहृदय-संवेद्य मानते हुए भी उसे वाणी के लिए अगोचर मानते हैं, अर्थात् उसकी परिभाषा को असम्भव मानते हैं। इनको ध्वनिकार ने 'लक्षण करने में अप्रगल्भ' कहा है।

इन विरोधियों की कल्पना तो ध्वनिकार ने स्वयं कर ली थी—परन्तु उनके बाद भी तो इस सिद्धान्त का विरोध हुआ। परवर्ती विरोधियों में सबसे अधिक पराक्रमी थे—भट्ट नायक, महिम भट्ट तथा कुन्तक। भट्ट नायक ने रसास्वादन के हेतु-रूप शब्द की भावकत्व और भोजकत्व दो शक्तियों की

उद्भावना की और व्यञ्जना का निषेध किया। महिम भट्ट ने ध्वनि को अनुमिति मात्र मानते हुए व्यञ्जना का निषेध किया और अभिधा को ही पर्याप्त माना। कुन्तक ने ध्वनि को वक्रोक्ति के अन्तर्गत माना। भट्ट नायक का उत्तर अभिनव गुप्त ने तथा अन्य का मम्मट ने दिया, और व्यञ्जना की अतर्क्यता सिद्ध करते हुए ध्वनि को अकाट्य माना।

वास्तव में ध्वनि का विशाल भवन व्यञ्जना के आधार पर ही खड़ा हुआ है; और ध्वनि की स्थापना का अर्थ व्यञ्जना की ही स्थापना है।

सबसे पहले अभाववादियों के विकल्प लीजिए। उनका एक तर्क यह है कि ध्वनि-प्रतिपादन के पूर्व भी तो काव्य में काव्यत्व था, और सहृदय निर्बाध उसका आस्वादन करते थे। यदि ध्वनि काव्य की आत्मा है तो पूर्ववर्ती काव्य में काव्यत्व की हानि हो जाती है। इसका उत्तर ध्वनिकार ने ही दिया है—और वह यह है कि ध्वनि का नामकरण उस समय नहीं हुआ था, परन्तु उसकी स्थिति तो उस समय भी थी। उदाहरण के लिए पर्यायोक्त आदि अलङ्कारों में व्यङ्ग्य अर्थ अत्यन्त स्पष्ट रूप से वर्तमान रहता है—उसका महत्व गौण है, परन्तु उसका अस्तित्व तो असंदिग्ध है। इस व्यङ्ग्यार्थ के लिए केवल व्यञ्जना ही उत्तरदायी है। इसके अतिरिक्त रस आदि की स्वीकृति में भी स्पष्टतः व्यङ्ग्य की स्वीकृति है क्योंकि रस आदि अभिधेय तो होते नहीं। उधर लक्ष्य ग्रंथों में भी काव्य के विधायक इस तत्व की प्रतीति निश्चित है, चाहे निरूपण न हो।

अभाववादियों की सबसे प्रबल युक्ति यह है कि व्यञ्जना का पृथक् अस्तित्व मानने की आवश्यकता नहीं है। वह अभिधा के या फिर लक्षणा के अन्तर्गत आ जाती है।

इसका एक अभावात्मक उत्तर तो यह है कि ध्वनि के जो दो प्रमुख भेद किये गये हैं उन दोनों का अन्तर्भाव अभिधा या लक्षणा में नहीं किया जा सकता। अविवक्षित-वाच्य ध्वनि अभिधा के आश्रित नहीं है। अभिधा के विफल हो जाने के उपरांत लक्षणा की सामर्थ्य पर ही उसका अस्तित्व अवलम्बित है। उधर विवक्षितान्यपरवाच्य में लक्षणा बीच में आती ही नहीं। अतएव यह सिद्ध हुआ कि ध्वनि का एक प्रमुख भेद तथा उसके उपभेद अभिधा के अन्तर्गत नहीं समा सकते, और दूसरा भेद तथा उसके अनेक प्रभेद लक्षणा से बहिर्गत हैं। अर्थात् ध्वनि अभिधा और लक्षणा में नहीं समा सकती। भावात्मक उत्तर यह है कि

अभिधार्थ और लक्षणार्थ का ध्वन्यर्थ से पार्थक्य प्रकट करने वाले अनेक अतर्क्य तथा स्वयंसिद्ध प्रमाण हैं।

अभिधार्थ और ध्वन्यर्थ का पार्थक्य :

बोद्धा, स्वरूप, संख्या, निमित्त, कार्य, काल, आश्रय और विषय आदि के अनुसार व्यङ्ग्यार्थ प्रायः वाच्यार्थ से भिन्न हो जाता है :-

बोद्धृस्वरूपसंख्यानिमित्तकार्यप्रतीतिकालानाम् ।
आश्रयविषयादीनां भेदाद्भिन्नोऽभिधेयतो व्यङ्ग्यः ॥ सा० द०

बोद्धा के अनुसार पार्थक्य :—वाच्यार्थ की प्रतीति कोश व्याकरणादि के प्रत्येक ज्ञाता को हो सकती है, परन्तु ध्वन्यर्थ की प्रतीति केवल सहृदय को ही हो सकती है।

स्वरूप :—कहीं वाच्यार्थ विधिरूप है तो व्यङ्ग्यार्थ निषेधरूप। कहीं वाच्यार्थ निषेधरूप है, पर व्यङ्ग्यार्थ विधिरूप। कहीं वाच्यार्थ विधिरूप है, या कहीं निषेध रूप है, पर व्यङ्ग्यार्थ अनुभयरूप है। कहीं वाच्यार्थ संशयात्मक है, पर व्यङ्ग्यार्थ निश्चयात्मक।

संख्या :—संख्या के अन्तर्गत प्रकरण, वक्ता और श्रोता का भेद भी आ जाता है। उदाहरण के लिए 'सूर्यास्त हो गया' इस वाक्य का वाच्यार्थ तो सभी के लिए एक है, पर व्यङ्ग्यार्थ वक्ता, श्रोता तथा प्रकरण के भेद से अनेक होंगे।

निमित्त :—वाच्यार्थ का बोध साक्षरता मात्र से हो जाता है, परन्तु व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति प्रतिभा द्वारा ही सम्भव है। वास्तव में निमित्त और बोद्धा का पार्थक्य बहुत कुछ एक ही है।

कार्य :—वाच्यार्थ से वस्तु-ज्ञान मात्र होता है, परन्तु व्यङ्ग्यार्थ से चमत्कार—आनन्द का आस्वादन होता है।

काल :—वाच्यार्थ की प्रतीति पहले और व्यङ्ग्यार्थ की उसके उपरान्त होती है। यह क्रम लक्षित हो या न हो, परन्तु इसका अस्तित्व असंदिग्ध है।

आश्रय :—वाच्यार्थ केवल शब्द या पद के आश्रित रहता है, परन्तु व्यङ्ग्यार्थ शब्द में, शब्द के अर्थ में, शब्द के एक अंश में, वर्ण या वर्ण रचना आदि में भी रहता है।

विषय :—कहीं वाच्य और व्यङ्ग्य का विषय ही भिन्न होता है :

वाच्यार्थ एक व्यक्ति के लिए अभिप्रेत होता है, और व्यङ्ग्यार्थ दूसरे के लिए।

पर्याय :—इसके अतिरिक्त, पर्याय शब्दों के भी व्यङ्ग्यार्थ में अन्तर होता है। स्पष्टतः सभी पर्यायों का वाच्यार्थ एकसा होता है, परन्तु व्यङ्ग्यार्थ भिन्न हो सकता है। उपयुक्त विशेषण का चयन बहुत कुछ इसी पार्थक्य पर निर्भर रहता है।

आधुनिक हिन्दी काव्य में तथा विदेश के साहित्य-शास्त्र में विशेषण-चयन काव्य-शिल्प का विशेष गुण माना गया है और उसका अत्यन्त सूक्ष्म विवेचन भी किया गया है।

अनन्वित अर्थ की व्यञ्जना :—अभिधा केवल अन्वित अर्थ का ही बोध करा सकती है, परन्तु कहीं-कहीं अन्वित अर्थ के अतिरिक्त किसी अनन्वित अर्थ की भी व्यञ्जना होती है। इस प्रकरण में मम्मट ने 'कुरु रुचिं' और 'रुचिंकुरु' का उदाहरण दिया है। अन्वित अर्थ की दृष्टि से रुचिंकुरु' सर्वथा निर्दोष है, परन्तु इसमें 'चिकु' के द्वारा, जो सर्वथा अनन्वित है, अश्लील अर्थ का बोध होता है। चिकु काश्मीर की भाषा में अश्लील अर्थ का बोधक है। पं० रामदहिन मिश्र ने पंत की निम्नलिखित पंक्तियों में भी यही उदाहरण घटाया है :—

'सरलपन ही था उसका मन' से 'सरल पनही (जूता) था उसका मन' इस अनन्वित अर्थ की व्यञ्जना भी हो जाती है।

यह अनन्वित अर्थ अभिधा का व्यापार तो हो नहीं सकता। वैसे भी यह वाच्य न होकर व्यङ्ग्य ही है, अतएव व्यञ्जना का ही व्यापार सिद्ध हुआ।

रसादि भी अभिधाश्रित ध्वनि-भेद के अन्तर्गत आते हैं। ये विवक्षितान्यपरवाच्य के असंलक्ष्यक्रम भेद के अन्तर्गत हैं। ये रसादि भी व्यञ्जना के अस्तित्व का प्रबल प्रमाण हैं। क्योंकि ये कहीं भी वाच्य नहीं होते सदा वाच्य द्वारा आक्षिप्त व्यङ्ग्य होते हैं। शृङ्गार शब्द के अभिधेयार्थ के द्वारा शृङ्गार रस की प्रतीति असम्भव है। इस प्रकार यह सिद्ध हो जाता है कि कम से कम रसादि की प्रतीति अभिधा की सामर्थ्य से बाहर है। इस प्रसंग को लेकर संस्कृत के आचार्यों में बड़ा शास्त्रार्थ हुआ है। सबसे पहले तो भट्ट नायक ने व्यञ्जना का निषेध करते हुए शब्द की भावकत्व और भोजकत्व दो शक्तियां मानीं और चारु अर्थ का भावन तथा रस का आस्वाद उन्हीं के द्वारा माना। परन्तु अभि-

नव गुप्त ने भावकत्व और भोजकत्व की कल्पना को निराधार और अनावश्यक माना, तथा व्याकरण आदि के आधार पर व्यञ्जना की ही स्थापना की।

वास्तव में भट्ट नायक अपने सिद्धान्त को अधिक वैज्ञानिक रूप नहीं दे सके। शब्द की भावकत्व और भोजकत्व जैसी शक्तियों के लिए न तो व्याकरण में और न मीमांसा आदि में ही कहीं कोई आधार मिलता है, और इधर मनोविज्ञान तथा भाषा-शास्त्र की दृष्टि से भी इसकी सिद्धि नहीं हो सकती। भावकत्व का कार्य भावन कराने में सहायक होना है, और भावन बहुत कुछ कल्पना की क्रिया है। अतएव भावकत्व का कार्य हुआ कल्पना को उद्बुद्ध करना। उधर भोजकत्व का कार्य है साधारणीकृत अर्थ के भावन द्वारा रस की चर्वणा कराना। भट्ट नायक के कहने का तात्पर्य आधुनिक शब्दावली में यह है कि काव्यगत शब्द पहले तो पाठक को अर्थ-बोध कराता है, फिर उसकी कल्पना को जागृत कराता है और तदनन्तर उसके मन में वासना रूप से स्थित स्थायी मनोविकारों को उद्बुद्ध करता हुआ उसको आनन्द-मग्न करा देता है। उनका यह सम्पूर्ण प्रयत्न इस तथ्य को स्पष्ट करने के लिए है कि शब्द और अर्थ के द्वारा काव्यगत 'उस विचित्र आनन्द' की प्राप्ति कैसे होती है। जहां तक काव्यानन्द के स्वरूप का प्रश्न है, भट्ट नायक को उसके विषय में कोई भ्रांति नहीं है। वे जानते हैं कि यह आनन्द वासना-मूलक तो अवश्य है, परन्तु केवल वासनामूलक नहीं है। वासनामूलक आनन्द के अन्य रूपों से इसका वैचित्र्य स्पष्ट है। वास्तव में, जैसा कि मैंने अन्यत्र स्पष्ट किया है, काव्यानन्द एक मिश्र आनन्द है—इसमें वासना-जन्य आनन्द और बौद्धिक आनन्द दोनों का समन्वय रहता है। उसके इसी मिश्र स्वरूप को एडीसन ने कल्पना का आनन्द कहा है जो मनोविज्ञान की दृष्टि से ठीक भी है क्योंकि कल्पना चित्त और बुद्धि की मिश्रित क्रिया ही तो है। इसी मिश्र रूप की व्याख्या में (यद्यपि भट्ट नायक ने स्वयं इसको अपने शब्दों में व्यक्त नहीं किया है और इसका कारण परम्परा से चला आया हुआ 'अनिर्वचनीय' शब्द था) भट्ट नायक ने भावकत्व और भोजकत्व की कल्पना की है:—भावकत्व उसके बौद्धिक अंश का हेतु है और भोजकत्व उसके वासना-जन्य रूप का व्याख्यान करता है। अभिनव ने ये दोनों विशेषताएं अकेली व्यञ्जना में मानी हैं। व्यञ्जना ही हमारी कल्पना को जगाकर हमारे वासनारूप स्थित मनोविकारों की चरम परिणति के आनन्द का आस्वादन कराती है। इस प्रकार मूलतः भावकत्व और भोजकत्व दोनों का उद्देश्य भी वही ठहरता है जो अकेली व्यञ्जना का। व्याकरण और मीमांसा

आदि के सहारे व्यञ्जना का आधार चूँकि अधिक पुष्ट है, इसलिए अन्ततोगत्वा वही सर्वमान्य हुई। भट्ट नायक की दोनों शक्तियाँ निराधार घोषित कर दी गईं।

इस प्रकार अभिधावादियों का यह तर्क खण्डित हो जाता है कि अभिधा का अर्थ ही तीर की तरह उत्तरोत्तर शक्ति प्राप्त करता जाता है।

बाद में महिमभट्ट ने व्यञ्जना का प्रतिषेध किया और कहा कि अभिधा को ही शब्द की एकमात्र शक्ति है, जिसे व्यङ्ग्य कहा जाता है वह अनुमेय मात्र है, तथा व्यञ्जना पूर्व-सिद्ध अनुमान के अतिरि त और कुछ नहीं। वे वाच्यार्थ और व्यङ्ग्यार्थ में व्यञ्जक-व्यङ्ग्य सम्बन्ध न मानकर लिङ्ग-लिङ्गी सम्बन्ध ही मानते हैं। परन्तु उनके तर्कों का मम्मट ने अत्यन्त युक्तिपूर्वक खण्डन किया है। उनकी युक्ति है कि सर्वत्र ही वाच्यार्थ और व्यङ्ग्यार्थ में लिग-लिगी सम्बन्ध होना अनिवार्य नहीं है। लिङ्ग-लिङ्गी सम्बन्ध निश्चयात्मक है अर्थात् जहां लिग (साधन या हेतु) निश्चय रूप से वर्तमान होगा, वहीं लिङ्गी (अनुमेय वस्तु) का अनुमान किया जा सकता है। परन्तु ध्वनि-प्रसंग में वाच्यार्थ सदा ही निश्चयात्मक हेतु नहीं हो सकता—वह प्रायः अनैकांतिक होता है। ऐसी स्थिति में उसे व्यङ्ग्यार्थ-रूप चमत्कार के अनुमान का हेतु कैसे माना जा सकता है? मनोविज्ञान की दृष्टि से भी महिम भट्ट का तर्क अधिक संगत नहीं है क्योंकि अनुमान में साधन से साध्य की सिद्धि तर्क या बुद्धि के द्वारा होती है, पर ध्वनि में वाच्यार्थ से व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति तर्क के सहारे न होकर सहृदयता, (भावुकता, कल्पनाओं आदि) के द्वारा होती है।

अब भाक्त (लक्षणा) वादियों को लीजिए। उनका कहना है कि वाच्यार्थ के अतिरिक्त यदि कोई दूसरा अर्थ होता है तो वह लक्ष्यार्थ के ही अंतर्गत आ जाता है। व्यङ्ग्यार्थ लक्ष्यार्थ का ही एक रूप है, अतएव लक्षणा से भिन्न व्यञ्जना जैसी कोई शक्ति नहीं है। इस मत का खण्डन अधिक सरल है।

इसके विरुद्ध पहली प्रबल युक्ति तो स्वयं ध्वनिकार ने प्रस्तुत की है। वह यह कि वाच्यार्थ की तरह लक्ष्यार्थ भी नियत ही होता है। और वह वाच्यार्थ के वृत्त में ही होना चाहिये। अर्थात् लक्ष्यार्थ वाच्यार्थ से निश्चय ही सम्बद्ध होगा। "'गंगा पर घर' वाक्य में गंगा का जो प्रवाह-रूप अर्थ है वह तट को ही लक्षित कर सकता है, सड़क को नहीं, क्योंकि प्रवाह का तट के साथ ही नियत सम्बन्ध है।" (काव्यालोक)। इसके विपरीत व्यङ्ग्यार्थ का वाच्यार्थ के साथ नियत

सम्बन्ध अनिवार्य नहीं है—इन दोनों का नियत सम्बन्ध, अनियत सम्बन्ध और सम्बन्ध-सम्बन्ध भी होता है। ध्वनिकार ने इसकी विस्तृत व्याख्या की है। कहने का तात्पर्य यह है कि लक्ष्यार्थ एक ही हो सकता है और वह भी सर्वथा सम्बद्ध होगा, परन्तु व्यङ्ग्यार्थ अनेक हो सकते हैं, और उनका सम्बन्ध अनियत भी हो सकता।

दूसरी प्रबल युक्ति यह है कि प्रयोजनवती लक्षणा का प्रयोग सर्वदा किसी प्रयोजन से किया जाता है। उदाहरण के लिए 'गङ्गा के किनारे घर' के स्थान पर 'गङ्गा पर घर' कहने का एक निश्चित प्रयोजन है और वह यह है कि 'पर' के द्वारा अति-नैकट्य और तज्जन्य शैत्य और पावनत्व आदि की सूचना अभिप्रेत है। लक्षणा का यह प्रयोग सर्वत्र सप्रयोजन होगा अन्यथा यह केवल वितंडा-मात्र रह जाएगा। यह प्रयोजन सर्वत्र व्यङ्ग्य रहता है और इसकी सिद्धि व्यञ्जना के द्वारा ही हो सकती है।

तीसरा तर्क पहले ही उपस्थित किया जा चुका है और वह यह है कि रसादि सीधे वाच्यार्थ से व्यङ्ग्य होते हैं, लक्ष्यार्थ के माध्यम से उनकी प्रतीति नहीं होती। अतएव उनका लक्ष्यार्थ से कोई सम्बन्ध नहीं। इस प्रकार लक्षणा में व्यञ्जना का अन्तर्भाव सम्भव नहीं है।

इनके अतिरिक्त कुछ और भी प्रमाण हैं जिनसे ध्वनि की सिद्धि होती है। उदाहरण के लिए, दोष दो प्रकार के होते हैं: नित्य दोष जो सर्वत्र ही काव्य की हानि करते हैं, और अनित्य-दोष जो प्रसङ्ग-भेद से काव्य के साधक भी हो जाते हैं—जैसे श्रुति-कटुत्वादि जो शृङ्गार में बाधक होते हैं वे भी वीर तथा रौद्र के साधक हो जाते हैं। दोषों की यह नित्यानित्यता व्यङ्ग्यार्थ की स्वीकृति पर ही अवलम्बित है। श्रुतिकटु वर्ण वीर अथवा रौद्र के साधक इसी लिए हैं कि वे कर्कशता की व्यञ्जना कर उत्साह और क्रोध की कठोरता में योग देते हैं। इनके द्वारा कर्कशता व्यङ्ग्य रहती है वाच्य नहीं। इत्यादि। ध्वनि के अन्य विरोधियों में कुन्तक की गणना की जा सकती है। कुन्तक ने ध्वनि को वक्रोक्ति के अन्तर्गत ही माना, और प्रतिहारेन्दुराज ने उसे अलङ्कारों से पृथक् मानना अनावश्यक समझा।

काव्यत्व का अधिवास : वाच्यार्थ में या व्यङ्ग्यार्थ में ?

आचार्य शुक्ल ने इस प्रसङ्ग से सम्बद्ध एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण तथा

रोचक प्रश्न उठाया है : काव्यत्व वाच्यार्थ में रहता है या व्यङ्ग्यार्थ में ? अपने इन्दौर भाषण में उन्होंने लिखा है :

"वाच्यार्थ के अयोग्य और अनुपपन्न होने पर योग्य और उपपन्न अर्थ प्राप्त करने के लिए लक्षणा और व्यञ्जना का सहारा लिया जाता है । अब प्रश्न यह है कि काव्य की रमणीयता किसमें रहती है ? वाच्यार्थ में अथवा लक्ष्यार्थ में या व्यङ्ग्यार्थ में ? इसका बेधड़क उत्तर यही है : 'वाच्यार्थ में,' चाहे वह योग्य हो वा उपपन्न हो अथवा अयोग्य और अनुपपन्न ।"

इसके आगे उन्होंने साकेत से दो उदाहरण दिए हैं :—

१. " 'जी कर हाय पतंग मरे क्या ?' इसमें भी यही बात है । जो कुछ वैचित्र्य या चमत्कार है वह इस अयोग्य और अनुपपन्न वाक्य या उसके वाच्यार्थ में ही है । इसके स्थान पर यदि इसका यह लक्ष्यार्थ कहा जाय कि जीकर पतंग क्यों कष्ट भोगे तो कोई वैचित्र्य या चमत्कार नहीं रह जायगा ।"

अथवा

२. "आप अवधि बन सकूं कहीं तो क्या कुछ देर लगाऊं ।
मैं अपने को आप मिटाकर जाकर उनको लाऊं ।।"

इसका वाच्यार्थ बहुत दी अत्युक्त, व्याहत तथा बुद्धि को सर्वथा अग्राह्य है । उर्मिला आप ही मिट जाएगी, तब अपने प्रियतम लक्ष्मण को वन से लायेगी क्या ? पर सारा रस, सारी रमणीयता इसी व्याहत और बुद्धि को अग्राह्य वाच्यार्थ में ही है, इस योग्य और बुद्धि-ग्राह्य व्यङ्ग्यार्थ में नहीं कि उर्मिला को अत्यन्त औत्सुक्य है । इससे स्पष्ट है कि वाच्यार्थ ही काव्य होता है, व्यङ्ग्यार्थ वा लक्ष्यार्थ नहीं ।"

शुक्ल जी के मुख से यह उक्ति सुनकर साधारणतः हिन्दी का विद्यार्थी आश्चर्यचकित हो सकता है । ऐसा लगता है मानो जीवन भर चमत्कार का उग्र विरोध करने के उपरान्त अन्त में आचार्य ने उससे समझौता कर लिया हो । स्वयं शुक्लजी के ही अपने लेखों से अनेक ऐसे वाक्य उद्धृत किए जा सकते हैं हैं जिनमें इसके विपरीत मन्तव्य प्रकट किया गया है । पं० रामदहिन मिश्र ने उनका हवाला देते हुए, तथा अनेक शास्त्र-सम्मत युक्तियों के द्वारा शुक्ल जी के अभिमत का निषेध किया है, और अन्त में इस शास्त्रोक्त मत की ही स्थापना की है कि काव्यत्व व्यङ्ग्यार्थ में है—वाच्यार्थ में नहीं ।

परन्तु शुक्ल जी द्वारा उठाया गया यह प्रश्न इतना सरल नहीं है। वास्तव में शुक्ल जी की प्रतिभा का सब से बड़ा गुण यही था कि उन्होंने परम शास्त्र-निष्ठ होते हुए भी प्रमाण सदा अपनी बुद्धि और अनुभूति को ही माना। वे किसी प्राच्य अथवा पाश्चात्य सिद्धान्त को स्वीकार करने से पूर्व उसे अपने विवेक और अनुभूति की कसौटी पर कसकर देख लेते थे। किसी रसात्मक वाक्य को पढ़कर हमें जो आनन्दानुभूति होती है, उसके लिए उस वाक्य का कौन सा तत्व उत्तरदायी है ? उस वाक्य का वाच्यार्थ, जिसमें शब्दार्थ-गत चमत्कार रहता है ? अथवा व्यङ्ग्यार्थ जिसमें प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से भाव की रमणीयता रहती है ? उदाहरण के लिये उपर्युक्त दोनों उद्धरणों को ही लीजिए। उनसे प्राप्त आनन्द के लिए उनका कौनसा तत्व उत्तरदायी है ? १—"जीकर हाय पतङ्ग मरे क्या ?" इसमें 'मरे' शब्द का लाक्षणिक प्रयोग 'जी करके' साथ बैठकर विरोधाभास का चमत्कार उत्पन्न करता है। अतएव जहां तक इस चमत्कार का सम्बन्ध है, उसका अधिवास वाच्यार्थ में ही है, लक्षणा अर्थ को उपपन्न करा कर इस चमत्कार की सिद्धि अवश्य कराती है, परन्तु उसका कारण वाच्यार्थ ही है, लक्ष्यार्थ दे देने से चमत्कार ही नहीं रह जाता। परन्तु अब प्रश्न यह है कि क्या उक्ति का सम्पूर्ण सौरस्य इस 'मरे' और 'जी कर' के उपपन्न या अनुपपन्न अर्थ पर ही आश्रित है। यदि ऐसा है, तो इस उक्ति में रमणीयता नहीं है क्योंकि यह विरोधाभास अपने आप में कोई सूक्ष्म या गहरी आनन्दानुभूति उत्पन्न नहीं करता। इसमें जो रमणीयता है (और यह यहां स्पष्ट कर देना चाहिये कि इसमें रमणीयता वास्तव में पर्याप्त मात्रा में नहीं है) वह प्रेम की उत्कटता (आतिशय्य) पर निर्भर है जो यहां लक्ष्यार्थ का प्रयोजन रूप व्यङ्ग्य है, और जो अन्त में जाकर वक्ता बोद्धा आदि के प्रकरण से उर्मिला की अपनी रति-जन्य व्यग्रता की अभिव्यक्ति करती है। इस प्रकार इस उक्ति की वास्तविक रमणीयता का सम्बन्ध रतिजन्य व्यग्रता से ही है जो व्यङ्ग्य है—और स्पष्ट शब्दों में जो उपर्युक्त लक्ष्यार्थ के प्रयोजन-रूप व्यङ्ग्य का भी व्यङ्ग्य है।

दूसरे उद्धरण में यह तथ्य और जी स्पष्ट हो जाएगा क्योंकि इसमें रमणीयता वास्तव में अधिक है।

आप अवधि बन सकूं कहीं तो क्या कुछ देर लगाऊं।
मैं अपने को आप मिटा कर जाकर उनको लाऊं॥

उर्मिला और लक्ष्मण के बीच अवधि का व्यवधान है। मिलने के लिए

इस व्यवधान अर्थात् अवधि को मिटाना आवश्यक है। अवधि साधारणतः तो अपने समय पर ही मिटेगी, तुरन्त मिटना उसका सम्भव नहीं। उर्मिला उसके एक उपाय की कल्पना करती है—यह स्वयं यदि अवधि बन जाय तो उसका अन्त करना उसके अपने अधिकार की बात हो जाये। अपने को तो वह तुरन्त मिटा ही सकती है और जब अवधि उसका अपना रूप हो जाएगी, तो उसके अन्त के साथ अवधि का अन्त भी हो जाएगा। इस तरह व्यवधान मिट जाएगा और लक्ष्मण से मिलन हो जाएगा। परन्तु जब उर्मिला ही मिट जाएगी तो फिर मिलनसुख का भोक्ता कौन होगा; अतएव अपने को मिटाने का अर्थ यहां अपने जीवन का अन्त कर लेना न होकर लक्षणा की सहायता से बड़े से बड़ा कष्ट भोगना या बड़े से बड़ा बलिदान करना आदि ही हो सकता है। परन्तु यह लक्ष्यार्थ देते ही उक्ति में कोई चमत्कार नहीं रह जाता। चमत्कार तो अर्थ की वाह्य अनुपपन्नता परन्तु आन्तरिक उपपन्नता के विरोधाभास में है। किन्तु क्या उक्ति की रमणीयता इसी चमत्कार तक सीमित है? वास्तव में बात इतनी नहीं है, जैसा कि शुक्ल जी ने स्वयं लिखा है, इससे उर्मिला का "अत्यन्त औत्सुक्य" व्यञ्जित होता है। इस "अत्यन्त औत्सुक्य" की व्यंजना ही उक्ति की रमणीयता का कारण है—यही पाठक के मन का इस "अत्यन्त औत्सुक्य" के साथ तादात्म्य कर उसमें एक मधुर अनुभूति जगाती है। यही उक्ति की रमणीयता है जो सहृदय को आनन्द देती है। शुक्ल जी का यह तर्क बड़ा विचित्र लगता है कि सारी रमणीयता इसी व्याहत और बुद्धि को अग्राह्य वाच्यार्थ में है, इस योग्य और बुद्धिग्राह्य व्यङ्ग्यार्थ में नहीं कि उर्मिला को अत्यन्त औत्सुक्य है। इसमें दो त्रुटियां हैं: एक तो उर्मिला को "अत्यन्त औत्सुक्य है" यह व्यङ्ग्यार्थ नहीं रहा—वाच्यार्थ हो गया। औत्सुक्य की व्यंजना ही चित्त की चमत्कृति का कारण है, उसका कथन नहीं। दूसरे जिस अनुपपन्नता पर वे इतना बल दे रहे हैं वह रमणीयता का कारण नहीं है, उसका एक साधनमात्र है। उसका यहाँ वही योग है जो रस की प्रतीति में अलंकार का। उपर्युक्त विवेचन से ऐसा प्रतीत होता है मानो विरोध करते-करते अनायास ही किसी दुर्बल क्षण में शुक्ल जी पर क्रोचे का जादू चल गया हो। क्रोचे का यह मत अवश्य है कि उक्ति ही काव्य है, और इसके प्रतिपादन में उनकी युक्ति यह है कि व्यङ्ग्यार्थ और वाच्यचार्थ दोनों का पार्थक्य असम्भव है—एक प्रतिक्रिया की केवल एक ही अभिव्यक्ति सम्भव है। क्रोचे के अनुसार 'आप अवधि बन सकूँ' आदि उक्ति और 'उर्मिला को अत्यन्त औत्सुक्य है' यह उक्ति सर्वथा पृथक् हैं--ये दो सर्वथा भिन्न प्रतिक्रियाओं की अभिव्यञ्जनाएं

हैं। अतएव 'आप अवधि बन सकूं' आदि का सौन्दर्य (काव्यत्व) उसका अपना है जो केवल उसी के द्वारा अभिव्यक्त हो सकता है 'उर्मिला को अत्यन्त औत्सुक्य है' यह एक दूसरी ही बात है।

वास्तव में रमणीयता का अर्थ है हृदय को रमाने की योग्यता और हृदय का सम्बन्ध भाव से है—वह भाव में ही रम सकता है क्योंकि उसके समस्त व्यापार भावों के द्वारा ही होते हैं। अतएव वही उक्ति वास्तव में रमणीय हो सकती है जो हृदय में कोई रम्य भाव उद्बुद्ध करे; और यह तभी हो सकता है जब वह स्वयं इसी प्रकार के भाव की वाहिका हो। यदि उसमें यह शक्ति नहीं है तो वह बुद्धि को चमत्कृत कर सकती है चित्त को नहीं, और इसलिए रमणीय नहीं कही जा सकती। स्वयं शुक्ल जी ने अत्यन्त सबल शब्दों में इस सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है, और चमत्कार शब्द की भ्रांति को दूर करने के लिए ही रमणीयता शब्द के प्रयोग पर ज़ोर दिया है।

निष्कर्ष यह है कि यदि शुक्ल जी क्रोचे का सिद्धान्त स्वीकार कर लेते तब तो स्थिति बदल जाती है। तब तो अभिधा, लक्षणा, व्यञ्जना, वाक्यार्थ, लक्ष्यार्थ, व्यङ्ग्यार्थ आदि का प्रपञ्च ही नहीं रहता है। सार्थक उक्ति केवल एक ही हो सकती है। उसके अर्थ को उससे पृथक् करना सम्भव नहीं है। परन्तु यदि वे उसको स्वीकार नहीं करते हैं,—और वे वास्तव में उसे स्वीकार नहीं करते—तो वाच्यार्थ में रमणीयता का अधिवास नहीं माना जा सकता, व्यङ्ग्यार्थ में ही माना जाएगा—लक्ष्यार्थ में भी नहीं क्योंकि वह भी वाच्यार्थ की तरह माध्यम मात्र है। रमणीयता का प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष सम्बन्ध अनिवार्यतः रस के साथ है; और रस कथित नहीं हो सकता, व्यञ्जित ही हो सकता है। शुक्ल जी के शब्दों से ऐसा मालूम होता है कि वे लक्ष्यार्थ और व्यङ्ग्यार्थ को अनुपपन्न अर्थ को उपपन्न करने का साधन मानते हैं। परन्तु वास्तव में स्थिति इसके विपरीत है। वाच्यार्थ स्वयं ही अपने चमत्कारों के साथ व्यङ्ग्य (रस) का साधन या माध्यम है। मैं उपर्युक्त विवेचन को शुक्ल जी का एक हलका सा दिशान्तर-भ्रमण मानता हूं, यह उनके अपने काव्य-सिद्धान्त के ही विरुद्ध है।

ध्वनि के भेद

ध्वनि के मुख्य दो भेद हैं—१. लक्षणा-मूला ध्वनि और २. अभिधा-मूला ध्वनि।

लक्षणा-मूला ध्वनि :—लक्षणा-मूला ध्वनि स्पष्टतः लक्षणा के आश्रित होती है, इसे अविवक्षितवाच्य ध्वनि भी कहते हैं। इसमें वाच्यार्थ की विवक्षा नहीं रहती। अर्थात् वाच्यार्थ बाधित रहता है, उसके द्वारा अर्थ की प्रतीति नहीं होती। लक्षणा-मूला ध्वनि के दो भेद हैं : (अ) अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य और (आ) अत्यन्त-तिरस्कृत वाच्य। अर्थान्तरसंक्रमित वाच्य से अभिप्राय है 'जहां वाच्यार्थ दूसरे अर्थ में संक्रमित हो जाए' अर्थात् जहां वाच्यार्थ बाधित होकर दूसरे अर्थ में परिणत हो जाए। ध्वनिकार ने इसके उदाहरण-स्वरूप अपना एक श्लोक दिया है जिसका स्थूल हिन्दी-रूपान्तर इस प्रकार है :

तब ही गुन सोभा लहैं, सहृदय जबहिं सराहिं।
कमल कमल हैं तबहिं, जब रविकर सों विकसाहिं॥

यहां कमल का अर्थ हो जायगा "मकरन्द-श्री एवं विकचता आदि से युक्त"—अन्यथा वह निरर्थक ही नहीं वरन् पुनरुक्त दोष का भागी भी होगा। इस प्रकार कमल का साधारण अर्थ उपर्युक्त व्यङ्ग्यार्थ में संक्रमित हो जाता है।

अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य :—अत्यन्ततिरस्कृत वाच्य में वाच्यार्थ अत्यन्त तिरस्कृत रहता है—उसको लगभग छोड़ ही दिया जाता है। यह ध्वनि पदगत और वाक्यतत दोनों ही प्रकार की होती है। ध्वनिकार ने पदगत ध्वनि का उदाहरण दिया है :

रविसंक्रान्त सौभाग्यस्तुषारावृतमण्डलः।
निःश्वासान्ध इवादर्शश्चन्द्रमा न प्रकाशते॥
"साँस सों आँधर दर्पन है जस बादर ओट लखात है चन्दा।"

यहां अन्ध या अन्धर शब्द का अर्थ नेत्र-हीन न होकर लक्षणा की सहायता से 'पदार्थों को स्फुट करने में अशक्त' होता है। इस प्रकार वाच्यार्थ का सर्वथा तिरस्कार हो जाता है। इसका व्यङ्ग्यार्थ है "असाधारण विच्छायत्व, अनुपयोगित्व तथा इसी प्रकार के अन्य धर्म।"

ताला जाअन्ति गुणा जाला दे सहिअएहि घेप्पन्ति।
रइ किरणानुग्गहिआइँ होन्ति कमलाइँ कमलाइँ॥

वाक्यगत ध्वनि का उदाहरण ध्वन्यालोक में यह दिया गया है :

सुवर्णपुष्पां पृथ्वीं चिन्वन्ति पुरुषास्त्रयः
शूरश्च, कृतविद्यश्च यश्च जानाति सेवितुम् ॥
"सुबरन-पुष्पा भूमि कों, चुनत चतुर नर तीन ।
सूर और विद्या-निपुन, सेवा माँहि प्रवीन ॥"

(काव्य कल्पद्रुम की सहायता से)

यहाँ सम्पूर्ण वाक्य का ही मुख्यार्थ सर्वथा असमर्थ है क्योंकि न तो पृथ्वी सुवर्णपुष्पा होती है और न उसका चयन सम्भव है। अतएव लक्षणा की सहायता से इस का अर्थ यह होगा कि तीन प्रकार के नरश्रेष्ठ पृथ्वी की समृद्धि का अर्जन करते हैं।

इस ध्वनि में लक्षण-लक्षणा रहती है।

लक्षणामूला ध्वनि अनिवार्यतः प्रयोजनवती लक्षणा के ही आश्रित रहती है क्योंकि रूढ़ि-लक्षणा में तो व्यङ्ग्य होता ही नहीं।

अभिधामूला ध्वनि :— जैसा कि नाम से ही स्पष्ट है, यह ध्वनि अभिधा पर आश्रित है। इसे विवक्षितान्यपरवाच्य भी कहते हैं। विवक्षितान्य-परवाच्य का अर्थ है : जिसमें वाच्यार्थ विवक्षित होने पर भी अन्य-परक अर्थात् व्यङ्ग्यनिष्ठ हो। अर्थात् यहां वाच्यार्थ का अपना अस्तित्व अवश्य होता है, परन्तु वह अन्ततः व्यंग्यार्थ का माध्यम ही होता है। अभिधामूला ध्वनि के दो भेद हैं : असंलक्ष्यक्रम और संलक्ष्यक्रम। असंलक्ष्यक्रम में पूर्वापर का क्रम सम्यक् रूप से लक्षित नहीं होता, यह क्रम होता अवश्य है और उसका आभास भी निश्चय ही होता है, परन्तु पूर्वापर अर्थात् वाच्यार्थ और व्यंग्यार्थ की प्रतीति का अन्तर अत्यन्तात्यन्त स्वल्प होने के कारण "शतपत्र-भेद न्याय" से स्पष्टतया लक्षित नहीं होता। समस्त रस प्रपञ्च इसके अन्तर्गत आता है। संलक्ष्यक्रम में यह पौर्वापर्य क्रम सम्यक् रूप से लक्षित होता है। कहीं यह शब्द के आश्रित होता है, कहीं अर्थ के आश्रित और कहीं शब्द और अर्थ दोनों के आश्रित। इस प्रकार इसके तीन भेद हैं :

शब्द-शक्ति-उद्भव, अर्थ-शक्ति-उद्भव और शब्दार्थ-उभय-शक्ति-उद्भव। वस्तु-ध्वनि और अलङ्कार-ध्वनि संलक्ष्यक्रम के अन्तर्गत ही आती हैं क्योंकि इनमें वाच्यार्थ और व्यंग्यार्थ का पौर्वापर्य क्रम स्पष्ट लक्षित रहता है।

ध्वनि के मुख्य भेद ये ही हैं। इनके अवान्तर भेदों की संख्या का

ठीक नहीं। मम्मट के अनुसार कुल संख्या १०४४५ तक पहुंचती है : ५१ शुद्ध और १०४०४ मिश्र। इधर पं० रादहिन मिश्र ने ४५१६२० का हिसाब लगा दिया है।

ध्वनि का व्यापकता

उपर्युक्त प्रस्तार से ही ध्वनि की व्यापकता सिद्ध हो जाती है। वैसे भी काव्य का कोई भी ऐसा रूप नहीं है जो ध्वनि के बाहर पड़ता हो। ध्वनि की व्यापकता का दूसरा प्रमाण यह है कि उसकी सत्ता उपसर्ग और प्रत्यय से लेकर संपूर्ण महाकाव्य तक है। पद-विभक्ति, क्रिया-विभक्ति, वचन, सम्बन्ध, कारक, कृत् प्रत्यय, तद्धित प्रत्यय, समास, उपसर्ग निपात, काल आदि से लेकर वर्ण, पद, वाक्य, मुक्तक पद्य, और महाकाव्य तक उसके अधिकार-क्षेत्र का विस्तार है। जिस प्रकार एक उपसर्ग या प्रत्यय या पदविभक्ति मात्र से एक विशिष्ट रमणीय अर्थ का ध्वनन होता है, इसी प्रकार सम्पूर्ण महाकाव्य से भी एक विशिष्ट अर्थ का ध्वनन या स्फोट होता है। प्र, परि, कु, वा, डा आदि जहां एक रमणीय अर्थ को व्यक्त करते हैं, वहाँ रामायण और महाभारत जैसे विशालकाय ग्रन्थ का भी एक ध्वन्यर्थ होता है जिसे आधुनिक शब्दावली में संदेश, मूलार्थ आदि अनेक नाम दिए गये हैं।

ध्वनि आर रस

भरत ने रस की परिभाषा की है : विभाव, अनुभाव, संचारी आदि के संयोग से रस की निष्पत्तिहो ती है। इससे स्पष्ट है कि काव्य में केवल विभाव-अनुभाव आदि का ही कथन होता है—उनके संयोग के परिपाक रूप रस का नहीं। अर्थात् रस वाच्य नहीं होता। इतना ही नहीं रस का वाचक शब्दों द्वारा कथन एक रस-दोष भी माना जाता है—रस केवल प्रतीत होता है। दूसरे, जैसा कि अभी व्यञ्जना के विषय में कहा गया है किसी उक्ति का वाच्यार्थ रस-प्रतीति नहीं कराता केवल अर्थ-बोध कराता है। रस सहृदय की हृदयस्थित वासना की आनन्दमय परिणति है जो अर्थ-बोध से भिन्न है अतएव उक्ति द्वारा रस का प्रत्यक्ष वाचन नहीं होता अप्रत्यक्ष प्रतीति होती है—पारिभाषिक शब्दों में व्यञ्जना या ध्वनन होता है। इसी तर्क से ध्वनिकार ने उसे केवल रस न मानकर रस-ध्वनि माना है।

ध्वनि के अनुसार काव्य के भेद

ध्वनिवादियों ने काव्य के तीन भेद किये हैं—उत्तम, मध्यम और अधम। इस वर्ग-क्रम का आधार स्पष्टतः ध्वनि अथवा व्यङ्ग्य की सापेक्षिक प्रधानता है। उत्तम काव्य में व्यङ्ग्य की प्रधानता रहती है अर्थात् उसमें वाच्यार्थ की अपेक्षा व्यङ्ग्यार्थ प्रधान रहता है, उसी को ध्वनि कहा गया है। ध्वनि के भी अर्थात् उत्तम काव्य के भी तीन भेद-क्रम हैं : रस-ध्वनि, अलङ्कार ध्वनि और वस्तु-ध्वनि। इनमें रस-ध्वनि सर्वश्रेष्ठ है। मध्यम काव्य को गुणीभूत-व्यङ्ग्य भी कहते हैं। इसमें व्यङ्ग्यार्थ का अस्तित्व तो अवश्य होता है, परन्तु वह वाच्यार्थ की अपेक्षा अधिक रमणीय नहीं होता—वरन् समान रमणीय या कम रमणीय होता है, अर्थात् उसकी प्रधानता नहीं रहती। अधम काव्य के अन्तर्गत चित्र आता है जो वास्तव में काव्य है भी नहीं। उसमें व्यङ्ग्यार्थ का अस्तित्व ही नहीं होता और न अर्थगत चारुत्व ही होता है। ध्वनिकार ने उसकी अधमता स्वीकार करते हुए भी काव्य की कोटि में उसे स्थान दे दिया है—परन्तु रस का सर्वथा अभाव होने के कारण अभिनव ने और उनके बाद विश्वनाथ ने उसको काव्य की श्रेणी से पूर्णतः बहिर्गत कर दिया है। इस प्रकार ध्वनि के अनुसार काव्य का उत्तम रूप है ध्वनि और ध्वनि में भी सर्वोत्तम है रस-ध्वनि। पंडितराज जगन्नाथ ने इसे उत्तमोत्तम भेद कहा है, अर्थात् रस या रस-ध्वनि ही काव्य का सर्वोत्तम रूप है। दूसरे शब्दों में रस ही काव्य का सर्वश्रेष्ठ तत्त्व है। शास्त्रीय दृष्टि से रस और ध्वनि का यही सम्बन्ध एवं तारतम्य है।

ध्वनि में अन्य सिद्धान्तों का समाहार

ध्वनिकार अपने सम्मुख दो उद्देश्य रखकर चले थे : एक ध्वनि सिद्धान्त की निर्भ्रान्त स्थापना, दूसरा अन्य सभी प्रचलित सिद्धान्तों का ध्वनि में समाहार। वास्तव में ध्वनि-सिद्धान्त की सर्वमान्यता का मुख्य कारण भी यही हुआ। ध्वनि को उन्होंने इतना व्यापक बना दिया कि उसमें न केवल उनके पूर्ववर्ती रस, गुण, रीति, अलङ्कार आदि का ही समाहार हो जाता था वरन् उनके परवर्ती वक्रोक्ति, औचित्य आदि भी उससे बाहर नहीं जा सकते थे। इसकी सिद्धि दो प्रकार से हुई :—एक तो यह कि रस की भाँति गुण, रीति, अलङ्कार, वक्रता आदि भी व्यङ्ग्य ही रहते हैं। वाचक शब्द द्वारा न तो माधुर्य आदि गुणों का कथन होता है न

वैदर्भी आदि रीतियों का न उपना आदिक अलङ्कारों का और न वक्रता का ही। ये सब ध्वनि रूप में ही उपस्थित रहते हैं। दूसरे गुण, रीति, अलङ्कार, आदि तत्त्व प्रत्यक्षतः अर्थात् सीधे वाच्यार्थ द्वारा मन को आह्लाद नहीं देते। अतएव ये सब ध्वन्यर्थ के सम्बन्ध से, उसी का उपकार करते हुए, अपना अस्तित्व सार्थक करते हैं। इसके अतिरिक्त इन सबका महत्व भी अपने प्रत्यक्ष रूप के कारण नहीं है वरन् ध्वन्यर्थ के ही कारण है। क्योंकि जहां ध्वन्यर्थ नहीं होगा वहां ये आत्मा विहीन पञ्चतत्वों अथवा आभूषणों आदि के समान ही निरर्थक होंगे। इसीलिए ध्वनिकार ने उन्हें ध्वन्यर्थ रूप अङ्गी के अङ्ग ही माना है। इनमें गुणों का सम्बन्ध चित्त की द्रुति, दीप्ति आदि से है, अतएव वे ध्वन्यर्थ के साथ [जो मुख्यतया रस ही होता है] अन्तरङ्ग रूप से सम्बद्ध हैं जैसे कि शौर्यादि आत्मा के साथ। रीति अर्थात् पद-संघटना का सम्बन्ध शब्द-अर्थ से है इसलिए वह काव्य के शरीर से सम्बद्ध है। परन्तु फिर भी जिस प्रकार कि सुन्दर शरीर-संस्थान मनुष्य के वाह्य व्यक्तित्व की शोभा बढ़ाता हुआ वास्तव में उसकी आत्मा का ही उपकार करता है इसी प्रकार रीति भी अन्ततः काव्य की आत्मा का ही उपकार करती है। अलङ्कारों का सम्बन्ध भी शब्द-अर्थ से ही है। परन्तु रीति का सम्बन्ध स्थिर है, अलङ्कारों का अस्थिर—अर्थात् यह आवश्यक नहीं है कि सभी काव्य-शब्दों में अनुप्रास या किसी अन्य शब्दालङ्कार का, और सभी प्रकार के काव्यार्थों में उपमा या किसी अन्य अर्थालङ्कार का चमत्कार नित्य रूप से वर्तमान ही हो। अलङ्कारों की स्थिति आभूषणों की सी है जो अनित्य रूप से शरीर की शोभा बढ़ाते हुए अन्ततः आत्मा के सौन्दर्य में ही वृद्धि करते हैं। क्योंकि शरीर-सौन्दर्य की स्थिति आत्मा के बिना सम्भव नहीं है—शव के लिए सभी आभूषण व्यर्थ होते हैं। [यहां यह स्पष्ट कर देना उचित होगा, कि ध्वनिकार ने अलङ्कार को अत्यन्त संकुचित अर्थ में ग्रहण किया है। अलङ्कार को व्यापक रूप में ग्रहण करने पर, अर्थात् उसके अन्तर्गत सभी प्रकार के उक्ति चमत्कार को ग्रहण करने पर चाहे उसका नामकरण हुआ या नहीं, चाहे वह लक्षणा का चमत्कार हो अथवा व्यञ्जना का जैसा कि कुन्तक ने वक्रोक्ति के विषय में किया है, उसको न तो शब्द-अर्थ का अस्थिर धर्म सिद्ध करना ही सरल है, और न अलङ्कार-अलङ्कार्य में इतना स्पष्ट भेद ही किया जा सकता है।]

पैंतालीस

ध्वनि और पाश्चात्य साहित्य-शास्त्र

सबसे पहले मनोविज्ञान की दृष्टि से ध्वनि के आधार और स्वरूप पर विचार कीजिये। मनोविज्ञान के अनुसार कविता वह साधन है जिसके द्वारा कवि अपनी रागात्मक अनुभूति को सहृदय के प्रति संवेद्य बनाता है। संवेद्य बनाने का अर्थ यह है कि उसको इस प्रकार अभिव्यक्त करता है कि सहृदय को केवल उसका अर्थ-बोध ही नहीं होता वरन उसके हृदय में समान रागात्मक अनुभूति का संचार भी हो जाता है। इस रीति से कवि सहृदय को अपने हृदय-रस का बोध न कराकर संवेदन कराता है। इसका तात्पर्य यह हुआ कि सहृदय की दृष्टि से रस संवेद्य है बोधव्य अर्थात् वाच्य नहीं। यह सिद्ध हो जाने के उपरान्त, अब प्रश्न उठता है कि कवि अपने हृदय-रस को सहृदय के लिये संवेद्य किस प्रकार बनाता है? इसका उत्तर है : भाषा के द्वारा। परन्तु उसे भाषा का साधारण प्रयोग न कर [क्योंकि हम देख चुके हैं कि साधारण प्रयोग तो केवल अर्थ-बोध ही कराता है] विशेष प्रयोग करना पड़ता है अर्थात् शब्दों को साधारण 'वाचक रूप' में प्रयुक्त न कर विशेष 'चित्र-रूप' में प्रयुक्त करना पड़ता है। चित्र-रूप से तात्पर्य यह है कि वे श्रोता के मन में भावना का जो चित्र जगाएं वह क्षीण और धूमिल न होकर पुष्ट और भास्वर हो; और यह कार्य कवि की कल्पना शक्ति की अपेक्षा करता है क्योंकि कवि-कल्पना की सहायता के बिना सहृदय की कल्पना में यह चित्र साकार कैसे होगा? उसके लिए कवि को निश्चय ही अपने शब्दों को कल्पनागर्भित करना पड़ेगा। दूसरे शब्दों में हम यह कह सकते हैं कि यह 'विशेष प्रयोग' भाषा का कल्पनात्मक प्रयोग है। अपनी कल्पना-शक्ति का नियोजन करके कवि भाषा-शब्दों को एक ऐसी शक्ति प्रदान कर देता है कि उन्हें सुनकर सहृदय को केवल अर्थ-बोध ही नहीं होता वरन् उसके मन में एक अतिरिक्त कल्पना भी जग जाती है जो परिणति की अवस्था में पहुंचकर रस-संवेदन में विशेषतया सहायक होती है। शब्द की इस अतिरिक्त कल्पना जगाने वाली शक्ति को ही ध्वनिकार ने 'व्यञ्जना' और रस के इस संवेद्य रूप को ही 'रसध्वनि' कहा है। ध्वनि-स्थापना के द्वारा वास्तव में ध्वनिकार ने काव्य में कल्पनातत्व के महत्व की ही प्रतिष्ठा की है।

पाश्चात्य साहित्य-शास्त्र में ध्वनि का सीधा विवेचन ढूंढ़ना तो असङ्गत

होगा क्योंकि पश्चिम की अपनी पृथक् जीवन-दृष्टि एवं संस्कृति और उसके अनुसार साहित्य, कला, दर्शन, विज्ञान आदि के प्रति अपना पृथक् दृष्टिकोण रहा है। परन्तु मानव-जीवन की मूलभूत एकता के कारण जिस प्रकार जीवन के अन्य मौलिक तत्वों में अनेक प्रकार की प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष समानताएं मिलती हैं, इसी प्रकार साहित्य और कला के क्षेत्र में भी मूल तत्व अत्यन्त भिन्न नहीं हैं।

जैसा कि उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है ध्वनि का सिद्धान्त मूलतः कल्पना की महत्व-स्वीकृति ही है और कल्पना का प्रभुत्व पश्चिमी काव्य-शास्त्र में आरम्भ से ही रहा है। पश्चिम के आद्याचार्य प्लेटो हैं, उन्होंने अप्रत्यक्ष विधि से काव्य में सत्य के आधार की प्रतिष्ठा की। परन्तु वे विज्ञान के सत्य और काव्य के सत्य का अंतर स्पष्ट नहीं कर सके—उन्होंने बुद्धि के (दर्शन के) सत्य और कल्पना के सत्य को एक मानते हुए काव्य और कवि के साथ घोर अन्याय किया। प्लेटो ने काव्य को अनुकृति माना—वह भौतिक पदार्थों या घटनाओं का अनुकरण करता है, और भौतिक पदार्थ एवं घटनाएं आध्यात्मिक (ideal) पदार्थों और घटनाओं की प्रतिकृति मात्र हैं। और चूंकि वास्तविक सत्य आध्यात्मिक घटनाएं ही हैं, अतएव कवि की रचना सत्य की भौतिक प्रतिकृति की प्रतिकृति हैं। और प्रतिकृति रूप में भी वह सर्वथा शुद्ध नहीं है, क्योंकि उसमें अनेक विकृतियाँ हैं। अतएव निष्कर्ष यह निकला कि काव्य सत्य से दूर है। एक तो वह सत्य की प्रतिकृति की प्रतिकृति है और उस पर भी विकृति है। भारतीय काव्य-शास्त्र की शब्दावली में उन्होंने वाच्यार्थ को ही काव्य में मुख्य मान लिया व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति वे नहीं कर सके। और, इसीलिए वे काव्य की आत्मा को व्यक्त नहीं कर पाये। दार्शनिक धरातल पर प्लेटो के उपर्युक्त सिद्धान्त में बहुत कुछ भारतीय दर्शन के अभिव्यक्तिवाद और व्याकरण के स्फोटवाद का आभास मिलता है जिनसे भारतीय आचार्यों को ध्वनि-सिद्धान्त की प्रेरणा मिली थी। यह एक विचित्र संयोग है कि इनकी दार्शनिक अनुभूति होने पर भी प्लेटो काव्य का रहस्य समझने में असमर्थ रहे।

प्लेटो की त्रुटि का समाधान अरस्तू ने किया। उन्होंने भी प्लेटो की भाँति काव्य को अनुकृति ही माना। परन्तु उन्होंने अनुकृति का अर्थ प्रतिकृति न करते हुए पुनर्निर्माण अथवा पुनः सृजन किया। प्लेटो की धारणा थी कि काव्य वस्तु की विषयगत प्रतिकृति है, परन्तु अरस्तू ने उसे वस्तु का कल्पनात्मक पुनर्निर्माण अथवा पुनःसृजन माना। कवि कथन नहीं करता प्रस्तुत करता है, और श्रोता या पाठक तदनुसार वस्तु के प्रत्यक्षरूप को ग्रहण नहीं करता, वरन् कविमानस-

जात रूप को ही ग्रहण करता है, शुक्ल जी के शब्दों में वह कवि की उक्ति का अर्थ ग्रहण नहीं करता, बिम्ब ग्रहण करता है। इस प्रकार अरस्तू ने ध्वनि या व्यङ्ग्य आदि शब्दों का प्रयोग न करते हुए भी काव्यार्थ को वाच्य न मान कर व्यङ्ग्य ही माना है। उनकी 'मिमैसिस'—अनुकरण की व्याख्या में "वस्तु के कल्पनात्मक पुनःसृजन" का अर्थ विभाव, अनुभाव, आदि के द्वारा (वस्तु से उद्बुद्ध) भाव की व्यञ्जना ही है। इस प्रकार अरस्तू के सिद्धान्त में प्रकारान्तर से ध्वनि की स्वीकृति असंदिग्ध है।

अरस्तू के उपरांत यूनान, रोम तथा मध्य यूरोप के आलोचकों ने काव्य के स्वरूप और उपादानों का विवेचन किया। इन आलोचकों में से प्रायः एक बात तो सभी को स्पष्ट थी कि काव्य में शब्द अपने साधारण—कोश और व्यवहारगत अर्थ के अतिरिक्त असाधारण अथवा विशेष अर्थ को व्यक्त करते हैं। इस तथ्य को अनेक प्राचीन आचार्यों ने स्थान-स्थान पर व्यक्त किया है। रोमन आलोचक-कवि होरेस ने शब्दों के प्रयोग पर प्रकाश डालते हुए एक स्थान पर लिखा है "कवि को अपने शब्दों के संगुफन में अत्यन्त सावधानी और सूक्ष्म कौशल से काम लेना चाहिये।.........यदि आप किसी विदग्ध प्रसङ्ग की उद्भावना कर किसी प्राचीन शब्द को नवीन अर्थ दे सकें, तो आप पूर्णतः सफल होंगे।" प्रसङ्ग के द्वारा साधारण (प्राचीन) शब्द में विशेष (नवीन) अर्थ का उद्भास ध्वनिवादियों की अत्यन्त परिचित युक्ति है। इसी प्रकार क्विन्टेलियन ने वाणी में चमत्कार लाने के लिए कला का गोपन आवश्यक माना है। वे कला का मूल रहस्य यह मानते हैं कि वह "अपने कर्ता के अतिरिक्त और सभी के लिए अव्यक्त रहे।" कला के अव्यक्त रूप की यह स्थापना भी ध्वनि की प्रकारान्तर से स्वीकृति है।

यूनान और रोम के साहित्यिक ऐश्वर्य के उपरान्त योरुप में अंधकार युग आता है जो ज्ञान-विज्ञान और कला-साहित्य के चरम ह्रास का युग था। इस अन्धकार में केवल एक ही उज्ज्वल नक्षत्र है और वह है दांते। दांते ने विषय और भाषा दोनों की गरिमा पर बल दिया। भाषा के विषय में उन्होंने ग्रामीण भाषा को बचाने और औज्ज्वल्यमयी मातृभाषा के प्रयोग का समर्थन किया है। उन्होंने शब्दों के विषय में विस्तार से लिखा है। उदात्त शैली के लिए उन्होंने लौन्जाइनस की भाँति उदात्त शब्दों के प्रयोग को अनिवार्य माना है। शब्दों को उन्होंने अनेक वर्गों में विभक्त किया है—कुछ शब्द बच्चों की

तरह तुतलाते हैं[1] —वे अत्यन्त सरल-सामान्य नित्य प्रति के हलके-फुलके शब्द होते हैं। कुछ शब्दों में शक्ति का अभाव और केवल स्त्रियों जैसी लोच-लचक मात्र होती है[2], उनके विपरीत कुछ शब्दों में पौरुष होता है। इस तीसरे वर्ग में भी दो प्रकार के शब्द होते हैं: ग्रामीण और नागरिक—नागरिक शब्दों में भी कुछ मसृण[3] और चिक्कण[4] होते हैं और कुछ प्रकृत[5] और अनगढ़[6] हैं। इनमें चिक्कण और अनगढ़ में केवल नाद-प्रभावमात्र होता है। उदात्त शैली के अवयव केवल मसृण और प्रकृत शब्द ही हैं। शब्दों में इस प्रकार के गुणों की कल्पना असंदिग्ध शब्दों में उनकी व्यञ्जकता की स्वीकृति है--व्यञ्जना शक्ति को स्वीकार किये बिना शब्दों की उपर्युक्त विशेषताओं और वर्गों की उद्भावना सम्भव ही नहीं हो सकती।

अन्धकार युग के उपरान्त योरुप में पुनर्जागरण-काल का आरम्भ हुआ। यह काव्य और कला के लिए मध्ययुगीन बन्धनों से मुक्ति का युग था। इस युग के काव्य और साहित्य में जहाँ जीवन के निकट सम्पर्क और उसकी पूर्णता की अभिव्यक्ति मिलती है, वहां काव्य-शास्त्र में प्रायः प्राचीन आदर्शों की ही स्थापना है। परन्तु धीरे-धीरे नवीन जीवन-आदर्श उसमें भी प्रतिफलित होने लगे और सर फ़िलिप सिडनी को स्वीकार करना पड़ा कि शिक्षण और प्रसादन के अतिरिक्त काव्य का एक और महत्तर प्रयोजन है आन्दोलित करना। इसके साथ ही प्राचीन काव्य-कला के मानों में भी परिवर्तन होने लगा--गरिमा और नियंत्रण के स्थान पर कल्पना और प्रकृत भावोच्चार का महत्त्व बढ़ने लगा। जैसा कि मैंने आरम्भ में ही कहा है कल्पना का व्यञ्जना से अनिवार्य सम्बन्ध है, और यह बात बिल्कुल स्पष्ट है। कल्पना का कार्य है मूर्ति-विधान या चित्र-विधान और कवि अपने मन की इन मूर्तियों या चित्रों को पाठक के मन तक प्रेषित करने के लिए निसर्गतः चित्रभाषा का ही प्रयोग करता है। चित्र-भाषा का कलेवर सांकेतिक तथा प्रतीकात्मक शब्दों से बनता है और ये दोनों व्यञ्जना की विभूतियां हैं। अठारहवीं शताब्दी में ड्राइडन ने अपनी स्वच्छ-प्रखर दृष्टि से इस रहस्य का निर्भ्रान्त रूप से उद्घाटन कर दिया था: "कवि के लिए विवेक आवश्यक है, परन्तु कल्पना (अर्थात् मूर्ति-विधायिनी शक्ति) ही उसकी कविता को जीवन-स्पर्श और अव्यक्त छवियां प्रदान करती हैं।" कहने की

१, childish २. womanish ३. combed ४. slippery
५. shaggy ६. rumpled.

आवश्यकता नहीं कि ये अव्यक्त छवियां व्यञ्जना की ही छवियां हैं। पोप के ऐसे आन क्रिटिसिज्म में कुछ पंक्तियां हैं जिनका आनन्दवर्धन के ध्वनि-विषयक श्लोक के साथ विचित्र साम्य है:—

In wit, as nature, what affects our hearts
Is not the exactness of peculiar parts;
'Tis not a lip, or eye, we beauty call
But the joint force and full result of all.

अर्थात् प्रकृति की भाँति काव्य में भी अंगों का समुचित अनुक्रम एवं अनुपात हमारे मन का अनुरञ्जन नहीं करता। नारी के शरीर में अधर अथवा नेत्र को हम सौन्दर्य नहीं कहते परन्तु सभी अंगों के संयुक्त और सम्पूर्ण प्रभाव का नाम ही सौन्दर्य है। तुलना कीजिए:

प्रतीयमानं पुनरन्यदेव वस्त्वस्ति वाणीषु महाकवीनाम्।
यत्तत्प्रसिद्धावयवातिरिक्तं विभाति लावण्यमिवाङ्गनासु॥

अर्थात् महाकवियों की वाणी में प्रतीयमान कुछ और ही वस्तु है जो स्त्रियों में उनके प्रसिद्ध (अधर नेत्र आदि) अवयवों से अतिरिक्त लावण्य के समान शोभित होता है—अथवा जो अलङ्कारादि काव्य-अवयवों से भिन्न उसी प्रकार शोभित होता है जिस प्रकार स्त्रियों में प्रसिद्ध (नेत्रादि) अवयवों से भिन्न लावण्य।

उपर्युक्त उद्धरणों का मूल भाव तो स्पष्टतः एक ही है केवल अवधान का अन्तर है। आनन्दवर्धन ने लावण्य शब्द के द्वारा इस सौन्दर्य की अव्यक्तता अथवा अर्धव्यक्तता पर थोड़ा अधिक बल दिया है। पोप ने इसको इतना स्पष्ट नहीं किया परन्तु वह उनकी अपनी परिसीमा थी। सौन्दर्य की इस अनिर्वचनीयता का पूर्ण उत्कर्ष रोमानी युग में हुआ। जर्मनी के १८-१९ वीं शताब्दी के दार्शनिकों ने और इधर इंगलैंड में ब्लेक, वर्ड्सवर्थ, शैली आदि ने काव्य में दैवी प्रेरणा और कल्पना के रहस्य-स्पर्शों का मुक्त हृदय से गुण-गान किया है। वास्तव में रोमानी काव्य मूलतः ध्वनिकाव्य ही है। उसकी सौन्दर्य-चिन्तना में रहस्य-भावना का अनिवार्य योग है और इस रहस्य-भावना की अभिव्यक्ति के लिए भाषा की सांकेतिकता (व्यञ्जना) की स्वीकृति अनिवार्य हो जाती है। वर्ड्सवर्थ के लिए सामान्य वस्तुओं में आध्यात्मिक अर्थ की प्रतीति करना काव्यानुभूति की चरम सार्थकता थी; ब्लेक और शैली के लिए

भी, प्रकारान्तर से, सामान्य में असामान्य की प्रतीति ही काव्य-सर्वस्व थी। रोमानी कवि-आलोचकों ने कविता में जिस 'रहस्यमय अनिर्वचनीय तत्व'* को काव्य-सर्वस्व माना वह आनन्दवर्धन के 'प्रतीयमानं पुनरन्यदेव वस्तु' से भिन्न नहीं है।

बीसवीं शताब्दी में योरुप में आलोचना-शास्त्र पर मनोविज्ञान का आक्रमण हुआ। इटली के दार्शनिक क्रोचे ने अभिव्यंजनावाद का प्रवर्तन किया और इधर जर्मनी से प्रतीकवाद का उद्भव हुआ। क्रोचे के अनुसार काव्य सहजानुभूति है और सहजानुभूति अनिवार्यतः अभिव्यञ्जना है—अतएव काव्य मूलतः अभिव्यञ्जना है। क्रोचे अभिव्यञ्जना को अखण्ड-रूपिणी मानते हैं—अभिव्यञ्जना का एक ही रूप होता है; उसमें अभिधा, लक्षणा, व्यञ्जना अथवा वाच्य और व्यंग्य का भेद नहीं होता। परन्तु फिर भी क्रोचे की सहजानुभूति कल्पना की क्रिया है। क्रोचे के ही अनुसार वह चेतना की अरूप झंकृतियों का एक समन्वित बिम्ब रूप होती है। स्पष्टतः ही यह बिम्ब-रूप सहजानुभूति कथित नहीं हो सकती, ध्वनित ही हो सकती है। कहने का अभिप्राय यह है कि क्रोचे के लिए वाच्य-व्यंग्य का भेद तो सर्वथा अनर्गल है, परन्तु उन्होंने व्यंग्य का कहीं निषेध नहीं किया। उन्होंने अभिव्यंजना को अखंड और एकरूप माना है, उसके प्रकार और अवयव-भेद नहीं माने यह ठीक है। परन्तु बिम्ब-रूप सहजानुभूति की यह अभिव्यञ्जना कथन-रूप तो हो नहीं सकती, होगी तो वह ध्वनि रूप ही। क्रोचे के लिए सिद्धान्त-रूप में ध्वनि अप्रासंगिक थी—परन्तु व्यवहार रूप में तो वे भी इसको बचा नहीं सके। वास्तव में क्रोचे आत्मवादी दार्शनिक थे। उन्होंने अभिव्यञ्जना का आत्मा की क्रिया के रूप में विवेचन किया है, उसके मूर्त शब्द-अर्थ रूप में उन्हें अभिरुचि नहीं थी। परन्तु क्रोचे के उपरान्त उनके अनुगामियों ने अभिव्यञ्जना के स्थूल रूप को अधिक ग्रहण किया है और अभिव्यञ्जना के चमत्कार को ही कला का सार-तत्व माना है। स्वभावतः ही इन लोगों का ध्वनि से निकटतर सम्बन्ध है। प्रतीकवाद तो स्वीकृत रूप से प्रतीकात्मक तथा सांकेतिक अभिव्यक्ति के ही आश्रित है। उसकी तो सम्पूर्ण-क्रिया-प्रक्रिया ध्वनि (सांकेतिक अर्थ) को लेकर ही होती है।

इस शताब्दी के काव्य और कला सम्बन्धी विचारों पर फ्रायड का

---

*Mysterious Something.

गहरा प्रभाव है परन्तु फ्रायड ने कला के मूल दर्शन का ही विवेचन किया है—उसकी मूर्त अभिव्यक्ति के लिए उन्होंने चिन्ता नहीं की। वे काव्य और कला को स्वप्न का सगोत्री मानते हुए उसे मूलतः स्वप्न-चित्र[1] रूप जानते हैं। कहने की आवश्यकता नहीं कि ये स्वप्न-चित्र भी अनिवार्यतः व्यंग्य के ही आश्रय से व्यक्त हो सकते हैं। कवि अपने मन के कुण्ठा-जन्य स्वप्न-चित्र की स्पष्टतः व्यञ्जना ही कर सकता है कथन नहीं। क्रोचे और फ्रायड का उल्लेख मैंने केवल इस लिए किया है कि आधुनिक कला-विवेचन पर इनका गहरा और सार्वभौम प्रभाव है तथा किसी भी काव्य-सिद्धान्त की समीक्षा में इनकी उपेक्षा नहीं की जा सकती। वैसे इनका सीधा सम्बन्ध प्रस्तुत विषय से नहीं है—(यद्यपि इनके सिद्धान्तों में ध्वनि की अप्रत्यक्ष स्वीकृति सर्वथा असंदिग्ध है।) इनकी अपेक्षा डा० ब्रैडले जैसे कलावादी[2] तथा श्री रीड जैसे अतिवस्तुवादी[3] आलोचकों का ध्वनि-सिद्धान्त से अधिक ऋजु सम्बन्ध है। कलावादियों का "कलात्मक अनुभव की अनिर्वचनीयता" का सिद्धान्त भी आनन्दवर्धन के "प्रतीयमानं पुरन्यदेव" का ही रूपान्तर है। फ्रांस के अतिवस्तुवादी और उनके अंगरेज प्रवक्ता श्री रीड और उधर स्पिंगार्न जैसे प्रभाववादी[4] तो व्यंग्य के ही नहीं—गूढ़ व्यंग्य के समर्थक हैं। प्रभाववादी तो एक शब्द से केवल एक अर्थ का ही नहीं सारे प्रकरण की व्यञ्जना का दुष्कर कार्य लेते हैं। देखिये स्पिगार्न की कविता का शुक्ल जी कृत विश्लेषण (चिंतामणि भाग, २)

उपर्युक्त प्रायः सभी काव्य-सिद्धान्तों में अतिवाद है। इंगलैंड के मेधावी अलोचक रिचर्ड्स ने मनोविज्ञान की वैज्ञानिक कसौटी पर कस कर इन सबको खोटा ठहराया और काव्यानुभूति की वैज्ञानिक विवेचना प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया। उन्होंने 'अपने प्रिंसिपिल्स आफ़ लिटरेरी क्रिटिसिज्म (काव्यालोचन के सिद्धान्त)' और 'मीनिंग आफ़ मीनिंग (अर्थ का अर्थ)' नामक प्रसिद्ध ग्रन्थों में शब्दों की व्यञ्जक शक्ति और कविता की ध्वन्यात्मकता के विषय में कई स्थानों पर बहुमूल्य विचार प्रकट किये हैं। काव्यानुभूति की प्रक्रिया में वे छः संस्थान मानते हैं १. शब्द को पढ़कर या सुन कर उत्पन्न होने वाले दृष्टिगोचर संवेदन अथवा कर्णगोचर संवेदन, २. सम्बद्ध मूर्तिविधान, ३. स्वतन्त्र मूर्तिविधान, ४. विचार, ५ भाव और ५. रागात्मक दृष्टिकोण।

---

1. Phantasy. 2. Aesthetes. 3. Sur-realist. 4. Impressionists.

काव्य को पढ़कर या सुनकर पहले तो सर्वथा भौतिक, दृष्टिगोचर या कर्णगोचर संवेदन उत्पन्न होते हैं, उनके उपरान्त उनसे सम्बद्ध वाक्चित्र[1]—उत्पन्न हो जाते हैं, फिर यह प्रक्रिया और आगे बढ़ती है और एक स्वतंत्र चित्र-जाल मन की आंखों के सम्मुख जग जाता है। तदुपरान्त उनसे सम्बद्ध विचार और फिर भाव और अन्त में इस क्रिया के फलस्वरूप विशेष रागात्मक दृष्टि-कोण बन जाता है। जैसा कि स्वयं रिचर्ड्स ने ही स्पष्ट किया है, इनमें से २ अर्थात् वाक्चित्रों का सम्बन्ध शब्द से है और ३ का शब्द के अर्थ से[2]। कहने की आवश्यकता नहीं कि इस विश्लेषण में ध्वनि-सिद्धान्त का स्पष्ट आभास है। २ में रिचर्ड्स प्रकारान्तर से वर्णध्वनि की चर्चा कर रहे हैं, और ३ और उसके आगे ४, ५, ६, में शब्द और अर्थ ध्वनि की (of things words stand for)। आगे चलकर भाषा के विवेचन में उन्होंने अपना मन्तव्य और स्पष्ट किया है। भाषा के वे दो प्रयोग मानते हैं : एक वैज्ञानिक[3] प्रयोग दूसरा रागात्मक[4] प्रयोग। वैज्ञानिक प्रयोग किसी वस्तु का ज्ञान भर करा देने के लिए किया जाता है, रागात्मक प्रयोग भाव जगाने के लिए किया जाता है। शुक्ल जी के शब्दों में पहले से अर्थ का ग्रहण होता है दूसरे से बिम्ब का।—भारतीय काव्यशास्त्र की शब्दावली में, पहले प्रयोग का आधार शब्द की अभिधा शक्ति है, और दूसरे का आधार व्यञ्जना अथवा लक्षणा-आश्रित व्यञ्जना।

अब तक मैंने जिन पश्चिमीय आचार्यों का उल्लेख किया है, उनमें से प्रायः अधिकांश में प्रकारान्तर से ही ध्वनि सिद्धान्त की स्वीकृति मिलती है। अब अन्त में मैं एक ऐसे पश्चिमीय आलोचक का उद्धरण देकर इस प्रसंग को समाप्त करता हूँ जिन्होंने काव्य में ध्वनि सिद्धान्त का सीधा प्रतिपादन किया है। ये हैं अंगरेजी के कवि-आलोचक एबरक्रोम्बी। उनका मत है "साहित्य का कार्य है अनुभूति का प्रेषण—परन्तु अनुभूति भाषा में तो घटित होती नहीं। (अतएव) कवि की अनुभूति इस प्रकार की प्रतीक भाषा में अनूदित होनी चाहिए जिसका सहृदय फिर अपनी अनुभूति में अनुवाद कर सकें—दोनों अवस्थाओं में ही अनुभूति भावित तो होगी ही।× × × ×

---

1. Verbal images.

2. They differ from those to which we are now proceeding (i.e. 3) in being images of words not of things words stand for.

3. Scientific. 4. Emotive.

× × इस प्रकार, अनुभूति जैसी अत्यन्त तरल (परिवर्तनशील) वस्तु का अनुवाद भाषा में करना पड़ता है जिसकी शक्ति स्वभाव से ही अत्यन्त सीमित है। अतएव काव्य-कला सदा ही किसी न किसी अंश में ध्वनि-रूप होती है और काव्य-कला का चरम उत्कर्ष है भाषा की इस व्यञ्जना शक्ति को अधिक से अधिक व्यापक, प्रभावपूर्ण, प्रत्यक्ष, स्पष्ट तथा सूक्ष्म बनाना। यह व्यञ्जना शक्ति भाषा की साधारण अर्थ-विधायिनी (अभिधा) शक्ति की सहायक होती है।

भाषा की इसी शक्ति का परिज्ञान कवि को सामान्य व्यक्ति से पृथक् करता है। इसी व्यञ्जना वृत्ति के प्रति संवेदनशीलता सहृदय की पहचान है। (अतएव) कर्ता में प्रेरक, और भोक्ता में ग्राहक रूप से वर्तमान यही वह विशेष गुण है जिसे कि काव्य की आत्मा मानना चाहिए।"

उपर्युक्त उद्धरण पर प्रकाश डालने की आवश्यकता नहीं। इसे पढ़कर ऐसा लगता है मानो प्रो० एबरक्राम्बी भारतीय ध्वनि सिद्धान्त का अंग्रेज़ी में व्याख्यान कर रहे हों।

पाश्चात्य काव्य-शास्त्र के अलङ्कार-विधान में ध्वनि की स्वीकृति और भी प्रत्यक्ष है। हमारे यहां लक्षणा-व्यञ्जना को शब्द की शक्तियाँ मान कर उनके चमत्कार का पृथक् विवेचन किया गया है, परन्तु पश्चिम में उनके चमत्कार अलङ्कार रूप में ग्रहण किये गये हैं। उदाहरण के लिए वक्रतामूलक इनुएंडो और आयरनी में व्यञ्जना का प्रत्यक्ष आधार है। इन दोनों के अनेक उदाहरण शुद्ध ध्वनि के उदाहरण रूप में प्रस्तुत किए जा सकते हैं। भारतीय काव्य-शास्त्र के अनुसार उनका समावेश अलङ्कारों के अन्तर्गत नहीं किया जा सकता क्योंकि उनमें वाच्यार्थ का चमत्कार नहीं, प्रायः व्यङ्ग्यार्थ का ही चमत्कार होता है। यूफ़्यूमिज़्म में कटुता को बचाने के लिए अप्रिय बात को प्रिय शब्दों में लपेट कर कहा जाता है—संस्कृत के पर्याय की भाँति उसका भी आधार निश्चय ही व्यञ्जना है।—इत्यादि।

हिन्दी में ध्वनि

साधारणतः हिन्दी का आदि कवि चंद और आदि काव्य पृथ्वीराज रासो माना जाता है, परन्तु इससे पूर्ववर्ती पुरानी हिन्दी का काव्य भी आज उपलब्ध होगया है—जिसके अन्तर्गत अनेक प्रबन्ध-काव्य तथा स्फुट नीति-साहित्य मिलता

है। प्रबन्ध काव्यकारों में सबसे प्रसिद्ध थे स्वयंभुदेव कविराज, जिनका समय चन्द से ढाई शताब्दी पूर्व सन् ७६० ई० के आसपास था। उनका रामायण ग्रन्थ अनेक रूपों में तुलसी के रामचरित मानस का प्रेरणा-स्रोत था। स्वयंभुदेव ने तुलसीदास की तरह ही अपनी विनम्रता का वर्णन किया है अथवा यों कहिये कि तुलसीदास ने ही उनसे प्रेरणा ग्रहण करते हुए अपनी दीनता आदि का बखान किया है। स्वयंभुदेव ने कुछ स्थलों पर काव्य-सिद्धान्त-सम्बन्धी दो एक संकेत दिये हैं :

बुहयण सयंभु पइँ विण्णवइ। मइु सरिसउ अण्ण णाहि कुकई ॥
वायरणु कयारण जणियउ। सउ वित्ति सुत्तं बक्खाणियउ ॥
णा णिसुणिउ पंच महायकब्बु। णउ भरहण लक्खणु छंदु सब्बु ॥
णउ बुज्झउं पिंगल पच्छारु। णउ भामह दंडियलंकारु ॥

बुधजनों के प्रति स्वयंभु विनती करता है कि मेरे सरिस अन्य कुकवि नहीं है। मैं व्याकरण किंचित् भी नहीं जानता। वृत्ति सूत्र का वर्णन भी नहीं कर सकता। मैंने पंच महाकाव्य नहीं सुने हैं और न भरत [के नाट्य शास्त्र] का अध्ययन किया है, मैं सब छन्दों के लक्षण भी नहीं जानता। न मैं पिंगल-प्रस्तार से अभिज्ञ हूं और न मैंने भामह तथा दंडी के अलङ्कार-ग्रन्थ ही पढ़े हैं।

इसके अतिरिक्त एक और स्थान पर स्वयंभु ने लिखा है:—

अक्खर बास जलोह मणोहर। सुयलङ्कार छन्द मच्छोहर ॥
दीह-समासा पवाहा बंकिय। सक्कय पायय पुलिणालङ्किय ॥
देसी-भासा उभय तडुज्जल। कवि-दुक्कर घण-सद्द-सिलायल ॥
अथ्थ वहुल कल्लोल णिट्ठिय। आसा-सय-सम-ऊह परिट्ठिय ॥

इसमें [रामकथा में]

अक्षर मनोहर जलोक हैं, सु अलङ्कार और छन्द मछलियां हैं। दीर्घ समास बंकिम प्रवाह हैं। संस्कृत प्राकृत पुलिन हैं। देसी भाषा के उभय उज्ज्वल तट हैं। कवियों के लिए दुष्कर घने शब्द शिलातल हैं। अर्थ-बहुला कल्लोलें हैं। शत-शत आशाएं तरंगें हैं।...आदि।

प्रबन्ध-काव्यकार होने के नाते स्वयंभुदेव को रस के प्रति आग्रह होना चाहिए था। परन्तु उपर्युक्त संकेतों में रस का उल्लेख नहीं है, ध्वनि का तो प्रश्न ही नहीं उठता क्योंकि स्वयंभुदेव आनन्दवर्धन के पूर्ववर्ती कवि थे। वास्तव

में उन पर पूर्व-ध्वनि-कालीन प्रभाव था, इसीलिए उन्होंने भामह और दंडी के अलङ्कार-निरूपण, और वामन की सूत्र-वृत्ति [रीति-निर्णय] का ही उल्लेख किया है। उन्होंने दीर्घ-समास और घनी शब्दावली [रीति, वृत्ति], अलङ्कार, छन्द-प्रस्तार को अधिक महत्व दिया है। 'अर्थ बहुलता' में भी रसवादी कवियों को छोड़ भारवि और माघ आदि शब्द-अर्थ-शिल्पी कवियों की ओर ही संकेत है। परन्तु यह समय का प्रभाव था।

हिन्दी के आरम्भिक काल—वीर गाथा काल—में मुख्यतः वीर गाथाओं और वीर गीतों तथा साधारणतः नीतिपरक फुटकर कविताओं की ही रचना हुई थी। इनके अतिरिक्त सम्भव है कुछ पण्डित-गोष्ठियों में साहित्य-शास्त्र की भी चर्चा होती रही हो जिसमें रस, ध्वनि, अलङ्कार आदि शास्त्र-सिद्धान्तों का खंडन-मंडन, अध्ययन-अध्यापन होता रहा होगा। परन्तु उसका कोई लिखित प्रमाण या परिणाम आज उपलब्ध नहीं है। वीर-गाथाकार कवि विशेषतः चन्द निश्चय ही शास्त्र-मर्मज्ञ कवि थे। उन्होंने छः भाषाओं का तथा विभिन्न शास्त्र-पुराण आदि का विधिवत् अध्ययन किया था।

उनके काव्य में व्यापक धर्मनीति और राजनीति का समावेश तथा नवरस का परिपाक है:

उक्ति धर्म विसालस्य। राजनीतिं नवं रसं॥
षट्भाषा पुराणं च। कुरानं कथितं मया॥

पृथ्वीराज रासो में जिस प्रचुरता के साथ अलङ्कार, गुण, रीति तथा रस सामग्री आदि का प्रयोग किया गया है उससे स्पष्ट है कि कवि चंद ने काव्य-शास्त्र के अङ्ग-उपाङ्गों का सम्यक् अध्ययन किया था। परन्तु यह सब होते हुए भी सिद्धान्त-विवेचन उनके काव्य के लिए अप्रासङ्गिक था। वैसे इनके काव्य का अध्ययन करने के उपरान्त यही निष्कर्ष निकलता है कि वीर और शृङ्गार का परिपाक करने वाले ये कवि रसवादी ही थे। प्रबन्ध-काव्यकार होने के नाते भी ध्वनि की अपेक्षा रस सम्प्रदाय से ही इनका घनिष्ठतर सम्बन्ध था। चंद ने लिखा भी है "...राजनीतिं नवं रसं।"

वीरगाथाकाल के उपरान्त निर्गुण काव्य-धारा प्रवाहित हुई। ये कवि सिद्धान्त और व्यवहार दोनों की दृष्टि से शास्त्रीय परम्परा से दूर थे। इनके तो काव्य के लिए भी काव्य-सिद्धान्तों का ज्ञान भी अप्रासङ्गिक था, विवेचन तो दूर की बात रही। फिर भी इनके काव्य का ध्वनि-सिद्धान्त से अनिवार्य तथा

प्रत्यक्ष सम्बन्ध था। जैसा कि मैंने पाश्चात्य काव्य-शास्त्र के प्रसङ्ग में स्पष्ट किया है रहस्यवाद का ध्वनि से अनिवार्य सम्बन्ध है क्योंकि रहस्यानुभूतियों का कथन नहीं हो सकता, व्यञ्जना ही हो सकती है। इसीलिए कबीर ने अपने रहस्यानुभव को गूंगे का गुड़ बताते हुए सैना-बैना के द्वारा ही उसकी अभिव्यक्ति सम्भव मानी है। सैना-बैना का स्पष्ट अर्थ है सांकेतिक भाषा अर्थात् व्यञ्जना-प्रधान भाषा। इसी प्रकार प्रेमाश्रयी कवियों की रचनाएं भी ध्वनि-काव्य के अन्तर्गत ही आती हैं। जायसी ने अपने काव्य को अन्योक्ति कहा है। प्रबन्धगत अन्योक्ति अथवा समासोक्ति या रूपक गूढ़ व्यङ्ग्य पर आश्रित रहता है। उसका मूलार्थ सर्वथा ध्वनित होता है। परन्तु चूंकि इस प्रकार के अन्योक्ति या रूपक काव्य के द्वारा रस की व्यञ्जना न होकर अन्ततः सिद्धान्त [वस्तु] की ही व्यञ्जना होती है इसलिए यह उत्तमोत्तम [रस-ध्वनि] काव्य के अन्तर्गत नहीं आता। रूपक काव्य जहां तक कि उसके रूपक तत्व का सम्बन्ध है, मूलतः वस्तु-ध्वनि के ही अन्तर्गत आता है और यह वस्तु भी गूढ़ व्यङ्ग्य होती है, अतएव इसकी श्रेणी रस-ध्वनि से निम्नतर ठहरती है। यही कारण है कि शुक्लजी ने पद्मावत को मूलतः प्रबन्ध काव्य ही माना है, उसके अन्योक्ति रूप को आनुषंगिक माना है।

और यह ठीक भी है। इसमें सन्देह नहीं कि जायसी ने अपने काव्य में सूफ़ी सिद्धांत (वस्तु की) व्यंजना की है, परन्तु वे प्रकृत रससिद्ध कवि थे। अतएव उनका सिद्धान्त पीछे रह गया है और प्रीति में डूबा हुआ रसमय काव्य ही प्रमुख हो गया है। जायसी ने स्वयं कहा भी है :—

जोरी लाइ रकत कै लेई। गाढ़ि प्रीति नयनहि जल भेई॥
मैं जिय जानि गीत अस कीन्हा। मकु यह रहै जगत महँ चीन्हा॥

प्राणों के रक्त से लिखी हुई और गाढ़ी प्रीति से उद्भूत नयनों के जल से भीगी हुई कविता वस्तु [सिद्धान्त] की ही व्यञ्जना करके कैसे रह जाती ? उसमें रस की व्यञ्जना निस्सन्देह है।

कबीर-जायसी के युग के बाद सूर-तुलसी का युग आता है। रामभक्त और कृष्णभक्त कवि प्रायः सभी शास्त्र-निष्ठ थे, उनका दर्शन और काव्य दोनों का शास्त्रों से सम्पर्क था, परन्तु फिर भी सिद्धान्त रूप में ये भक्ति को शास्त्र से अर्थात् भावना को बुद्धि से अधिक महत्व देते थे। तुलसी ने काव्य के दो उद्देश्य माने हैं। प्रत्यक्ष रूप से तो स्वान्तः सुखाय रघुनाथ गाथा का वर्णन करना,

और अप्रत्यक्ष रूप से उसके द्वारा लोकधर्म की प्रतिष्ठा करना। दूसरे शब्दों में तुलसी के काव्य में आत्मरंजन और लोकरंजन का पूर्ण समन्वय है, व्यक्ति-परक और वस्तु-परक दृष्टिकोणों का सामंजस्य है। उधर भाव तत्व के साथ ही उनमें बुद्धि तत्व और कल्पना तत्व का भी उचित समन्वय है, फिर भी कुल मिलाकर तुलसी और उनके अनुयायी रामभक्तों को रस सम्प्रदाय के अन्तर्गत ही मानना पड़ेगा।

काव्य रचना के अतिरिक्त तुलसी के सैद्धान्तिक संकेतों से भी इस तथ्य की पुष्टि हो जाती है। काव्य के उपकरणों के विषय में उन्होंने लिखा है :—

आखर अरथ अलंकृति नाना। छन्द प्रबन्ध अनेक विधाना॥
भाव भेद रस भेद अपारा। कवित दोष गुण विविध प्रकारा॥

उपर्युक्त उद्धरण में उन्होंने शब्दार्थ, अलङ्कार, छन्द, दोष और रस और भाव को काव्य के उपकरण माना है—ध्वनि का उल्लेख भी नहीं किया। परन्तु ये उपकरण तो साधन मात्र हैं—साध्य है राम भक्ति।

भनिति विचित्र सुकविकृत जोऊ।
राम नाम बिनु सोह न सोऊ॥

अतएव तुलसी के मत में भक्ति रस ही काव्य का प्राण है। और स्पष्ट शब्दों में :—

हृदय-सिंधु मति सीप समाना। स्वाति सारदा कहहिं सुजाना॥
जो बरसइ वर-बारि बिचारू। होइ कबित मुकुतामनि चारू॥
जुगुति बेधि पुनि पोहिहहिं, रामचरित बर ताग।
पहिरहिं सज्जन बिमल उर, सोभा अति अनुराग॥

काव्य की मूल सामग्री हैं भाव [हृदय-सिन्धु] उनकी संयोजिका है (मति कारयित्री प्रतिभा) जिसको सरस्वती से प्रेरणा प्राप्त होती है—अर्थात् यह प्रतिभा ईश्वर-प्रदत्त है। श्रेष्ठ विचार वर्षा का जल अर्थात् पोषक तत्व है। परन्तु इस प्रकार उद्भूत काव्य-मणियाँ सज्जनों का हृदय हार तभी बनती हैं जब रामचरित के सुन्दर तार में युक्ति-पूर्वक उन्हें पिरो दिया जाए। अर्थात् श्रेष्ठ काव्य के लिये निम्न-लिखित उपकरणों और तत्वों की आवश्यकता होती है :—भाव-समृद्धि, कारयित्री ईश्वर-प्रदत्त प्रतिभा, श्रेष्ठ विचार [उत्कृष्ट जीवन-दर्शन] और रामभक्ति जो इन सबका प्राणतत्व है।

उन्होंने आरम्भ मे ही कहा है : "वर्णानां अर्थसंघानाम् रसानां छंदसामपि । मंगलानाम् च कर्त्तारौ वंदे वाणीविनायकौ ।"

कृष्णभक्त कवियों में तो रागतत्व का और भी अधिक प्राधान्य है। इसका अभिप्राय यह नहीं है, इन कवियों के काव्यों में ध्वनि की किसी प्रकार भी उपेक्षा की गई है । वास्तव में तुलसी, सूर और अन्य सगुण भक्त कवियों की रचनाओं में रस-ध्वनि, वस्तु-ध्वनि तथा अलङ्कार-ध्वनि के अगणित उत्कृष्ट उदाहरण मिलते हैं । सूर तथा अन्य कृष्णभक्त कवियों का भ्रमरगीत काव्य जो मूलतः उपालम्भ काव्य है, रस-ध्वनि का उत्कृष्ट नमूना है । फिर भी इन अतिशय रागी कवियों को रसवादी न मानना इनके काव्य की आत्मा के प्रति अन्याय करना होगा ।

इन कवियों के उपरान्त हिन्दी-साहित्य में रीति कवियों का आविर्भाव हुआ । ये सभी कवि मूलतः काव्य-सिद्धान्त के प्रति जागरूक थे । इन्होंने काव्य-शास्त्र और उसके विभिन्न सम्प्रदायों का विधिवत् अध्ययन किया था, और अनेक ने अपने काव्य में उनका विवेचन भी किया । व्यवहार रूप से भी यह युग मुक्तक-काव्य का युग था—और जैसा कि अन्यत्र कहा गया है ध्वनि-सिद्धान्त का आविष्कार ही वास्तव में मुक्तक-काव्य को उचित स्वीकृति देने के लिए हुआ था । अतएव हिन्दी साहित्य के इतिहास में ध्वनि-सिद्धान्त की वास्तविक महत्व-स्वीकृति इसी युग में हुई । वैसे तो इसमें सन्देह के लिए अवकाश नहीं है कि रीति युग पर रसवाद और उसमें भी शृङ्गारवाद का ही आधिपत्य रहा, फिर भी अन्य वादों की भी पूर्णतः उपेक्षा नहीं की गई—अलङ्कार और ध्वनि के समर्थकों का स्वर भी मन्द नहीं रहा । सबसे पहले तो सेनापति ने ही अपने काव्य की सिफ़ारिश करते हुए उसकी ध्वन्यात्मकता पर विशेष बल दिया है—'सरस अनूप रस-रूप या में धुनि है ।' उनका रीतिग्रन्थ काव्य-कल्पद्रुम आज अप्राप्य है, अतएव इसके विषय में कुछ कहना असङ्गत होगा । उनके उपरान्त हिन्दी के अनेक आचार्यों ने मम्मट के अनुसरण पर काव्य का सर्वांग-विवेचन किया है जिनमें से मुख्य हैं – कुलपति, श्रीपति, दास और प्रतापसाहि । इन कवियों की प्रवृत्ति अपेक्षाकृत बौद्धिक थी और ये मम्मट की ही भाँति ध्वनि अथवा रसध्वनिवादी थे । इनके काव्य की पद्धति और रीति-सिद्धान्त दोनों ही इसके प्रमाण हैं । कुलपति ने स्पष्टतः ही ध्वनि को काव्य की आत्मा माना है ।—

व्यंग्य जीव ताको कहत, शब्द अर्थ है देह।
गुन गुन, भूषन भूषनैं, दूषन दूषन देह॥ (रस-रहस्य)

दास ने यद्यपि आरम्भ में रस को कविता का अंग अर्थात् प्रधान अंग माना है—

रस कविता को अंग, भूषन हैं भूषन सकल,
गुन सरूप औ रंग दूषन करैं कुरूपता। (काव्य-निर्णय)

परन्तु फिर भी उनके ग्रंथ में इस प्रकार के स्पष्ट सङ्केत हैं कि रस से उनका तात्पर्य रस-ध्वनि का ही है।

भिन्न भिन्न यद्यपि सकल, रस भावादिक दास,
रसैं व्यंगि सबको कह्यौ, ध्वनि कौ जहां प्रकास। (का०नि०)

इसके अतिरिक्त मम्मट की ही तरह इन्होंने अलंकार को भी बहुत महत्व दिया है:—

अलंकार बिनु रसहु है, रसौं अलंकृति छंडि,
सुकवि बचन रचनान सौं, देत दुहन को मंडि। (का० नि०)

प्रतापसाहि तो स्वीकृत रूप में ध्वनिवादी थे ही:—

व्यंग जीव है कवित में, शब्द, अर्थ गति अंग।
सोई उत्तम काव्य है, बरनै व्यंग्य प्रसंग॥ (व्यंग्यार्थ कौमुदी)

उन्होंने व्यंग्य पर एक स्वतंत्र ग्रंथ ही रचा है जिसमें सारे रस-प्रसंग का व्यंग्य (ध्वनि) के द्वारा वर्णन किया गया है।

हिन्दी रीति काव्य में ध्वनिवाद का सर्वोत्कृष्ट रूप बिहारी और प्रतापसाहि में मिलता है। बिहारी ने यद्यपि लक्षण-ग्रंथों की रचना नहीं की परन्तु उनके काव्य की प्रवृत्ति सर्वथा ध्वनिवाद के ही अनुकूल थी। उनके दोहों के काव्यगुण का विश्लेषण करने पर यह संदेह नहीं रह जाता कि वे रसवाद के शुद्ध मानसिक-प्राकृतिक आनन्द की अपेक्षा ध्वनिवाद के बौद्धिक आनन्द को ही अधिक महत्व देते थे। उन्होंने (अथवा उनके किसी अंतरंग समकालीन ने) सतसई की ध्वन्यात्मकता पर ही बल दिया है:—

सतसैया के दोहरे, ज्यों नावक के तीर।
देखन में छोटे लगें, घाव करें गम्भीर॥

यह निश्चय ही उसके व्यंग्य-गुण की प्रशस्ति है।

इस युग में ध्वनि का प्रबल विरोध दो आचार्यों न किया—केशवदास ने और देव ने। केशवदास ने अलंकारवाद की निर्भ्रांत स्थापना की, साथ ही रसिकप्रिया में शृङ्गारवाद को भी मान्यता दी, परन्तु ध्वनि का उन्होंने सर्वथा बहिष्कार किया। उन्होंने भामह-दंडी की ध्वनिपूर्व अलंकारवादी परम्परा को तो मूलतः अपनाया ही, इसके साथ ही ध्वनि-उत्तर शृङ्गारवाद को भी ग्रहण किया, परन्तु ध्वनि की उन्होंने सर्वथा उपेक्षा की। दूसरे आचार्य रसमूर्ति देव रसवाद के प्रबल पृष्ठपोषक थे। उन्होंने तो व्यंजना को अधम ही कह दिया :

> अभिधा उत्तम काव्य है, मध्य लच्छना-लीन।
> अधम व्यंजना रस-कुटिल, उलटी कहत नवीन॥

उपर्युक्त दोहे को मूल-प्रसंग से विच्छिन्न कर आचार्य शुक्ल ने अपनी अमोघ शैली में उसकी आवश्यकता से अधिक छीछालेदर कर डाली है, और दूसरे लोग भी मूल-प्रसंग को देखे बिना ही उनका अनुकरण करते गये हैं। उपर्युक्त दोहा पात्र-वर्णन प्रसंग का है : देव ने शुद्ध-स्वभावा स्वकीया को वाच्य-वाचक पात्र माना है, गर्व-स्वभावा स्वकीया को लक्ष्य-लाक्षणिक पात्र, और शुद्ध-परकीया को व्यङ्ग्य-व्यञ्जक पात्र। इस प्रकार शुद्ध-स्वभावा मुग्धा स्वकीया का सम्बन्ध अभिधा से है अर्थात् वह मुग्ध-स्वभावा होने के कारण अभिधा का प्रयोग करती हुई सीधी-सादी बात करती है। गर्व-स्वभावा प्रौढ़ा स्वकीया के स्वभाव और वाणी में मुग्ध सारल्य की कमी हो जाती है, और उसकी अभिव्यक्ति का साधन लक्षणा हो जाती है। परकीया के स्वभाव और वाणी में वक्रता होना अनिवार्य है, अतएव उसकी अभिव्यक्ति का माध्यम होती है व्यञ्जना। इसी कारण देव का मत है कि,

> स्वीय मुग्ध मूरति सुधा, प्रौढ़ सिता पय सिक्त।
> परकीया करकस सिता, मरिच परिचयनि तिक्त॥

कहने का तात्पर्य यह है कि देव ने अभिधा को शुद्ध-स्वभावा स्वकीया से और व्यञ्जना को परकीया से एकरूप कर देखा है, अतएव उपर्युक्त दोहे में व्यञ्जना की भर्त्सना का लक्ष्य बहुत कुछ परकीया की रसाभिव्यक्ति ही है। उपर्युक्त व्याख्या के उपरान्त भी देव के काव्य-विवेचन का सर्वांगरूप से पर्यवेक्षण करने पर इसमें सन्देह नहीं किया जा सकता कि देव को रस के प्रति अत्यन्त प्रबल आग्रह था और उन्होंने ध्वनि का बहिष्कार ही किया है। उन्होंने

काव्य के सभी अङ्गों का—यहां तक कि पिंगल का भी यत्किंचित् विस्तार से विवेचन किया है, परन्तु ध्वनि का उल्लेख मात्र भी नहीं किया। वास्तव में देव हृदय की रागात्मक अनुभूतियों को ही काव्य का सर्वस्व मानते थे, अतएव उन्हें स्वभावोक्ति और अभिधा से ही ममता थी—व्यञ्जना को पहेली-बुझौवल मानने की मूढ़ता तो उन्होंने नहीं की, परन्तु उनकी रस-योजना में उसका स्थान गौण ही है।

संस्कृत में ध्वनि के समर्थ प्रवक्ता मम्मट ने ध्वनि को काव्य की आत्मा मानते हुए रस आदि का असंलक्ष्यक्रम ध्वनि के अन्तर्गत वर्णन करने की परिपाटी चला दी थी, जिसका पण्डितराज जगन्नाथ ने भी अनुसरण किया। परन्तु विश्वनाथ ने रस को अंगी घोषित करते हुए मम्मट की पद्धति में संशोधन किया। उन्होंने रस का स्वतन्त्र विवेचन करते हुए ध्वनि की एक पृथक् परिच्छेद में व्याख्या की। रीतिकालीन आचार्यों ने रस और ध्वनि के सम्बन्ध में प्रायः विश्वनाथ का ही मार्ग ग्रहण किया है।

रीति-युग के उपरान्त आधुनिक युग का आरम्भ होता है। इस युग के तीन खण्ड किये जा सकते हैं—भारतेन्दु-काल, द्विवेदी-काल, वर्तमान-काल। इनमें से भारतेन्दु काल प्रयोग-काल था, उसमें मुख्यतः गद्य की रूपरेखा का निर्माण हुआ। कविता के प्रति दृष्टिकोण भी बदलना आरम्भ हो गया था और वह कभी पीछे भक्तियुग की ओर देखती हुई और कभी आगे जीवन की वास्तविकताओं पर दृष्टि डालती हुई अपने नूतन पथ का निर्माण कर रही थी। यह दृष्टिकोण द्विवेदी काल तक आते-आते स्थिर हो गया। हिन्दी कविता ने अपना मार्ग चुन लिया था—उसने जीवन की वास्तविकता को अपना संवेद्य मान लिया था। व्यवहार रूप में हिन्दी के किसी युग में ध्वनि का इतना तिरस्कार नहीं हुआ। इस दृष्टि से यह ध्वनि के चरम पराभव का समय था। इस काल-खण्ड की कविता-शैली को आचार्य शुक्ल ने इसीलिए इतिवृत्त कहा है। इतिवृत्त शैली ध्वनि का एकान्त विपरीत रूप है। व्यञ्जना का वैपरीत्य इतिवृत्त-कथन अथवा वाचन है और और द्विवेदी युग की कविता में इसी का प्राधान्य था।

द्विवेदी युग की कविता और आलोचना में एक विचित्र व्यवधान मिलता है। कविता में जहां नये युग की इतिवृत्तात्मकता और गद्यमयता है, वहां काव्य-सिद्धान्तों में प्रायः परम्परा का ही प्रबल आग्रह है। इस युग के प्रतिनिधि आलोचकों में मिश्रबन्धु—पं० कृष्णविहारी मिश्र सहित, ला० भगवान-

दीन तथा पं० पद्मसिंह शर्मा का नाम उल्लेख्य है । इनमें मिश्रबन्धुओं के काव्य-सिद्धान्तों की परिधि व्यापक है—उनमें पूर्व और पश्चिम के सिद्धान्तों का मिश्रण है । पं० कृष्णविहारी मिश्र की दृष्टि अधिक स्थिर है, उन्होंने भारतीय काव्य-सिद्धान्तों को अधिक स्वच्छ रूप में ग्रहण किया है और स्थान-स्थान पर रस, अलंकार, ध्वनि आदि की चर्चा की है । परन्तु सब मिलाकर ये रसवादी ही हैं—कृष्णविहारी जी की रस-दृष्टि बिहारी और केशव के काव्यों की अपेक्षा देव, मतिराम और बेनी प्रवीन के सरस काव्यों में ही अधिक रमी है । उन्होंने स्पष्ट शब्दों में रस-सिद्धान्त की मान्यता घोषित की है ।

"वास्तव में रसात्मक काव्य ही सत्काव्य है ।"

"रसात्मक वाक्य में बड़ी ही सुन्दर कविता का प्रादुर्भाव होता है । नीरस एवं अलंकार-प्रधान कविता में बहुत थोड़ी रमणीयता पाई जाती है । शब्द-चित्र से पूर्ण वाक्य तो केवल कहने भर को कविता के अन्तर्गत मान लिया गया है ।"

"रमणीय वह है जिसमें चित्त रमण करे—जो चित्त को अपने आप में लगा ले । रमणीयता आनन्द की उत्पत्ति करती है । कविता की रमणीयता से जो आनन्द उत्पन्न होता है, वह लोकोत्तर है ।"

"कविता कई प्रयोजनों से की जाती है । एक प्रयोजन आनन्द भी माना गया है । यह आनन्द लोकोत्तर होता है । कविता को छोड़ अन्यत्र इस आनन्द की प्राप्ति नहीं होती । यों तो भूत-मात्र की उत्पत्ति आनन्द से है, जीवन की स्थिति भी आनन्द से ही है तथा उसकी प्रगति और निलय भी आनन्द में ही है, फिर भी कविता का आनन्द निराला है । आत्मा के आनन्द का प्रकाश कला द्वारा ही होता है ।"

"कविता में सौन्दर्य की उपासना है । सौन्दर्य से आनन्द की प्राप्ति है । कविता के लिए रमणीयता परमावश्यक है । आनन्द के अभाव में रमणीयता का प्रादुर्भाव बहुत कठिन है । सो कविता के सभी प्रयोजनों में आनन्द का ही बोलबाला है ।"

(मतिराम-ग्रन्थावली की भूमिका)

ला० भगवानदीन के इष्ट कवि थे केशव । निदान उनकी प्रवृत्ति अलंकार-वाद की ओर ही थी, उधर बिहारी की कविता को उत्तम काव्य का आदर्श मानने वाले पं० पद्मसिंह शर्मा का रुझान स्वभावतः ध्वनि चमत्कार की ओर

अधिक था। इन आलोचकों ने सिद्धान्त-विवेचन विशेष रूप से नहीं किया है, आलोच्य काव्य की व्याख्या में ही प्रसंगवश सिद्धान्त-कथन मात्र किया है। फिर भी लाला जी अपनी अलंकार-प्रियता के कारण अलंकारवादियों की श्रेणी में और शर्मा जी व्यङ्ग्य चमत्कार के प्रति आग्रह तथा काइयाँपन और बाँकपन के हामी होने के कारण ध्वनि सम्प्रदाय के अन्तर्गत आते हैं। शर्मा जी ने स्थान-स्थान पर बिहारी के दोहों के ध्वनि-सौन्दर्य पर बल दिया है :—

१. "इस प्रकार के स्थलों में (जहां बिहारी पर पूर्ववर्ती महाकवियों की छाया है) ऐसा कोई अवसर नहीं जहाँ इन्होंने 'बात में बात' पैदा न कर दी हो" (बिहारी की सतसई पृ० २५)

कहने की आवश्यकता नहीं कि यह 'बात में बात' पैदा करना आनन्द-वर्धन का 'रम्यं स्फुरितं' (ध्वन्यालोक ४।१६) का ही अनुवाद है जिसमें वे यह घोषणा करते हैं कि 'जिस कविता में सहृदय भावुक को यह सूझ पड़े कि हां इसमें कुछ नूतन चमत्कार है (जो सर्वथा ध्वनि-आश्रित ही होगा), फिर उस में पूर्व कवि की छाया ही क्यों न झलकती हो तो भी कोई हानि नहीं।"

२. " 'बिहारीलाल' पद यहां बड़ा ध्वनि-पूर्ण है।" (पृ० ६७)

३. "इनके इस वर्णन में (विरह-वर्णन में) एक निराला बांकपन है कुछ विशेष वक्रता है, व्यङ्ग्य का प्राबल्य है....।" (पृ० १६०)

४. "कविता की तरह और भी कुछ चीजें ऐसी हैं जहां वक्रता (बांकपन, बंकई) ही क़दर और क़ीमत पाती है। बिहारी ने कहा है :—

गढ़-रचना बरुनी अलक चितवनि भौंह कमान।
आपु बंकई ही ब(च) ढ़ै तरुनि तुरंगमि तानि॥"

(पृ० २१६)

और सिद्धान्त रूप में :—

"मुक्तक में अलौकिकता लाने के लिए कवि को अभिधा से बहुत कम और ध्वनि, व्यञ्जना से अधिक काम लेना पड़ता है। यही उसके चमत्कार का मुख्य हेतु है। इस प्रकार के रस ध्वनिवादी काव्य के निर्माता ही वास्तव में 'महाकवि' पद के समुचित अधिकारी हैं।"

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल भी इन्हीं के सम-सामयिक थे—परन्तु सिद्धान्त-विवेचन की दृष्टि से वे अपने समय से बहुत आगे थे। वास्तव में वे श्री मैथिलीशरण गुप्त की भाँति द्विवेदी-युग और वर्तमान युग के संगमस्थल पर

खड़े हुए थे। उन्होंने भारत के प्राचीन काव्य-शास्त्र और यूरोप के नवीन आलोचना-सिद्धान्तों का सम्यक् अध्ययन कर दोनों का साधु समन्वय करने का सफल प्रयत्न किया। मौलिक सिद्धान्त-विवेचन की दृष्टि से प्राचीन आचार्यों की श्रेणी मे केवल उन्हें ही प्रतिष्ठित किया जा सकता है। भारतीय काव्य-शास्त्र के विभिन्न सम्प्रदाय शुक्लजी की मर्मभेदी दृष्टि की परिधि में आये और उन्होंने अपनी अनुभूति और विवेक के प्रकाश में उनका परीक्षण किया। ध्वनि की महत्ता से वे परिचित थे—कुल मिलाकर ध्वनि सिद्धान्त का आधार इतना पुष्ट है कि शुक्ल जी जैसे प्रौढ़ विचारक उसकी उपेक्षा कैसे कर सकते थे? परन्तु फिर भी वे ध्वनिवादियों की श्रेणी में नहीं आते। ध्वनि [व्यञ्जना] के विषय में उनका मन्तव्य इस प्रकार है:—

"व्यञ्जना के सम्बन्ध में कुछ विचार करने की आवश्यकता है। व्यञ्जना दो प्रकार की मानी गई है—वस्तु-व्यञ्जना और भाव-व्यञ्जना। किसी तथ्य या वृत्त की व्यञ्जना वस्तु-व्यञ्जना कहलाती है और किसी भाव की व्यञ्जना भाव-व्यञ्जना। (भाव की व्यञ्जना ही जब रस के सब अवयवों के सहित होती है तब रस-व्यञ्जना कहलाती है)। यदि थोड़ा ध्यान देकर विचार किया जाय तो दोनों भिन्न प्रकार की वृत्तियां ठहरती हैं। वस्तु-व्यञ्जना किसी तथ्य या वृत्त का बोध कराती है, पर भाव-व्यञ्जना जिस रूप में मानी गई है उस रूप में किसी भाव का संचार करती है, उसकी अनुभूति उत्पन्न करती है। बोध या ज्ञान कराना एक बात है और कोई भाव जगाना दूसरी बात। दोनों भिन्न कोटि की क्रियाएँ हैं। पर साहित्य के ग्रन्थों में दोनों में केवल इतना ही भेद स्वीकार किया गया है कि एक में वाच्यार्थ से व्यङ्ग्यार्थ पर आने का पूर्वापर क्रम श्रोता या पाठक को लक्षित नहीं होता। पर बात इतनी ही नहीं जान पड़ती। रति, क्रोध आदि भावों का अनुभव करना एक अर्थ से दूसरे अर्थ पर जाना नहीं है, अतः किसी भाव की अनुभूति को व्यङ्ग्यार्थ कहना बहुत उपयुक्त नहीं जान पड़ता। यदि व्यङ्ग्य कोई अर्थ होगा तो वस्तु या तथ्य ही होगा और इस रूप में होगा कि अमुक प्रेम कर रहा है, अमुक क्रोध कर रहा है। पर केवल इस बात का ज्ञान करना कि अमुक क्रोध या प्रेम कर रहा है स्वयं क्रोध या रति-भाव का रसात्मक अनुभव करना नहीं है। रस-व्यञ्जना इस रूप में मानी भी नहीं गई है। अतः भाव-व्यञ्जना, या रस-व्यञ्जना वस्तु-व्यञ्जना से सर्वथा भिन्न कोटि की वृत्ति है।

रस-व्यञ्जना की इसी भिन्नता या विशिष्टता के बल पर "व्यक्ति-

विवेक" कार महिम भट्ट का सामना किया गया था जिनका कहना था कि व्यञ्जना अनुमान से भिन्न कोई वस्तु नहीं। विचार करने पर वस्तु-व्यञ्जना के सम्बन्ध में भट्ट जी का पक्ष ठीक ठहरता है। व्यङ्गय वस्तु या तथ्य तक हम वास्तव में अनुमान द्वारा ही पहुंचते हैं। पर रस-व्यञ्जना लेकर जहां वे चले हैं वहां उनके मार्ग में बाधा पड़ी है। अनुमान द्वारा बेधड़क इस प्रकार के ज्ञान तक पहुँच कर कि "अमुक के मन में प्रेम है" उन्हें फिर इस ज्ञान को "आस्वाद-पदवी" तक पहुँचाना पड़ा है। इस "आस्वाद-पदवी" तक रत्यादि का ज्ञान किस प्रक्रिया से पहुंचता है, यह सवाल ज्यों का त्यों रह जाता है। अतः इस विषय को स्पष्ट कर लेना चाहिए। या तो हम भाव या तथ्य के सम्बन्ध में "व्यञ्जना" शब्द का प्रयोग न करें, अथवा वस्तु या तथ्य के सम्बन्ध में। [चिंतामणि भाग २. पृष्ठ १६३—१६४]।"

इससे निम्नलिखित निष्कर्ष निकलते हैं:

१. शुक्ल जी भाव-व्यञ्जना (रस-व्यञ्जना) और वस्तु-व्यञ्जना को दो भिन्न प्रकार की वृत्तियाँ मानते हैं।

२. इन दोनों में प्रकार का ही अन्तर है 'लक्ष्यक्रम' की मात्रा का नहीं।

३. भाव का बोध कराना और अनुभूति कराना दो अलग-अलग बातें हैं, और, किसी भाव का बोध कराना या किसी वस्तु का बोध कराना एक ही बात है।

४. वस्तु और भाव दोनों के सम्बन्ध में व्यञ्जना शब्द का प्रयोग भ्रामक है। वस्तु-व्यञ्जना के सम्बन्ध में शुक्ल जी महिम भट्ट की "अनुमिति" को ठीक मानने के लिए तैयार हैं।

जहां तक मैं समझता हूं आचार्य शुक्ल का अभिप्राय यह है कि वस्तु-व्यञ्जना में काव्यत्व नहीं होता, परन्तु वह भाव-व्यञ्जना की सहायक अवश्य है। इसी प्रसंग में अन्यत्र उन्होंने लिखा है कि वस्तु-व्यञ्जना से अभिप्राय वास्तव में 'उपपन्न अर्थ' का है [जो व्यञ्जना की सहायता से उपपन्न होता है] और इसे वे काव्य न मानते हुए 'काव्य को धारण करने वाला सत्य मानते हैं।' (चिंतामणि भाग २, पृष्ठ १६७)। काव्यत्व के विषय में वे निर्भ्रान्त रसवादी हैं। व्यञ्जना उन्हें वहां तक मान्य है जहाँ तक उसका सम्बन्ध किसी न किसी प्रकार भाव से अवश्य हो: उन्होंने 'काव्य में रहस्य-वाद' में स्पष्ट लिखा है:

हमारे यहां के पुराने ध्वनिवादियों के समान आधुनिक 'व्यञ्जनावादी' भी भाव-व्यञ्जना और वस्तु-व्यञ्जना दोनों में काव्यतत्व मानते हैं। उनके निकट अनूठे ढंग से की हुई व्यञ्जना भी काव्य ही है। इस सम्बन्ध में हमारा यही वक्तव्य है कि अनूठी से अनूठी उक्ति काव्य तभी हो सकती है जबकि उसका सम्बन्ध—कुछ दूर का सही—हृदय के किसी भाव या वृत्ति से होगा। मान लीजिये कि अनूठे भङ्ग्यन्तर से कथित किसी लक्षणा-पूर्ण उक्ति में सौन्दर्य का वर्णन है। उस उक्ति में चाहे कोई भाव सीधे-सीधे व्यङ्ग्य न हो, पर उसकी तह में सौन्दर्य को ऐसे अनूठे ढंग से कहने की प्रेरणा करने वाला रति भाव या प्रेम छिपा हुआ है। जिस वस्तु की सुन्दरता के वर्णन में हम प्रवृत्त होंगे वह हमारे रति भाव का आलम्बन होगी। आलम्बन मात्र का वर्णन भी रसात्मक माना जाता है और वास्तव में होता है।

[चिंतामणि २, पृ० १७-१८]

यह ध्वनि की अपेक्षा रस की असंदिग्ध स्वीकृति है। और वास्तव में आचार्य के समग्र काव्य-दर्शन और जीवन-दर्शन को देखते हुए इसमें सन्देह भी कौन कर सकता है? वे जीवन में लोक-धर्म और काव्य में प्रबन्ध-काव्य को ही अधिक महत्व देते थे क्योंकि वे लोकधर्म की पूर्ण अभिव्यक्ति प्रबन्ध काव्य में ही पा सकते थे। मुक्तक और प्रगीत में उनकी रुचि पूरी तरह नहीं रमती थी। अतएव ध्वनि की अपेक्षा रस के प्रति उनका आग्रह स्वभावतः ही अधिक था, और वास्तव में इस युग में रसवाद का इतना प्रबल-प्रकांड व्याख्याता दूसरा नहीं हुआ।

शुक्ल जी के अतिरिक्त केवल दो काव्य-शास्त्रियों के नाम ध्वनि के प्रसंग में उल्लेखनीय हैं—सेठ कन्हैयालाल पोद्दार तथा पं० रामदहिन मिश्र। सेठ जी ने मम्मट के काव्य-प्रकाश को अपना आधार-ग्रंथ मानते हुए ध्वनि सिद्धांत की हिन्दी में विस्तार से व्याख्या की है। यह ठीक है कि उनके ग्रन्थ में मौलिक विवेचन का अभाव है। सेठ जी उदाहरण भी हिन्दी से नहीं दे सके हैं, उनके लिए भी उन्हें संस्कृत छंदों का ही अनुवाद करना पड़ा है। फिर भी ध्वनि जैसे जटिल विषय की हिन्दी में अवतारणा करना ही अपने आप में एक बड़ा काम है, और हिन्दी काव्य-शास्त्र का अध्येता उनका सदैव आभारी रहेगा। इस दृष्टि से पं० रामदहिन मिश्र का कार्य और भी अधिक स्तुत्य है। उनका ज्ञान अधिक निर्भ्रांत तथा विवेचन अपेक्षाकृत मौलिक है। उन्होंने अपने विवेचन में सैद्धांतिक प्रेरणा जहां सर्वत्र ही संस्कृत काव्य-शास्त्र से प्राप्त की है,

वहां व्यावहारिक आधार हिन्दी काव्य को ही माना है। इसलिए उनका विवेचन अधिक स्पष्ट और ग्राह्य हो सका है। मिश्र जी ने हिन्दी काव्य से उदाहरण ढूंढ़ने में अद्भुत सूझ का परिचय दिया है। साथ ही आधुनिक सिद्धांतों से भी उनका अच्छा परिचय है, और उनके आश्रय से वे अपने विवेचन को यत्किंचित् आधुनिक रूप भी दे सके हैं। विशुद्ध ध्वनिवादियों की परम्परा में मुख्यतः हिन्दी के ये दो विद्वान् ही आते हैं। ये लोग हैं कट्टर ध्वनिवादी—इन्होंने रस को स्वतंत्र न मान कर ध्वनि के अन्तर्गत ही माना है और असंलक्ष्यक्रम व्यङ्ग्य के प्रपञ्च रूप में ही उसका वर्णन किया है।

द्विवेदी युग के इतिवृत्त काव्य की भीषण प्रतिक्रिया रूप छायावाद का जन्म हुआ। द्विवेदी-कविता की इतिवृत्त शैली के विपरीत छायावाद की शैली अतिशय व्यंजनापूर्ण है। द्विवेदी युग का कवि जहां व्यञ्जना के रहस्य-सौन्दर्य से अपरिचित रहा, वहां छायावाद में लक्षणा-व्यञ्जना का आकर्षण इतना अधिक बढ़ गया कि अभिधा की एक प्रकार से उपेक्षा हो गई। छायावाद के प्रवर्तक प्रसाद ने छायावाद के व्युत्पत्ति-अर्थ के मूल में ही व्यञ्जना का आधार माना। जिस प्रकार मोती में वास्तविक सौन्दर्य उसकी छाया है, जो दाने की सारभूत छवि के रूप में पृथक् ही झलकती है, इसी प्रकार काव्य में वास्तविक सौन्दर्य उसकी ध्वनि है जो शब्दों के वाच्यार्थ से पृथक् ही व्यञ्जित होती है। इसकी प्रेरणा प्रसाद जी ने स्पष्टतः संस्कृत के ध्वनिवादी आचार्यों से ही प्राप्त की है। आनन्दवर्धन ने ध्वनि को अङ्गना-शरीर में लावण्य के सदृश कहा है। बाद में लावण्य की परिभाषा इस प्रकार की गई :

मुक्ताफलेषु यच्छायायास्तरलत्वमिवान्तरा।
संलक्ष्यते यदङ्गेषु तल्लावण्यमिहोच्यते॥

मोतियों में कांति की तरलता (पानी) की तरह जो वस्तु अङ्गों के अन्दर दिखाई देती है उसे लावण्य कहा जाता है।

इसी रहस्य को और स्पष्ट करते हुए कवि पन्त ने पल्लव की भूमिका में लिखा :

"कविता के लिए चित्रभाषा की आवश्यकता पड़ती है, उसके शब्द सस्वर होने चाहिएँ, जो बोलते हों, सेब की तरह जिनके रस की मधुर लालिमा भीतर न समा सकने के कारण बाहर झलक पड़े, जो अपने भाव को अपनी ही ध्वनि में आंखों के सामने चित्रित कर सकें, जो झंकार में चित्र, चित्र में झंकार हो......। × × ×

कविता में शब्द तथा अर्थ की अपनी स्वतन्त्र सत्ता नहीं रहती, वे दोनों भाव की अभिव्यक्ति में डूब जाते हैं।......किसी के कुशल करों का मायावी स्पर्श उनकी निर्जीवता में जीवन फूंक देता, वे अहल्या की तरह शाप-मुक्त हो जग उठते, हम उन्हें पाषाण-खंडों का समुदाय न कह ताजमहल कहने लगते, वाक्य न कह काव्य कहने लगते हैं।"

इसी प्रसंग में उन्होंने पर्याय-शब्दों के व्यङ्ग्यार्थ-भेद की भी बड़ी ही मार्मिक व्याख्या की है : "भिन्न-भिन्न पर्यायवाची शब्द, प्रायः संगीत भेद के कारण, एक ही पदार्थ के भिन्न-भिन्न स्वरूपों को प्रकट करते हैं। जैसे, भ्रू से क्रोध की वक्रता, भृकुटि से कटाक्ष की चञ्चलता, भौंहों से स्वाभाविक प्रसन्नता, ऋजुता का हृदय में अनुभव होता है। ऐसे ही हिलोर में उठान, लहर में सलिल के वक्षःस्थल का कोमल कम्पन, तरङ्ग में लहरों के समूह का एक दूसरे को धकेलना, उठकर गिर पड़ना, बढ़ो-बढ़ो कहने का शब्द मिलता है, वीचि से जैसे किरणों में चमकती, हवा के पलने में हौले-हौले झूलती हुई हँसमुख लहरियों का, ऊर्म्मि से मधुर-मुखरित हिलोरों का, हिल्लोल-कल्लोल से ऊँची-ऊँची बाहें उठाती हुई उत्पातपूर्ण तरङ्गों का आभास मिलता है।"

उपर्युक्त विवेचन 'पिनाकिनः' और 'कपालिनः' के ध्वन्यर्थ-भेद-विवेचन का नवीन कलात्मक संस्करण मात्र है।

इधर श्रीमती महादेवी वर्मा ने भी छायावाद की अभिव्यक्ति में व्यञ्जना के महत्व पर प्रकाश डाला है : "व्यापक अर्थ में तो यह कहा जा सकता है कि प्रत्येक सौंदर्य या प्रत्येक सामंजस्य की अनुभूति भी रहस्यानुभूति है।"

(महादेवी वर्मा का विवेचनात्मक गद्य पृ० २६)

"......इस प्रकार की अभिव्यक्ति में भाव रूप चाहता है, अतः शैली का कुछ संकेतमयी हो जाना सहज सम्भव है। इसके अतिरिक्त हमारे यहां तत्वचिंतन का बहुत विकास हो जाने के कारण जीवन-रहस्यों को स्पष्ट करने के लिए एक संकेतात्मक शैली बहुत पहले बन चुकी थी। अरूप दर्शन से लेकर रूपात्मक काव्यकला तक सबने ऐसी शैली का प्रयोग किया है जो परिचित के माध्यम से अपरिचित और स्थूल के माध्यम से सूक्ष्म तक पहुंचा सके।"

(म० का वि० ग० पृ० ९२)

छायावाद से आगे की नयी प्रयोगवादी कविता में व्यंजना का आधार और भी अनिवार्य हो गया है। प्रयोगवादी कवि ने जब शब्द में साधारण अर्थ

से अधिक अर्थ भरना चाहा तो स्वभावतः ही उसे व्यंजना का आश्रय लेना पड़ा। वास्तव में इस नयी कविता की भाषा अत्यधिक सांकेतिक तथा प्रतीकात्मक है। यहां शब्द में इतना अधिक अर्थ भरने का प्रयत्न किया गया है कि उसकी व्यञ्जना शक्ति जवाब दे जाती है—यह व्यंजना के साथ बलात्कार है।

हिन्दी में ध्वनि-सिद्धांत के विकास सूत्र का यही संक्षिप्त इतिहास है।

उपसंहार

ध्वनि सिद्धांत की परीक्षा

अंत में, उपसंहार रूप में, ध्वनि-सिद्धांत का एक सामान्य परीक्षण और आवश्यक है। क्या ध्वनि-सिद्धांत सर्वथा निर्भ्रांत और काव्य का एक मात्र स्वीकार्य सिद्धांत है? क्या वह रस-सिद्धांत से भी अधिक मान्य है। इस प्रश्न का दूसरा रूप यह है: काव्य की आत्मा ध्वनि है अथवा रस? जैसा कि प्रसंग में कहा गया है अंततोगत्वा रस और ध्वनि में कोई अंतर नहीं रह गया था। यों तो आनन्दवर्धन ने ही रस को ध्वनि का अनिवार्य तत्व माना था, पर अभिनव ने इसको और भी स्पष्ट करते हुए रस और ध्वनि सिद्धांतों को एकरूप कर दिया। फिर भी इन दोनों में सूक्ष्म अंतर न हो यह बात नहीं है—इस अंतर की चेतना अभिनव के उपरांत भी निस्संदेह बनी रही। विश्वनाथ का रस-प्रतिपादन और उसके उपरांत पंडितराज जगन्नाथ द्वारा उनकी आलोचना तथा ध्वनि का पुनःस्थापन इस सूक्ष्म अंतर के अस्तित्व का साक्षी है। जहां तक दोनों के महत्व का प्रश्न है, उसमें संदेह नहीं किया जा सकता। ध्वनि रस के बिना काव्य नहीं बन सकती, और रस ध्वनित हुए बिना केवल कथित होकर काव्य नहीं हो सकता। काव्य में ध्वनि को सरस रमणीय होना पड़ेगा, और रस को व्यङ्ग्य होना पड़ेगा। 'सूर्य अस्त हो गया' से एक ध्वनि यह निकलती है कि अब काम बन्द करो—परन्तु ध्वनि की स्थिति असंदिग्ध होने पर भी रस के अभाव में यह काव्य नहीं है। इसी प्रकार दुष्यन्त शकुंतला से प्रेम करता है यह वाक्य रस का कथन करने पर भी व्यंजना के अभाव में काव्य नहीं है। अतएव दोनों की अनिवार्यता असंदिग्ध है परन्तु प्रश्न सापेक्षिक महत्व का है। विधि और तत्व दोनों का ही महत्व है, परन्तु फिर भी तत्व, तत्व ही है। रस और ध्वनि में तत्व पद का अधिकारी कौन है? इसका उत्तर निश्चित है—रस। रस और ध्वनि दोनों में रस ही अधिक महत्वपूर्ण

है—उसी के कारण ध्वनि में रमणीयता आती है। पर इसको व्यापक अर्थ में ग्रहण करना चाहिए। रस को मूलतः परम्परागत संकीर्ण विभावानुभाव-व्यभिचारी के संयोग से निष्पन्न रस के अर्थ में ग्रहण करना संगत नहीं। रस के अंतर्गत समस्त भाव-विभूति अथवा अनुभूति-वैभव आ जाता है। अनुभूति की वाहक (व्यंजक) बन कर ही ध्वनि में रमणीयता आती है, अन्यथा वह काव्य नहीं बन सकती। अनुभूति ही सहृदय के मन में अनुभूति जगाती है। हाँ कवि की अनुभूति को सहृदय के मानस तक प्रेषित करने के लिए कल्पना का प्रयोग अनिवार्य है—उसी के द्वारा अनुभूति का प्रेषण सम्भव है। और, कल्पना द्वारा अनुभूति का प्रेषण ही तो शास्त्रीय शब्दावली में उसकी व्यञ्जना या ध्वनन है। इस प्रकार रस और ध्वनि का प्रतिद्वंद्व अनुभूति और कल्पना का ही प्रतिद्वंद्व ठहरता है। और, अंत में जाकर यह निश्चय करना रह जाता है कि इन दोनों में से काव्य के लिए कौन अधिक महत्वपूर्ण है? यह निर्णय भी अधिक कठिन नहीं है—अनुभूति और कल्पना में अनुभूति ही अधिक महत्वपूर्ण है क्योंकि काव्य का संवेद्य वही है। कल्पना इस संवेदन का अनिवार्य साधन अवश्य है, परन्तु संवेद्य नहीं है। इसीलिए प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक आलोचक रिचर्ड्स ने प्रत्येक कविता को मूलतः एक प्रकार की अनुभूति ही माना है। और वैसे भी 'रसो वै सः' रस तो जीवन-चेतना का प्राण है—काव्य के क्षेत्र में या अन्यत्र उसको अपने पद से कौन च्युत कर सकता है? ध्वनि सिद्धांत का सब से महत्वपूर्ण योग यह रहा कि उसने जीवन के प्रत्यक्ष रस और काव्य के भावित रस के बीच का अंतर स्पष्ट कर दिया।

ग्रन्थकार

ध्वन्यालोक की रचना के विषय में संस्कृत के पण्डितों में तीव्र मतभेद है। ग्रन्थ के तीन अङ्ग हैं: कारिका, वृत्ति तथा उदाहरण। कारिका में सिद्धान्त का सूत्र-रूप में प्रतिपादन है, वृत्ति में कारिकाओं की व्याख्या है, और फिर उदाहरण हैं। उदाहरण प्रायः संस्कृत के पूर्व-ध्वनिकालीन कवियों से दिए गये हैं पर अनेक स्वयं आनन्दवर्धन के अपने भी हैं। जहां तक वृत्ति का सम्बन्ध है, यह निर्विवाद है कि उसके रचयिता आनन्दवर्धन ही थे। प्रश्न कारिकाओं की रचना का है। संस्कृत की प्रचलित परम्परा के अनुसार कारिका तथा वृत्ति दोनों की रचना आनन्दवर्धन ने ही की है। ध्वन्यालोक एक ही ग्रन्थ है और उसका एक ही रचयिता है। उत्तर-ध्वनिकाल के प्रायः सभी आचार्य आनन्दवर्धन को ही ध्वनिकार अर्थात् कारिका और वृत्ति दोनों का रचयिता मानते हैं: प्रतिहारेन्दुराज, कुंतक, महिम भट्ट, क्षेमेन्द्र, मम्मट सभी के वाक्य इसके प्रमाण हैं। परन्तु शङ्का का बीज अभिनवगुप्त के लोचन में है। कारिकाओं और वृत्ति की व्याख्या करते हुए अभिनव ने अनेक स्थलों पर कारिकाकार और वृत्तिकार का पृथक्-पृथक् उल्लेख किया है। इसके अतिरिक्त कारिकाकार के लिए मूलग्रन्थकृत् (कार) तथा वृत्तिकार के लिए ग्रन्थकृत् (कार) शब्द का भी प्रयोग लोचन में मिलता है। अतएव डा० बुह्लर और उनके पश्चात् प्रो० जेकोबी, प्रो० कीथ और इधर डा० डे तथा प्रो० काणे का मत है कि कारिका-कार अर्थात् मूल-ध्वनिकार और वृत्तिकार आनन्दवर्धन में भेद है। इस श्रेणी के पण्डितों का अनुमान है कि कारिकाकार का नाम सहृदय था—उसीके आधार पर अभिनव ने ध्वन्यालोक को कई स्थानों पर सहृदयालोक भी लिखा है। मुकुल आदि कुछ कवि-आचार्यों ने भी ध्वनिकार के लिए सहृदय शब्द का प्रयोग किया है। "तथाहि तत्र विवक्षितान्यपरता सहृदयैः काव्यवर्त्मनि निरूपिता।" इसके अतिरिक्त प्रो० काणे ने प्रथम कारिका के 'सहृदयमनः प्रीतये' अंश की वृत्ति में 'सहृदयानामानन्दो मनसि लभतां प्रतिष्ठाम्' आदि शब्दों के आधार पर इस अनुमान को पुष्ट करने की चेष्टा की है। उनकी धारणा है कि आनन्द ने जान-बूझ कर श्लेष के आधार पर इस वृत्ति में अपने गुरु मूल ध्वनिकार सहृदय और अपने नाम का समावेश किया है। परन्तु उधर इनके विपरीत डा० संकरन का मत है कि लोचन में अभिनवगुप्त ने केवल स्पष्टी-

करण के उद्देश्य से ही कारिकाकार और वृत्तिकार का पृथक् उल्लेख किया है। संस्कृत के अनेक आचार्यों ने कारिका और वृत्ति की शैली अपनाई है। सूत्र-रूप में सिद्धान्त-कारिका देकर वे स्वयं ही फिर उसका वृत्ति द्वारा व्याख्यान करते हैं—वामन, मम्मट आदि ने यही पद्धति ग्रहण की है।

इसके अतिरिक्त स्वयं अभिनव ने ही अभिनव-भारती में अनेक स्थलों पर दोनों का अभेद माना है। अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ 'सम आसपेक्टस आफ़ लिटरेरी क्रिटिसिज्म इन संस्कृत' में डा० संकरन ने अभिनव के उद्धरणों द्वारा ही इस भेद-सिद्धान्त का खंडन किया है, और संस्कृत की परम्परा को ही मान्य घोषित किया है।

डा० संकरन का तर्क है कि यदि कारिकाकार का व्यक्तित्व पृथक् था तो उनके लगभग एक शताब्दी पश्चात् कुंतक, महिमभट्ट तथा अभिनव के शिष्य क्षेमेन्द्र को इस विषय में भ्रान्ति के लिए अधिक अवकाश नहीं था। इसके अतिरिक्त यह कैसे सम्भव हो सकता है कि स्वयं आनन्द ही उनसे परिचित न हों या उन्होंने जानबूझ कर अपने गुरु का नाम छिपाकर अपने को ही ध्वनिकार घोषित कर दिया हो। आनन्द ने स्पष्ट ही अपने को ध्वनि का प्रतिष्ठाता कहा है :

इति काव्यार्थविवेको योऽयं चेतश्चमत्कृतिविधायी।
सूरिभिरनुसृतसारैरस्मदुपज्ञो न विस्मार्य्यः॥

अर्थ :—इस प्रकार चित्त को चमत्कृत करने वाला जो काव्यार्थ-विवेक हमारे द्वारा प्रस्थापित किया गया वह सारग्राही विद्वानों द्वारा विस्मरण योग्य नहीं है।

यहाँ 'अस्मदुपज्ञः— हमने उसकी प्रतिष्ठा की है' स्वयं व्यक्त है।

इसके अतिरिक्त अन्तिम श्लोक :—

सत्काव्यतत्वविषयं स्फुरितप्रसुप्तकल्पं मनःसु परिपक्वधियां यदासीत्।
तद्व्याकरोत्सहृदयोदयलाभहेतोरानन्दवर्धन इति प्रथिताभिधानः॥

अर्थ :—काव्य (रचना) का तत्व और नीति का जो मार्ग परिपक्व बुद्धि (सहृदय विद्वानों) के मनों में प्रसुप्त-सा (अव्यक्त रूप में) स्थित था, सहृदयों की अभिवृद्धि और लाभ के लिए, आनन्दवर्धन नामक (पंडित ने) उसको प्रकाशित किया।

इस प्रकार की स्पष्टोक्तियों के रहते हुए भी यदि कारिकाकार का

पृथक् अस्तित्व माना जाय तो यह दूसरे शब्दों में आनन्दवर्धन पर साहित्यिक चौर्य का अभियोग लगाना होगा—जो सर्वथा अनुचित है। अतएव यही निष्कर्ष निकलता है कि आनन्दवर्धन ने ही कारिका और वृत्ति दोनों की रचना की है, और ध्वन्यालोक एक ही ग्रन्थ है। जिन सहृदय-शिरोमणि आनन्दवर्धन ने पहली कारिका में प्रतिज्ञा की थी कि "तेन ब्रूमः सहृदयमनःप्रीतये तत्स्वरूपम्" अर्थात् इसलिए अब सहृदय-समाज की मनःप्रीति के लिए उसका स्वरूप वर्णन करते हैं, उन्होंने ही वृत्ति के अन्त में "तद्व्याकरोत्सहृदयोदय-लाभहेतोरानन्द-वर्धन इति प्रथिताभिधानः" अर्थात् उसका सहृदयों के उदय-लाभ (व्युत्पत्ति-विकास) के लिए आनन्दवर्धन ने व्याख्यान किया।

आनन्दवर्धन का समय-निर्धारण कठिन नहीं है। राजतरङ्गिणी में स्पष्ट लिखा है कि वे अवन्तिवर्मा के राज्य के ख्यातिलब्ध कवियों में से थे।

मुक्ताकणः शिवस्वामी कविरानन्दवर्धनः।
प्रथां रत्नाकरश्चागात्साम्राज्येऽवन्तिवर्मणः॥

अवन्तिवर्मा या वर्मन् काश्मीर के महाराज थे और उनका राज्यकाल सन् ८५५ ई० से ८८३ ई० तक था। दूसरे सूत्रों से भी इस निर्णय की पुष्टि सहज ही हो जाती है। उदाहरण के लिए एक ओर आनन्दवर्धन ने उद्भट का मत उद्धृत किया है, और दूसरी ओर राजशेखर ने आनन्दवर्धन का उद्धरण दिया है। इसका अभिप्राय यह हुआ कि वे उद्भट के समय अर्थात् ८०० ई० के पश्चात् और राजशेखर के समय अर्थात् ९०० ई० के पूर्व हुए थे। अतएव आनन्दवर्धन का समय ९वीं शताब्दी-ईसा का का मध्य भाग अर्थात् ८५० ई० के आसपास माना जा सकता है। इनके विषय में और कोई उपादेय तथ्य उपलब्ध नहीं है। देवीशतक श्लोक संख्या १०१ से यह संकेत मिलता है कि इनके पिता का नाम नोण था; बस।

आनन्दवर्धन की प्रतिभा बहुमुखी थी। काव्य-शास्त्र के अपूर्व मेधावी आचार्य होने के अतिरिक्त वे कवि और दार्शनिक भी थे। उन्होंने ध्वन्यालोक के अतिरिक्त अर्जुनचरित, विषमबाणलीला, देवीशतक तथा तत्त्वालोक आदि ग्रन्थों की रचना की है। इनमें अर्जुनचरित और विषमबाणलीला के अनेक संस्कृत-प्राकृत छन्द ध्वन्यालोक में उद्धृत हैं। देवीशतक में यमक, श्लेष, चित्र-बन्ध आदि का चमत्कार दिखाया गया है—इससे स्पष्ट हो जाता है कि उन्होंने चित्र को काव्य-श्रेणी से बहिष्कृत क्यों नहीं किया। तत्त्वालोक दर्शन-ग्रन्थ है। अभिनव ने लोचन में इन ग्रन्थों का उल्लेख किया है।

ध्वन्यालोक का प्रतिपाद्य विषय

ध्वन्यालोक का प्रतिपाद्य मूलतः ध्वनि-सिद्धान्त है। आनन्दवर्धन ने इस सिद्धान्त का अत्यन्त साङ्गोपाङ्ग विवेचन करते हुए काव्य के एक सार्वभौम सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है। ध्वनि के विरुद्ध सम्भाव्य आपत्तियों का निराकरण करते हुए उन्होंने फिर 'प्रतीयमान' की स्थापना और 'वाच्य' से उसकी श्रेष्ठता का निर्धारण किया है। इसके उपरान्त ध्वनिकाव्य की श्रेणियां और ध्वनि के भेदों का वर्णन है। फिर ध्वनि की व्यापकता अर्थात् तद्धित, कृदन्त, उपसर्ग, प्रत्यय आदि से लेकर महाकाव्य तक उसकी सत्ता का प्रदर्शन किया गया है। और, अन्त में काव्य के गुण, रीति, अलङ्कार सिद्धान्तों का ध्वनि में समाहार किया गया है। यह तो हुआ ध्वन्यालोक का मूल प्रतिपाद्य।

मूल प्रतिपाद्य के साथ-साथ प्रसङ्ग रूप से ध्वन्यालोक में काव्य के कुछ अन्य महत्त्वपूर्ण सिद्धान्तों का भी विवेचन मिलता है:—उदाहरण के लिए गुण, संघटना और अलङ्कार का रस के साथ सम्बन्ध। ध्वनिकार ने अत्यन्त स्पष्ट शब्दों में गुण और रस का सहज सम्बन्ध माना है—करुण और शृङ्गार का माधुर्य से सहज सम्बन्ध है और रौद्र का ओज से। पर संघटना का गुण और रस के साथ अनिवार्य सम्बन्ध नहीं है—साधारणतः माधुर्य के लिए असमासा और ओज के लिए मध्यमसमासा या दीर्घसमासा संघटना अधिक उपयुक्त होती है, परन्तु यह कोई अटल नियम नहीं है। इसके विपरीत स्थिति भी हो सकती है—मध्यम या दीर्घसमासा संघटना के साथ भी माधुर्य गुण तथा शृङ्गार या करुण रस की स्थिति सम्भव है, और असमासा संघटना द्वारा भी ओज, गुण और रौद्र रस का परिपाक हो सकता है। यही बात अलङ्कारों के सम्बन्ध में भी है। अलङ्कारों को भी रस का सहकारी होना चाहिए—उनकी स्वतन्त्र स्थिति, जो रस में बाधक हो, श्लाघ्य नहीं है। शृङ्गार और करुण जैसे कोमल रसों के लिए यमक आदि अनुकूल नहीं पड़ते, रूपक पर्यायोक्त आदि की उनके साथ सङ्गति अच्छी तरह से बैठ जाती है। आदि-आदि।

आगे चलकर ध्वन्यालोक में रस के परिपाक की चर्चा है: रसों के विरोध और अविरोध का उल्लेख है। ध्वनिकार ने स्पष्ट लिखा है कि सत्कवि को रस के परिपाक पर ही ध्यान केन्द्रित करना चाहिए। प्रतिभाशाली कवि अपने काव्य में भिन्न-भिन्न रसों का समावेश करता हुआ एक मूल रस का सम्यक् परिपाक करता है। इसी प्रसङ्ग में आनन्द ने शान्त रस को भी सबल

शब्दों में मान्यता दी है। शान्त का स्थायी है शम, जो सांसारिक विषयों का निषेध है। यह अपने आप में परम सुख है। अन्य भावों का आस्वाद इसकी तुलना में नगण्य है। यह ठीक है कि इसको सभी प्राप्त नहीं कर सकते, परन्तु इससे शान्त रस की अमान्यता सिद्ध नहीं होती।

अन्त में, चौथे उद्योत में प्रतिभा के आनन्त्य का वर्णन है। प्रतिभाशाली कवि ध्वनि के द्वारा प्राचीन भाव, अर्थ, उक्ति आदि को नूतन चमत्कार प्रदान कर सकता है। इस प्रकार अनेक प्राचीन काव्यों के रहते हुए भी काव्य-क्षेत्र असीम है। प्रतिभाशाली कवियों में भाव-साम्य या उक्ति-साम्य का पाया जाना कोई दोष नहीं है। यह साम्य तीन प्रकार का होता है बिम्बवत्, चित्रवत् और देहवत्। इनमें बिम्ब और चित्र साम्य स्पृहणीय नहीं हैं, परन्तु देह साम्य में कोई दोष नहीं है, वह प्रतिभा का उपकार ही करता है।



श्रीमदानन्दवर्धनाचार्यप्रणीतो

ध्वन्यालोकः



श्रीमदाचार्यविश्वेश्वरसिद्धान्तशिरोमणिविरचितया
आलोकदीपिकाख्यया हिन्दीव्याख्यया
विभूषितः





❀ ॐ ❀

अथ श्रीमदानन्दवर्धनाचार्यप्रणीतो

ध्वन्यालोकः

प्रथम उद्योतः

स्वेच्छाकेसरिणः स्वच्छस्वच्छायायासितेन्दवः ।
त्रायन्तां वो मधुरिपोः प्रपन्नार्तिच्छिदो नखाः ॥

अथ श्रीमदाचार्यविश्वेश्वरसिद्धान्तशिरोमणिविरचिता
'आलोकदीपिका' हिन्दीव्याख्या

उपहूतो वाचस्पतिरुपास्मान् वाचस्पति र्ह्वयताम् ।
सं श्रुतेन गमेमहि मा श्रुतेन विराधिषि ॥ अथर्ववेद ॥

ध्वन्यमानं गुणीभूतस्वरूपाद् विश्वरूपकात् ।
रसरूपं परं ब्रह्म शाश्वतं समुपास्महे ॥

ध्यायं ध्यायं निगमविदितं विश्वरूपं परेशं,
स्मारं स्मारं चरणयुगलं श्रीगुरोस्तत्वदीपम् ।
श्रावं श्रावं ध्वनिनवनयं वर्धनोपज्ञमेनं,
ध्वन्यालोकं विवृतिविशदं भाषया सन्तनोमि ॥

समस्त शुभ कार्यों के प्रारम्भ में भगवान् का स्मरण, मार्ग में आने वाली बाधाओं पर विजय प्राप्त करने की शक्ति प्रदान करता है, इसलिए ग्रन्थारम्भ जैसे महत्वपूर्ण कार्य के प्रारम्भ में भी उसकी निर्विघ्न परिसमाप्ति की भावना से भगवान् के स्मरण रूप मंगलाचरण की परिपाटी सदाचारप्राप्त रही है। यद्यपि भगवान् का स्मरण मानसिक व्यापार है, परन्तु ग्रन्थकार जिस रूप में भगवान् का स्मरण करता है उसको शिष्यों की शिक्षा के लिए ग्रन्थ के आरम्भ में अंकित

कर देने की प्रथा भी संस्कृत साहित्य की एक सदाचारप्राप्त परिपाटी है। इसलिए संस्कृत के ग्रन्थों में प्रायः सर्वत्र मंगलाचरण पाया जाता है।

ध्वन्यालोककार श्री आनन्दवर्धनाचार्य ने अपने प्रारीप्सित ग्रन्थ की निर्विघ्न समाप्ति और उसके मार्ग में आने वाले विघ्नों पर विजय प्राप्त करने के लिए, आशीर्वाद, नमस्क्रिया तथा वस्तुनिर्देश रूप त्रिविध मंगल प्रकारों में से आशीर्वचन रूप मंगलाचरण करते हुए नरसिंहावतार के प्रपन्नार्तिच्छेदक नखों का स्मरण किया है।

स्वयं अपनी इच्छा से सिंह [नृसिंह] रूप धारण किए हुए [मधुरिपु] विष्णु भगवान् के, अपनी निर्मल कान्ति से चन्द्रमा को खिन्न [लज्जित] करने वाले शरणागतों के दुःखनाशन में समर्थ नख, तुम सब [व्याख्याता तथा श्रोता] की रक्षा करें।

विघ्नों के नाश और उन पर विजय प्राप्ति के लिए वीररस के स्थायीभाव उत्साह की विशेष उपयोगिता की दृष्टि से ही ग्रन्थकार ने अपने इष्ट देव के वीररसाभिव्यंजक स्वरूप का स्मरण किया है।

रत्नावली के टीकाकार श्री नारायण दत्तात्रेय के मतानुसार इस प्रकार के अवसरों पर 'त्यदादीनि सर्वैं र्नित्यम्' अष्टा० १,२, ७२ इस सूत्र तथा उसके अन्तर्गत 'त्यदादीनां मिथः सहोक्तौ यत्परं तच्छिष्यते' इत्यादि वार्तिक अथवा 'पूर्वशेषोऽपि दृश्यते' इत्यादि भाष्य के आधार पर एकशेष मानकर 'व': पद हम, तुम, सबका, इस अर्थ का वाचक भी हो सकता है और उस दशा में ग्रन्थकर्ता, व्याख्याता और श्रोता आदि सबका ग्रहण इस 'वः' पद से किया जा सकता है। परन्तु लोचनकार ने इस एकशेष प्रक्रिया को अवलम्बन न करके 'वः' का सीधा 'युष्मान्' अर्थ करना ही ठीक समझा है। और इस प्रकार स्वयं ग्रन्थकार को इस आशीर्वचन से अलग कर दिया है। इसका कारण बताते हुए उन्होंने "स्वयमव्युच्छिन्नपरमेश्वरनमस्कारसम्पत्तिचरितार्थोऽपिव्याख्यातृश्रोतृणामविघ्नेनाभीष्टव्याख्याश्रवणलक्षणफलसम्पत्तये समुचिताशीःप्रकटनद्वारेण परमेश्वरसाम्मुख्यं करोति वृत्तिकारः स्वेच्छेति।" लिखा है। अर्थात् मंगलाचरणकार स्वयं तो निरन्तर ईश्वर नमस्कार करते रहने के कारण कृतार्थ ही हैं, अतः व्याख्याता और श्रोताओं के लिए ही आशीर्वचन द्वारा रक्षा की प्रार्थना की है। 'लोचन' की ऊपर उद्धृत की हुई पंक्तियों में "वृत्तिकारः" शब्द के प्रयोग से यह भी प्रतीत होता है कि यह मंगलाचरण का श्लोक कारिका ग्रन्थ का नहीं अपितु वृत्तिग्रन्थ का भाग है। इसी-

काव्यस्यात्मा ध्वनिरिति बुधैर्यः समाम्नातपूर्व-
स्तस्याभावं जगदुरपरे भाक्तमाहुस्तमन्ये ।
केचिद् वाचां स्थितमविषये तत्त्वमूचुस्तदीयं
तेन ब्रूमः सहृदयमनःप्रीतये तत्स्वरूपम् ॥ १ ॥

बुधैः काव्यतत्वविद्भिः, काव्यस्यात्मा ध्वनिरिति संज्ञितः,

लिए इस के ऊपर कारिका की संख्या १ अंकित नहीं की गई है । इससे अगला श्लोक कारिका भाग का प्रथम श्लोक है अतएव उस पर कारिका संख्या १ दी गई है । इस प्रकार इस ग्रन्थ के कारिका भाग तथा वृत्तिभाग का भेद यहीं से स्पष्ट हो जाता है । परन्तु उन दोनों भागों के रचयिता एक ही हैं अथवा अलग-अलग इस विषय में मतभेद हैं । प्राचीनविद्वान् दोनों भागों का रचयिता श्री आनन्दवर्धनाचार्य को ही मानते हैं । इसलिए कारिका भाग के प्रारम्भ में अलग मंगलाचरण नहीं किया गया है और वृत्तिभाग के इस मंगल श्लोक को जो कि मूल ग्रन्थ के बाद देना चाहिए, मूल कारिका के पूर्व रखा गया है । परन्तु इससे कारिका-कार तथा वृत्तिकार की एकता निश्चित रूप से सिद्ध नहीं होती है । क्योंकि उदयनाचार्य की न्याय कुसुमांजलि की हरिदासीय टीका में भी टीका का मंगलश्लोक मूल के पूर्व दिया है ।

श्रोताओं के मन को प्रकृत विषय में एकाग्र करने के लिए ग्रन्थ के प्रति-पाद्य विषय और उसके प्रयोजन का प्रतिपादन करते हुए ग्रन्थकार ग्रंथ का आरम्भ इस प्रकार करते हैं—

काव्य के आत्मभूत जिस तत्त्व को विद्वान् लोग ध्वनि नाम से कहते आए हैं, कुछ लोग उसका अभाव मानते हैं । दूसरे लोग उसे भाक्त [गौण, लक्षणागम्य] कहते हैं और कुछ लोग उसके रहस्य को वाणी का अविषय [अवर्णनीय, अनिर्वचनीय] बतलाते हैं । अतएव [ध्वनि के विषय में इन नाना विप्रतिपत्तियों के होने के कारण उनका निराकरण कर ध्वनि स्थापना द्वारा] सहृदयों [काव्य मर्मज्ञ जनों] की मन की प्रसन्नता [हृदयाह्लाद] के लिए हम उस [ध्वनि] के स्वरूप का निरूपण करते हैं ।

बुध अर्थात् काव्य मर्मज्ञों ने काव्य के आत्मभूत जिस तत्त्व को ध्वनि यह नाम दिया और [इसके पूर्व किसी विशेष पुस्तक आदि में निवेश किए बिना भी] परम्परा से जिसको बार-बार प्रकाशित किया है । भली प्रकार विशद रूप से अनेक बार प्रकट किया है, सहृदय (काव्य मर्मज्ञ] जनों के

परम्परया यः समाम्नातपूर्वः[1] सम्यक् आसमन्ताद्, म्नातः, प्रकटितः, तस्य सहृदयजनमनःप्रकाशमानस्याप्यभावमन्ये जगदुः। तदभाववादिनां चामी विकल्पाः सम्भवन्ति।

तत्र केचिदाचक्षीरन्, शब्दार्थशरीरन्तावत् काव्यम्। तत्र

मन में प्रकाशमान [सकल सहृदय संवेद्य] उस (चमत्कार जनक काव्यात्म भूत ध्वनि] तत्त्व का भी [भामह, भट्टोद्भट आदि] कुछ लोग अभाव कहते हैं।

उन अभाववादियों के ये [निम्न लिखित तीन] विकल्प हो सकते हैं।

१—कोई [अभाववादी] कह सकते हैं कि काव्य, शब्दार्थ शरीर वाला है। [अर्थात् शब्द और अर्थ काव्य के शरीर हैं।] यह तो निर्विवाद है। [तावत् शब्द ध्वनिवादी सहित इस विषय में सबकी सहमति सूचित करता है। काव्य के शरीरभूत उन शब्द अर्थ के चारुत्वहेतु दो प्रकार के हो सकते हैं। एक

---

[1] बनारस में मुद्रित ध्वन्यालोक के दीधिति टीका युक्त संस्करण में यहाँ केवल 'समाम्नातः' पाठ है। और निर्णयसागरीय संस्करण में 'समाम्नातः समाख्यातः' इतना पाठ दिया गया है। बनारस से ही प्रकाशित बाल प्रिया टीका सहित संस्करण में 'समाम्नातपूर्वः सम्यक् आ समन्तान् म्नातः प्रकटितः' इस प्रकार का पाठ है। इन तीनों पाठों में से अन्तिम अर्थात् बालप्रिया वाले संस्करण का पाठ लोचनसम्मत और अधिक प्रामाणिक पाठ है। 'लोचनकार' ने इस स्थल की व्याख्या करते हुए लिखा है—'तदाह समाम्नातपूर्व इति। पूर्वग्रहणेनेदम्प्रथमता नात्र सम्भाव्यत इत्याह, व्याचष्टे च, सम्यग् आ समन्तान् म्नातः प्रकटितः इत्यनेन।' इस लेख से स्पष्ट प्रतीत होता है कि लोचनकार यहाँ 'समाम्नातपूर्वः सम्यक् आ समन्तान् म्नातः प्रकटितः' यही पाठ मानते हैं। इसी से बालप्रिया संस्करण में वही पाठ रखा है। इसी लिये हमने भी मूलपाठ में उसी को स्थान दिया है। पाठभेद के अन्य स्थलों पर भी बालप्रिया वाले संस्करण में जो पाठ पाए जाते हैं वह प्रायः लोचन की ऊहापोह करके यथासम्भव 'लोचनसम्मत' पाठ हीरखे गये हैं। इस लिए हमने भी मूल पाठ प्रायः उसी के अनुसार रखे हैं और 'दीधिति' तथा निर्णयसागरीय संस्करण के पाठभेद नीचे दे दिए हैं। इनके साथ प्रयुक्त नि० निर्णयसागरीय संस्करण का और दी० दीधिति टीकायुक्त संस्करण का सूचक है।

शब्दगताश्चारुत्वहेतवोऽनुप्रासादयः प्रसिद्धा एव । अर्थगताश्चोपमादयः । वर्णसंघटनाधर्माश्च ये माधुर्यादयस्तेऽपि प्रतीयन्ते । तदनतिरिक्तवृत्तयो वृत्तयोऽपि[१] याः कैश्चिदुपनागरिकाद्याः प्रकाशिताः ता अपि गताः श्रवणगोचरम्। रीतयश्च वैदर्भीप्रभृतयः। तद्व्यतिरिक्तः कोऽयं ध्वनिर्नामेति ।

स्वरूपगत और दूसरे संघटनागत ।] उनमें शब्द गत [शब्द के स्वरूपगत] चारुत्व हेतु अनुप्रासादि [शब्दालंकार] और अर्थगत [अर्थ के स्वरूपगत] चारुत्व हेतु उपमादि [अर्थालंकार] प्रसिद्ध ही हैं । और [इन शब्द अर्थ के संघटनागत चारुत्वहेतु] वर्णसंघटना धर्म जो माधुर्यादि [गुण] हैं वे भी प्रतीत होते हैं । उन [अलंकार तथा गुणों] से अभिन्न जो उपनागरिकादि वृत्तियाँ किन्हीं [भट्टोद्भट] ने प्रकाशित की हैं वह भी श्रवणगोचर हुई हैं । और [माधुर्यादि गुणों से अभिन्न] वैदर्भी प्रभृति रीतियां भी । [परन्तु] उन सब से भिन्न यह ध्वनि कौन सा [नया] पदार्थ है ।

ग्रन्थ रूप में 'ध्वन्यालोक' ध्वनि का प्रतिपादन करने वाला प्रथम ग्रन्थ है । अलंकार शास्त्र में इसके पहिले भरत मुनि का नाट्यशास्त्र, भामह का काव्यालंकार उद्भट की इस काव्यालंकार पर 'भामहविवरण' नामक टीका, वामन का काव्यालंकार सूत्र और रुद्रट का काव्यालंकार यही पांच मुख्य ग्रन्थ लिखे गए प्रतीत होते हैं । इनमें भी 'भामहविवरण' अभी तक उपलब्ध या प्रकाशित नहीं हुआ है । परन्तु ध्वन्यालोक की लोचन टीका में उसका उल्लेख बहुत मिलता है। इन पांचों आचार्यों ने अपने ग्रन्थों में ध्वनि नाम से कहीं ध्वनि का प्रतिपादन नहीं किया और न उसका खंडन ही किया है । इस लिए यह अनुमान किया जा सकता है कि ये ध्वनि को नहीं मानते थे । ध्वन्यालोककार आनन्दवर्धनाचार्य ने इन्हीं के ग्रन्थों के आधार पर संभावित तीन ध्वनिविरोधी पक्ष बनाए हैं । एक अभाववादी पक्ष, दूसरा भक्तिवादी पक्ष और तीसरा अलक्षणीयतावादी पक्ष । इन्हीं तीनों पक्षों का निर्देश इस कारिका में 'तस्याभावं, भाक्तं और वाचां स्थितमविषये' शब्दों से किया है । ये तीनों पक्ष उत्तरोत्तर श्रेष्ठ पक्ष हैं । इनमें से प्रथम अभाववादी पक्ष विपर्ययमूलक, दूसरा भक्तिपक्ष सन्देह मूलक और तीसरा अलक्षणीयतावाद अज्ञानमूलक है । अर्थात् प्रथम अभाववादी पक्ष ने प्राचीन

---

[१] तदनतिरिक्तवृत्तयोऽपि नि० ।

आचार्यों के ग्रन्थों को जो ध्वनि का अभाव बोधक समझा है यह उनका भ्रम या विपर्ययज्ञान है। इसलिए वह सर्वथा हेय या निकृष्ट पक्ष है। दूसरे भक्तिवादी पक्ष ने भामह के काव्यालंकार और उस पर उद्भट के विवरण में गुणवृत्ति शब्द का प्रयोग देख कर ध्वनि को भक्तिमात्र कहा है। उनका यह पक्ष सन्देहमूलक होने और ध्वनि का स्पष्ट निषेध न करने से मध्यम पक्ष है। भामह ने अपने काव्यालंकार में लिखा है कि—

"शब्दा श्छन्दोऽभिधानार्था इतिहासाश्रयाः कथाः।
लोको युक्तिः कलाश्चेति मन्तव्याः काव्यहेतवः ॥"

इस कारिका में भामह ने शब्द, छन्द, अभिधान, अर्थ, इतिहासाश्रित कथा, लोक, युक्ति और कला इन काव्य हेतुओं का संग्रह किया है। इनमें शब्द और अभिधान का भेद प्रदर्शित करते हुए विवरणकार उद्भट ने लिखा है—

"शब्दानामभिधानं अभिधाव्यापारो मुख्यो गुणवृत्तिश्च।"

इस प्रकरण का अभिप्राय यह है कि शब्द पद से तो शब्द का ग्रहण करना चाहिए और अर्थ पद से अर्थ का। शब्द का अर्थ बोधन परक जो व्यापार है उसे अभिधान पद से ग्रहण करना चाहिए। यह अभिधान या अभिधा व्यापार मुख्य और गुणवृत्ति या गौण भेद से दो प्रकार का है।

इस प्रकार भामह ने अभिधान पद से, उद्भट ने गुणवृत्ति शब्द से और वामन ने "सादृश्यात् लक्षणा वक्रोक्तिः" में लक्षणा शब्द से उस ध्वनिमार्ग का तनिक स्पर्श तो किया है परन्तु उसका स्पष्ट लक्षण नहीं किया है इसलिए यह सन्देहमूलक भक्तिवादी मध्यम पक्ष बना।

जब प्राचीन आचार्य ध्वनिमार्ग का स्पर्शमात्र करके बिना लक्षण किए छोड़ गए तो उसका कोई लक्षण नहीं हो सकता। यह अभाववाद का तृतीय अलक्षणीयता पक्ष है। यह पक्ष प्रथम पक्ष की भांति ध्वनि का न स्पष्ट निषेध करता है और न द्वितीयपक्ष की भांति सन्देह के कारण उसका अपह्नव ही करता है। केवल उसका लक्षण करना नहीं जानता है। इसलिए यह पक्ष अज्ञानमूलक और तीनों में सबसे कम दूषित पक्ष है।

ध्वनि के विरोध में संभावित इन तीनों पक्षों में से प्रथम अभाववादी पक्ष के भी तीन विकल्प ग्रन्थकार ने किए हैं। इनमें पहिले विकल्प का आशय यह है कि शब्द और अर्थ ही काव्य के शरीर हैं। उनमें शब्द के स्वरूपगत चारुत्वहेतु अनुप्रासादि शब्दालंकार, और अर्थ के स्वरूपगत चारुत्वहेतु उपमादि अर्थालंकार

अन्ये ब्रूयुः नास्त्येव ध्वनिः । प्रसिद्धप्रस्थानव्यतिरेकिणः काव्यप्रकारस्य काव्यत्वहानेः । सहृदयहृदयाह्लादि शब्दार्थमयत्वमेव काव्यलक्षणम् । न चोक्तप्रस्थानातिरेकिणो मार्गस्य तत्संभवति । न च तत्समयान्तःपातिनः सहृदयान् कांश्चित् परिकल्प्य[1] तत्प्रसिद्धया ध्वनौ काव्यव्यपदेशः प्रवर्तितोऽपि सकलविद्वन्मनोग्राहितामवलम्बते ।

और उनके संघटनागत चारुत्वहेतु माधुर्यादि गुण प्रसिद्ध ही हैं । इनसे भिन्न और कोई काव्य का चारुत्वहेतु नहीं हो सकता । उद्भट ने नागरिका, उप नागरिका और ग्राम्या इन तीन वृत्तियों को और वामन ने वैदर्भी आदि चार रीतियों को भी काव्य का चारुत्वहेतु माना है । परन्तु उन दोनों का अन्तर्भाव अलंकार और गुणों में ही हो जाता है । उद्भट ने वृत्तियों का निरूपण करते हुए स्वयं भी उनको अनुप्रास से अभिन्न माना है । उन्होंने लिखा है

"सरूपव्यंजनन्यासं तिसृष्वेतासु वृत्तिषु ।
पृथक् पृथगनुप्रासमुशन्ति कवयः सदा ॥"

परुषानुप्रासा नागरिका, मसृणानुप्रासा उपनागरिका, मध्यमानुप्रासा ग्राम्या यह जो वृत्तियों के लक्षण किए हैं वह भी उनकी अनुप्रासात्मकता के सूचक हैं । रुद्रट ने भी अपने काव्यालंकार ग्रन्थ में अनुप्रास की पांच वृत्तियों का वर्णन किया है । परन्तु वह सब अनुप्रास के ही रूप हैं । 'अनुप्रासस्य पंच वृत्तयो भवन्ति । मधुरा, प्रौढ़ा, परुषा, ललिता, भद्रेति वृत्तयः पंच । रुद्रट काव्यालंकार अ० २, का० १६ ।' से भी वृत्तियों की अलंकाराभिन्नता सिद्ध होती है । इसी प्रकार वामन द्वारा जिन वैदर्भी प्रभृति रीतियों को चारुत्वहेतु बताया गया है वे माधुर्यादि गुणों से अव्यतिरिक्त हैं । इस प्रकार अलंकार और गुणों के व्यतिरिक्त और कोई काव्य का चारुत्वहेतु संभव नहीं है । यह अभाववाद का प्रथम विकल्प है ।

अभाववाद का दूसरा विकल्प निम्न प्रकार है ।)

२—दूसरे [अभाववादी] कह सकते हैं कि, ध्वनि [कुछ] है ही नहीं । प्रसिद्ध [प्रस्थान, प्रतिष्ठन्ते परम्परया व्यवहरन्ति येन मार्गेण तत् प्रस्थानम् । शब्द और अर्थ जिनमें परम्परा से काव्य व्यवहार होता है उस प्रसिद्ध] मार्ग को अतिक्रमण करने वाले [किसी नवीन] काव्य प्रकार [को मानने से उस] में काव्यत्व हानि होगी [उसमें काव्य का लक्षण ही नहीं बनेगा । क्योंकि] सहृदय

---

[1] परिकल्पित नि० ।

पुनरपरे तस्याभावमन्यथा कथयेयुः। न संभवत्येव ध्वनिर्नामापूर्वः कश्चित्। कामनीयकमनतिवर्तमानस्य तस्योक्तेष्वेव चारुत्वहेतुष्वन्तर्भावात्। तेषामन्यतमस्यैव वा अपूर्वसमाख्यामात्रकरणे[1] यत्किंचन कथनं स्यात्।

किं च, वाग्विकल्पानामानन्त्यात् संभवत्यपि वा कस्मिंश्चित् काव्यलक्षणविधायिभिः प्रसिद्धैरप्रदर्शिते प्रकारलेशे, ध्वनिर्ध्वनिरिति [2]यदेतदलीकसहृदयत्वभावनामुकुलितलोचनैर्नृत्यते, तत्र हेतुं न विद्मः। सहस्रशो हि महात्मभिरन्यैरलंकारप्रकाराः प्रकाशिताः

हृदयाह्लादक शब्दार्थ युक्तत्व ही काव्य का लक्षण है। और उक्त [शब्दार्थ शरीरं काव्यं वाले] मार्ग का अतिक्रमण करने वाले मार्ग में वह [काव्यलक्षण] संभव नहीं है। और न उस [ध्वनि] सम्प्रदाय के [मानने वालों के] अन्तर्गत [ही] किन्हीं [व्यक्तियों को स्वेच्छा से] सहृदय मान कर, उनके कथनानुसार ही [किसी परिकल्पित नवीन] ध्वनि में काव्य नाम का व्यवहार प्रचलित करने पर भी वह सब विद्वानों को स्वीकार्य [मनोग्राही] नहीं हो सकता।

अभाव वादियों का तीसरा विकल्प निम्न प्रकार हो सकता है :—

३—तीसरे [अभाववादी] उस [ध्वनि] का अभाव अन्य प्रकार से कह सकते हैं। ध्वनि नाम का कोई नया पदार्थ संभव ही नहीं है। [क्योंकि यदि वह] कमनीयता का अतिक्रमण नहीं करता है तो उसका उक्त [गुण, अलंकारादि] चारुत्व हेतुओं में ही अन्तिर्भाव हो जायगा। अथवा यदि उन्हीं गुण, अलंकारादि] में से किसी का [ध्वनि] यह नया नाम रख दिया जाय तो वह बड़ी तुच्छ सी बात होगी।

और [वक्तीति वाक् शब्दः, उच्यते इति वागर्थः, उच्यतेऽनया इति वागभिधाव्यापारः। अर्थात् शब्द, अर्थ और शब्दशक्ति रूप वाणी द्वारा] कथन शैलियों के अनन्त प्रकार होने से, प्रसिद्ध काव्यलक्षणकारों द्वारा अप्रदर्शित कोई छोटा-मोटा प्रकार संभव भी हो तो भी ध्वनि-ध्वनि कह कर और मिथ्या सहृदयत्व की भावना से आँखें बन्द करके जो यह अकांड तांडव [नर्तन] किया जाता है इसका [तो कोई उचित] कारण प्रतीत नहीं होता। अन्य विद्वान् महात्माओं ने [काव्य के शोभा सम्पादक] सहस्रों प्रकार के अलंकार प्रकाशित

---

[1]प्रकरणे नि०। [2]तदलीक नि० दी०।

प्रकाशयन्ते च। न च तेषामेषा दशा श्रूयते। तस्मात् प्रवादमात्रं ध्वनिः। न त्वस्य क्षोदक्षमं तत्वं किंचिदपि प्रकाशयितुं शक्यम्। तथा चान्येन कृत एवात्र श्लोकः,—

यस्मिन्नस्ति न वस्तु किंचन मनःप्रल्हादि सालंकृति,
व्युत्पन्नै रचितं न चैव वचनै र्वक्रोक्तिशून्यं च यत्।
काव्यं तद् ध्वनिना समन्वितमिति प्रीत्या प्रशंसन् जडो,
नो विद्मोऽभिदधाति किं सुमतिना पृष्टः स्वरूपं ध्वनेः॥

किये हैं और प्रकाशित कर रहे हैं। उनकी तो यह [मिथ्या सहृदयत्वाभिमान-मूलक अकांड तांडव को] अवस्था सुनने में नहीं आती। [इस लिए ध्वनिवादी का यह अकांड तांडव सर्वथा व्यर्थ है।] इस लिए ध्वनि यह एक प्रवादमात्र है। उसका विचारयोग्य तत्व कुछ भी नहीं बताया जा सकता है। इसी आशय का अन्य [ध्वन्यालोककार आनन्दवर्धनाचार्य के समकालीन मनोरथ कवि] का श्लोक भी है।

जिसमें अलंकारयुक्त अतएव मन को आह्लादित करने वाला कोई वर्ण-नीय अर्थतत्त्व [वस्तु] नहीं है [इससे अर्थालंकारों का अभाव सूचित होता है], जो चातुर्य से युक्त सुन्दर शब्दों से विरचित नहीं हुआ है [इससे शब्दा-लंकारशून्यता सूचित होती है], और जो सुन्दर उक्तियों से शून्य है [इससे गुणराहित्य सूचित होता है। इस प्रकार जो शब्द के चारुत्वहेतु अनुप्रासादि शब्दा-लंकारों, अर्थ के चारुत्वहेतु उपमादि अर्थालंकारों और शब्दार्थसंघटना के चारुत्व-हेतु माधुर्यादि गुणों से सर्वथा शून्य है] उस को यह ध्वनि युक्त [उत्तम] काव्य है यह कह कर [गतानुगतिक, गड्डलिका प्रवाह से] प्रीतिपूर्वक प्रशंसा करने वाला मूर्ख, किसी बुद्धिमान् के पूछने पर मालूम नहीं ध्वनि का क्या स्वरूप बतावेगा।

यह अभाववादी पक्ष का उपसंहार हुआ। आगे ध्वनिविरोधी दूसरा भक्तिवादी पक्ष आता है। प्रथम अभाववादी और तृतीय अलक्षणीयतावादी यह दोनों पक्ष संभावित पक्ष हैं अतएव उन दोनों का निर्देश 'जगदुः' तथा 'ऊचुः' इन परोक्ष लिट् लकार के प्रयोगों द्वारा किया गया है। परन्तु बीच के भक्तिवादी पक्ष का जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, 'भामह' के 'काव्यालंकार' और 'उद्भट' के 'भामह विवरण' ग्रन्थों द्वारा परिचय प्राप्त हो चुका है, इसलिए उसका निर्देश

भाक्तमाहुस्तमन्ये । अन्ये तं ध्वनिसंज्ञितं काव्यात्मानं गुणवृत्तिरित्याहुः ।

परोक्षता-सूचक लिट् लकार द्वारा न करके नित्य प्रवर्तमान सूचक लट् लकार के 'आहुः' पद से किया है ।

'भक्तिवाद' में प्रयुक्त 'भक्ति' शब्द की व्युत्पत्ति चार प्रकार से की गई है। भक्ति शब्द से आलंकारिकों की लक्षणा और मीमांसकों की गौणी नामक दो प्रकार की शब्द-शक्तियों का ग्रहण होता है । आलंकारिकों की लक्षणा के मुख्यार्थ बाध, सामीप्यादि संबन्ध और शैत्यादि बोध रूप प्रयोजन यह तीन बीज हैं । भक्ति शब्द की तीन प्रकार की व्युत्पत्तियां इन तीन लक्षणा बीजों को बोधन करने के लिए की गई हैं । 'मुख्यार्थस्य भङ्गो भक्तिः' इस भङ्गार्थक व्याख्यान से मुख्यार्थबाध, 'भज्यते सेव्यते पदार्थेन इति सामीप्यादिधर्मो भक्तिः' इस सेवनार्थक व्याख्यान से सामीप्यादि संबन्ध रूप निमित्तसिद्धि, और 'प्रतिपाद्ये शैत्यपावनत्वादौ श्रद्धातिशयो भक्तिः' इस श्रद्धातिशयार्थक व्याख्यान से भक्ति पद प्रयोजन का सूचक होता है । 'तत आगतः भाक्तः'—मुख्यार्थबाधादि तीनों बीजों से जो अर्थ प्रतीत होता है उस लक्ष्यार्थ को भाक्त कहते हैं ।

आलंकारिकों ने लक्षणा के दो भेद किए हैं, शुद्धा और गौणी । सादृश्येतर संबन्ध से शुद्धा और सादृश्य सम्बन्ध से गौणी लक्षणा मानते हैं । परन्तु मीमांसकों ने लक्षणा से भिन्न गौणी को अलग ही वृत्ति माना है, लक्षणा का भेद नहीं । प्रकृत भाक्त पद से मीमांसकों की उस गौणी वृत्ति का भी संग्रह होता है और उसके बोधन के लिए भक्ति पद की चौथी व्युत्पत्ति 'गुणसमुदायवृत्तेः शब्दस्य अर्थभागस्तैक्ष्ण्यादिः [शौर्यक्रौर्यादिः] भक्तिः, तत आगतो भाक्तः ।' 'सिंहो माणवकः' आदि प्रयोगों में तैक्ष्ण्य अर्थात् शौर्यक्रौर्यादिगुणविशिष्टप्राणिविशेष के वाचक गुण-समुदायवृत्ति सिंह शब्द से उसके अर्थभाग शौर्यक्रौर्यादि का ग्रहण भक्ति है, और उससे प्राप्त होने वाला गौण अर्थ भाक्त है । इस प्रकार भाक्त शब्द के लक्ष्य और गौण यह दोनों अर्थ हैं । आगे इस भक्तिवादी पूर्वपक्ष का निरूपण करते हैं।

४—दूसरे लोग उसको लक्ष्य या गौण कहते हैं । अन्य लोग उस ध्वनि नामक काव्य को गुणवृत्ति गौण कहते हैं ।

गुणवृत्ति पद काव्य के शब्द और अर्थ दोनों के लिए प्रयुक्त है । गुण अर्थात् सामीप्यादि और तैक्ष्ण्यादि उनके द्वारा जिस शब्द की अर्थान्तर में वृत्ति बोधकत्व होता है वह शब्द, और उनके द्वारा शब्द की वृत्ति जहां होती है वह

यद्यपि च ध्वनिशब्दसंकीर्तनेन काव्यलक्षणविधायिभिर्गुणवृत्ति-रन्यो वा न कश्चित् प्रकारः प्रकाशितः, तथापि [1]अमुख्यवृत्त्या काव्येषु व्यवहारं दर्शयता ध्वनिमार्गो मनाक् स्पृष्टोऽपि[2] न लक्षित इति परि-कल्प्यैवमुक्तम्, भाक्तमाहुस्तमन्ये इति ।

अर्थ, इस प्रकार शब्द और अर्थ दोनों ही गुणवृत्ति शब्द से गृहीत हो सकते हैं । अथवा 'गुणद्वारेण वर्तनं गुणवृत्तिः' अर्थात् अमुख्य अभिधा व्यापार भी गुणवृत्ति शब्द से बोधित होता है । इसका आशय यह है कि दूसरे लोग ध्वनि को गुणवृत्ति कहते हैं । ध्वनि शब्द 'ध्वनतीति ध्वनिः' इस व्युत्पत्ति से शब्द का, 'ध्वन्यते इति ध्वनिः' इस व्युत्पत्ति से अर्थ का, और 'ध्वन्यतेऽस्मिन्निति ध्वनिः' इस व्युत्पत्ति से काव्य का बोधक होता है । इसी प्रकार गुणवृत्ति शब्द 'गुणैः सामीप्या-दिभिस्तैक्ष्ण्यादिभिर्वोपायैरर्थान्तरे वृत्तिर्यस्य स गुणवृत्तिः शब्द तैरुपायैः शब्दस्य वृत्तिर्यत्र सोऽर्थो गुणवृत्तिः, गुणद्वारेण वर्तनं वा गुणवृत्तिरमुख्योऽभिधाव्यापारः', इस प्रकार ध्वनि शब्द के समान गुणवृत्ति शब्द भी शब्द, अर्थ और व्यापार तीनों का बोधक होता है ।

मूल कारिका में 'तं भाक्तं' और उसकी वृत्ति में 'तं ध्वनिसंज्ञितं काव्यात्मानं' इन पदों का जो समानाधिकरण-समानविभक्तिक-प्रयोग हुआ है, उसका विशेष प्रयोजन है । पदों के सामानाधिकरण्य का अर्थ एकधर्मिबोधकत्व अर्थात् उनके पदार्थों का अभेदान्वय ही होता है । जैसे 'नीलमुत्पलम्' इस उदाहरण में समान-विभक्त्यन्त नीलं और उत्पलं पदों से नील और उत्पल का अभेद या तादात्म्य ही बोधित होता है । उसका अर्थ 'नीलाभिन्नमुत्पलम्' ही होता है । इसी प्रकार यहां भक्ति और ध्वनि का जो सामानाधिकरण्य है उससे उन दोनों का तादात्म्य ही सूचित होता है । इन दोनों के तादात्म्य का ही खंडन आगे सिद्धान्तपक्ष में करना है । वैसे अनेक स्थलों पर लक्षणा और ध्वनि या गौणी और ध्वनि दोनों साथ पाई जाती हैं । परन्तु अनेक स्थलों पर लक्षणा या गौणी के अभाव में भी ध्वनि रहती है । इसलिए गौणी या लक्षणा और ध्वनि का तादात्म्य या अभेद नहीं है । यही आगे चल कर सिद्धान्त पक्ष स्थिर करना है इसलिए पूर्वपक्ष में सामानाधिकरण्य द्वारा उन दोनों का तादात्म्य प्रतिपादन किया है ।

यद्यपि काव्यलक्षणकारों ने ध्वनि शब्द का उल्लेख करके [ध्वनि नाम लेकर] गुणवृत्ति या अन्य [गुण अलंकारादि] कोई प्रकार प्रदर्शित नहीं किया

---

[1] गुणवृत्त्या नि० । [2] मनाक् स्पृष्टो लक्ष्यते नि० । स्पृष्ट इति, दी० ।

केचित् पुनर्लक्षणकरणशालीनबुद्धयो ध्वनेस्तत्त्वं गिरामगोचरं सहृदयहृदयसंवेद्यमेव समाख्यातवन्तः । तेनैवंविधासु विमतिषु स्थितासु सहृदयमनःप्रीतये तत्स्वरूपं ब्रूमः ।

तस्य हि ध्वनेः स्वरूपं सकलसत्कविकाव्योपनिषद्भूतं, अतिरमणीयं, [1]अणीयसीभिरपि चिरन्तनकाव्यलक्षणविधायिनां बुद्धिभिरनुन्मीलितपूर्वम् । अथ च रामायणमहाभारतप्रभृतिनि लक्ष्ये सर्वत्र प्रसिद्धव्यवहारं लक्षयतां सहृदयानां, आनन्दो मनसि लभतां प्रतिष्ठामिति प्रकाश्यते ॥१॥

है, फिर भी [भामह के 'शब्दाश्छन्दोऽभिधानार्था' के व्याख्या प्रसंग में 'शब्दानामभिधान मभिधाव्यापारो मुख्यो गुणवृत्तिश्च' लिखकर] काव्यों में गुणवृत्ति से व्यवहार दिखाने वाले [भट्टोद्भट या उनके उपजीव्य भामह] ने ध्वनिमार्ग का थोड़ा सा स्पर्श करके भी [उसका स्पष्ट] लक्षण नहीं किया [इसलिए अर्थतः उनके मत में गुणवृत्ति ही ध्वनि है] ऐसी कल्पना करके 'भाक्तमाहुस्तमन्ये' यह कहा गया है ।

५—लक्षण निर्माण में अप्रगल्भबुद्धि किन्हीं [तीसरे वादी] ने ध्वनि के तत्व को ['न शक्यते वर्णयितुं गिरा तदा स्वयं तदन्तःकरणेन गृह्यते' के समान] केवल सहृदयहृदयसंवेद्य और वाणी के परे [अलक्षणीय, अनिर्वचनीय] कहा है । इस लिए इस प्रकार के मतभेदों के होने से सहृदयों के हृदयाह्लाद के लिए हम उसका स्वरूप प्रतिपादन करते हैं ।

काव्य के प्रयोजनों में यश और अर्थ की प्राप्ति, व्यवहारज्ञान और सद्यःपरनिर्वृति परमानन्द आदि अनेक फल माने गए हैं। परन्तु उन सब में सद्यः परिनिर्वृति या आनन्द ही सबसे प्रधान फल है । अन्य यश और अर्थ आदि की चरम परिणति आनन्द में ही होती है इसलिए यहां काव्यात्मभूत ध्वनितत्व के निरूपण का एकमात्र आनन्द फल मूल कारिका में 'सहृदयमनःप्रीतये' शब्द से और उसकी वृत्ति में 'आनन्द' शब्द से दिखाया है ।

उस ध्वनि का स्वरूप समस्त सत्कवियों के काव्यों का परमरहस्यभूत, अत्यन्त सुन्दर, प्राचीन काव्यलक्षणकारों की सूक्ष्मतर बुद्धियों से भी प्रस्फुटित नहीं हुआ है । इसलिए, और रामायण महाभारत आदि लक्ष्य ग्रन्थों में सर्वत्र

---

[1] अणीयसीभिश्चिरन्तन नि०, दी० ।

उसके प्रसिद्ध व्यवहार को परिलक्षित करने वाले सहृदयों के मन में आनन्द [प्रद ध्वनि,] प्रतिष्ठा को प्राप्त करे इसलिए उसको प्रकाशित किया जाता है।

ऊपर जो ध्वनिविरोधी पक्ष दिखाए हैं उनमें अभाववादी पक्ष के तीन विकल्प और अन्त के दो पक्ष मिला कर कुल पांच पक्ष बन गए हैं। इन ऊपर की पंक्तियों में ध्वनि का जो विशिष्ट रूप प्रदर्शित किया है उसमें प्रयुक्त विशेषण उन पूर्वपक्षों के निराकरण को ध्वनित करने वाले और साभिप्राय हैं। सकल और सत्कवि शब्द से 'कस्मिंश्चित् प्रकारलेशे' वाले पक्ष का, 'अतिरमणीयम्' से भाक्तपक्ष का, 'उपनिषद्भूतं' से 'अपूर्वसमाख्यामात्रकरणे 'वाले पक्ष का, 'अणीयसीभिश्चिर-न्तनकाव्यलक्षणविधायिनां बुद्धिभिरनुन्मीलितपूर्वं' विशेषण से गुणालंकार अन्तर्भू-तत्ववादी पक्ष का, 'अथ च' इत्यादि से 'तत्समयान्तःपातिनः कांश्चित्' वाले पक्ष का, रामायण के नामोल्लेख से आदिकवि से लेकर सबने उसका आदर किया है इससे स्वकल्पितत्व दोष का, 'लक्षयतां' इस पद से 'वाचां स्थितमविषये' का निराकरण ध्वनित होता है।

'आनन्दो मनसि लभतां प्रतिष्ठाम्' इस उक्ति से साधारण अर्थ के अतिरिक्त दो बातें और भी ध्वनित होती हैं। पहिली बात तो यह है कि आगे चल कर ध्वनि के वस्तुध्वनि, अलंकारध्वनि और रसध्वनि यह तीन भेद करेंगे। परन्तु इनमें आनन्दरूप रसध्वनि ही प्रधान है, यह बात इससे सूचित होती है।

दूसरी बात यह है कि इस ध्वन्यालोक ग्रन्थ के रचयिता श्री आनन्द-वर्धनाचार्य हैं। वह न केवल इस ग्रन्थ के रचयिता अपितु वस्तुतः ध्वनिमार्ग के संस्थापक हैं। इसलिए इस ध्वनि के स्पष्ट स्थापन रूप कार्य से सहृदयों के मन में उनको प्रतिष्ठा प्राप्त हो यह भाव भी अपने नाम के आदि भाग 'आनन्द' शब्द द्वारा यहां व्यक्त किया है।

'लोचन' और 'बालप्रिया' दोनों टीकाओं के लेखकों ने 'लक्षयतां' पद की व्याख्या में 'लक्ष्यते अनेन इति लक्षो लक्षणम्। लक्षेण निरूपयन्ति लक्षयन्ति, तेषां लक्षणद्वारेण निरूपयताम्' यह अर्थ किया है। और 'लक्ष्यतेऽनेन इति लक्षः' इस प्रकार करण में घञ् प्रत्यय करके लक्ष शब्द बनाया है। साधारणतः ल्युट् प्रत्यय से बाधित होने के कारण करण में घञ् प्रत्यय सुलभ नहीं है। परन्तु महा-भाष्यकार ने 'उपदेशेऽजनुनासिक इत्' इस सूत्र में बाहुलकात् करण घञन्त उपदेश शब्द का साधन किया है उस प्रकार बाहुलकात् करण घञन्त वाला मार्ग यहां भी निकाला जा सकता है। परन्तु यहां तो 'लक्षयतां' का सीधा 'निरूपयतां' अर्थ करने

से उस बाहुलक की क्लिष्ट कल्पना से बचा जा सकता है। निरूपण में, लक्षणादिना निरूपण धात्वर्थान्तर्गत हो जाने से अर्थ में भी अन्तर नहीं होता तब उस अगतिकगति बाहुलक का आश्रय लेकर करणघञन्त लक्ष पद के व्युत्पादन का प्रयास क्यों किया, यह विचारणीय है।

'ध्वनेः स्वरूपं' में प्रयुक्त 'स्वरूपम्' पद, 'लक्ष्यतां' में लक्ष धात्वर्थ और 'प्रकाश्यते' में काश धात्वर्थ दोनों में आवृत्ति द्वारा कर्मतया अन्वित होता है। और प्रधानभूत काश धात्वर्थ के अनुरोध से उसे प्रथमान्त समझना चाहिए, गुणीभूत लक्षक्रियानुरोध से द्वितीयान्त नहीं। इसमें 'स्वादुमि णमुल' पा०सू० ३-४-२६ इस सूत्र के भाष्य में स्थित निम्न कारिका प्रमाण है :

"प्रधानेतरयो र्यत्र द्रव्यस्य क्रिययोः पृथक्।
शक्ति र्गुणाश्रया तत्र प्रधानमनुरुध्यते॥"

प्रत्येक ग्रन्थ के प्रारम्भ में ग्रन्थ का [१] प्रयोजन, [२] विषय, [३] अधिकारी [४] सम्बन्ध इन अनुबन्ध चतुष्टय को प्रदर्शित करने की व्यवस्था है।

"सिद्धार्थं सिद्धसम्बन्धं श्रोतुं श्रोता प्रवर्तते।
शास्त्रादौ तेन वक्तव्यः सम्बन्धः सप्रयोजनः॥" श्लो० वा० १।१७।

अनुबन्धचतुष्टय के ज्ञान से ही ग्रन्थ के अध्ययन अध्यापनादि में प्रवृत्ति होती है। 'प्रवृत्तिप्रयोजकज्ञानविषयत्वं अनुबन्धत्वम्' यही अनुबन्ध का लक्षण है। प्रवृत्ति प्रयोजक ज्ञान का स्वरूप 'इदं मदिष्टसाधनम्' या 'इदं मत्कृतिसाध्यम्' है। इसमें इदं पद से विषय, मत् पद से अधिकारी, इष्ट पद से प्रयोजन, और साधन पद से साध्यसाधनभाव सम्बन्ध सूचित होता है। तदनुसार विषय, प्रयोजन, अधिकारी और सम्बन्ध ये चार अनुबन्धचतुष्टय माने गए हैं और प्रत्येक ग्रन्थ के आरम्भ में उनका निरूपण आवश्यक माना गया है।

अतएव इस ध्वन्यालोक के प्रारम्भ में भी ग्रन्थकार ने उन अनुबंधचतुष्टय को सूचित किया है। 'तत् स्वरूपं ब्रूमः' से ग्रन्थ का प्रतिपाद्य विषय ध्वनि का स्वरूप है, यह सूचित किया। विमति निवृत्ति और उससे 'सहृदयमनःप्रीतये' से मनः प्रीति रूप मुख्य प्रयोजन सूचित हुआ। ध्वनिस्वरूपजिज्ञासु सहृदय उसका अधिकारी और शास्त्र का विषय के साथ प्रतिपाद्य-प्रतिपादकभाव तथा प्रयोजन के साथ साध्य-साधनभाव सम्बन्ध है। इस प्रकार अनुबन्ध चतुष्टय की भी सूचना हुई॥१॥

[1]तत्र ध्वनेरेव लक्षयितुमारब्धस्य भूमिकां रचयितुमिदमुच्यते—

[2]योऽर्थः सहृदयश्लाघ्यः काव्यात्मेति व्यवस्थितः ।
वाच्यप्रतीयमानाख्यौ तस्य भेदावुभौ स्मृतौ ॥२॥

काव्यस्य हि ललितोचितसन्निवेशचारुणः शरीरस्येवात्मा सार-रूपतया स्थितः सहृदयश्लाघ्यो योऽर्थः, तस्य वाच्यः प्रतीयमानश्चेति द्वौ भेदौ ॥२॥

[यहां तत्र पद भावलक्षण सप्तमी के या सति सप्तमी के द्विवचनान्त से त्रल् प्रत्यय करके बना है, इसलिए उसका अर्थ उन दोनों अर्थात् विषय और प्रयोजन के स्थित होने पर होता है ।]

विषय और प्रयोजन के स्थित हो जाने पर, जिस ध्वनि का लक्षण करने जा रहे हैं उसकी आधार भूमि [भूमिरिव भूमिका] निर्माण के लिए यह कहते हैं ।

सहृदयों द्वारा प्रशंसित जो अर्थ काव्य की आत्मा रूप में प्रतिष्ठित है उसके वाच्य और प्रतीयमान दो भेद कहे गए हैं ।

शरीर में आत्मा के समान, सुन्दर [गुणालंकार युक्त], उचित [रसादि के अनुरूप] रचना के कारण रमणीय काव्य के साररूप में स्थित, सहृदय प्रशंसित जो अर्थ है उसके वाच्य और प्रतीयमान दो भेद हैं ।

'योऽर्थः सहृदयश्लाघ्यः' इत्यादि दूसरी कारिका वैसे सरल जान पड़ती है परन्तु उस की संगति तनिक क्लिष्ट है । उसके आपाततः प्रतीत होने वाले अर्थ ने साहित्यदर्पणकार श्री विश्वनाथ को भी भ्रम में डाल दिया, जिसके कारण उन्होंने अपने ग्रन्थ में इस कारिका का खंडन करने की आवश्यकता समझी । उन्होंने लिखा कि सहृदयश्लाघ्य अर्थ अर्थात् ध्वनि तो सदा प्रतीयमान ही है, वाच्य कभी नहीं होता । फिर, ध्वनिकार ने जो उसके वाच्य और प्रतीयमान दो भेद किए हैं वह उनका वदतो व्याघात—स्ववचन विरोध है—।

इस संभावित भ्रान्ति को समझ कर टीकाकार ने इस कारिका की व्याख्या विशेष प्रकार से की है । ध्वनि के स्वरूप-निरूपण की प्रतिज्ञा करके वाच्य का कथन करने लगना भ्रमजनक हो सकता है, इसीलिए स्वयं ग्रन्थकार ने भी इस कारिका की अवतरणिका में संकेत कर दिया है कि यह ध्वनि की भूमिका [भूमिरिव

---

१. तत्र पुनर्ध्वनेः नि० । २. अर्थः......काव्यात्मा यो नि० ।

तत्र वाच्यः प्रसिद्धो यः प्रकारैरुपमादिभिः ।
बहुधा व्याकृतः सोऽन्यैः,
[1]**काव्यलक्ष्मविधायिभिः ।**

ततो नेह प्रतन्यते ॥३॥

केवलमनूद्यते पुनर्यथोपयोगम् ॥३॥

भूमिका] है। जिस प्रकार आधार-भूमि का निर्माण हो जाने पर ही उसके ऊपर भवन-निर्माण का कार्य प्रारम्भ होता है उसी प्रकार वाच्यार्थ, ध्वनि की आधार भूमि है, उसी के आधार पर प्रतीयमान अर्थ की व्यक्ति होती है। पूर्वपक्ष प्रदर्शित करते हुए लिखा था 'शब्दार्थशरीरं काव्यम'। इनमें से शब्द तो शरीर के स्थूलत्वादि के समान सर्वजनसंवेद्य होने से शरीरभूत ही है। परन्तु अर्थ तो स्थूल शरीर की भांति सर्वजनसंवेद्य नहीं है। काव्यार्थ तो सहृदयकवेद्य है और उससे भिन्न अर्थ भी संकेतग्रह पूर्वक व्युत्पन्न पुरुषों को ही प्रतीत होता है अतएव अर्थ सर्वजनसंवेद्य न होने से स्थूल शरीर स्थानीय नहीं है। जब शब्द को शरीर मान लिया तो फिर उसको अनुप्राणित करने वाले आत्मा का मानना भी आवश्यक है। और यह अर्थ उस आत्मा का स्थान लेता है। परन्तु सारा अर्थ नहीं केवल सहृदयश्लाघ्य अर्थ काव्यात्मा है। इसलिए अर्थ के दो भेद किएहैं। एक वाच्य और दूसरा प्रतीयमान। सहृदयश्लाघ्य या प्रतीयमान अर्थ काव्य की आत्मा है। दूसरा जो वाच्य अर्थ [वाच्यः प्रसिद्धो यः प्रकारैरुपमादिभिः] काव्य की आत्मा नहीं उसे हम इस रूपक में सूक्ष्म शरीर या अन्तःकरण अथवा मनःस्थानीय मान सकते हैं। जिस प्रकार आत्मतत्व के विषय में विप्रतिपन्न चार्वाकादि कोई स्थूल शरीर को और कोई सूक्ष्म मन आदि को ही आत्मा समझ लेते हैं इसी प्रकार यहां शब्द, अर्थ, गुण, अलंकार, रीति आदि में से किसी एक या उनकी समष्टि को काव्य समझ लेना चार्वाक मत के सदृश है।

कारिकाकार ने 'वाच्यप्रतीयमानाख्यौ' पद में वाच्य और प्रतीयमान दोनों का द्वन्द्व समास किया है। 'उभयपदार्थप्रधानो द्वन्द्वः' अर्थात् द्वन्दसमास में द्वन्द घटक समस्त पदों का सम प्राधान्य होता है। इसलिए यहां वाच्य और प्रतीयमान दोनों का सम प्राधान्य सूचित होता है। जिसका भाव यह है कि जिस प्रकार वाच्य

---

१. नि०, दी० ने 'काव्यलक्ष्मविधायिभिः' को कारिका भाग और 'ततो नेह प्रतन्यते' को वृत्ति भाग मानकर छापा है। परन्तु लोचन के अनुसार हमारा पाठ ही ठीक है।

प्रतीयमानं पुनरन्यदेव, वस्त्वस्ति वाणीषु महाकवीनाम् ।
यत् तत् प्रसिद्धावयवातिरिक्तं, विभाति लावण्यमिवाङ्गनासु ॥४॥

प्रतीयमानं पुनरन्यदेव वाच्याद् वस्त्वस्ति वाणीषु महाकवीनाम्। यत् तत् [1]सहृदयसुप्रसिद्धं, प्रसिद्धेभ्योऽलंकृतेभ्यः प्रतीतेभ्यो वावयवेभ्यो व्यतिरिक्तत्वेन प्रकाशते लावण्यमिवाङ्गनासु। यथा ह्यङ्गनासु लावण्यं पृथङ् निर्वर्ण्यमानं निखिलावयवव्यतिरेकि किमप्यन्यदेव सहृदयलोचनामृतं, तत्वान्तरं, तद्वदेव सोऽर्थः।

अर्थ का अपह्नव नहीं किया जा सकता है उसी प्रकार प्रतीयमान अर्थ भी अनपह्नवनीय है। उसका अपह्नव-निषेध—नहीं किया जा सकता है। इस प्रतीमान अर्थ के विषय में की जाने वाली विप्रतिपत्ति आत्मतत्व के विषय में की जाने वाली चार्वाक की विप्रतिपत्ति के समकक्ष ही है। अतएव सर्वथा हेय है।

उनमें से, वाच्य अर्थ वह है जो उपमादि [गुणालंकार] प्रकारों से प्रसिद्ध है और अन्यों ने [पूर्व काव्य लक्षणकारों ने] अनेक प्रकार से उसका प्रदर्शन किया है। इसलिए हम यहां उसका विस्तार से प्रतिपादन नहीं कर रहे। केवल आवश्यकतानुसार उसका अनुवाद मात्र करेंगे।

वाच्य पद से घट-पटादि रूप अभिधेयार्थ का ग्रहण अभीष्ट नहीं है अपितु उपमादि अलंकारों का ग्रहण अपेक्षित है इसलिए दूसरी कारिका में वाच्य की व्याख्या की। उसका यहां अनुवाद करेंगे। अज्ञात अर्थ का ज्ञापन यहां प्रतनन है और ज्ञातार्थ का ज्ञापन अनुवाद कहाता है। भट्टवार्तिक में कहा है :—

'यच्छब्दयोगः प्राथम्यं सिद्धत्वं चाप्यनूद्यता।
तच्छब्दयोग औत्तर्यं साध्यत्वं च विधेयता।'

श्लोक के पूर्वार्द्ध में अनुवाद का लक्षण किया है और उत्तरार्द्ध में विधेय का ॥३॥

प्रतीयमान कुछ और ही चीज़ है जो रमणियों के प्रसिद्ध [मुख, नेत्र, श्रोत्र, नासिकादि] अवयवों से भिन्न [उनके] लावण्य के समान, महाकवियों की सूक्तियों में [वाच्य अर्थ से अलग ही] भासित होता है।

महाकवियों की वाणियों में वाच्यार्थ से भिन्न प्रतीयमान कुछ और ही वस्तु है। जो प्रसिद्ध अलंकारों अथवा प्रतीत होने वाले अवयवों से भिन्न, सहृदय-

---

१. सहृदयहृदयसुप्रसिद्धं नि०, दी०।

स ह्यर्थो, वाच्यसामर्थ्याक्षिप्तं वस्तुमात्रं, [1]अलंकाररसादयश्चे-त्यनेकप्रभेदप्रभिन्नो दर्शयिष्यते। सर्वेषु च तेषु प्रकारेषु तस्य वाच्या-दन्यत्वम्। तथा हि, आद्यस्तावत् प्रभेदो वाच्याद् दूरं विभेदवान्। स हि कदाचिद् वाच्ये विधिरूपे प्रतिषेधरूपः। यथा—

भम धम्मिअ बीसत्थो सो सुनओ अज्ज मारिओ देण।
गोलाणइ कच्छकुडंगवासिणा दरिअ सीहेण॥

[*भ्रम धार्मिक [2]विस्रब्धः स शुनकोऽद्य मारितस्तेन।*
[3]गोदानदीकच्छकुञ्जवासिना दृप्तसिंहेन॥इति च्छायां]

सुप्रसिद्ध, अङ्गनाओं के लावण्य के समान [अलग ही] प्रकाशित होता है। जिस प्रकार सुन्दरियों का सौन्दर्य पृथक् दिखाई देने वाला समस्त अवयवों से भिन्न सहृदय नेत्रों के लिए अमृत तुल्य कुछ और ही तत्त्व है, इसी प्रकार वह [प्रतीयमान] अर्थ है।

वह [प्रतीयमान] अर्थ वाच्य सामर्थ्य से आक्षिप्त वस्तुमात्र, अलंकार, और रसादि भेद से अनेक प्रकार का दिखाया जायगा। उन सब ही भेदों में वह वाच्य से अलग ही है। जैसे पहला [वस्तु ध्वनि] भेद वाच्य से अत्यन्त भिन्न है। [क्योंकि] कहीं वाच्य विधि रूप होने पर [भी] वह [प्रतीयमान] निषेध रूप होता है। जैसे :—

पंडित जी महाराज ! गोदावरी के किनारे कुंज में रहने वाले मदमत्त सिंह ने आज [आपको तंग करने वाले, आप पर दौड़ने वाले] उस कुत्ते को मार डाला है, अब आप निश्चिन्त होकर भ्रमण कीजिए।

गोदावरी तट का कोई सुन्दर स्थान किसी कुलटा का संकेत स्थान है। उस स्थान की सुन्दरता के कारण कोई धार्मिक पंडित जी—भगत जी—सन्ध्योपासन या भ्रमण के लिए उधर आ जाते हैं। इसके कारण उस कुलटा के कार्य में विघ्न पड़ता है और वह चाहती है कि यह इधर न आया करें। वैसे बिना बात उनको आने का सीधा निषेध करना तो अनुचित और उसकी अनधिकार चेष्टा होती इसलिए उसने सीधा निषेध न करके उस प्रदेश में मत्त सिंह की उपस्थिति की सूचना द्वारा पंडित जी को भयभीत कर उनके रोकने का यह मार्ग निकाला है। प्रकृत श्लोक में वह पंडित जी महाराज को यही सूचना दे रही है। परन्तु उसके

---

१. अलङ्कारा रसादयश्च नि०। २. विश्रब्धः नि०। १. गोदावरी नदी कूललतागहनवासिना लो०।

कहने का एक विशेष ढंग है। वह कहती है कि पंडित जी महाराज! वह कुत्ता जो आपको रोज़ तंग किया करता था गोदावरी के किनारे कुंज में रहने वाले मदमत्त सिंह ने मार डाला है अर्थात् प्रतिदिन आपके भ्रमण में बाधा डालने वाले कुत्ते के मर जाने से आपके मार्ग की वह बाधा दूर हो गई है और अब आप निर्भय होकर भ्रमण करें। कुलटा जानती है कि पंडित जी तो कुत्ते से ही डरते हैं, जब उन्हें मालूम होगा कि उसे सिंह ने मार डाला और वह सिंह यहीं कुंज में रहता है तो निश्चय ही पंडित जी भूल कर भी उधर आने का साहस नहीं करेंगे। इसी लिए वह पंडित जी को निश्चिन्त होकर भ्रमण करने का निमंत्रण दे रही है परन्तु उसका तात्पर्य यही है कि कभी भूल कर भी इधर पैर न रखना नहीं तो फिर आपकी कुशल नहीं है। श्लोक में 'धार्मिक' पद पंडित जी महाराज की भीरुता का, 'दृप्त' पद सिंह की भीषणता के अतिरेक का और 'वासिना' पद सिंह की निरन्तर विद्यमानता का सूचक है। इस श्लोक का वाच्यार्थ तो विधिरूप है परन्तु जो उससे प्रतीयमान अर्थ [वस्तु ध्वनि] है वह निषेध रूप है। इसलिए वाच्यार्थ से प्रतीयमान अर्थ अत्यन्त भिन्न है।

लिङ्, लोट्, तव्यत् प्रत्यय 'विधि प्रत्यय' कहलाते हैं। विधि प्रत्ययान्त पदों को सुनने से यह प्रतीत होता है कि 'अयं मां प्रवर्तयति'। विधि प्रत्यय के प्रयोग को सुन कर सुनने वाला नियम से यह समझता है कि यह कहने वाला मुझे किसी विशेष कार्य में प्रवृत्त कर रहा है। इसलिए विधि प्रत्यय का सामान्य अर्थ प्रवर्तना ही होता है। यह प्रवर्तना वक्ता का अभिप्राय रूप है। मीमांसकों ने विध्यर्थ का विशेष रूप से विचार किया है। उनके मत में वेद अपौरुषेय है। वेद में प्रयुक्त 'स्वर्गकामो यजेत्' आदि विधि प्रत्यय द्वारा जो प्रवर्तना बोधित होती है वह शब्दनिष्ठ व्यापार होने से शाब्दी भावना कहलाती है। लौकिक वाक्यों में तो प्रवर्तकत्व पुरुषनिष्ठ अभिप्राय विशेष में रहता है परन्तु वैदिक वाक्यों का वक्ता पुरुष न होने से वहां वह प्रवर्तकत्व व्यापार केवल शब्दनिष्ठ होने से शाब्दी भावना कहलाता है। और उस वाक्य को सुन कर फलोद्देश्येन पुरुष की जो प्रवृत्ति होती है उसे आर्थी भावना कहते हैं। 'पुरुषप्रवृत्त्यनुकूलो भावयितुर्व्यापारविशेषः शाब्दी भावना', प्रयोजनेच्छाजनितक्रियाविषयो व्यापार आर्थी भावना'। साधारणतः विधि शब्द का अर्थ प्रवर्तकत्व या भावना आदि रूप होता है परन्तु यहां 'क्वचिद् वाच्ये विधिरूपे निषेधरूपो यथा' में यह अर्थ संगत नहीं होगा। इसलिए यहां विधि का अर्थ प्रतिप्रसव या प्रतिषेधनिवर्तन माना गया है। कुत्ते की उपस्थिति धार्मिक के भ्रमण में प्रतिषेधात्मक या बाधा रूप थी। कुत्ते के मर जाने से उस बाधा की

क्वचिद् वाच्ये प्रतिषेधरूपे विधिरूपो यथा—

अत्ता एत्थ णिमज्जइ एत्थ अहं दिअसअं पलोएहि।
मा पहिअ रत्ति अन्धअ सेज्जाए मह णिमज्जहिसि॥

[*श्वश्रूरत्र निमज्जति, अत्राहं दिवसकं प्रलोकय।*
मा पथिक रात्र्यन्धक शय्यायां मम निमंक्ष्यसि[1] ॥ *इतिच्छाया*]

निवृत्ति हो गई। यही प्रतिषेधनिवृत्ति या प्रतिप्रसव यहां विधि शब्द का अर्थ है, न कि नियोगादि। भ्रम पद का जो लोट् लकार है वह 'प्रैषातिसर्गप्राप्तकालेषु, कृत्याश्च पा० सू० ३,३,१०३' सूत्र से अतिसर्ग अर्थात् कामचार, स्वेच्छा विहार और प्राप्त काल अर्थ में हुआ है। प्रैष [प्रमाणान्तरप्रमितेऽर्थे पुरुषनिष्ठा प्रवर्तना प्रैषः) अर्थ में नहीं है।

निर्णयसागरीय संस्करण में विश्रब्धः पाठ है उसकी अपेक्षा अर्थदृष्टि से विस्रब्धः पाठ अधिक उपयुक्त है। 'स्रम्भु विश्वासे', 'श्रम्भु प्रमादे' दन्त्यादि स्रम्भु धातु विश्वासार्थक और तालव्यादि श्रम्भु धातु प्रमादार्थक है। यहां विश्वासार्थक दन्त्यादि स्रम्भु धातु का ही प्रयोग अधिक उपयुक्त है। इसलिए विस्रब्धः पाठ अधिक अच्छा है।

कहीं वाच्यार्थ प्रतिषेध रूप होने पर [प्रतीयमानार्थ] विधिरूप होता है। जैसे,—

हे पथिक ! दिन में अच्छी तरह देख लो, यहां सास जी सोती हैं और यहां मैं सोती हूँ। [रात को] रतौंधी ग्रस्त [होकर] कहीं हमारी खाट पर न गिर पड़ना!

यहां वाच्यार्थ निषेधरूप है परंतु व्यंग्यार्थ [प्रतीयमानार्थ] विधिरूप है। यहां भी विधि का अर्थ प्रवर्तना नहीं अपितु प्रतिप्रसव अर्थात् निषेध निबर्तन रूप लेना चाहिए। किसी प्रोषितभर्तृका को देखकर मदनाङ्कुरसम्पन्न पथिक पुरुष

---

१. आवयोर्माक्षीः नि०, दी०। गाथा सप्तशती में मूल पाठ भिन्न है। उसका पाठ और छाया निम्न है—

एत्थ निमज्जइ अत्ता, एत्थ अहं, एत्थ परिअणो सअलो।
पन्थिअ रत्ती अन्धअ मा मह सअणे निमज्जहिसि॥

छाया—अत्र निमज्जति श्वश्रूरत्राहमत्र परिजनः सकलः।
पथिक रात्र्यन्धक मा मम शयने निमंक्ष्यसि॥

गाथा सप्तशती ७,६७

क्वचिद् वाच्ये विधिरूपेऽनुभयरूपो यथा—

बच्च मह ब्विअ एक्के इहोन्तु णीसास रोइअव्वाइं ।
मा तुज्ज वि तीअ विणा दक्खिण्ण हअस्स जाअन्तु ॥

[*व्रज ममैवैकस्या भवन्तु निःश्वासरोदितव्यानि ।*
मा तवापि तया विना दाक्षिण्यहतस्य जनिषत ॥ इति च्छाया]

क्वचिद् वाच्ये प्रतिषेधरूपेऽनुभयरूपो यथा—

दे आ पसिअ णिवत्तसु मुहससि जोह्वाविलुत्ततमणिवहे ।
अहिसारिआणँ विग्घं करोसि अण्णाणँ वि हआसे ॥

[*प्रार्थये तावत् प्रसीद निवर्तस्व मुखशशिज्योत्स्नाविलुप्ततमोनिवहे ।*
अभिसारिकाणां विघ्नं करोष्यन्यासामपि हताशे ॥ इतिच्छाया]

को इस निषेध द्वारा उसकी ओर से निषेध निवर्तन रूप स्वीकृति या अनुमति प्रदान की जा रही है । अप्रवृत्त-प्रवर्तन रूप निमन्त्रण नहीं । विधि को निमन्त्रण रूप मानने पर तो प्रथम स्वानुरागप्रकाशन से सौभाग्याभिमान खण्डित होगा । इसी लिए यहां विधि शब्द निषेधाभाव रूप अभ्युपगम मात्र सूचक है ।]

कहीं वाच्य विधिरूप होने पर [प्रतीयमान अर्थ] अनुभयात्मक [विधि, निषेध दोनों से भिन्न] होता है । जैसे—

[तुम] जाओ, मैं अकेली ही इन निश्वास और रोने को भोगूं [सो अच्छा है] कहीं, दाक्षिण्य [मेरे प्रति भी अनुराग, ['अनेकमहिलासमरागो दक्षिणः कथितः'] के चक्कर में पड़ कर, उसके बिना तुमको भी यह सब न भोगना पड़े ।

इस श्लोक में खण्डिता [पार्श्वमेति प्रियो यस्या अन्यसंभोगचिन्हितः । सा खण्डितेति कथिता धीरैरीर्ष्याकषायिता ॥ सा० द० ३, ११७ ॥] नायिका का प्रगाढ़ मन्यु [दुःख] प्रतीयमान है । वह न तो व्रज्याभाव रूप निषेध ही है और न अन्य निषेधाभाव रूप विधि ही है । इस लिए यहां प्रतीयमान अर्थ अनुभय रूप है ।

कहीं वाच्यार्थ प्रतिषेध रूप होने पर [भी प्रतीयमान अर्थ] अनुभय रूप होता है । जैसे—

[मैं] प्रार्थना करता हूँ, मान जाओ, लौट आओ । अपने मुखचन्द्र की ज्योत्स्ना से गाढ़ अंधकार का नाश करके अरी हताशे ! तुम अन्य अभिसारिकाओं [के कार्य] का भी विघ्न कर रही हो ।

इस श्लोक की व्याख्या कई प्रकार से की गई है। पहिली व्याख्या के अनुसार यह नायक के घर पर आई परन्तु नायक के गोत्रस्खलनादि अपराध से नाराज़ होकर लौट जाने के लिए उद्यत नायिका के प्रति नायक की उक्ति है। नायक चाटुक्रम पूर्वक उसको लौटाने का यत्न करता है। न केवल अपने और हमारे सुख में विघ्न डाल रही हो बल्कि अन्य अभिसारिकाओं के कार्य में भी विघ्न बन रही हो तो फिर तुम्हें कभी सुख कैसे मिलेगा। इस प्रकार का वल्लभाभिप्राय रूप चाटु विशेष व्यंग्य है।

दूसरी व्याख्या के अनुसार सखी के समझाने पर भी उसकी बात न मान कर अभिसारोद्यत नायिका के प्रति सखी की उक्ति है। लाघव प्रदर्शन द्वारा अपने को अनादरास्पद करके हे हताशे! तुम न केवल अपनी मनोरथसिद्धि में विघ्न कर रही हो अपितु अपने मुख चन्द्र की ज्योत्स्ना से अन्धकार का नाश करके अन्य अभिसारिकाओं के कार्य में भी विघ्न डाल रही हो। इस प्रकार सखी का चाटुरूप अभिप्राय व्यंग्य है।

इन व्याख्याओं में से एक में नायकगत चाटु अभिप्राय और दूसरे में सखीगत चाटु अभिप्राय व्यंग्य है। सखी पक्ष में नायिका विषयक रति रूप भाव ['रतिर्देवादिविषया भावो व्यभिचारी तथाञ्जितः' अर्थात् नायक नायिका से भिन्न विषयक रति और व्यञ्जनागम्य व्यभिचारी को 'भाव' कहते हैं] व्यंग्य है और वह अनुभावरूप 'अन्यासामपि विघ्नं करोषि हताशे' आदि वाक्यार्थ द्वारा, 'निवर्तस्व' इस वाच्यार्थ के प्रति अंग रूप हो जाने से वस्तुतः गुणीभूत व्यंग्य का उदाहरण बन जाता है ध्वनि का नहीं। इसी प्रकार जहां 'भाव' दूसरे का अंग हो उसे 'प्रेय' कहते हैं वह भी गुणीभूत व्यंग्य ही है। नायकोक्ति के पक्ष में उसी प्रकार से नायकगत रति उक्त अनुभावरूप अर्थ द्वारा 'निवर्तस्व' इस वाच्य का अंग हो जाने से ['रसवत्', जहां रस अन्य का अंग हो जावे वहां 'रसवत्' अलंकार होता है।] यह भी गुणीभूत व्यंग्य रूप ही है। अतएव इन दोनों व्याख्याओं में यह ध्वनि काव्य का उदाहरण न होकर गुणीभूत व्यंग्य का उदाहरण बन जाता है इसलिए यह व्याख्या उचित नहीं है।

अतएव इसकी तीसरी व्याख्या यह की गई है कि शीघ्रता से नायक के घर को अभिसार करती हुई नायिका के प्रति, रास्ते में मिले हुए और नायिका के घर की ओर आते हुए नायक की यह उक्ति है। यहां 'निवर्तस्व' लौट चलो यह वाच्यार्थ है। परन्तु वह लौट चलना नायक के घर की ओर भी हो सकता है और

क्वचिद् वाच्याद् विभिन्नविषयत्वेन व्यवस्थापितो यथा-

कस्स व ण होइ रोसो दट्ठूण पिआएँ सव्वणं अहरम्।
सभमरपउमग्घाइणि वारिअवामे सहसु एन्हिम्॥

[*कस्य वा न भवति रोषो दृष्ट्वा प्रियायाः सव्रणमधरम्*
सभ्रमर पद्माघ्रायिणि वारितवामे सहस्वेदानीम् ॥ इतिच्छाया]

नायिका के घर भी। चाहे तुम मेरे घर चलो या हम दोनों तुम्हारे घर चलें यह तात्पर्य व्यंग्य है। यह तात्पर्य न विधि रूप है और न निषेध रूप। अतएव वाच्य प्रतिषेध रूप होने पर भी व्यंग्य अनुभय रूप होने से प्रतीयमान अर्थ वाच्यार्थ से अत्यन्त भिन्न है।

ऊपर के चारों उदाहरणों में धार्मिक, पान्थ, प्रियतम और अभिसारिका ही क्रमशः वाच्य और व्यंग्य दोनों के विषय हैं। इस प्रकार विषय का ऐक्य होने पर भी वाच्य और व्यंग्य का स्वरूप भेद से भेद दिखाया है। अगले उदाहरण में यह दिखाते हैं कि वाच्य और व्यंग्य का विषय भेद भी हो सकता है और उस विषय भेद से भी वाच्य और व्यंग्य दोनों को अलग मानना होगा।

अथवा प्रिया के [इतरनिमित्तक] सव्रण अधर को देख कर किसको क्रोध नहीं आता। मना करने पर भी न मान कर भ्रमर सहित कमल को सूंघने वाली तू अब उसका फल भोग।

किसी अविनीता के अधर में दशनजन्य व्रण कहीं चौर्यरति के समय हो गया है। उसका पति जब उसको देखेगा तो उसकी दुश्चरित्रता को समझ जावेगा और अप्रसन्न होगा। इसलिए उसकी सखी, उसके आस पास कहीं विद्यमान पति को लक्ष्य में रख कर उसको सुनाने के लिए इस प्रकार से जैसे मानों उसने पति को देखा ही नहीं है उस अविनीता से उपर्युक्त वचन कह रही है। यहां वाच्यार्थ का विषय तो अविनीता है परन्तु उसका व्यंग्य अर्थ है कि इसका व्रण परपुरुष जन्य नहीं अपितु भ्रमरदशनजन्य है अतः इसका अपराध नहीं है इस व्यंग्य का विषय नायक है। इसलिए यहां वाच्य और व्यंग्य का विषय भेद होने से व्यंग्य अर्थ वाच्यार्थ से अत्यन्त भिन्न है।

इसमें और मी अनेक विषय बन सकते हैं। वाच्यार्थ का विषय तो प्रत्येक दशा में अविनीता नायिका ही रहेगी परन्तु व्यंग्य के विषय अन्य भी हो सकते हैं जैसे आज तो इस प्रकार से बच गई आगे कभी इस प्रकार के, प्रकट चिन्हों का अवसर न आने देना। इस व्यंग्य में प्रतिनायक।

अन्ये चैवं प्रकाराः वाच्याद् विभेदिनः प्रतीयमानभेदाः संभवन्ति। तेषां दिङ्मात्रमेतत् प्रदर्शितम्। द्वितीयोऽपि प्रभेदो वाच्याद् विभिन्नः सप्रपञ्चमग्रे दर्शयिष्यते।

तृतीयस्तु रसादिलक्षणः प्रभेदो वाच्यसामर्थ्याक्षिप्तः प्रकाशते, न तु साक्षाच्छब्दव्यापारविषय इति वाच्याद् विभिन्न एव। तथा हि, वाच्यत्वं तस्य स्वशब्दनिवेदितत्वेन वा स्यात्, विभावादिप्रतिपादनमुखेन वा। पूर्वस्मिन् पक्षे स्वशब्दनिवेदितत्वाभावे रसादीनामप्रतीतिप्रसंगः। न च सर्वत्र तेषां स्वशब्दनिवेदितत्वम्। यत्राप्यस्ति तत्[1], तत्रापि विशिष्ट-विभावादिप्रतिपादनमुखेनैवैषां प्रतीतिः। स्वशब्देन सा केवलमनूद्यते, नतु तत्कृता। विषयान्तरे तथा तस्या अदर्शनात्। न हि केवल शृंगारादि-शब्दमात्रभाजि विभावादिप्रतिपादनरहिते काव्ये मनागपि रसवत्त्वप्रतीति-

---

इस प्रकार वाच्यार्थ से भिन्न प्रतीयमान [वस्तु ध्वनि] के और भी भेद हो सकते हैं। यह तो उनका केवल दिग्दर्शन मात्र कराया है। दूसरा [अलंकार ध्वनि रूप] प्रकार भी वाच्यार्थ से भिन्न है उसे आगे [द्वितीय उद्योत में] सविस्तर दिखाएंगे।

तीसरा [रसध्वनि] रसादि रूप भेद वाच्य की सामर्थ्य से आक्षिप्त हो कर ही प्रकाशित होता है, साक्षात् शब्द व्यापार [अभिधा, लक्षणा, तात्पर्या शक्ति व्यापार] का विषय नहीं होता, इसलिए वाच्यार्थ से भिन्न ही है। क्योंकि, [यदि उसको वाच्य माना जाय तो] उसको वाच्यता [दो ही प्रकार से हो सकती है] या तो स्वशब्द [अर्थात् रसादि शब्द अथवा श्रृङ्गारादि नामों] से हो सकती है अथवा विभावादि प्रतिपादन द्वारा। [इन दोनों में से] पहले पक्ष में [जहां रस शब्द अथवा श्रृङ्गारादि शब्द का प्रयोग नहीं किया गया है परन्तु विभावादि का प्रतिपादन किया गया है वहां] स्व शब्द से निवेदित न होने पर रसादि की प्रतीति का अभाव प्राप्त होगा। [रसादि का अनुभव नहीं होगा] और सब जगह स्व शब्द [रसादि अथवा श्रृङ्गारादि संज्ञा शब्द] से उन [रसादि] का प्रतिपादन नहीं किया जाता। जहां कहीं [स्व शब्द रसादि अथवा श्रृङ्गारादि संज्ञा पदों का प्रयोग] होता भी है वहां भी विशेष विभावादि के प्रतिपादन द्वारा ही उन [रसादि] की प्रतीति होती है। संज्ञा शब्दों से तो वह केवल अनूदित होती है। उनसे जन्य नहीं होती। क्योंकि दूसरे स्थानों पर उस प्रकार से

---

१. नि० में तत् पाठ नहीं है।

रस्ति । यतश्च स्वाभिधानमन्तरेण केवलेभ्योऽपि विभावादिभ्यो विशिष्टेभ्यो रसादीनां प्रतीतिः । केवलाच्च स्वाभिधानादप्रतीतिः । तस्मादन्वयव्यतिरेकाभ्यामभिधेयसामर्थ्याक्षिप्तत्वमेव रसादीनाम् । न त्वभिधेयत्वं कथंचित् । इति तृतीयोऽपि प्रभेदो वाच्याद् भिन्न एवेति स्थितम् । वाच्येन त्वस्य सहेव[1] प्रतीतिरग्रे दर्शयिष्यते ॥४॥

[विभावादि के अभाव में केवल संज्ञा शब्दों के प्रयोग से] वह [रसादि प्रतीति] दिखाई नहीं देती । विभावादि के प्रतिपादन रहित केवल [रस या] शृङ्गारादि शब्द के प्रयोग वाले काव्य में तनिक भी रसवत्ता प्रतीत नहीं होती । क्योंकि [रसादि] संज्ञा शब्दों के बिना केवल विशिष्ट विभावादि से भी रसादि की प्रतीति होती है, और [विभावादि के बिना] केवल [रसादि] संज्ञा शब्दों से प्रतीति नहीं होती इसलिए अन्वय व्यतिरेक से रसादि वाच्य की सामर्थ्य से आक्षिप्त ही होते हैं, किसी भी दशा में वाच्य नहीं होते । इसलिए तीसरा [रस, भाव, रसाभास, भावाभास, भाव प्रशम, भावोदय, भावसन्धि, भावशबलता आदि रूप] भेद भी वाच्य से भिन्न ही है यह निश्चित है । वाच्य के साथ सी [असंलक्ष्य क्रम] इसकी प्रतीति आगे दिखलाई जायेगी ।

ऊपर अन्वय व्यतिरेक शब्द आए हैं । साधारणतः 'तत् सत्वे तत् सत्ता अन्वयः', 'तदभावे तदभावो व्यतिरेकः' यह अन्वय व्यतिरेक का लक्षण है । परन्तु इस के स्थान पर अन्वय पक्ष में 'तत् सत्वे तदितरकारणसत्वे कार्यसत्वमन्वयः' 'तदभावे कार्याभावो व्यतिरेकः' लक्षण अधिक उपयुक्त है । अन्वय में सकल कारण सामग्री अपेक्षित है । व्यतिरेक तो एक के अभाव में भी हो सकता है । प्रतीयमान वस्तु, अलंकार-और रसादि रूप अर्थ लौकिक तथा अलौकिक दो भागों में विभक्त किए जा सकते हैं । वस्तु और अलंकार कभी स्व शब्द वाच्य भी होते हैं इस लिए वह लौकिक के अन्तर्गत आते हैं और रस सदैव वाच्य सामर्थ्याक्षिप्त ही होता है इस लिए काव्य व्यापारैकगोचर होने से अलौकिक माना जाता है । लौकिक के वस्तु और अलंकार दो भेद इस आधार पर किए हैं कि इन में एक [अलंकार] भेद ऐसा है जो कभी किसी अन्य प्रधानभूत अलंकार्य रसादि का शोभाधायक होने से उपमादि अलंकार रूप में भी व्यवहृत होता है । परन्तु जहां वह वाच्य नहीं अपितु वाच्य सामर्थ्याक्षिप्त-व्यंग्य है वहां वह किसी दूसरे का अलंकार नहीं अपितु स्वयं प्रधान भूत अलंकार्य है । फिर भी उसको भूतपूर्वावस्था के कारण 'ब्राह्मण-श्रमण

---

१. सहैव नि० ।

न्याय, से अलंकार ध्वनि कहते हैं। 'ब्राह्मण श्रमण न्याय' का अभिप्राय यह है कि कोई पूर्वावस्था का ब्राह्मण पीछे बौद्ध या जैन भिक्षु 'श्रमण' बन गया। उस समय भी उसकी पूर्वावस्था के कारण उसे श्रमण न कह कर 'ब्राह्मण श्रमण' ही कहा जाता है। इस प्रकार उपमादि अलंकार जहां प्रतीयमान या व्यंग्य होते हैं वहां प्रधानता के कारण वह अलंकार नहीं अपितु अलंकार्य कहे जाने योग्य होते हैं फिर भी उनकी पूर्वावस्था के आधार पर उनको अलंकार ध्वनि नाम से कहा जाता है। यह अलंकार ध्वनि प्रतीयमान का एक लौकिक भेद है। और जो अनलंकार वस्तुमात्र प्रतीयमान है उसको वस्तु ध्वनि कहते हैं। प्रतीयमान का तीसरा भेद रसादि रूप ध्वनि कभी वाच्य नहीं होता इस लिए वह अलौकिक प्रतीयमान कहा जाता है। इन तीनों में रसादि रूप ध्वनि की प्रधानता होते हुए भी सब से पहिले वस्तु ध्वनि का निरूपण इस लिए किया जाता है कि लौकिक और वस्तु रूप होने से वाच्य से अतिरिक्त उस का अस्तित्व, अलौकिक रसादि के अस्तित्व की अपेक्षा सरलता से समझ में आ सकता है।

अभिधा शक्ति से व्यंग्यार्थ बोध का निराकरण—

इस प्रतीयमान अर्थ की प्रतीति अभिधा, लक्षणा और तात्पर्याख्या तीनों प्रसिद्ध वृत्तियों से भिन्न व्यंजना नामक वृत्ति से ही होती है। उसके अतिरिक्त प्रतीयमान अर्थ के बोध का और कोई प्रकार नहीं है। लोचनकार ने 'भ्रम धार्मिक' आदि पद्य की व्याख्या में इस विषय पर विशद रूप से विवेचना की है। उसका सारांश इस प्रकार है। शब्द से अर्थ का बोध कराने वाली अभिधा लक्षणा आदि जो शब्द शक्तियां मानी गई हैं उनमें सबसे प्रथम अभिधा शक्ति है। इस अभिधा शक्ति से ही यदि प्रतीयमान अर्थ का बोध माने तो उसके दो रूप हो सकते हैं। या तो वाच्यार्थ के साथ ही साथ व्यंग्यार्थ का भी अभिधा से ही बोध माना जाय या फिर पहिले वाच्यार्थ का और पीछे प्रतीयमान का इस प्रकार क्रमशः दोनों अर्थों का अभिधा से ही बोध माना जाय। इनमें से वाच्य और प्रतीयमान दोनों का साथ-साथ बोध तो इस लिए नहीं बनता कि ऊपर के उदाहरणों में विधि निषेधादि रूप से वाच्य और प्रतीयमान का भेद दिखाया है उसके रहते हुए दो विधि निषेध रूप विरोधी अर्थ एक साथ एक ही व्यापार से बोधित नहीं हो सकते। अब दूसरा पक्ष क्रमशः वाला रह जाता है वह भी युक्ति संगत नहीं है। क्योंकि 'शब्दबुद्धिकर्मणां विरम्य व्यापाराभावः,' अथवा 'विशेष्यं नाभिधा गच्छेत् क्षीण-शक्तिर्विशेषणे' आदि सिद्धान्तों के अनुसार अभिधा शक्ति एक ही बार व्यापार कर सकती है और उस व्यापार द्वारा वह वाच्यार्थ को उपस्थित करा चुकी है।

अतएव वाच्यार्थ बोध में शक्ति का क्षय हो जाने से अभिधा शक्ति से प्रतीयमान अर्थ का बोध नहीं हो सकता। दूसरी बात यह भी है कि अभिधा शक्ति संकेतित अर्थ को ही बोधित कर सकती है। प्रतीयमान अर्थ तो संकेतित अर्थ नहीं है इस लिए भी वह अभिधा द्वारा बोधित नहीं हो सकता है।

'अभिहितान्वयवाद' में अभिमत तात्पर्या शक्ति से व्यंग्य बोध का निराकरण—

अभिधा शक्ति के द्वारा पदार्थोपस्थिति के बाद 'अभिहितान्वयवादी' उन पदार्थों के परस्पर संबन्ध के [अन्वय] बोध के लिए तात्पर्या नाम की एक शक्ति मानते हैं। इसके द्वारा पदार्थों के संसर्ग रूप वाक्यार्थ का बोध होता है। 'सः [तत्] वाच्यार्थः परः प्रधानतया प्रतिपाद्यः येषां तानि तत्पराणि पदानि, तेषां भावः तात्पर्यम्, तद्रूपा शक्तिः तात्पर्याशक्तिः।' इस अभिहितान्वयवादियों की अभिमत तात्पर्या शक्ति का प्रतिपाद्य तो केवल पदार्थ संसर्ग रूप वाक्यार्थ ही है अतएव इस अति विशेषभूत प्रतीयमान अर्थ को बोधन करने की क्षमता उस में भी नहीं है।

'अन्विताभिधानवाद' और व्यंग्यार्थ बोध—

इस तात्पर्या शक्ति को मानने वाला 'अभिहितान्वयवाद' मीमांसकों में कुमारिल भट्ट का है। उसका विरोधी प्रभाकर का 'अन्विताभिधानवाद' है। 'अभिहितान्वय वाद' के अनुसार पहिले पदों से अनन्वित पदार्थ उपस्थित होते हैं। पीछे तात्पर्या वृत्ति से उनका परस्पर सम्बन्ध होने से वाक्यार्थ बोध होता है। परन्तु प्रभाकर के 'अन्विताभिधानवाद' में पदों से, अन्वित-पदार्थ ही उपस्थित होते हैं इस लिए उनके अन्वय के लिए तात्पर्या-वृत्ति मानने की आवश्यकता नहीं है। इस 'अन्वित-अभिधानवाद' का प्रतिपादन प्रभाकर ने इस आधार पर किया है कि पदों से जो अर्थ की प्रतीति होती है वह शक्तिग्रह या संकेतग्रह होने पर ही होती है। इस संकेतग्रह के अनेक उपाय हैं [शक्तिग्रहं व्याकरणोपमानकोशाप्तवाक्याद् व्यवहारतश्च। वाक्यस्य शेषाद् विवृतेर्वदन्ति सान्निध्यतः सिद्धपदस्य वृद्धाः] परन्तु इनमें सबसे प्रधान उपाय व्यवहार है। व्यवहार में उत्तम वृद्ध [पितादि] मध्यमवृद्ध [नौकर या बालक के भाई आदि] को किसी गाय आदि पदार्थ के लाने का आदेश देता है। पास में बैठा बालक उत्तम वृद्ध के उन 'गामानय' आदि पदों को सुनता है और मध्यमवृद्ध को सास्नादिमान् गवादिरूप पिंड को लाते हुए देखता है। इस प्रकार प्रारम्भ में 'गामानय' इस अखंड वाक्य से सास्नादिमान् पिंड का आनयन रूप संपिंडित अर्थ ग्रहण करता है उसके बाद दूसरे वाक्यों में

गौ के स्थान पर अश्व या आनय के स्थान पर बधान आदि अलग-अलग पदों का अर्थ समझने लगता है। इस प्रकार व्यवहार से जो शक्तिग्रह होगा वह केवल पदार्थ में नहीं अपितु अन्वित पदार्थ में ही होगा। क्योंकि व्यवहार अन्वित पदार्थ का ही संभव है केवल का नहीं। इस लिए प्रभाकर अन्वित अर्थ में ही शक्ति मानते हैं।

इस 'अन्विताभिधानवाद' के अनुसार इतना तो कहा जा सकता है कि केवल पदार्थ में शक्तिग्रह नहीं होता अपितु अन्वित अर्थ में ही होता है। परन्तु जब यह प्रश्न होगा कि 'गाम्' पद का व्यवहार तो 'आनय' पद के साथ भी हुआ और बधान पद के साथ भी। तो आनयनान्वित गो में गो पद का शक्तिग्रह होगा या बन्धनान्वित में। इसका निर्णय किसी एक पक्ष में नहीं हो सकता क्योंकि वाक्यान्तर में प्रयुक्त आनयनादि पद तो वही हैं। इसलिए सामान्यतः पदार्थान्वित में शक्तिग्रह होता है और अन्त में 'निर्विशेषं न सामान्यं' के अनुसार उस सामान्यान्वित का पर्यवसान अन्वित विशेष में होता है यही 'अन्विताभिधानवाद 'का सार है। इस मत के अनुसार विशेषपर्यवसित सामान्य-विशेष रूप पदार्थ संकेत विषय है परन्तु प्रतीयमान तो उसके भी बाद प्रतीत होने से 'अतिविशेष' रूप है। उस अतिविशेष रूप प्रतीयमान का ग्रहण अन्विताभिधानवादी के मत में भी अभिधा द्वारा नहीं हो सकता है।

'अभिहितान्वयवाद' में अन्वित अर्थ और 'अन्विताभिधानवाद' में पदार्थान्वित अर्थ वाच्य अर्थ है। परन्तु वाक्यार्थ तो अन्वित विशेष रूप है इस लिए वस्तुतः दोनों ही पक्षों में वाक्यार्थ अवाच्य ही है। और जब वाक्यार्थ ही अवाच्य है तो फिर प्रतीयमान अर्थ को वाच्य कोटि में रखने का प्रश्न ही नहीं उठता।

'अभिहितान्वयवाद' के आचार्य कुमारिल भट्ट और 'अन्विताभिधानवाद' के संस्थापक प्रभाकर दोनों ही मीमांसक है। यों तो प्रभाकर कुमारिल के शिष्य हैं परन्तु दार्शनिक साहित्य में प्रभाकर का मत 'गुरुमत' नाम से और कुमारिल भट्ट का 'तौतातिक' नाम से उल्लिखित हुआ है। इसका कारण यह है कि प्रभाकर बड़े प्रतिभाशाली थे। अपने गुरु के सामने हर एक विषय पर वे अपना तर्कसंगत नया मत उपस्थित करते थे। इस लिए इन दोनों' के दार्शनिक मतों में बहुत भेद पाया जाता है। जिनमें से यह 'अभिहितान्वयवाद और 'अन्विताभिधानवाद' का भेद एक प्रमुख सैद्धान्तिक भेद है। एक बार कुमारिल भट्ट अपने विद्यार्थियों को पढ़ा रहे थे। उसमें एक पंक्ति इस प्रकार की आगई 'अत्र तु नोक्तं तत्रापि नोक्त मिति पौनरुक्त्यम्।' यहां तो नहीं कहा और वहां भी नहीं कहा इस लिए पुनरुक्ति है यह

उस पंक्ति का अर्थ प्रतीत होता है। परन्तु यह तो पुनरुक्ति नहीं हुई। पुनरुक्ति तो तब होती जब दो जगह एक ही बात कही जाती। कुमारिल भट्ट पढ़ाते-पढ़ाते रुक गए। यह पुनरुक्ति उनकी समझ में नहीं आ रही थी। इस लिए पाठ अगले दिन के लिए रोक दिया और पुस्तक बन्द करके रख दी। प्रभाकर भी पाठ सुन रहे थे। गुरु जी के चले जाने पर थोड़ी देर बाद प्रभाकर को यह पंक्ति समझ में आगई। प्रभाकर ने गुरु जी की पुस्तक उठाई और उस पाठ को सन्धि तोड़ कर अलग अलग पदों में इस प्रकार लिख दिया। 'अत्र तुना उक्तम्, तत्र अपिना उक्तम्।' यहां तु शब्द से वही बात कही है और वहां अपि शब्द से वही बात कही है इस लिए पुनरुक्ति है। गुत्थी सुलझ गई। गुरु जी को जब मालूम हुआ कि यह प्रभाकर ने लिखा तो बहुत प्रसन्न हुए और उसको 'गुरु' की उपाधि प्रदान की। उस दिन से उसका मत 'गुरुमत' नाम से प्रसिद्ध हुआ। और कुमारिल मत 'तौतातिक' मत के नाम से। 'तौतातिक' शब्द का अर्थ है 'तु शब्दः तातः शिक्षको यस्य सः तुतातः तस्येदं मतं तौतातिकं मतम्।'

भट्ट लोल्लट के मत की आलोचना—

'अभिहितान्वयवादी' भट्ट के मतानुयायी 'भट्ट लोल्लट' प्रभृति ने 'यत्परः शब्दः सः शब्दार्थः' और 'सोऽयमिषोरिव दीर्घदीर्घतरोऽभिधाव्यापारः' की युक्तियां देकर व्यंग्य को अभिधा द्वारा ही सिद्ध करने का प्रयत्न किया है। [ध्वन्यालोक के टीकाकार ने इस मत को 'योऽप्यन्विताभिधानवादी यत्परः शब्दः सः शब्दार्थः इति हृदये गृहीत्वा शरवदभिधाव्यापारमेव दीर्घदीर्घमिच्छति' लिख कर इस मत को अन्विताभिधानवादी का मत दिखाया है परन्तु काव्यप्रकाश के टीकाकारों ने इसे 'भट्टमतोपजीविनां लोल्लटप्रभृतीनां मतमाशंकते' लिख कर 'अभिहितान्वयवादी' मत बतलाया है।] इस मत का अभिप्राय यह है कि जैसे बलवान् सैनिक द्वारा छोड़ा गया एक ही बाण एक ही व्यापार से शत्रु के वर्म [कवच] का छेदन, मर्म भेदन और प्राण हरण तीनों काम करता है इसी प्रकार सुकवि प्रयुक्त एक ही शब्द एक ही अभिधा व्यापार से पदार्थोपस्थिति, अन्वय बोध और व्यंग्य प्रतीति तीनों कार्य कर सकता है। इसलिए प्रतीयमान अर्थ भी वाच्यार्थ ही है। उसकी उपस्थिति अभिधा द्वारा ही होती है। क्योंकि वही तो कवि का तात्पर्यविषयीभूत अर्थ है। 'यत्परः शब्दः सः शब्दार्थः'।

इस मत की आलोचना करते समय हम उसको ऊपर उद्धृत किए हुए यत्परः शब्दः सः शब्दार्थः' और 'सोऽयमिषो रिव दीर्घदीर्घतरो अभिधा व्यापारः', इन

दो भागों में विभक्त करेंगे। इस मत के प्रतिपादन में भट्ट लोल्लट ने 'अभिहितान्वय-वादी' मीमांसक होने के कारण मीमांसा के 'यत्परः शब्दः सः शब्दार्थः' इस प्रसिद्ध नियम का आश्रय लिया है परन्तु उन्होंने उसे ठीक अर्थ में प्रयुक्त नहीं किया है। इस नियम का प्रयोग मीमांसकों ने इस प्रकार किया है कि वाक्य के अन्तर्वर्ती पदार्थों की उपस्थिति होने पर उपस्थित पदार्थों में कुछ क्रिया रूप और कुछ सिद्ध रूप पदार्थ होता है। उनमें साध्यरूप क्रिया पदार्थ ही विधेय होता है। 'आम्नायस्य क्रियार्थत्वादानर्थक्यमतदर्थनाम्। मीमांसा द० अ० १ पा० २ सू० १' के अनुसार 'अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकामः' आदि विधि वाक्य क्रियारूप होम का ही विधान करते हैं। जहां होमादि क्रिया किसी प्रमाणान्तर से प्राप्त होती है वहां तदुद्देश्येन गुणमात्र का विधान भी करते हैं। जैसे 'दध्ना जुहोति' इस विधि में होम रूप क्रिया का विधान नहीं है क्योंकि होम तो यहां 'अग्निहोत्रं जुहुयात्' इस विधि वाक्य से प्राप्त ही है। इसलिए यहां केवल दधि रूप गुण का विधान है। [वैशेषिक दर्शन की परिभाषा के अनुसार दधि द्रव्य है गुण नहीं। किसी द्रव्य में रहने वाले रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, संख्या, परिमाण आदि धर्मों को गुण कहते हैं और 'गुणाश्रयो द्रव्यम्' गुणों के आश्रय को द्रव्य कहते हैं। इसलिए वैशेषिक की परिभाषा के अनुसार तो दधि द्रव्य है परन्तु मीमांसा में जहां दधि आदि द्रव्यों का विधान होता है उसे गुणविधि या गुणमात्र का विधान कहते हैं। इसका कारण यह है कि यहां गुण शब्द का अर्थ गौण है। इनके यहां क्रिया ही प्रधान है और द्रव्यादि गौण हैं। इस गौण के अर्थ में 'गुणमात्रं विधत्ते' से द्रव्यादि के विधान को गुणविधि कहा है।] जहां क्रिया और द्रव्य दोनों अप्राप्त होते हैं वहां दोनों का भी विधान होता है। जैसे 'सोमेन यजेत्, में सोम द्रव्य और याग दोनों के अप्राप्त होने से दोनों का विधान है। इस प्रकार भूत [सिद्ध] और भव्य [साध्य] के सहोच्चारण में 'भूतं भव्यायोपदिश्यते' सिद्ध पदार्थ क्रिया का अंग होता है। और जहां जितना अंश अप्राप्त होता वहां उतना ही अंश 'अदग्ध दहन' न्याय से विहित होता है। वही उस वाक्य का तात्पर्यविषयीभूत अर्थ होता है। इस रूप में मीमांसकों ने 'यत्परः शब्दः सः शब्दार्थः' इस नियम का प्रयोग या व्यवहार किया है। भट्ट लोल्लट उस नियम को प्रतीयमान व्यंग्य अर्थ को अभिधा से बोधित करने के लिए जिस रूप में प्रयुक्त करते हैं वह ठीक नहीं है। वे या तो उसके तात्पर्य को ठीक समझते ही नहीं, या फिर जान बूझ कर उसकी अन्यथा व्याख्या करते हैं। दोनों ही दशाओं में उनकी यह संगति ठीक नहीं है।

भट्ट लोल्लट के मत का दूसरा भाग है 'सोऽयमिषोरिव दीर्घदीर्घतरोऽभिधा-

व्यापारः' वाला भाग है। इस वाक्य का अभिप्राय यह हुआ कि शब्द प्रयोग के बाद जितना भी अर्थ प्रतीत होता है उसके बोधन में शब्द का केवल एक अभिधा व्यापार होता है । यदि यह ठीक है तो फिर न तात्पर्या शक्ति की आवश्यकता है और न लक्षणा की। भट्ट लोल्लट यदि अभिहितान्वयवादी हैं तब तो वह तात्पर्या शक्ति को भी मानते हैं । और 'मानान्तरविरुद्धे तु मुख्यार्थस्य परिग्रहे । अभिधेयाविनाभूत-प्रतीति लक्षणोच्यते ।। लक्ष्यमाणगुणै र्योगाद् वृत्तेरिष्टा तु गौणता ।' इत्यादि भट्ट वार्तिक के अनुसार लक्षणा वृत्ति भी मानते हैं। जब दीर्घदीर्घतर अभिधा व्यापार से तात्पर्या तथा लक्षणा के भी बाद में होने वाले प्रतीयमान अर्थ का ज्ञान हो सकता है तब उसके पूर्ववर्ती वाच्यार्थ तथा लक्ष्यार्थ का बोध भी उसी दीर्घदीर्घतर व्यापार द्वारा अभिधा से ही हो सकता है फिर इन दोनों को मानने की क्या आवश्यकता है। दीर्घदीर्घतर अभिधा व्यापार के साथ तात्पर्या और लक्षणा शक्ति को भी मानना वदतो व्याघात है।

इसी प्रकार 'ब्राह्मण पुत्रस्ते जातः' इस पुत्रोत्पत्ति के समाचार को सुन कर हर व्यक्ति को प्रसन्नता होती है। और 'कन्या ते गर्भिणी जाता,' कन्या अर्थात् अविवाहिता कन्या गर्भिणी हो गई इस वाक्य को सुन कर शोक होता है । इन शोक और हर्ष के प्रति वह वाक्य कारण है। परन्तु वह कारणता उत्पत्ति के प्रति है ज्ञप्ति के प्रति नहीं। वाक्य हर्ष शोक का उत्पादक कारण है, ज्ञापक नहीं। यदि शब्द प्रयोग के बाद सभी अर्थ अभिधा शक्ति से ही बोधित होता है तो ये हर्ष, शोकादि भी वाच्य मानने चाहिएं । परन्तु सिद्धान्त यह है कि वाक्यों से ये हर्ष शोक पैदा होते हैं और मुख विकास आदि से अनुमान द्वारा ज्ञात होते हैं। 'उत्पत्तिस्थित्य-भिव्यक्तिविकारप्रत्ययाप्तयः । वियोगान्यत्वधृतयः कारणं नवधा स्मृतम् ॥ योग द० ३,२८।' के अनुसार उत्पत्ति स्थिति आदि के भेद से नौ प्रकार के कारण माने गए हैं। उपर्युक्त 'ब्राह्मण पुतस्ते जातः' आदि वाक्य हर्ष शोकादि के उत्पत्ति मात्र के कारण है। परन्तु उनका ज्ञान शब्द द्वारा न होकर मुख विकासादि से होता है। यदि शब्द व्यापार के बाद प्रतीत होने वाला सारा अर्थ अभिधा शक्ति से उपस्थित माना जाय तो हर्ष शोकादि को भी वाच्य मानना होगा। जो कि युक्ति-संगत नहीं है और मीमांसक स्वयं भी नहीं मानते।

एक बात और है। 'श्रुति लिंग वाक्य प्रकरण स्थान समाख्यानां समवाये पारदौर्बल्यं अर्थविप्रकर्षात्' यह मीमांसा दर्शन का एक प्रमुख सिद्धांत है । यदि उक्त दीर्घदीर्घतर अभिधा व्यापार वाला सिद्धान्त मान लिया जाय तो यह श्रुति-लिंगादि का पारदौर्बल्य वाला सिद्धान्त नहीं बन सकता । मीमांसा में विधि

वाक्यों के चार भेद माने गए हैं। उत्पत्तिविधि, विनियोगविधि, प्रयोगविधि और अधिकार विधि। इनमें से 'अङ्गप्रधानसंबन्धबोधको विधिः विनियोगविधिः' यह विनियोगविधि का लक्षण किया है। अर्थात् जिसके द्वारा गुण और प्रधान के सम्बन्ध का बोध हो उसे विनियोग विधि कहते हैं। इस विनियोग विधि के सहकारी श्रुति, लिंग, वाक्य, प्रकरण, स्थान और समाख्या नामक छः प्रमाण माने गए हैं। और जहां इनका समवाय हो वहां पारदौर्बल्य अर्थात् उत्तरोत्तर प्रमाण को दुर्बल माना जाता है। इसका कारण यह है कि श्रुति के श्रवणमात्र से अंग प्रधान भाव का ज्ञान हो जाता है परन्तु लिंग आदि में प्रत्यक्ष विनियोजक शब्द नहीं होते अपितु उनकी कल्पना करनी होती है। जैसे 'व्रीहिभि र्यजेत' यहां 'व्रीहिभिः' इस तृतीया विभक्ति से तुरन्त ही व्रीहि की याग के प्रति करणता रूप अंगता प्रतीत हो जाती है। परन्तु लिंगादि में विनियोजक की कल्पना करनी पड़ती है। जब तक उससे लिंग के आधार पर विनियोजक वाक्य की कल्पना की जायगी उसके पूर्व ही श्रुति से उसका साक्षात् विनियोग हो जाने से लिङ्ग की कल्पकत्वशक्ति व्याहत हो जाती है। अतएव लिङ्गादि की अपेक्षा श्रुति प्रबल है। जैसे 'ऐन्द्र्या गार्हपत्यमुपतिष्ठते।' यह लिङ्ग की अपेक्षा श्रुति की प्रबलता का उदाहरण है। जिन ऋचाओं का देवता इंद्र है वे ऋचा ऐन्द्रा ऋचा कहलाती हैं। ऐन्द्री ऋचाओं में इन्द्र का लिङ्ग होने से उनको इन्द्र की स्तुति का अंग होना चाहिए यह बात लिङ्ग से बोधित होती है। परन्तु श्रुति प्रत्यक्ष रूप से 'ऐन्द्र्या' गार्हपत्यमुपतिष्ठते' इस वचन द्वारा ऐन्द्री ऋचा का गार्हपत्य अग्नि [प्राचीन कर्मकांड के अनुसार विवाह के समय के यज्ञ को अग्नि] की स्तुति के अंग रूप में विनियोग करती है। श्रुति के प्रबल होने के कारण ऐन्द्री ऋचा गार्हपत्य की स्तुति का अंग होती हैं लिङ्ग से इंद्र स्तुति का अंग नहीं होतीं।

यदि भट्ट लोल्लट के अनुसार 'दीर्घदीर्घतरोऽभिधाव्यापारः' वाला सिद्धांत माना जाय तो श्रुति, लिंग आदि से जो जो अर्थ उपस्थित होना है वह सब एक ही दीर्घदीर्घतर अभिधा व्यापार से बोधित हो जायगा। तब फिर उनमें दुर्बल और प्रबल की कोई बात ही नहीं रहेगी। इस लिए भट्ट लोल्लट का यह दीर्घदीर्घतर अभिधा व्यापार वाला सिद्धांत मीमांसा के सुप्रतिष्ठित श्रुतिलिंगादि के पारदौर्बल्य सिद्धांत के विपरीत होने से भी अग्राह्य है। इस प्रकार भट्ट लोल्लट का सारा ही सिद्धांत मीमांसा की दार्शनिक-परम्परा और साहित्य की शक्ति-परम्परा दोनों के ही विरुद्ध और अमान्य है।

इस भट्ट लोल्लट के सिद्धांत का ही पुच्छभूत मीमांसक का ही एकदेशी सिद्धांत 'नैमित्तिकानुसारेण निमित्तानि कल्प्यन्ते' भी है। इस सिद्धांत का भाव यह है कि व्यंग्य या प्रतीयमान अर्थ की प्रतीति किसी निमित्त से ही हो सकती है क्यों कि वह जन्य या नैमित्तिकी है। प्रकृत में उस प्रतीति का निमित्त शब्द के अतिरिक्त और कुछ बन ही नहीं सकता इसलिए शब्द ही उसका निमित्त है। और शब्द अभिधा द्वारा ही उस अर्थ को बोधन कर सकता है अन्य कोई मार्ग है ही नहीं इसलिए अभिधा द्वारा ही प्रतीयमान अर्थ की प्रतीति हो सकती है। इस मत का खण्डन तो स्पष्ट ही है। अभिधा द्वारा 'संकेतित' अर्थ ही उपस्थित हो सकता है। यदि प्रतीयमान को अभिधा द्वारा उपस्थित मानना है तो उसको संकेतित अर्थ मानना होगा। यह युक्तिसंगत नहीं है। यह कहना भी ठीक नहीं है कि निमित्तभूत शब्दों में तो संकेत की आवश्यकता होती है किन्तु नैमित्तिक व्यंग्य प्रतीति के लिए संकेतग्रह की आवश्यकता नहीं है उसकी प्रतीति बिना संकेतग्रह के ही हो जाती है। अतः यह मत भी युक्ति विरुद्ध होने से अग्राह्य है।

धनञ्जय तथा धनिक मत की आलोचना—

आलंकारिकों में दशरूपक के लेखक धनंजय और उसके टीकाकार धनिक ने भी क्रमशः अभिधा और तात्पर्या शक्ति से ही प्रतीयमान अर्थ का बोध दिखाने का प्रयत्न किया है। धनंजय ने दशरूपक के चतुर्थ प्रकाश में 'वाच्या प्रकरणादिभ्यो बुद्धिस्था वा यथा क्रिया। वाक्यार्थः कारकै र्युक्ता, स्थायीभावस्तथेतरैः॥' यह कारिका लिखी है। इसका आशय यह है कि जिस प्रकार वाक्य में कही वाच्या अर्थात् श्रूयमाणा और कहीं 'द्वारं द्वारं' आदि अश्रूयमाण-क्रिया वाले वाक्यों में प्रकरणादिवश बुद्धिस्थ क्रिया ही अन्य कारकों से सम्बद्ध होकर वाक्यार्थ रूप में प्रतीत होती है। इसी प्रकार विभाव, अनुभाव, संचारीभाव आदि के साथ मिलकर रत्यादि स्थायी भाव ही वाक्यार्थ रूप से प्रतीत होता है। विभावादि पदार्थस्थानीय और तत्संसृष्ट रत्यादि वाक्यार्थ स्थानीय हैं। अर्थात् पदार्थ संसर्गबोध के समान तात्पर्या शक्ति से ही उनका बोध हो जाता है। इसी कारिका की व्याख्या में टीकाकार धनिक ने लिखा है 'तात्पर्याव्यतिरेकाच्च व्यंजकत्वस्य न ध्वनिः। यावत्कार्यप्रसारित्वात् तात्पर्यं न तुलाधृतम्।' तात्पर्य का क्षेत्र बड़ा व्यापक है। वह कोई नया तुला पदार्थ नहीं है कि इससे अधिक नहीं हो सकता। वह तो यावत्कार्यप्रसारी है। जहां जैसी और जितनी आवश्यकता हो वहां तक तात्पर्य का व्यापार हो सकता है। ध्वनिवादी ने प्रथम कक्षा में वाच्यार्थ,

द्वितीय कक्षा में तात्पर्यार्थ, तृतीयकक्षा में लक्ष्यार्थ और चतुर्थ कक्षा में व्यंग्यार्थ को रखा है। परन्तु इस कक्षा विभाग से तात्पर्य की शक्ति कुंठित नहीं होती। उस चतुर्थकक्षानिविष्ट अर्थ तक तात्पर्य की पहुंच हो सकती है। इस लिए चतुर्थकक्षा-निविष्ट व्यंग्य अर्थ भी तात्पर्य की सीमा में ही है उससे बाहर नहीं है। धनञ्जय और धनिक के व्यंजना विरोधी मत का यही सारांश है।

इसका उत्तर यह है कि आपकी यह तात्पर्या शक्ति 'अभिहितान्वयवाद' में मानी गई तात्पर्या शक्ति ही है अथवा उससे भिन्न कोई और ? यदि अभिहितान्वय-वादियों वाली ही तात्पर्या शक्ति है तो उसका क्षेत्र तो बहुत सीमित है, असीमित नहीं। उसका काम केवल पदार्थ संसर्गबोध करना है, उससे अधिक वह कुछ नहीं कर सकती। इस लिए प्रतीयमान अर्थ का बोध करा सकना उसकी सामर्थ्य के बाहर है। वह तो द्वितीयकक्षानिविष्ट संसर्गबोध तक ही सीमित है। चतुर्थकक्षा-निविष्ट व्यंग्य अर्थ तक उसकी गति नहीं है। इस लिए आपको यह तात्पर्या शक्ति जो यावत्कार्यप्रासारिणी हो—आवश्यकतानुसार हर जगह पहुंच सके—वह तो उससे भिन्न कोई अलग ही शक्ति माननी होगी। और उस दशा में ध्वनिवाद के साथ उसका नाम मात्र का भेद हुआ। अभिधा, लक्षणा, तात्पर्या से भिन्न एक चौथी शक्ति मानी ही गई तब उसका नाम चाहे व्यंजना रखो या तात्पर्या; अर्थ में कोई भेद नहीं आता।

लक्षणावाद का निराकरण—

व्यंजना को न मान कर अन्य शब्द शक्तियों से ही उसका काम निकालने वाले मतों में से एक मत और रह जाता है। 'भ्रम धार्मिक' इत्यादि स्थलों में कुछ लोग विपरीत लक्षणा द्वारा निषेध या विधि रूप अर्थ की प्रतीति मानते हैं। इस मत की आलोचना करते हुए लोचनकार ने जो युक्तियां दी हैं उनका संग्रह श्री मम्मटाचार्य ने अपने काव्यप्रकाश में बड़ी अच्छी तरह एक ही जगह ४ कारिकाओं में कर दिया है।

यस्य प्रतीतिमाधातुं लक्षणा समुपास्यते।
फले शब्दैकगम्येऽत्र व्यंजनान्नापरा क्रिया॥
नाभिधा समयाभावात्, हेत्वभावान्न लक्षणा।
लक्ष्यं न मुख्यं नाप्यत्र बाधो योगः फलेन नो॥
न प्रयोजनमेतस्मिन्, न च शब्दः स्खलद्गतिः।
एवमप्यनवस्था स्याद् या मूलक्षयकारिणी॥

प्रयोजनेन सहितं लक्षणीयं न युज्यते।
ज्ञानस्य विषयो ह्यन्यः फलमन्यदुदाहृतम् ॥ का० प्र० २, १४-१७

इन कारिकाओं का भावार्थ इस प्रकार है :

१. जिस शैत्य पावनत्व के अतिशय आदि रूप प्रयोजन की प्रतीति कराने के लिए लक्षणा का आश्रय लिया जाता है वह केवल शब्द से गम्य है और उसके बोधन में शब्द का व्यंजना के अतिरिक्त और कोई व्यापार नहीं हो सकता है।

२. उस फल के बोधन में अभिधाव्यापार काम नहीं दे सकता है क्योंकि फल संकेतित अर्थ नहीं है। इस लिए समय अर्थात् संकेतग्रह न होने से अभिधा से फल की प्रतीति नहीं हो सकती है। और मुख्यार्थ बाध, मुख्यार्थ सम्बन्ध तथा प्रयोजन रूप लक्षणा के तीन कारणों में से किसी के भी न होने से फल का बोध लक्षणा से भी नहीं हो सकता है। यदि शैत्य पावनत्व को लक्ष्यार्थ मानना चाहें तो उससे पहिले उपस्थित होने वाले तीर रूप अर्थ को जो कि इस समय लक्षणा से बोधित माना जाता है उसको मुख्यार्थ मानना होगा, उसका बाध मानना होगा और शैत्य पावनत्व का भी कोई और प्रयोजन मानना होगा। ये तीनों बातें नहीं बनती हैं। लक्ष्य अर्थात् तीर रूप अर्थ मुख्यार्थ नहीं है, फिर उस तीर रूप अर्थ का बाध भी नहीं है और उसका शैत्य पावनत्व से सम्बन्ध भी नहीं है। शैत्य पावनत्व से तो गंगा का सम्बन्ध है तीर का नहीं, इसलिए शैत्य पावनत्व तीर का लक्ष्यार्थ नहीं हो सकता है।

३. शैत्य पावनत्व का अतिशय जो इस समय प्रयोजन रूप से प्रतीत होता है उसको यदि लक्ष्यार्थ मानें तो उसका फिर कोई और प्रयोजन मानना होगा परन्तु उस शैत्य पावनत्व के अतिशय बोध का कोई दूसरा प्रयोजन प्रतीत ही नहीं होता और नाहीं गंगा शब्द उसके बोधन के लिए स्खलद्गति-बाधितार्थ ही है। और यदि कथंचित् उस शैत्य पावनत्व के अतिशय में भी कोई प्रयोजन मान कर उसको लक्ष्यार्थ मान लिया जाय तो फिर वह जो दूसरा प्रयोजन प्रतीत हुआ उसको भी लक्ष्यार्थ मानने के लिए उसका भी एक और तीसरा प्रयोजन मानना होगा। इसी प्रकार तीसरे प्रयोजन का चौथा, चौथे का पांचवां आदि प्रयोजन मानने होंगे और यह प्रयोजन की परम्परा कहीं समाप्त नहीं होगी। इसलिए अनवस्था दोष होगा जो मूल अर्थात् शैत्य पावनत्व के अतिशय बोध को लक्ष्यार्थ मानने को ही समाप्त कर देगा।

विशिष्ट लक्षणावाद का निराकरण—

४. ऊपर की कारिका में जो दोष दिखाए गए हैं कि, तीर मुख्यार्थ नहीं है, उसका बाध नहीं होता, और उसका शैत्य पावनत्व रूप फल के साथ सम्बन्ध नहीं है, ये सब दोष उस अवस्था में आते हैं जब शैत्य पावनत्व को लक्ष्यार्थ माना जाय। इस लिए पूर्व पक्ष, उस स्थिति को बदल कर यह कहता है कि न केवल तीर लक्ष्यार्थ है और न केवल शैत्य पावनत्व का अतिशय। अपितु शैत्य-पावनत्व विशिष्ट तीर में लक्षणा माननी चाहिए इस प्रकार व्यंजना की आवश्यकता नहीं होगी। इस पूर्व पक्ष का समाधान करने के लिए अगली कारिका दी है। 'प्रयोजनेन सहितं लक्षणीयं न विद्यते'। प्रयोजन सहित अर्थात् शैत्य पावनत्व विशिष्ट तीर लक्षित नहीं हो सकता है। क्योंकि तीर अर्थ लक्षणाजन्य ज्ञान का विषय और शैत्य पावनत्व लक्षणाजन्य ज्ञान का फल है। ज्ञान का विषय और ज्ञान का फल दोनों अलग-अलग ही होते हैं। वे कभी एक नहीं हो सकते। इस लिए लक्षणा जन्य ज्ञान का विषय तीर और उसका फल शैत्य पावनत्व इन दोनों का बोध एक साथ नहीं हो सकता। उनमें कारण कार्य भाव होने से पौर्वापर्य आवश्यक है। पहिले कारण भूत तीर बोध और उसके बाद फल रूप शैत्य पावनत्व का बोध दोनों अलग-अलग ही होंगे, एक साथ नहीं। अतएव शैत्य पावनत्व के बोध के लिए लक्षणा से अतिरिक्त व्यंजना अलग माननी ही होगी।

ज्ञान का विषय और फल दोनों अलग-अलग होते हैं यह सभी दार्शनिकों का सिद्धान्त है। न्याय के मत में 'अयं घटः' इस ज्ञान का विषय घट होता है और उससे आत्मा में एक 'घटज्ञानवानहं' या 'घटमहं जानामि' इस प्रकार का ज्ञान उत्पन्न होता है। इस ज्ञान को नैयायिक अनुव्यवसाय कहता है। यह अनुव्यवसाय 'अयं घटः' ज्ञान का फल है। इसलिए नैयायिक मत में ज्ञान का विषय घट और ज्ञान का फल अनुव्यवसाय होने से दोनों अलग-अलग हैं। इसी प्रकार मीमांसक के मत में भी 'अयं घटः' इस ज्ञान का विषय तो घट है और उस ज्ञान का फल 'ज्ञातता' नामक धर्म है। इस लिए उसके यहाँ भी ज्ञान का विषय घट और ज्ञान का फल 'ज्ञातता' दोनों अलग होने से दोनों का ग्रहण एक काल में नहीं हो सकता।

नैयायिक और मीमांसक दोनों ही 'अयं घटः' इस ज्ञान का विषय घट को मानते हैं। परन्तु फल के विषय में दोनों में थोड़ा-सा मत भेद है। नैयायिक 'अयं घटः' इस ज्ञान का फल 'अनुव्यवसाय' को और मीमांसक 'ज्ञातता' को मानता है। इन 'अनुव्यवसाय' और 'ज्ञातता' के स्वरूप में अन्तर यह है कि नैयायिक के

मत में 'अनुव्यवसाय' आत्मा में रहने वाला धर्म है। 'घट ज्ञानवानहम्' या 'घटमहं जानामि' इत्यादि रूप 'अनुव्यवसाय' आत्मा में उत्पन्न होता है। ज्ञान के ज्ञान का नाम 'अनुव्यवसाय' है। 'अयं घटः' इस व्यवसायात्मक ज्ञान का विषय घट होता है 'घटज्ञानवानहम्' इस अनुव्यवसायात्मक ज्ञान का विषय 'घट ज्ञान' होता है। और वह 'अनुव्यवसाय' आत्मा में रहता है यह नैयायिक सिद्धान्त है। दूसरी ओर मीमांसक की 'ज्ञातता' आत्मा में नहीं अपितु घटरूप पदार्थ में रहने वाला धर्म है। इसी 'ज्ञातता' के आधार पर घट और ज्ञान का विषय-विषयि-भाव बनता है। अर्थात् 'अयं घटः' इस ज्ञान का विषय घट है पट नहीं—यह नियम कैसे बनेगा। घट ज्ञान घट से पैदा होता है इसलिए घट उसका विषय होता है पट नहीं यदि यह कहा जाय तो फिर घट ज्ञान आलोक से भी पैदा होता है और चक्षु भी उसका कारण है। तब तो फिर आलोक और चक्षु भी उस ज्ञान का विषय होने लगेंगे। इस लिए इस उत्पत्ति के आधार पर विषयविषयिभाव का उपपादन नहीं हो सकता। अतः विषयविषयिभाव का उपपादन 'ज्ञातता' के आधार पर ही समझना चाहिए। 'अयं घटः' इस ज्ञान से जो 'ज्ञातता' नामक धर्म पैदा होता है वह घट में रहता है, पट में नहीं रहता। इस लिए घट ही उस ज्ञान का विषय होता है, पट नहीं होता। यह मीमांसक का कहना है। इस प्रकार यद्यपि नैयायिक और मीमांसक दोनों ज्ञान का फल अलग-अलग अनुव्यवसाय और ज्ञातता को मानते हैं। परन्तु वे दोनों ही इस विषय में एकमत हैं कि ज्ञान का विषय और फल दोनों अलग ही होते हैं। इसलिए यहां भी लक्षणाजन्य ज्ञान का विषय तीर और उसका फल शैत्य–पावनत्व का अतिशय अलग-अलग ही मानने होंगे और उन दोनों का बोध एक साथ नहीं हो सकता है। अतएव शैत्य–पावनत्व विशिष्ट तीर को लक्ष्यार्थ मानने का जो पूर्व पक्ष उठाया गया था वह ठीक नहीं है। उन दोनों का बोध अलग-अलग क्रमशः लक्षणा तथा व्यंजना द्वारा ही मानना होगा। फलितार्थ यह हुआ कि अभिधा, तात्पर्या और लक्षणा इन तीनों में से किसी शक्ति से व्यंजना का काम नहीं निकाला जा सकता है। इसलिए व्यंजना को अलग वृत्ति मानना ही होगा।

अखंडार्थतावादी वेदान्त मत—

अद्वैतरूप ब्रह्मवादी वेदान्ती तथा स्फोटरूप शब्द ब्रह्मवादी वैयाकरण अखंड वाक्य और अखंड वाक्यार्थ मानते हैं। वेदान्त मत में क्रिया, कारक भाव को स्वीकार कर उत्पन्न होने वाली बुद्धि खंडित या सखंड और उससे भिन्न क्रिया कारक भाव रहित बुद्धि अखंड बुद्धि है। उनके मत में यह सारा संसार ही मिथ्या

है अतएव धर्मि-धर्म भाव या क्रिया-कारक भाव आदि सब मिथ्या हैं इस लिए वाक्यों में यह वाच्यार्थ है, यह लक्ष्यार्थ है, यह व्यंग्यार्थ है इस प्रकार का विभाग नहीं किया जा सकता। अपितु समस्त अखंड वाक्य से वाच्य, लक्ष्य, व्यंग्य और उससे भी आगे जितना भी अर्थ प्रतीत होता है वह सब अखंड रूप में उपस्थित होता है। अतः व्यंजना आदि को मानने की आवश्यकता नहीं है। वेदान्ती अखंड वाक्य मानते हैं। उसका लक्षण कहीं 'संसर्गागोचरप्रमितिजनकत्वमखंडार्थत्वम्' अर्थात् क्रिया-कारक भावादि रूप संसर्गाविषयक प्रतीति को पैदा करने वाला वाक्य अखंडार्थक वाक्य है इस प्रकार किया गया है और कहीं 'अविशिष्टमपर्यायानेक-शब्दप्रकाशितम्। एकं वेदान्तनिष्णाता स्तमखंडं प्रपेदिरे।' इत्यादि रूप में किया गया है।

अखण्डार्थतावादी वैयाकरण मत—

लगभग इसी प्रकार स्फोटरूप शब्द ब्रह्मवादी वैयाकरणों ने भी अखंड वाक्य की कल्पना की है। उसका उपपादन करते हुए भर्तृहरि ने लिखा है— "ब्राह्मणार्थो यथा नास्ति कश्चिद् ब्राह्मणकम्बले। देवदत्तादयो वाक्ये तथैव स्युरनर्थकाः॥" इसका भाव यह है कि ब्राह्मण का कम्बल इस अर्थ में प्रयुक्त ब्राह्मणकम्बल इस शब्द में अकेला ब्राह्मण शब्द अनर्थक है क्योंकि अकेले ब्राह्मण शब्द से किसी अर्थ का बोधन नहीं होता है। ब्राह्मणकम्बल इस सम्मिलित सम्पूर्ण शब्द से ब्राह्मण सम्बन्धी कम्बल यह अखंड अर्थ बोधित होता है। इसी प्रकार प्रत्येक वाक्य में अलग-अलग देवदत्तादि शब्द अनर्थक हैं। समस्त अखंड वाक्य से अखंडवाक्यार्थ उपस्थित होता है।

इस प्रकार वेदान्ती और वैयाकरण मत में अखंड वाक्यार्थ बोध मानने से वाच्य, लक्ष्य, व्यंग्य की अलग-अलग प्रतीति नहीं होती है। परन्तु इस हेतु को केवल व्यंजना के विरोध में प्रस्तुत नहीं किया जा सकता है। उससे तो अभिधा, लक्षणा और तात्पर्या का भी लोप हो जाता है। फिर वेदान्ती जो जगत् को मिथ्या कहते हैं वे भी उसका व्यावहारिक अस्तित्व स्वीकार करते ही हैं। और व्यवहारिक रूप में सब लोक व्यवहार अन्य जगत्सत्यत्ववादियों के समान ही मानते हैं। 'व्यवहारे भट्टनयः' यह उनका प्रसिद्ध सिद्धांत है। इसी प्रकार वैयाकरण भी जो अखंड वाक्यार्थ की कल्पना करते हैं वह भी 'पचति, गच्छति' आदि प्रत्येक पद में प्रकृति प्रत्यय का विभाग व्यावहारिक रूप से करते ही हैं। स्वयं भर्तृहरि ने भी तो लिखा है—"उपायाः शिक्ष्यमाणानां बालानामुपलालनाः।

असत्ये वर्त्मनि स्थित्वा ततः सत्यं समीहते ।" इसलिए जब व्यवहार-दशा में 'पचति, गच्छति' आदि में प्रकृति प्रत्यय का विभाग बन सकता है तब उस दशा में अभिधा, तात्पर्या, लक्षणा और उन सबसे भिन्न व्यंजना का अस्तित्व मानने में कोई बाधा नहीं प्रतीति होती । अतः व्यंजना को अलग वृत्ति मानना ही चाहिए ।

वाच्यार्थ व्यंग्यार्थ का भेद :—

वाच्यार्थ से भिन्न व्यंग्यार्थ की सिद्धि के लिए आलोककार तथा अन्य आचार्यों ने अनेक हेतु दिए हैं। साहित्यदर्पणकार विश्वनाथ ने उन सब हेतुओं का सुन्दर संग्रह केवल एक कारिका में इस प्रकार कर दिया है। "बोद्धृ, स्वरूप, संख्या, निमित्त, कार्य, प्रतीति, कालानाम्, । आश्रय, विषयादीनां भेदाद् भिन्नोऽभिधेयतो व्यंग्यः ।" अर्थात् बोद्धा, स्वरूप आदि के भेद होने के कारण व्यंग्य अर्थ वाच्य अर्थ से भिन्न ही मानना होगा । १. बोद्धा के भेद का आशय यह है कि वाच्यार्थ की प्रतीति तो पद पदार्थ मात्र में व्युत्पन्न वैयाकरण आदि सब को हो सकती है परन्तु व्यंग्य अर्थ की प्रतीति केवल सहृदयों को ही होती है। इसलिए बोद्धा के भेद के कारण वाच्य से व्यंग्य को अलग मानना चाहिए। २. स्वरूप भेद के उदाहरण यही 'भ्रम धार्मिक' इत्यादि दिए हैं। जिनमें कहीं वाच्य विधिरूप और व्यंग्य निषेध रूप और कहीं वाच्य निषेध रूप और व्यंग्य विधि रूप इत्यादि स्वरूप भेद पाया जाता है । ३. संख्या भेद का अभिप्राय यह है कि जैसे सन्ध्या के समय किसी ने कहा कि 'गतोऽस्तमर्कः' सूर्य छिप गया। यहां वाच्यार्थ तो सूरज छिप गया यह एक ही है परन्तु व्यंग्य अनेक हो सकते हैं। कहीं सन्ध्योपासना का समय हो गया, कहीं खेल बन्द करो, कहीं घूमने चलो, कहीं 'कान्तमभिसर' आदि अनेक रूप के व्यंग्य हो सकते हैं। ४. वाच्यार्थ के बोध का निमित्त संकेत ग्रह आदि ही है और व्यंग्यार्थ का निमित्त प्रतिभानैर्मल्य, सहृदयत्वादि हैं। इसलिए दोनों का निमित्तभेद भी है। ५. इसी प्रकार वाच्यार्थ केवल प्रतीति मात्र कराने वाला और व्यंग्यार्थ चमत्कारजनक होने से दोनों के कार्य में भी भेद है। ६. दोनों में काल का भी भेद है क्योंकि वाच्यार्थ की प्रतीति प्रथम और व्यंग्य की प्रतीति पीछे होती है। ७. वाच्यार्थ शब्दाश्रित होता है और व्यंग्य उसके एकदेश प्रकृति-प्रत्यय-वर्ण-संघटना आदि में रह सकता है अतः आश्रय भेद भी है। ८. और विषय भेद का उदाहरण अभी मूल में दिया जा चुका है। 'कस्य न भवति रोषो' इत्यादि में वाच्यार्थ बोध का विषय नायिका और व्यंग्यार्थ का

विषय नायक होने से विषय भेद भी है। इस प्रकार वाच्य और व्यंग्य के बीच अनेक प्रकार के भेद होने से व्यंग्यार्थ को वाच्यार्थ से भिन्न ही मानना होगा।

महिम भट्ट का अनुमितिवाद—

यह सब विचार तो वृत्तियों की दृष्टि से हुआ। अर्थात् व्यंग्य अर्थ की प्रतीति अभिधा, तात्पर्या और लक्षणा वृत्ति से नहीं हो सकती है। अतएव उसके बोध कराने के लिए व्यंजना को एक अलग वृत्ति मानना अनिवार्य है। परन्तु ध्वनिकार के उत्तरकालीन कुछ लोग व्यंग्यार्थ बोध को शब्द की सीमा से हटा कर अनुमान का विषय बनाने के पक्ष में हैं। इनमें महिम भट्ट का स्थान सर्वोपरि है। महिम भट्ट ने अपने 'व्यक्तिविवेक' नामक ग्रन्थ में ध्वनि के समस्त उदाहरणों को अनुमान द्वारा सिद्ध करने का प्रयत्न किया है। परन्तु काव्यप्रकाश, साहित्यदर्पण आदि ने महिम भट्ट के इस अनुमानवाद का पूर्ण रूप से खण्डन कर दिया है। जिसका सारांश इस प्रकार है। विभावानुभावादि की प्रतीति से रसादि की प्रतीति होती है। इसलिए विभावादि प्रतीति को रसादि की प्रतीति का साधक लिंग मान कर महिम भट्ट अनुमान द्वारा रसादि की सिद्धि करना चाहते हैं। उनके अनुसार अनुमान वाक्य का रूप होगा, 'रामः सीताविषयकरतिमान् तत्र।विलक्षणस्मितकटाक्षवत्त्वात् यो नैवं सो नैवं यथा लक्ष्मणः।' इसके उत्तर में ध्वनि पक्ष का कहना यह है कि इस अनुमान से राम के सीता के प्रति अनुराग का ज्ञान हो सकता है। परन्तु उसे हम रस नहीं मानते हैं। उसके द्वारा सहृदयों के हृदय में जो अपूर्व अलौकिक आनन्द का उद्बोध होता है उसे हम रस मानते हैं। और उसका बोध व्याप्ति न होने से अनुमान द्वारा सम्भव नहीं है। आपको रस को अनुमान द्वारा सिद्ध करना चाहिए था परन्तु आप जिसकी सिद्धि कर रहे हैं वह तो रस से भिन्न कुछ और ही पदार्थ है। इसलिए आपका यह प्रयास 'विनायकं प्रकुर्वाणो रचयामास वानरम्' जैसा उपहास योग्य है। इसी प्रकार 'भ्रम धार्मिक' इत्यादि उदाहरणों में महिम भट्ट गोदावरीतीर पर धार्मिक के भ्रमण का निषेध अनुमान का विषय सिद्ध करना चाहते हैं। उस अनुमान का स्वरूप इस प्रकार हो सकता है। 'गोदावरीतीरं धार्मिकभीरुभ्रमणायोग्यं सिंहवत्त्वात् यन्नैवं तन्नैवं यथा गृहम्।' गोदावरी का तीर धार्मिक भीरु के लिए भ्रमण के अयोग्य है क्योंकि वहां सिंह रहता है। इस अनुमान में 'सिंहवत्त्वात्' को हेतु और भीरुभ्रमणायोग्यत्व को साध्य माना है। उन दोनों की व्याप्ति इस प्रकार बनेगी। 'यत्र-यत्र सिंहवत्त्वं [भयकारणोपलब्धिः] तत्र-तत्र भीरुभ्रमणायोग्यत्वम्'। परन्तु राजा की आज्ञा अथवा गुरु की आज्ञा

काव्यस्यात्मा स एवार्थस्तथा चादिकवेः पुरा ।
क्रौंचद्वन्द्ववियोगोत्थः शोकः श्लोकत्वमागतः ॥५॥

[1]विविधवाच्यवाचकरचनाप्रपंचचारुणः काव्यस्य स एवार्थः सारभूतः । तथा चादिकवेर्बाल्मीकेर्निहतसहचरीविरहकातरक्रौंचाक्रन्दजनितः शोक एव श्लोकतया परिणतः ।

मा निषाद प्रतिष्ठां त्वमगमः शाश्वतीः समाः ।
यत् क्रौंचमिथुनादेकमवधीः काममोहितम् ॥

शोको हि करुणरसस्थायिभावः । प्रतीयमानस्य चान्यभेददर्शनेऽपि रसभावमुखेनैवोपलक्षणं प्राधान्यात् ।

अथवा प्रिया के अनुराग से भय कारण को जानते हुए भी मनुष्य जाते हैं । इसलिए यह व्याप्ति ठीक न होने से अनुमान नहीं बन सकता है । इस प्रकार व्यंजना का काम अनुमान से भी नहीं हो सकता है । अतः व्यंजना को अलग शक्ति मानना अनिवार्य ही है । यह व्यंजनावादियों के मत का सारांश है ॥ ४ ॥

काव्य का आत्मा वही [प्रतीयमान रस] अर्थ है । इसी से प्राचीन काल में क्रौंच [पक्षी] के जोड़े के वियोग से उत्पन्न आदि कवि बाल्मीकि का शोक [करुण रस का स्थायीभाव] श्लोक [काव्य] रूप में परिणत हुआ ।

नाना प्रकार के शब्द, अर्थ और संघटना के प्रपंच से मनोहर काव्य का सारभूत [आत्मा] वही [प्रतीयमान रस रूप] अर्थ है । तभी [निषाद के बाण से विद्ध किए गए, मरणासन्न अतः,] सहचरी के वियोग से कातर, [जो] क्रौंच [तत्

---

१. इस स्थल पर निर्णयसागरीय तथा वाराणसीय संस्करणों के अनेक पाठ भेद हैं । नि० सा० में विविध और वाच्य के बीच में 'विशिष्ट' पाठ अधिक है । 'तथा चादिकवे र्बाल्मीकेः' इतना पाठ नहीं है । 'निहतसहचरी' के स्थान पर 'संन्निहितसहचरी' पाठ है । 'अन्य भेद' के स्थान पर 'अन्य प्रभेद' पाठ है । 'प्रतीयमान एवेति प्रतिपादितम्' इतना पाठ बढ़ा हुआ है । वाराणसीय बालप्रिया वाले संस्करण में 'मा निषाद' इत्यादि श्लोक मूल पाठ में नहीं है । इसका कारण संभवतः लोचन में उसकी व्याख्या का अभाव है । दीधिति में 'सहचरी' के स्थान पर 'सहचर' और 'क्रौंचाक्रन्द' के स्थान पर 'क्रौंच्याक्रन्द' पाठ है । इन पाठ भेदों के अतिरिक्त अन्य दृष्टि से भी यह स्थल विशेषरूप से विचारणीय है ।

कर्तृक, अथवा क्रौंचोद्देश्यक क्रौंचीकर्तृक] के क्रन्दन से उत्पन्न आदि कवि बाल्मीकि [बाल्मीकि निष्ठ करुण रस का स्थायीभाव] का शोक श्लोक ['मा निषाद' इत्यादि काव्य] रूप में परिणत हुआ।

हे व्याध तू ने काममोहित, कौंच के जोड़े में से एक [क्रौंच] को मार डाला अतएव तू अनन्त काल तक [कभी] प्रतिष्ठा [सुकीर्ति] को प्राप्त न हो।

शोक करुण रस का स्थायीभाव है। [यद्यपि] प्रतीयमान के और [वस्तु अलंकार ध्वनि] भी भेद दिखाए गए हैं परन्तु [रसादि के] प्राधान्य से रसभाव द्वारा ही उनका उपलक्षण [ज्ञापन] होता है।

क्रौंच वध की जिस घटना का उल्लेख यहां किया गया है वह बाल्मीकि रामायण के प्रारम्भ में मिलती है। उद्धृत 'मा निषाद' इस श्लोक में 'एकम्' इस पुलिंग प्रयोग से प्रतीत होता है कि उस जोड़े में से नर क्रौंच ही मारा गया था और उसके वियोग में क्रौंची रो रही थी। आगे के श्लोक "तं शोणितपरीतांगं, चेष्टमानं महीतले। दृष्ट्वा क्रौंची रुरोदार्ता करुणं खे परिभ्रमा॥" में इसका स्पष्ट ही वर्णन है! परन्तु यहां ध्वन्यालोककार ने अपने वृत्तिभाग में 'निहतसहचरीविरह-कातरक्रौंचाक्रन्दजनितः' पाठ दिया है जिससे प्रतीत होता है कि वध सहचरी क्रौंची का हुआ और रोदन करने वाला नर क्रौंच है। इस की टीका में लोचनकार ने भी 'सहचरीहननोदभूतेन, तथा निहतसहचरीति विभाव उक्तः' लिख कर इसी की पुष्टि की है। न केवल इन दोनों ने अपितु काव्यमीमांसाकार ने भी अपने ग्रन्थ में 'निषादनिहतसहचरीकं क्रौंचयुवानम्' लिखा है। यह सब बाल्मीकि रामायण के विरुद्ध प्रतीत होता है। इसलिए दीधितिकार आदि कुछ लोग मूल वृत्तिग्रन्थ और उसके लोचन दोनों के पाठ बदल कर उसकी व्याख्या करते हैं। दूसरे विद्वानों का मत यह है कि ध्वन्यालोक ध्वनिप्रधान ग्रन्थ है। इसमें क्रौंच मिथुन से सीता और राम की जोड़ी, निषाद पद से रावण, और वध से सीता का अतिशय-पीडन रूप वध अभिव्यक्त होता है इसलिए ध्वन्यालोककार ने सहचरी पद से सीता रूप अर्थ को अभिव्यक्त करने के लिए 'निहतसहचर' के स्थान पर 'निहतसहचरी' पाठ रखा है। दूसरे जो लोग 'सहचरी' के स्थान पर 'सहचर' पाठ परिवर्तन करते हैं वे भी यहां व्यंग्यार्थ इस प्रकार निकालते हैं कि भावी रावणवध के सूचनार्थ सहचर रावण के विरह से कातर क्रौंची मन्दोदरी उसके आक्रन्दन से जनित शोक श्लोकत्व को प्राप्त हुआ। हमने जो उपर इस अंश का अनुवाद किया है वह इन

सरस्वती स्वादु तदर्थवस्तु निःष्यन्दमाना महतां कवीनाम् ।
अलोकसामान्यमभिव्यनक्ति परिस्फुरन्तं[1] प्रतिभाविशेषम् ॥६॥

[2]तत् वस्तुतत्वं निःष्यन्दमाना महतां कवीनां भारती[3] अलोकसामान्यं प्रतिभाविशेषं परिस्फुरन्तं अभिव्यनक्ति । येनास्मिन्नतिविचित्रकविपरम्परावाहिनि संसारे कालिदासप्रभृतयो द्वित्राः पंचषा एव वा महाकवय इति गण्यन्ते ॥६॥

सब से भिन्न है । ध्वन्यालोक और लोचन की सभी प्रतियों में सहचरी वाला पाठ ही पाया जाता है इसलिए हमने उसको प्रामादिक पाठ न मान कर 'स्थितस्य गतिश्चिन्तनीया' के अनुसार उसकी संगति लगाने का प्रयत्न किया है। "निहतः, सहचरीविरहकातरश्चासौ क्रौंचः निहतसहचरीविरहकातरक्रौंचः, तदुद्देश्यकः क्रौंचीकर्तृको य आक्रन्दः, तज्जनितः शोकः ।' इस प्रकार की व्याख्या करने से पाठ की कथंचित् संगति लग जाती है। और पाठ परिवर्तन किए बिना भी रामायण से उसके विरोध का परिहार हो जाता है । इस व्याख्या का भावार्थ यह हुआ कि 'निहतः' पद 'सहचरी' का विशेषण नहीं अपितु 'निहतः' और 'सहचरीविरहकातरः' यह दो विशेषण 'क्रौंचः' के हैं। मरते समय जैसे सांसारिक पुरुष को अपने स्त्री-बच्चों का वियोग दुखी करता है इसी प्रकार बाणविद्ध वह क्रौंच अपनी सहचरी के विरह से कातर था। उसको उद्देश्य में रखकर जो क्रौंची का क्रन्दन उससे समुद्भूत शोक-आदिकवि बाल्मीकि का शोक, श्लोक रूप में परिणत हुआ । ऐसा अर्थ करने से मूल वृत्ति में जो रामायण का विरोध प्रतीत होता है उसका परिहार हो सकता है । लोचन में जहां 'सहचरीहननोद्भूत' पाठ है वहां 'सहचरहननोद्भूत' यही पाठ होना चाहिए। लोचन के 'निहतसहचरीति विभाव उक्तः' इस पंक्ति को प्रतीक मान कर निहतसहचरी इत्यादि ग्रन्थ से विभाव कहा है यह अर्थ मानने से रामायण का विरोध नहीं रहता है । परन्तु काव्यमीमांसाकार ने जो 'निषादनिहतसहचरीकं क्रौंचयुवानम्' लिखा है वह इस ग्रन्थ को ठीक न समझने के कारण ही कह दिया है इसलिए वह ठीक नहीं है ॥ ५ ॥

उस आस्वादमय [रस भाव रूप] अर्थ तत्व को प्रवाहित करने वाली

---

१. प्रति स्फुरन्तं नि० । २. तत् यह पद नि० में नहीं है । ३. सरस्वती नि० । दी० में भारतीपद वाक्य के प्रारम्भ में रक्खा है ।

इदं चापरं प्रतीयमानस्यार्थस्य सद्भावसाधनं प्रमाणम्—

शब्दार्थशासनज्ञानमात्रेणैव न वेद्यते ।
वेद्यते स तु[1] काव्यार्थतत्त्वज्ञैरेव केवलम् ॥७॥

[2]सोऽर्थो यस्मात् केवलं काव्यार्थतत्वज्ञैरेव ज्ञायते । यदि च वाच्यरूप एवासावर्थः स्यात्, तद् वाच्यवाचकस्वरूपपरिज्ञानादेव तत्प्रतीतिः स्यात् । अथ च वाच्यवाचकलक्षणमात्रकृतश्रमाणां काव्यतत्त्वार्थभावनाविमुखानां स्वरश्रुत्यादिलक्षणमिवाप्रगीतानां[3] गान्धर्वलक्षणविदामगोचर एवासावर्थः ॥७॥

महाकवियों की वाणी [उनके] अलौकिक, प्रतिभासमान प्रतिभा, [अपूर्ववस्तु-निर्माणक्षमा प्रज्ञा] के वैशिष्ट्य को प्रकट करती है ।

उस [प्रतीयमान रस भावादि] अर्थतत्त्व को प्रवाहित करने वाली महाकवियों की वाणी [उनके] अलौकिक, प्रतिभासमान, प्रतिभाविशेष को व्यक्त करती है । जिसके कारण नानाविध कवि परम्परा शाली इस संसार में कालिदास आदि दो तीन अथवा पांच छः ही महाकवि गिने जाते हैं ॥६॥

प्रतीयमान अर्थ की सत्ता सिद्ध करने वाला यह और भी प्रमाण है । वह [प्रतीयमान अर्थ] शब्दशास्त्र [व्याकरणादि] और अर्थशास्त्र [कोशादि] के ज्ञान मात्र से ही प्रतीत नहीं होता, वह तो केवल काव्यमर्मज्ञों को ही विदित होता है ।

क्योंकि केवल काव्यार्थतत्त्वज्ञ ही उस अर्थ को जान सकते हैं । यदि वह अर्थ केवल वाच्यरूप ही होता तो शब्द और अर्थ के ज्ञानमात्र से ही उसकी प्रतीति होती । परन्तु [केवल पुस्तक से] गन्धर्वविद्या को सीख लेने वाले उत्कृष्ट गान के अनभ्यासी [नौसिखिया] गायकों के लिए स्वर श्रुति आदि के रहस्य के समान, काव्यार्थभावना से रहित केवल वाच्य-वाचक [कोशादि अर्थ निरूपक शास्त्र और व्याकरणादि शब्दशास्त्र] में कृतश्रम पुरुषों के लिए वह [प्रतीयमान] अर्थ अज्ञात ही रहता है ।

यहाँ बालप्रिया टीका वाले वाराणसीय संस्करण में 'अप्रगीतानाम्' पाठ

---

१. नि० में तु के स्थान पर हि पाठ है । २. 'शब्दार्थशासनज्ञानमात्रेऽपि परं न वेद्यते' इतना पाठ नि० में वाक्यारम्भ में अधिक है । ३. नि० में प्रगीतानां पाठ है ।

एवं वाच्यव्यतिरेकिणो व्यंग्यस्य सद्भावं प्रतिपाद्य प्राधान्यं तस्यैवेति दर्शयति—

सोऽर्थस्तद्व्यक्तिसामर्थ्ययोगी शब्दश्च कश्चन ।
यत्नतः प्रत्यभिज्ञेयौ तौ शब्दार्थौ महाकवेः ॥८॥

आया है। उसके स्थान पर निर्णयसागरीय तथा दीधिति वाले संस्करण में पदच्छेद की दृष्टि से 'प्रगीतानां' पाठ भी रखा है। लोचन ने दोनों ही पाठों का अर्थ किया है। दोनों ही दशाओं में उसका अर्थ नौसिखिया गायक ही होगा। 'अप्रगीतानां' पाठ मानने पर 'प्रकृष्टं गीतं गानं येषां ते प्रगीता न प्रगीताः अप्रगीताः' अर्थात् उत्कृष्ट गानविद्या के अनभ्यासी यह अर्थ होगा। और 'प्रगीतानां' पाठ मानने पर 'आदि कर्मणि क्तः कर्तरि च। अष्टाध्यायी ३, ४, ७१' इस पाणिनि सूत्र से आदि कर्म में क्त प्रत्यय मान कर 'गातुं प्रारब्धाः प्रगीताः' जिन्होंने गाना अभी प्रारम्भ किया है ऐसा अर्थ होगा।

स्वर श्रुति आदि गान्धर्व शास्त्र के पारिभाषिक शब्द हैं। स्वर शब्द की व्युत्पत्ति 'स्वतः सहकारिकारणनिरपेक्षं रंजयति श्रोतुश्चित्तं अनुरक्तं करोतीति स्वरः' जो अन्यों की सहायता के बिना स्वयं ही श्रोता के चित्त को आह्लादित करे उसे स्वर कहते हैं। संगीत शास्त्र में षड्ज, ऋषभ, गान्धार, मध्यम, पंचम, धैवत और निषाद ये सात स्वर माने गए हैं। इन्हीं का संक्षिप्त रूप सरगम के स, र, ग, म, प, ध, नि यह प्रसिद्ध रूप है। स्वर के प्रथम अवयव को श्रुति कहते हैं। संगीत रत्नाकर में उनके लक्षण इस प्रकार कहे हैं —

"प्रथमश्रवणाच्छब्दः श्रूयते ह्रस्वमात्रकः।
सा श्रुतिः संपरिज्ञेया स्वरावयवलक्षणा॥
श्रुत्यन्तरभावी यः स्निग्धोऽनुरणनात्मकः।
स्वतो रंजयति श्रोतुश्चित्तं स स्वर उच्यते॥
श्रुतिभ्यः स्युः स्वराः षड्जर्षभगान्धारमध्यमाः।
पंचमो धैवतश्चाथ निषाद इति सप्त ते॥
तेषां संज्ञाः स रि ग म प ध नि इत्यपरा मताः।
द्वाविंशतिं केचिदुदाहरन्ति श्रुतीः श्रुतिज्ञानविचारदक्षाः।
षट्षष्टिभिन्नाः खलु केचिदासामानन्त्यमेव प्रतिपादयन्ति" ॥७॥

इस प्रकार वाच्यार्थ से भिन्न व्यंग्य की सत्ता को सिद्ध करके प्राधान्य (भी) उसी का है यह दिखाते हैं।

स[1] व्यंग्योऽर्थ स्तद्व्यक्तिसामर्थ्ययोगी शब्दश्च कश्चन, न शब्दमात्रम्[2] । तावेव शब्दार्थौ महाकवेः प्रत्यभिज्ञेयौ । व्यंग्यव्यंजकाभ्यामेव सुप्रयुक्ताभ्यां महाकवित्वलाभो महाकवीनां, न वाच्यवाचकरचनामात्रेण ॥८॥

वह [प्रतीयमान] अर्थ और उसकी अभिव्यक्ति में समर्थ विशेष शब्द इन दोनों को भली प्रकार पहिचानने का प्रयत्न महाकवि को [जो महाकवि बनना चाहे उसको] करना चाहिए ।

वह व्यंग्य अर्थ और उसको अभिव्यक्त करने की शक्ति से युक्त कोई विशेष शब्द [ही] है । शब्दमात्र [सारे शब्द] नहीं। महाकवि [बनने के अभिलाषी] को वही शब्द और अर्थ भली प्रकार पहिचानने चाहिएं । व्यंग्य और व्यंजक के सुन्दर प्रयोग से ही महाकवियों को महाकवि पद की प्राप्ति होती है; वाच्य-वाचक-रचना मात्र से नहीं ।

प्रत्यभिज्ञा शब्द का प्रयोग यहां किया गया है । प्रत्यभिज्ञा का लक्षण है 'तत्तेदन्तावगाहिनी प्रतीतिः प्रत्यभिज्ञा ।' तत्ता अर्थात् तद्देश तत्काल संबन्ध अर्थात् पूर्वदेश और पूर्वकाल संबन्ध तथा इदन्ता अर्थात् एतद्देश एतत्काल संबन्ध को अवगाहन करने वाली प्रतीति को प्रत्यभिज्ञा कहते हैं । जैसे 'सोऽयं देवदत्तः' यह वही देवदत्त है जिसे हमने काशी में देखा था यह प्रत्यभिज्ञा का उदाहरण है । इसमें 'सः' पद तत्ता अर्थात् पूर्वदेश और पूर्वकाल संबन्ध को और 'अयं' पद इदन्ता अर्थात् एतद्देश और एतत्काल सबन्ध को बोधन करता है । इस प्रकार इस प्रतीति में तत्ता और इदन्ता दोनों का बोध होने से यह प्रतीति प्रत्यभिज्ञा कहलाती है । अर्थात् परिचित वस्तु के पुनः दर्शन के अवसर पर पूर्व वैशिष्ट्य सहित उसकी प्रतीति 'प्रत्यभिज्ञा' कहलाती है । प्रत्यभिज्ञा शब्द का ठीक हिन्दी रूप पहिचान शब्द हो सकता है । पहिचान में भी पूर्व और वर्तमान दोनों का सम्बन्ध प्रतीत होता है । यही प्रत्यभिज्ञान या 'पहिचान' का प्राण है । अतः प्रत्यभिज्ञान का हिन्दी रूप पहिचान ही है । 'प्रत्यभिज्ञेयौ' पद में अर्हार्थ में 'अर्हे कृत्यतृचश्च ३, ३, १६९' इस सूत्र के साथ एकवाक्यतापन्न 'अचो यत् अ० २, ३, ९७' सूत्र से यत् प्रत्यय हुआ है ।

---

१. बाल प्रिया वाले संस्करण में स पाठ नहीं है । २. 'न शब्दमात्रं' के स्थान पर 'न सर्वः' पाठ नि०, दी०, में है ।

और कृत्य प्रत्यय के योग में 'कृत्यानां कर्तरि वा अ० २, ३, ७१' सूत्र से कर्ता में 'महाकवेः' यह षष्ठी विभक्ति हुई है । शेष षष्ठी मान कर 'सहृदयैः महाकवेः सम्बन्धिनौ तौ शब्दार्थौ प्रत्यभिज्ञेयौ' ऐसी व्याख्या करने से उस प्रतीयमान अर्थ के प्राधान्य में, सहृदयलोकसिद्धत्व प्रमाण है, यह बात भी व्यक्त होती है और नियोगार्थक कृत्य [यत्] प्रत्यय के द्वारा शिक्षाक्रम अर्थात् कविशिक्षा प्रकार भी ध्वनित होता है ।

ध्वन्यालोक के टीकाकार श्री अभिनवगुप्तपादाचार्य के परम गुरु श्री उत्पलपादाचार्य का दार्शनिक सिद्धान्त भी प्रत्यभिज्ञा दर्शन के नाम से प्रसिद्ध है । यह प्रत्यभिज्ञा दर्शन काश्मीर का विख्यात दर्शन है और उस पर बहुत बड़े साहित्य की रचना हुई है । इस सिद्धान्त के अनुसार, ईश्वर के साथ आत्मा के अभेद की प्रत्यभिज्ञा करना ही परमपद का हेतु है । उत्पलपादाचार्य ने लिखा है:—

तै स्तै रप्युपयाचितैरुपनतस्तन्व्याः स्थितोऽप्यन्तिके,
कान्तो लोकसमान एवमपरिज्ञातो न रन्तुं यथा ।
लोकस्यैष तथानवेदितगुणः स्वात्मापि विश्वेश्वरो,
नैवालं निजवैभवाय तदियं तत्प्रत्यभिज्ञोदिता ॥

जिस प्रकार अनेक कामनाओं और प्रार्थनाओं से प्राप्त और रमणी के पास में स्थित होने पर भी जब तक वह अपने पति को पतिरूप में जानती नहीं है तब तक अन्य पुरुषों के समान होने से वह उसके सहवास का सुख प्राप्त नहीं कर पाती इसी प्रकार यह विश्वेश्वर परमात्मा समस्त संसार का आत्मभूत होने पर भी जब तक हम उसको पहिचाने नहीं उसके आनन्द का अनुभव नहीं कर सकते । इसीलिए उसकी पहिचान के निमित्त यह प्रत्यभिज्ञादर्शन बनाया गया है ।

इसी प्रकार प्रकृत में व्यञ्जनक्षम शब्दार्थ की प्रत्यभिज्ञा से ही महाकवि पद प्राप्त हो सकता है ॥८॥

ऊपर व्यङ्ग्य अर्थ का प्राधान्य प्रतिपादित किया है परन्तु कवि तो व्यङ्ग्य के पूर्व वाच्य-वाचक को ही ग्रहण करते हैं । वाच्य-वाचक के प्रथमोपादान से तो उनकी प्रधानता प्रतीत होती है इस शङ्का को दूर करने के लिए अगली कारिका है । उसका भाव यह है कि वाच्य वाचक का प्रथम उपादान उनकी प्रधानता को नहीं अपितु उनकी गौणता को ही सूचित करता है । क्योंकि उनका प्रथमोपादान तो केवल उपायभूत होने के कारण किया जाता है । उपेय प्रधान, और उपाय सदा गौण ही होता है ।

इदानीं व्यंङ्ग्यव्यञ्जकयोः प्राधान्येऽपि यद् वाच्यवाचकावेव प्रथममुपाददते कवयस्तदपि युक्तमेवेत्याहः—

आलोकार्थी यथा दीपशिखायां यत्नवान् जनः ।
तदुपायतया तद्वदर्थे वाच्ये तदादृतः ॥६॥

यथा आलोकार्थी सन्नपि दीपशिखायां यत्नवान् जनो भवति, तदुपायतया । नहि दीपशिखामन्तरेण आलोकः संभवति । तद्वद् व्यङ्ग्यमर्थं प्रत्यादृतो जनो वाच्येऽर्थे यत्नवान् भवति । अनेन प्रतिपादकस्य कवेर्व्यङ्ग्यमर्थं प्रति व्यापारो दर्शितः ॥ ६ ॥

अब व्यङ्ग्य और व्यञ्जक के प्राधान्य होते हुए भी कविगण जो पहिले वाच्य वाचक को ही ग्रहण करते हैं वह भी ठीक ही है यह कहते हैं :—

जैसे आलोक [प्रकाश अथवा 'आलोकनमालोकः वनितावदनारविन्दादिविलोकनमित्यर्थः' पदार्थ दर्शन] की इच्छा करने वाला पुरुष उसका उपाय होने के कारण दीप शिखा [के विषय] में यत्न करता है इसी प्रकार व्यङ्ग्यार्थ में आदरवान् कवि वाच्यार्थ का उपादान करता है ।

जिस प्रकार आलोकार्थी होने पर भी मनुष्य दीप शिखा [के विषय] में-उपायरूप होने से-[प्रथम] प्रयत्न करता है; दीप शिखा के बिना आलोक नहीं हो सकता है । इसी प्रकार व्यङ्ग्य अर्थ के प्रति आदरवान् पुरुष भी वाच्यार्थ में यत्नवान् होता है । इससे प्रतिपादक [वक्ता] कवि का व्यङ्ग्य अर्थ के प्रति व्यापार दिखाया ।

कारिका में आलोक शब्द आया है उसका सीधा अर्थ प्रकाश होता है परन्तु लोचनकार ने 'आलोकनमालोकः । वनितावदनारविन्दादिविलोकनमित्यर्थः।' अर्थात् वनितावदनारविन्दादि किसी पदार्थ के अवलोकन अर्थात् चाक्षुषज्ञान को आलोक कहते हैं, यह अर्थ किया है । किसी वस्तु को देखने की इच्छावाला व्यक्ति जैसे पहले दीपशिखा का यत्न करता है । लोचनकार ने साधारण प्रसिद्ध प्रकाश अर्थ को छोड़ कर जो यौगिक अर्थ करने का यत्न किया है उसका अभिप्राय यह है कि दीपशिखा तो प्रकाश रूप ही है इसलिए दीपशिखा और प्रकाश में भेद स्पष्ट न होने से उनका उपाय उपेय भाव भी स्पष्ट नहीं है । चाक्षुषज्ञान और दीपशिखा में भेद स्पष्ट है । भेद की स्पष्टता के कारण उनमें उपाय और उपेयभाव स्पष्ट रूप से हो सकता है । इसी प्रकार वाच्य से व्यङ्ग्य का स्पष्ट भेद और उनके

प्रतिपाद्यस्यापि तं दर्शयितुमाह :—

यथा पदार्थद्वारेण वाक्यार्थः संप्रतीयते ।
वाच्यार्थपूर्विका तद्वत् प्रतिपत्तस्य[1] वस्तुनः ॥१०॥

यथा हि पदार्थद्वारेण वाक्यार्थावगमस्तथा वाच्यार्थप्रतीतिपूर्विका व्यङ्ग्यस्यार्थस्य प्रतिपत्तिः ॥१०॥

स्पष्ट उपाय-उपेय भाव को व्यक्त करने के लिए ही इस प्रकार की व्याख्या की गई है।

अब प्रतिपाद्य [वाच्यार्थ] के भी उस [व्यङ्ग्यबोधन के प्रति व्यापार] को दिखाने के लिए कहते हैं :—

जैसे पदार्थ द्वारा [पदार्थों की उपस्थिति होने के बाद पदार्थ-संसर्ग-रूप,] वाक्यार्थ की प्रतीति होती है उसी प्रकार उस [व्यङ्ग्य] अर्थ की प्रतीति वाच्यार्थ [के ज्ञान] पूर्वक होती है ।

जैसे कि पदार्थ द्वारा वाक्यार्थ का बोध होता है उसी प्रकार वाच्यार्थ की प्रतीति पूर्वक व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति होती है ।

निर्णय सागरीय संस्करण में 'प्रतिपत्तव्यवस्तुनः' पाठ है। लोचनकार ने 'प्रतिपदिति भावे क्विप् । तस्य वस्तुनः व्यङ्ग्यरूपस्य सारस्येत्यर्थः' व्याख्या की है। इसलिए लोचनविरुद्ध होने से वह पाठ प्रामादिक है। जैसे जिस व्यक्ति को भाषा या वाक्यार्थ पर पूरा अधिकार नहीं होता उसको पहिले पदार्थ समझने होते हैं तब वाक्यार्थ समझ में आता है परन्तु जिनका भाषा पर अधिकार है वे भी यद्यपि पदार्थ ग्रहण पूर्वक ही वाक्यार्थ ग्रहण करते हैं फिर भी वह इतनी शीघ्रता से हो जाता है कि वहां क्रम अनुभव में नहीं आता। जैसे कमल के बहुत से पत्ते रख कर उनमें सुई चुभाई जाय तो यद्यपि वह एक-एक को क्रम से ही भेदेगी फिर भी शीघ्रता के कारण वह क्रम लक्षित नहीं होता । इसी प्रकार जो अत्यन्त सहृदय नहीं हैं उनको वाच्यार्थ और व्यङ्ग्यार्थ क्रम से ही प्रतीत होते हैं। परन्तु अत्यन्त सहृदय व्यक्तियों को व्यङ्ग्य की प्रतीति तुरन्त हो जाती है। वहां प्रतीति में क्रम रहते हुए भी 'उत्पलशतपत्रव्यतिभेदवल्लाघवान्न संलक्ष्यते ।' क्रम अनुभव में नहीं आता । इसी लिए रस ध्वनि को असंलक्ष्यक्रम व्यङ्ग्य ध्वनि कहा है यह बात भी यहां सूचित की है।

---

१. प्रतिपत्तव्यवस्तुनः नि० ।

इदानीं वाच्यार्थप्रतीतिपूर्वकत्वेऽपि तत्प्रतीतेः, व्यङ्ग्यस्यार्थस्य प्राधान्यं यथा विलुप्येत[1] तथा दर्शयतिः—

स्वसामर्थ्यवशेनैव वाक्यार्थं प्रथयन्नपि[2] ।
यथा व्यापारनिष्पत्तौ पदार्थो न विभाव्यते ॥११॥

यथा स्वसामर्थ्यवशेनैव वाक्यार्थं प्रकाशयन्नपि पदार्थो व्यापार-निष्पत्तौ न भाव्यते[3] विभक्ततया ॥११॥

तद्वत् सचेतसां सोऽर्थो वाच्यार्थविमुखात्मनाम् ।
बुद्धौ तत्वार्थदर्शिन्यां झटित्येवावभासते[4] ॥१२॥

अब, व्यंग्यार्थ की प्रतीति वाच्यार्थ के बाद होने पर भी व्यंग्यार्थ का प्राधान्य जिससे लुप्त न हो वह [प्रकार] दिखाते हैं।

जैसे पदार्थ अपनी सामर्थ्य [योग्यता, आकांक्षा, आसत्ति] से [पदार्थ संसर्गरूप,] वाक्यार्थ को प्रकाशित करते हुए भी, [अपने वाक्यार्थ बोधन रूप] व्यापार के पूर्ण हो जाने पर [वाक्यार्थ बोध हो जाने पर] अलग प्रतीत नहीं होता है।

जैसे अपनी सामर्थ्य [योग्यता; आकांक्षा, आसत्ति रूप] से वाक्यार्थ को प्रकाशित करने पर भी व्यापार के पूर्ण हो जाने पर पदार्थ विभक्त रूप में अलग प्रतीत नहीं होते ॥११॥

इसी प्रकार वाच्यार्थ से विमुख [उससे विश्रान्ति रूप परितोष को प्राप्त न करने वाले] सहृदयों की तत्वदर्शन समर्थ बुद्धि में वह [प्रतीयमान] अर्थ तुरन्त ही प्रतीत हो जाता है।

'स्वसामर्थ्यवशेनैव' कारिका में स्वसामर्थ्य अर्थात् पदार्थ की सामर्थ्य से अभिप्राय योग्यता, आकांक्षा और आसत्ति से है। 'वाक्यं स्याद् योग्यता-कांक्षासत्तियुक्तः पदोच्चयः।' योग्यता, आकांक्षा और आसत्ति से युक्त पद समूह को वाक्य कहते हैं। 'योग्यता नाम पदार्थानां परस्परसम्बन्धे बाधाभावः।' पदार्थों के परस्पर सम्बन्ध में बाधा का अभाव योग्यता कहलाता है। योग्यता रहित पदसमूह

---

१. विलुप्यते बालप्रिया० । २. प्रतिपादयन् बा०प्रि० । ३. दिभाव्यते नि० । ४. पत्रा (न्ना) वभासते । (?) नि० में वृत्ति रूप में अधिक दिया है।

एवं वाच्यव्यतिरेकिणो व्यङ्ग्यस्यार्थस्य सद्भावं प्रतिपाद्य प्रकृत उपयोजयन्नाह :—

यत्रार्थः शब्दो वा तमर्थमुपसर्जनीकृतस्वार्थौ ।
व्यङ्क्तः काव्यविशेषः स ध्वनिरिति सूरिभिः कथितः ॥१३॥

यत्रार्थो वाच्यविशेषः, वाचकविशेषः शब्दो वा, तमर्थं व्यङ्क्तः,

---

वाक्य नहीं होता इसलिए 'वह्निना सिंचति' इसको वाक्य नहीं कहते हैं क्योंकि यहां वह्नि में सिञ्चन की क्षमता बाधित है। 'पदस्य पदान्तरव्यतिरेकप्रयुक्त अन्वयाननुभावकत्वमाकांक्षा।' जिन पदों में एक पद दूसरे पद के बिना अन्वय बोध न करा सके वह पद साकांक्ष या आकांक्षायुक्त है उनमें रहने वाला धर्म आकांक्षा है। उसके अभाव में 'गौरश्वः पुरुषो हस्ती शकुनि मृंगो ब्राह्मणः' आदि पद समूह वाक्य नहीं कहलाता है। दूसरे लोगों ने आकांक्षा का यही लक्षण इस प्रकार किया है। 'यत्पदस्य यत्पदाभावप्रयुक्तमन्वयबोधाजनकत्वं तत्पदविशिष्टतत्पदत्वमाकांक्षा। वैशिष्ट्यं चाव्यवहितपूर्ववृत्तित्वाव्यवहितोत्तरत्वान्यतरसंबंधेन बोध्यम्'। 'आसत्तिर्बुद्ध्यविच्छेदः' अविलम्बित उच्चारण के कारण बुद्धि के अविच्छेद को आसत्ति कहते हैं। घण्टे दो घण्टे के व्यवधान से बोले गए 'देवदत्त गां आनय' आदि पद आसत्ति के अभाव में वाक्य नहीं कहाते हैं। इन तीनों धर्मों में से योग्यता साक्षात् पदार्थ का धर्म है, आकांक्षा मुख्यतः श्रोता की जिज्ञासा रूप होने से आत्मा का धर्म है परन्तु वह पदार्थ बोध द्वारा ही आत्मा में पैदा होती है इस लिए परम्परया, अथवा अन्वयाननुभावकत्व रूप होने से आकांक्षा साक्षात् भी पदार्थ धर्म है। आसत्ति पद द्वारा पदार्थ धर्म है। इस प्रकार योग्यता, आकांक्षा और आसत्ति से युक्त होने पर ही पदार्थ वाक्यार्थ का बोध करा सकते हैं।

दूसरी 'तद्वत् सचेतसां' कारिका के 'झटित्येवावभासते' से यह सूचित किया कि यद्यपि वाच्यार्थ और व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति में क्रम अवश्य रहता है परन्तु वह लक्षित नहीं होता। इसलिए रसादि रूप ध्वनि असंलक्ष्य क्रम व्यङ्ग्य ध्वनि है, अक्रम व्यङ्ग्य नहीं ॥१२॥

इस प्रकार वाच्यार्थ से अतिरिक्त व्यङ्ग्यार्थ की सत्ता तथा प्राधान्य [सद्भाव शब्द का सत्ता तथा साधुभाव अर्थात् प्राधान्य दोनों अर्थ हैं] प्रतिपादन करके प्रकृत में उसका उपयोग दिखाते हुए कहते हैं :—

जहां अर्थ अपने को [स्व] अथवा शब्द अपने अर्थ को गुणीभूत करके

स काव्यविशेषो ध्वनिरिति । अनेन वाच्यवाचकचारुत्वहेतुभ्य उपमादिभ्योऽनुप्रासादिभ्यश्च विभक्त एव ध्वनेर्विषय इति दर्शितम् ।

यदप्युक्तं—"प्रसिद्धप्रस्थानातिरेकिणो मार्गस्य काव्यत्वहानेर्ध्वनिर्नास्ति", इति तदप्ययुक्तम् । यतो लक्षणकृतामेव स केवलं न प्रसिद्धः, लक्ष्ये तु परीक्ष्यमाणे स एव सहृदयहृदयाह्लादकारि काव्यतत्त्वम् । ततोऽन्यच्चित्रमेवेत्यग्रे दर्शयिष्यामः ।

यदप्युक्तम्—"कामनीयकमनतिवर्तमानस्य तस्योक्तालङ्कारादिप्रका-

उस [प्रतीयमान] अर्थ को अभिव्यक्त करते हैं, उस काव्यविशेष को विद्वान् लोग ध्वनि [काव्य] कहते हैं ।

स्वश्चार्थश्च तौ स्वार्थौ । तौ गुणीकृतौ याभ्यां यथासंख्येन, स अर्थो गुणीकृतात्मा, शब्दश्च गुणीकृताभिधेयः । 'व्यङ्क्तः' यह द्विवचन इस बात का सूचक है कि व्यङ्ग्य अर्थ की अभिव्यक्ति में शब्द और अर्थ दोनों ही कारण होते हैं । एक प्रधान कारण होता है और दूसरा सहकारी कारण । 'यत्रार्थः शब्दो वा' में पठित 'वा' पद, शब्द और अर्थ के प्राधान्याभिप्रायेण विकल्प को बोधन करता है । इसका भाव यह हुआ कि अभिव्यक्ति में कारण दोनों होते हैं परन्तु प्राधान्य शब्द और अर्थ में एक का ही होता है इसीलिए शाब्दी और आर्थी दो प्रकार की व्यञ्जना मानी गई हैं । और इसीलिए साहित्यदर्पणकार ने दोनों की व्यञ्जकता दिखाते हुए लिखा है—'शब्दबोध्यो व्यनक्त्यर्थः, शब्दोऽप्यर्थान्तराश्रयः । एकस्य व्यंञ्जकत्वे तदन्यस्य सहकारिता ॥ सा० द० २, १८ ।'

जहां अर्थ, वाच्य विशेष, अथवा वाचक विशेष शब्द, उस [प्रतीयमान] अर्थ को अभिव्यक्त करते हैं उस काव्य विशेष को ध्वनि काव्य कहते हैं । इससे वाच्य वाचक के चारुत्वहेतु उपमादि और अनुप्रासादि से अलग ही ध्वनि का विषय है यह दिखाया ।

विषय शब्द 'षिञ् बन्धने' धातु से बना है । उसका अर्थ 'विशेषेण सिनोति बध्नाति स्वसंबन्धिनं पदार्थमिति विषयः' इस व्युत्पत्ति से ध्वनि को वाच्य वाचक चारुत्व हेतुओं से पृथक् अनुबद्ध कर दिया है ।

और जो यह कहा था कि प्रसिद्ध [शब्दार्थशरीरं काव्यं वाले] मार्ग से भिन्न मार्ग में काव्यत्व ही नहीं रहेगा इसलिए ध्वनि नहीं है वह ठीक नहीं है क्योंकि वह केवल [उन] लक्षणकारों को प्रसिद्ध [ज्ञात] नहीं है, परन्तु लक्ष्य

रेष्वन्तर्भावः", इति, तदप्यसमीचीनम् । वाच्यवाचकमात्राश्रयिणि प्रस्थाने व्यङ्ग्यव्यञ्जकसमाश्रयेण व्यवस्थितस्य ध्वनेः कथमन्तर्भावः। वाच्यवाचकचारुत्वहेतवो हि तस्याङ्गभूताः, स त्वङ्गिरूप[1] एवेति प्रतिपादयिष्यमाणत्वात् । परिकरश्लोकश्चात्र :—

व्यङ्ग्यव्यञ्जकसंबन्धनिबन्धनतया ध्वनेः ।
वाच्यवाचकचारुत्वहेत्वन्तः पातिता कुतः ॥

ननु यत्र प्रतीयमानार्थस्य वैशद्येनाप्रतीतिः स नाम मा भूद् ध्वनेर्विषयः । यत्र तु प्रतीतिरस्ति, यथा समासोक्त्याक्षेपानुक्तनिमित्त-

---

[रामायण, महाभारत प्रभृति] की परीक्षा करने पर तो सहृदयों के हृदयों को आह्लादित करने वाला काव्य का सारभूत वही [ध्वनि] है । उससे भिन्न [काव्य] चित्र [काव्य] ही है यह हम आगे दिखलावेंगे ।

और जो यह कहा था कि यदि वह रमणीकता का अतिक्रमण नहीं करता है तो उक्त [गुण, अलंकारादि] चारुत्व हेतुओं में ही उस [ध्वनि] का अन्तर्भाव हो जाता है । वह भी ठीक नहीं है । क्योंकि केवल वाच्य-वाचक भाव पर आश्रित मार्ग के अन्दर व्यङ्ग्य-व्यञ्जक भाव पर आश्रित ध्वनि का अन्तर्भाव कैसे हो सकता है । वाच्य-वाचक [अर्थ और शब्द] के चारुत्व हेतु [उपमादि तथा अनुप्रासादि अलंकार] तो उस ध्वनि के अङ्ग रूप हैं और वह [ध्वनि] तो अङ्गी [प्रधान] रूप है यह आगे प्रतिपादन करेंगे ।

इस सम्बन्ध में एक परिकर श्लोक भी है।

कारिका में अनुक्त परन्तु अपेक्षित अर्थ को कहने वाला श्लोक परिकर श्लोक कहलाता है । 'कारिकार्थस्य अधिकावापं कर्तुं श्लोकः परिकरश्लोकः । कारिकायामनुक्तस्यापेक्षितस्यार्थस्य आवापः प्रक्षेपः तं कर्तुं श्लोकः परिकरः ।'

ध्वनि के व्यङ्ग्य-व्यञ्जक भाव सम्बन्ध मूलक होने से वाच्य-वाचक चारुत्व हेतुओं [अलङ्कारादि] में अन्तर्भाव कैसे हो सकता है ।

यदि कोई यह कहे कि [ननु] जहां प्रतीयमान अर्थ की स्पष्ट रूप से प्रतीति नहीं होती वह ध्वनि [के अन्तर्भाव का] का विषय न माना जाय तो न

---

१. 'स त्वङ्गिरूप' के स्थान पर नि० सं० में 'न तु तदेकरूपा,' पाठ है । दी० में भी ।

विशेषोक्तिपर्यायोक्तापह्नुतिदीपकसङ्करालङ्कारादौ, तत्र ध्वनेरन्तर्भावो भविष्यति, इत्यादि निराकर्तुमभिहितम्, "उपसर्जनीकृतस्वार्थौ" इति । अर्थो गुणीकृतात्मा, गुणीकृताभिधेयः[1] शब्दो वा यत्रार्थान्तरमभिव्यनक्ति स ध्वनिरिति । तेषु कथं तस्यान्तर्भावः । व्यङ्ग्यप्राधान्ये हि ध्वनिः । न चैतत् समासोक्त्यादिष्वस्ति । समासोक्तौ तावत् :—

उपोढ़रागेण विलोलतारकं तथा गृहीतं शशिना निशामुखम् ।
यथा समस्तं तिमिरांशुकं तया, पुरोऽपि रागाद् गलितं न लक्षितम् ॥

सही, परन्तु जहां [उसकी] प्रतीति होती है, जैसे समासोक्ति, आक्षेप, अनुक्त-निमित्त विशेषोक्ति, पर्यायोक्त, अपह्नुति, दीपक, तथा सङ्कर आदि अलङ्कारों में, वहां ध्वनि का अन्तर्भाव हो जायेगा । इस मत के निराकरण के लिए पिछली कारिका में कहा है, "उपसर्जनीकृतस्वार्थौ" । जहां अर्थ अपने को अथवा शब्द अपने अर्थ को गुणीभूत करके अर्थान्तर [प्रतीयमान] को अभिव्यक्त करते हैं उसको ध्वनि कहते हैं । उन [समासोक्ति आदि अलङ्कारों] में उस [ध्वनि] का अन्तर्भाव कैसे होगा । व्यङ्ग्यार्थ की प्रधानता में ध्वनि [काव्य] होता है । और समासोक्ति आदि में यह [व्यङ्ग्य का प्राधान्य] नहीं है । समासोक्ति में तो :—

सन्ध्याकालीन आरुण्य को धारण किए हुए [दूसरे पक्ष में प्रेमोन्मत्त] शशी [अर्थात् चन्द्र, पक्षान्तर में पुंलिङ्ग शशी पद से व्यङ्ग्य नायक] ने, निशा [रात्रि, पक्षान्तर में स्त्रीलिङ्ग निशा शब्द से नायिका] के चंचल तारों से युक्त [तारक नक्षत्र, पक्षान्तर में नायिका के चंचल कनीनिका वाले] मुख [प्रारम्भिक अग्रभाग प्रदोषकाल, अन्यत्र आनन] को [चुम्बन करने के लिए] इस प्रकार ग्रहण किया कि राग [सन्ध्याकालीन अरुण प्रकाश, पक्षान्तर में नायक के स्पर्श से समुद्भूत अनुरागातिशय] के कारण सारा तिमिर रूप वस्त्र गिर जाने पर भी उसे [निशा तथा नायिका को] दिखाई नहीं दिया ।

यह समासोक्ति अलङ्कार का उदाहरण है । भामह ने समासोक्ति का लक्षण निम्न प्रकार किया है,

यत्रोक्तौ गम्यतेऽन्योऽर्थ स्तत्समानैर्विशेषणैः ।
सा समासोक्तिरुदिता संक्षिप्तार्थतया बुधैः ॥ भामह २,७९

जिस उक्ति में, समान विशेषणों के कारण प्रस्तुत से अन्य अर्थ की प्रतीति हो उस उक्ति को [संक्षेप में] संक्षिप्तार्थ होने से [एक साथ प्रकृत अप्रकृत दोनों का

---

१. इव नि०, दी० ।

इत्यादौ व्यङ्ग्यं नानुगतं वाच्यमेव प्राधान्येन प्रतीयते । समारोपितनायिकानायकव्यवहारयोर्निशाशशिनोरेव वाक्यार्थत्वात् ।

वर्णन करने से] समासोक्ति कहते हैं। ऊपर के उदाहरण में सन्ध्याकाल में चन्द्रोदय का वर्णन कवि कर रहा है। उसमें निशा और शशी का वर्णन प्रकृत है। निशा और शशी के समान लिंग और समान विशेषणों के कारण नायक-नायिका की प्रतीति होती है और उनके व्यवहार का समारोप निशा और शशी पर होने से यह समासोक्ति अलङ्कार माना जाता है। पूर्वपक्ष यह है कि यहां नायक-नायिका व्यवहार व्यङ्ग्य है वाच्य नहीं। अर्थात् इस श्लोक में समासोक्ति के साथ ध्वनि भी है। इसलिए ध्वनि का अन्तर्भाव समासोक्ति अलङ्कार में माना जा सकता है। इसके उत्तर में ग्रन्थकार लिखते हैं।

यहां समारोपित नायक नायिका व्यवहार से युक्त शशी और निशा के ही वाक्यार्थ होने से व्यङ्ग्य से अनुगत वाच्य ही प्रधानतया प्रतीत होता है। [अर्थात् व्यङ्ग्य का प्राधान्य न होने से यहां ध्वनि नहीं है अतः ध्वनि का समासोक्ति में अन्तर्भाव नहीं हो सकता है]

ध्वनि का अलङ्कार में अन्तर्भाव करने के लिए पूर्वपक्ष की ओर से दूसरा उदाहरण आक्षेप अलङ्कार का प्रस्तुत किया गया है। आक्षेप अलङ्कार का लक्षण भामह ने निम्न प्रकार किया है:—

प्रतिषेध इवेष्टस्य यो विशेषाभिधित्सया।
वक्ष्यमाणोक्तविषयः स आक्षेपो द्विधा मतः ॥ भामह २,६८

जहां विशेषता बोधन करने के अभिप्राय से, कहना चाहते हुए भी बात का निषेध किया जाता है वहां आक्षेप अलंकार होता है। वह निषेध कहीं वक्ष्यमाण अर्थात् आगे कही जाने वाली बात का पूर्व ही निषेध और कहीं उक्त अर्थात् पूर्व कही हुई बात का पीछे निषेध करने से वक्ष्यमाणविषयक और उक्तविषयक आक्षेप अलङ्कार दो प्रकार का होता है। वक्ष्यमाणविषयक का उदाहरण भामह ने यह दिया है:—

अहं त्वां यदि नेक्षेय क्षणमप्युत्सुका ततः।
इयदेवास्त्वतोऽन्येन किमुक्तेनाप्रियेण ते ॥ भामह २, ६६ ॥

मैं यदि तुमको तनिक देर भी न देखूं तो उत्कंठातिरेक से ... इतना ही रहने दो आगे तुम्हारी अप्रिय बात कहने से क्या लाभ। यहां आगे मर जाऊंगी यह वक्ष्यमाण अर्थ है उसका पूर्व ही निषेध कर दिया है आगे तुम्हारे अप्रिय

बात कहने से क्या लाभ । इस प्रकार यहां 'म्रिये' मर जाऊंगी यह व्यङ्ग्य है । इसलिए यहां आक्षेप अलङ्कार में व्यङ्ग्य होने से ध्वनि का अन्तर्भाव आक्षेप अलङ्कार में किया जा सकता है । यह पूर्व पक्ष है । उत्तर लगभग उसी आशय का होगा जो समासोक्ति में दिया जा चुका है । अर्थात् ध्वनि वहीं होता है जहां व्यङ्ग्य का प्राधान्य हो । यहां व्यङ्ग्य है तो परन्तु वह प्रधान नहीं । उस व्यङ्ग्य से वाच्यार्थ ही अलंकृत होता है इसलिए यहां ध्वनि है ही नहीं । तब आक्षेप में उसके अन्तर्भाव का प्रश्न ही नहीं उठ सकता है ।

यह भामह के अनुसार आक्षेप अलङ्कार का विवेचन किया । परन्तु वामन ने आक्षेप का लक्षण, 'उपमानाक्षेपः । वामन सू० ४, ३, २७' किया है । इसका अभिप्राय यह है कि जहां उपमान का आक्षेप अर्थात् निष्फलत्वाभिधान किया जाय उसे आक्षेप अलङ्कार कहते हैं । नवीन आचार्य लोग इस स्थिति में प्रतीप अलङ्कार मानते हैं । और आक्षेप का लक्षण भामह के लक्षण के समान ही करते हैं । साहित्यदर्पणकार ने प्रतीप का लक्षण 'प्रसिद्धस्योपमानस्योपमेयत्व-प्रकल्पनम् । निष्फलत्वाभिधानं वा प्रतीपमिति कथ्यते ॥ सा० द० १०, ८७' किया है । और उसका उदाहरण :—

तद् वक्त्रं यदि मुद्रिता शशिकथा, हा हेम सा चेद् द्युतिः,
स्तच्चक्षुर्यदि हारितं कुवलयैस्तच्चेत् स्मितं का सुधा ।
धिक् कन्दर्पधनुर्भ्रुवौ यदि च ते, किं वा बहु ब्रूमहे,
यत्सत्यं पुनरुक्तवस्तुविमुखः सर्गक्रमो वेधसः ॥ सा० द० १०, ८७ ।

दिया है । वामन के 'उपमानाक्षेपः' सूत्र की व्याख्या करते हुए लोचनकार ने उपमानस्य चन्द्रादेराक्षेपः, अस्मिन् सति किं त्वया कृत्यमिति' लिखा है और उसका उदाहरण दिया है । यह लक्षण और उदाहरण दोनों साहित्यदर्पण के प्रतीप अलङ्कार से मिलते हैं । लोचनकार ने वामन के लक्षणानुसार आक्षेप का निम्न उदाहरण दिया है :—

तस्यास्तन्मुखमस्ति सौम्यसुभगं, किं पार्वणेनेन्दुना,
सौन्दर्यस्य पदं दृशौ यदि च, तैः किं नाम नीलोत्पलैः ।
किं वा कोमलकान्तिभिः किसलयैः, सत्येव तत्राधरे,
हा धातुः पुनरुक्तवस्तुरचनारम्भेष्वपूर्वो ग्रहः ॥

यहां पूर्णिमाचन्द्र के साथ मुख का सादृश्य आदि रूप उपमा व्यङ्ग्य है, परन्तु वह प्रधान नहीं । अपितु वाच्य को ही अलङ्कृत करती है । 'किं पार्वणेनेन्दुना' से चन्द्रमा का निष्फलत्वाभिधान रूप अपमानात्मक वाच्य ही अधिक

आक्षेपेऽपि व्यङ्ग्यविशेषाक्षेपिणोऽपि[1] वाच्यस्यैव चारुत्वं, प्राधान्येन वाक्यार्थ आक्षेपोक्तिसामर्थ्यादेव ज्ञायते। तथाहि[2] तत्र शब्दोपारूढो[3] विशेषाभिधानेच्छया प्रतिषेधरूपो य आक्षेपः स एव व्यङ्ग्यविशेषमाक्षिपन् मुख्यं काव्यशरीरम्। चारुत्वोत्कर्षनिबन्धना हि वाच्यव्यङ्ग्ययोः प्राधान्यविवक्षा। यथा:—

चमत्कारी है। अतएव यहां व्यङ्ग्य प्राधान्य रूप ध्वनि का अस्तित्व न होने से उसके आक्षेपालङ्कार में अन्तर्भाव का प्रश्न ही नहीं उठता।

इन सब उदाहरणों में यह ध्यान रखना चाहिए कि व्यङ्ग्य और ध्वनि शब्द समानार्थक नहीं हैं। सभी प्रतीयमान अर्थ व्यङ्ग्य हैं परन्तु ध्वनि काव्य वही माना जाता है जहां व्यङ्ग्य का प्राधान्य होता है।

कुछ लोगों ने वामन के 'उपमानाक्षेपः वा० सू० ४, ३, २७' की व्याख्या में 'उपमानस्य आक्षेपः सामर्थ्यादाकर्षणम्' किया है। अर्थात् जहां उपमान का सामर्थ्य से आकर्षण किया जाय, वह शब्दतः उपात्त न हो उसे आक्षेप अलङ्कार कहते हैं। इस व्याख्या के अनुसार आक्षेपालङ्कार का निम्न उदाहरण दिया है:—

ऐन्द्रं धनुः पांडुपयोधरेण, शरद् दधानार्द्रनखक्षताभम्।
प्रसादयन्ती सकलङ्कमिन्दुं, तापं रवेरभ्यधिकं चकार॥

पांडु वर्ण के पयोधर-मेघ–[पक्षान्तर में स्तन] पर आर्द्र गीले-सद्यः समुत्पादित-नखक्षत के समान इन्द्रधनुष को धारण करने वाली और कलंक [चिह्न] सहित [पक्षान्तर में नायिकोपभोगजन्य कलंक से युक्त] चन्द्र को प्रसन्न अर्थात् उज्ज्वल और पक्षान्तर में हर्षित करती हुई शरद् ऋतु [रूप नायिका] ने रवि [रूप नायक] के सन्ताप को और बढ़ा दिया।

यहां भी ईर्ष्याकलुषित नायकान्तर रूप उपमान आक्षिप्त होता है परन्तु वह वाच्यार्थ को ही अलंकृत करता है। वामन के मत से यह आक्षेप का उदाहरण दिया गया है परन्तु भामह आदि के मत से तो यह समासोक्ति अलङ्कार का ही उदाहरण है।

[इस प्रकार] आक्षेपालङ्कार में भी व्यङ्ग्य विशेष का आक्षेप कराने वाले होने पर भी वाच्य का ही चारुत्व है। क्योंकि आक्षेप वचन के सामर्थ्य से ही प्रधानतः वाक्यार्थ प्रतीत होता है। क्योंकि वहां विशेष के बोधन की इच्छा

---

१. दी० में अपि नहीं है। २. दी०, नि० तथाहि इतना पाठ नहीं है। ३. शब्दोपारूढ़रूपो नि०।

अनुरागवती सन्ध्या दिवसस्तत्पुरःसरः ।
अहो दैवगतिः कीदृक् तथापि न समागमः ॥

अत्र सत्यामपि व्यङ्ग्यप्रतीतौ वाच्यस्यैव चारुत्वमुत्कर्षवदिति तस्यैव प्राधान्यविवक्षा ।

से शब्दोपात्त प्रतिषेध रूप जो आक्षेप है, वही व्यङ्ग्य विशेष का आक्षेप कराता हुआ मुख्य काव्य शरीर है । चारुत्व के उत्कर्ष मूलक ही वाच्य और व्यङ्ग्य का प्राधान्य विवक्षित होता है । जैसे—

सन्ध्या [नामक या रूपिणी नायिका] अनुराग [अर्थात् सन्ध्याकालीन लालिमा पक्षान्तर में प्रेम] से युक्त है और दिवस [नामक या रूप नायक] उसके सामने [स्थित ही नहीं 'पुरः सरति गच्छति इति पुरःसरः' ।] बढ़ रहा है [सामने आ रहा है] ओह दैव की गति कैसी [विलक्षण] है कि फिर भी [उनका] समागम नहीं हो पाता ।

यहां [नायक नायिका व्यवहार रूप] व्यङ्ग्य की प्रतीति होने पर भी वाच्य का ही चारुत्व अधिक होने से उसकी ही प्रधानता विवक्षित है ।

यहां वामन के मत से आक्षेपालङ्कार और भामह के मत से समासोक्ति अलङ्कार है इस बात को ध्यान में रख कर समासोक्ति और आक्षेप का सम्मिलित यह उदाहरण ग्रन्थकार ने दिया है । वास्तव में यहां समासोक्ति है या आक्षेप यह विचारणीय प्रश्न नहीं है । यहां चाहे समासोक्ति हो या आक्षेप उससे कुछ हानि लाभ नहीं है । प्रकृत बात तो इतनी ही है कि अलङ्कार स्थल में व्यङ्ग्य सर्वथा वाच्य में गुणीभूत हो जाता है इसलिए व्यङ्ग्य का प्राधान्य न होने से उसे ध्वनि काव्य नहीं कह सकते हैं इसलिए ध्वनि के अलङ्कारों में अन्तर्भूत होने का प्रश्न ही नहीं उठता ।

दीपक का लक्षण काव्यप्रकाशकार ने 'सकृद्वृत्तिस्तु धर्मस्य प्रकृताप्रकृतात्मनाम् । सैव क्रियासु बह्वीषु कारकस्येति दीपकम् ।।' किया है, जिसका अभिप्राय यह है कि प्रकृत और अप्रकृत अनेक पदार्थों में एक धर्म का संबन्ध वर्णन करना अथवा अनेक क्रियाओं में एक ही कारक का संबन्ध वर्णन करना दीपकालङ्कार है । लोचनकार ने भामह के अनुसार 'आदिमध्यान्तविषयं त्रिधा दीपकमिष्यते । भामह, २, २५' दीपक के तीन भेद किए हैं, और उसका निम्न उदाहरण दिया है :—

मणिः शाणोल्लीढः, समरविजयी हेतिदलितः,
कलाशेषश्चन्द्रः, सुरतमृदिता बालललना ।

यथा च दीपकापह्नुत्यादौ व्यङ्ग्यत्वेनोपमायाः प्रतीतावपि प्राधान्येनाविवक्षितत्वान्न तया व्यपदेशस्तद्वदत्रापि द्रष्टव्यम् ।

मदक्षीणो नागः, शरदि सरिदाश्यानपुलिना,
तनिम्ना शोभन्ते गलितविभवाश्चार्थिषु जनाः ॥

यहां याचकों को दान देकर क्षीणविभव पुरुष प्रकृत हैं और शाणोल्लीढ़ मणि, शस्त्रों से दलित युद्धविजयी वीर, कलावशिष्ट चन्द्रमा, सुरतमृदित ललना, मदक्षीण हाथी, शरत्काल में क्षीणकाय नदी ये सब अप्रकृत हैं। उन सबके साथ 'तनिम्ना शोभन्ते' 'कृशता से शोभित होते हैं' इस एक धर्म का सम्बन्ध वर्णित होने से यह दीपकालङ्कार का उदाहरण हुआ। इस दीपकालङ्कार में वर्णित प्रकृत और अप्रकृत में परस्पर उपमेयोपमान भाव व्यङ्ग्य होता है। इस प्रकार उपमा व्यङ्ग्य होने पर भी दीपनकृत ही चारुत्व के कारण दीपकालङ्कार ही प्रधान होता है। इसलिए वहां उपमालङ्कार न कहला कर, प्राधान्य के कारण दीपकालङ्कार ही कहलाता है।

इसी प्रकार अपह्नुति अलङ्कार का लक्षण भामह के अनुसार निम्न प्रकार है—'अपह्नुतिरभीष्टस्य किंचिदन्तर्गतोपमा'। भामह ३,२१। और उसका उदाहरण हैः—

नेयं विरौति भृंगाली मदेन मुखरा मुहुः।
अयमाकृष्यमाणस्य कन्दर्पधनुषो ध्वनिः ॥ भामह ३,२२।

यह मद के कारण वाचाल भ्रमर पंक्ति नहीं गूंज रही है अपितु यह चढ़ाए जाते हुए कामदेव के धनुष की ध्वनि है।

यहां भी भृंगगुंजन और मदनचापध्वनि में उपमेयोपमान भाव व्यङ्ग्य होने से उपमालङ्कार व्यङ्ग्य है। परन्तु प्राधान्य, उपमा का नहीं, अपितु अपह्नव ही का है इसलिए इसको उपमालङ्कार नहीं अपितु अपह्नुति अलङ्कार ही कहते हैं। यही बात मूल ग्रन्थ में कहते हैं।

और जैसे दीपक तथा अपह्नुति इत्यादि में व्यङ्ग्य रूप से उपमा की प्रतीति होने पर भी प्राधान्य विवक्षित न होने से उपमा नाम से व्यवहार नहीं होता इसी प्रकार यहां भी समझना चाहिए।

अर्थात् समासोक्ति आक्षेपादि अलङ्कारों में व्यङ्ग्य की प्रतीति होने पर भी उसका प्राधान्य विवक्षित न होने से वहां ध्वनि व्यवहार नहीं होता।

साहित्यदर्पणकार ने विशेषोक्ति का लक्षण किया है, 'सति हेतौ फलाभावे विशेषोक्तिः।' सा० द० १०, ६७ । काव्यप्रकाशकार ने इसी बात को यों कहा है—'विशेषोक्तिरखण्डेषु कारणेषु फलावचः। का० प्र० १०, १०८। अर्थात् कारणसामग्री होने पर भी कार्य न होना विशेषोक्ति कहलाता है। भामह ने उसका लक्षण, 'एकदेशस्य विगमे या गुणान्तरसंस्तुतिः। विशेषप्रथनायासौ विशेषोक्तिरिति स्मृता ॥ भामह ३, २२।' किया है। यह विशेषोक्ति तीन प्रकार की होती है। उक्तनिमित्ता, अनुक्तनिमित्ता और अचिन्त्यनिमित्ता। इन तीनों भेदों में से अचिन्त्यनिमित्ता और उक्तनिमित्ता भेदों में तो व्यङ्ग्य की सत्ता ही नहीं होती है। जैसे अचिन्त्यनिमित्ता का उदाहरण है :—

एकस्त्रीणि जयति जगन्ति कुसुमायुधः।
हरतापि तनुं यस्य शम्भुना न हृतं बलम् ॥

शिव जी ने जिसके शरीर को हरण—भस्म— करके भी बल को हरण नहीं किया वह कामदेव अकेला ही तीनों लोकों को जीत लेता है। इस अचिन्त्यनिमित्ता विशेषोक्ति में तो व्यङ्ग्य है ही नहीं। इसी प्रकार उक्तनिमित्ता का उदाहरण है :—

कर्पूर इव दग्धोऽपि शक्तिमान् यो जने जने।
नमोऽस्त्ववार्यवीर्याय तस्मै मकरकेतवे ॥

इस उक्तनिमित्ता विशेषोक्ति में भी व्यङ्ग्य के सद्भाव की शङ्का नहीं है। इस लिए ग्रन्थकार ने विशेषोक्ति के इन दोनों भेदों को छोड़ कर केवल अनुक्तनिमित्ता विशेषोक्ति का उल्लेख किया है और उसका उदाहरण दिया है। 'आहूतो०' साथियों द्वारा बुलाये जाने पर भी, हां कह कर जाग जाने पर भी और जाने की इच्छा रहने पर भी पथिक संकोच को नहीं छोड़ रहा है। यहां संकोच न छोड़ने का निमित्त उक्त न होने से अनुक्तनिमित्ता है। निमित्त के अनुक्त होने पर भी वह अचिन्त्य नहीं है, उसकी कल्पना की जा सकती है। भट्टोद्भट ने शीत के आधिक्य को उसका निमित्त माना है और अन्य रसिक व्याख्याता यह कल्पना करते हैं कि पथिक, गमन की अपेक्षा भी स्वप्न को प्रियासमागम का सुकर उपाय समझ कर स्वप्न-लोभ से संकोच नहीं छोड़ रहा है, सिमटे-सिमटाए खाट पर पड़ा ही हुआ है। इन दोनों में से चाहे कोई भी निमित्त कल्पना करो परन्तु वह निमित्त चारुत्व हेतु नहीं है अपितु अभिव्यज्यमान निमित्त से उपस्कृत विशेषोक्तिभाग के ही चमत्कारजनक होने से यहां भी ध्वनि का अन्तर्भाव अलङ्कार के अन्तर्गत मानने

अनुक्तनिमित्तायामपि विशेषोक्तौ:—

आहूतोऽपि सहायै:, [1]ओमित्युक्त्वा विमुक्तनिद्रोऽपि ।
गन्तुमना अपि पथिकः सङ्कोचं नैव शिथिलयति ॥

इत्यादौ व्यङ्ग्यस्य प्रकरणसामर्थ्यात् प्रतीतिमात्रम् । न तु तत्-प्रतीतिनिमित्ता काचिच्चारुत्वनिष्पत्तिरिति न प्राधान्यम् ।

का अवसर नहीं है। इस प्रकार भट्टोद्भट और अन्य रसिक जन दोनों के अभि-प्राय को मन में रख कर ही ग्रन्थकार ने इस पर वृत्ति लिखी है।

अनुक्तनिमित्ता विशेषोक्ति में भी—

साथियों द्वारा पुकारे जाने पर भी, हां कह कर जाग जाने पर भी, और जाने को इच्छा होने पर भी पथिक संकोच को नहीं छोड़ रहा है।

इत्यादि [उदाहरण] में प्रकरणवश व्यङ्ग्य की प्रतीति मात्र होती है। किन्तु उस प्रतीति के कारण कोई सौन्दर्य उत्पन्न नहीं होता, इसी लिए उसका प्राधान्य नहीं है।

पर्यायोक्त का लक्षण भामह ने इस प्रकार किया है:—

पर्यायोक्तं यदन्येन प्रकारेणाभिधीयते ।
वाच्य-वाचक-वृत्तिभ्यां शून्येनावगमात्मना ॥भामह ३, ८

काव्यप्रकाशकार और साहित्यदर्पणकार आदि ने भी पर्यायोक्त के इसी प्रकार के लक्षण किए हैं।

पर्यायोक्तं यदा भङ्ग्या गम्यमेवाभिधीयते। सा०द० १०, ६०
पर्यायोक्तं विना वाच्यावाचकत्वेन यद् वचः। का०प्र० १०, ११५।

'पर्यायेण प्रकारान्तरेण, अवगमात्मना व्यङ्ग्येन उपलक्षितं सद्, यदभि-धीयते तदभिधीयमानं उक्तं सत् पर्यायोक्तम्।' यह पर्यायोक्त शब्द का अर्थ है। इसका अभिप्राय हुआ कि जहां प्रकारान्तर अर्थात् व्यङ्ग्य रूप से अवगत अर्थ को ही अभिधा से कहा जाय वहां पर्यायोक्त अलंकार होता है। जैसे:—

शत्रुच्छेददृढस्य मुनेरुत्पथगामिनः ।
रामस्यानेन धनुषा देशिता धर्मदेशना ॥

मुनि के लिए शत्रु भाव रखना ही अनुचित है। फिर उस शत्रु के उच्छेद

---

१ एमी नि०

या विनाश की बात सोचना और भी अनुचित है । उसकी भी द्रढिमा-आग्रह-अत्यन्त अनुचित है । इसलिए शत्रु के विनाश के लिए कृतसंकल्प अतएव उन्मार्गगामी परशुराम-भार्गव-मुनि को भीष्म के इस धनुष ने अपने धर्म पालन की शिक्षा दे दी । यहां भीष्म की शक्ति भार्गव परशुराम की शक्ति से अधिक है । भीष्म ने परशुराम को पराजित कर दिया यह व्यङ्ग्य अर्थ है उसी को 'देशिता धर्म देशना' के शब्दों से अभिधया बोधन किया गया है इसलिए यह पर्यायोक्त अलङ्कार का उदाहरण है । यहां व्यङ्ग्य अर्थ की प्रतीति तो अवश्य होती है । परन्तु वह प्रधान नहीं है । अपितु वाच्य को ही अलंकृत करती है । अतएव यहां ध्वनि का अवसर नहीं है ।

भामह ने पर्यायोक्त का उदाहरण निम्न दिया है:—

गृहेष्वध्वसु वा नान्नं भुंज्महे यदधीतिनः !
विप्रा न भुंजते तच्च रसदाननिवृत्तये ॥ भामह ३, ६ ।

यह कृष्ण की शिशुपाल के प्रति उक्ति है । उसका भाव यह है कि 'अधीती-ब्राह्मण लोग जिस अन्न को नहीं खाते उसे हम न घर पर खाते हैं और न मार्ग में अर्थात् यात्रा में ।' अर्थात् विद्वान् ब्राह्मणों को खिलाने के बाद ही भोजन करते हैं । यहां विष दान निवृत्ति व्यङ्ग्य है । जैसा कि उन्होंने स्वयं कहा है । 'तच्च रसदाननिवृत्तये ।' रस शब्द का अर्थ यहां विष है । 'शृंगारादौ विषे वीर्ये गुणे रागे द्रवे रसः इति कोषः ।' भामह प्रदत्त इस उदाहरण में रसदान निवृत्ति व्यङ्ग्य है परन्तु उस से कोई चारुत्व नहीं आता इसलिए उसका प्राधान्य नहीं है अपितु विप्रों को भोजन कराए बिना भोजन न करना यह जो वाच्यार्थ है वही पर्याय अर्थात् प्रकारान्तर से उक्त होकर भोजनार्थ को अलंकृत करने से पर्यायोक्त अलङ्कार का उदाहरण बनता है ।

भामह ने जो उदाहरण दिया है उसमें व्यङ्ग्य की प्रधानता न होने से ध्वनि का अवसर नहीं है परन्तु पर्यायोक्त अलङ्कार के इस प्रकार के उदाहरण मिल सकते हैं जहां व्यङ्ग्य का प्राधान्य हो । उस दशा में उसे हम ध्वनि काव्य के दूसरे भेद अलंकार ध्वनि का उदाहरण मानेंगे परन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि ध्वनि का अलङ्कार में अन्तर्भाव हो गया अपितु वस्तुतः अलङ्कार का ध्वनि में अन्तर्भाव कहा जा सकता है । क्योंकि ध्वनि तो महाविषय-व्यापक-है इस प्रकार के पर्यायोक्त के व्यङ्ग्य प्रधान उदाहरणों को छोड़ कर अन्यत्र भी ध्वनि रहता है इसलिएमहाविषय-व्यापक-होने से ध्वनि का अन्तर्भाव अलङ्कार में नहीं माना जा सकता । व्यङ्ग्य-

पर्यायोक्तेऽपि यदि प्राधान्येन व्यङ्ग्यत्वं तद् भवतु नाम तस्य ध्वनावन्तर्भावः । न तु ध्वनेस्तत्रान्तर्भावः । तस्य महाविषयत्वेन, अङ्गित्वेन च प्रतिपादयिष्यमाणत्वात् । न पुनः पर्यायोक्ते भामहोदाहृत-सदृशे व्यङ्ग्यस्यैव प्राधान्यम् । वाच्यस्य तत्रोपसर्जनीभावेनाविवक्षि-तत्वात् ।

अपन्हुतिदीपकयोः पुनर्वाच्यस्य प्राधान्यं व्यङ्ग्यस्य चानुयायित्वं प्रसिद्धमेव ।

प्रधान पर्यायोक्त का उदाहरण 'भ्रम धार्मिक' इत्यादि पूर्वोदाहृत श्लोक हो सकता है। मूल ग्रन्थ की पंक्तियों का अनुवाद इस प्रकार है ।

पर्यायोक्त अलङ्कार [के 'भ्रम धार्मिक' सदृश व्यङ्ग्यप्रधान उदाहरणों] में भी यदि व्यङ्ग्य की प्रधानता हो तो उस [अलङ्कार] का ध्वनि [अलङ्कार ध्वनि] में अन्तर्भाव किया जा सकता है, न कि ध्वनि का उस [अलङ्कार] में। क्योंकि ध्वनि तो महाविषय और अङ्गी अर्थात् प्रधान रूप से प्रतिपादित किया जायगा। परन्तु भामह द्वारा उदाहृत जैसे [पर्यायोक्त के] उदाहरण में तो व्यङ्ग्य का प्राधान्य ही नहीं है। क्योंकि वहां वाच्य का गौणत्व विवक्षित नहीं है।

अपह्नुति तथा दीपक में वाच्य का प्राधान्य और व्यङ्ग्य का वाच्यानु-गामित्व प्रसिद्ध ही है।

अपह्नुति और दीपक के विषय में ग्रन्थकार इसके पूर्व भी लिख चुके हैं । यहां दुबारा उनका उल्लेख इस लिए किया कि यहां तो उनका वर्णन उद्देश्य क्रम से प्राप्त है। अर्थात् पीछे "यत्र तु प्रतीतिरस्ति, यथा समासोक्ति, आक्षेप, अनुक्त निमित्त विशेषोक्ति, पर्यायोक्ति, अपह्नुति, दीपक, सङ्करालङ्कारादौ" इस पंक्ति में पर्यायोक्त के बाद अपन्हुति और दीपक का नामोल्लेख किया था। अतएव पर्यायोक्त के बाद उनका वर्णन क्रम-प्राप्त होने से यहां उनका उल्लेख करना आवश्यक था। इसके पूर्व जो उनका उल्लेख हुआ है वह तो केवल दृष्टान्त रूप में किया गया है कि, दीपकादि में उपमा की प्रतीति होने पर भी अप्रधान होने के कारण उपमा का व्यवहार वहां नहीं होता । यहां उद्देश-क्रम-प्राप्त होने से उनका दुबारा उल्लेख किया गया।

आगे सङ्करालङ्कार का वर्णन किया है । सङ्करालङ्कार के नवीन लोगों ने तीन भेद माने हैं अङ्गाङ्गिभाव सङ्कर, एकाश्रयानुप्रवेश सङ्कर और सन्देह सङ्कर। भामह आदि ने एकाश्रयानुप्रवेश को दो भागों में विभक्त कर दिया है। ए

वाक्यानुवर्तन और एक-वाक्यांशसमावेश रूप। इस प्रकार भट्टोद्भट के अनुसार सङ्कर के चार भेद हो गए। इन के लक्षण भामह ने और उनके उदाहरण भामह विवरण कार भट्टोद्भट ने निम्न प्रकार दिए है । सन्देह सङ्कर का लक्षण और उदाहरण यह है:—

विरुद्धालंक्रियोल्लेखे समं तद्वृत्त्यसंभवे।
एकस्य च ग्रहे न्यायदोषाभावे च सङ्करः ॥

विरुद्ध अलङ्कारों का वर्णन होने पर, उनकी एक साथ स्थिति असंभव होने और किसी एक के मानने में युक्ति या दोष न होने पर सन्देह सङ्कर अलङ्कार होता है। इसका उदाहरण लोचनकार ने अपना निम्न श्लोक दिया है:—

शशिवदनाऽसितसरसिजनयना सितकुसुमदशनपंक्तिरियम्।
गगनजलस्थलसंभवहृद्याकारा कृता विधिना ॥

चन्द्रमुखी, कृष्णकमलनयनी और शुभ्रकुसुमदन्ती इस सुन्दरी को विधाता ने गगन, जल और स्थल से उत्पन्न मनोहर आकार वाली बनाया है। इस में 'मयूर व्यंसकादयश्च अ० २, १, ७२ इस सूत्र से 'शशी एव वदनं यस्या सा शशिवदना' ऐसा समास मानने से रूपक, और 'उपमितं व्याघ्रादिभिः सामान्याप्रयोगे अ० २, १, ५६' इस सूत्र से शशिवद् वदनं यस्याः' यह समास मानने से उपमा होती है। श्लोक में 'शशिवदना' आदि तीन विशेषण दिए हैं वे तीनों क्रमशः गगन, जल, स्थल से संबद्ध होने से 'शशिवदना' पद गगनसंभवता, 'असितसरसिजनयना' पद जलसंभवत्व और 'सितकुसुमदशनपंक्ति' पद स्थलसंभवत्व को बोधन करते हैं। इस प्रकार मानो विधाता ने उस नायिका को गगन, जल और स्थल तीनों से बनाया है। यह श्लोक का भाव है। इसमें उपमा और रूपक में से क्या माना जाय उसका कोई निर्णायक विनिगमक हेतु न होने से यहां तन्मूलक सन्देह सङ्कर अलङ्कार है। इसलिए यहां कौन वाच्य है और कौन व्यङ्ग्य है इसका ही जब निर्णय नहीं है तब उसकी प्राधानता या गौणता के निर्णय का प्रश्न ही नहीं उठता।

सङ्कर का दूसरा भेद एकाश्रयानुप्रवेश सङ्कर है । भट्टोद्भट ने इसके दो भेद कर दिए हैं—एक वाक्यानुप्रवेश और एक वाक्यांशानुप्रवेश। इन दोनों भेदों का वर्णन और लक्षण भामह ने निम्न प्रकार किया है :—

शब्दार्थवर्त्यलङ्कारा वाक्य एकत्रवर्तिनः।
सङ्करश्चैकवाक्यांशप्रवेशाद्वाभिधीयते ॥ भामह ३, ४८

जहां शब्दवर्ती तथा अर्थवर्ती, अर्थात् शब्दालङ्कार तथा अर्थालङ्कार दोनों एक ही वाक्य में स्थित हों वहां एकवाक्यप्रवेश अथवा एकवाक्यांशप्रवेश भेद से दो प्रकार का सङ्कर अलङ्कार होता है। इन दोनों के उदाहरण निम्न प्रकार हैं:—

'स्मर, स्मरमिव प्रियं रमयसे यमालिङ्गनात्'

कामदेव के समान जिस प्रिय को आलिंगन से रमण कराती हो, उसको स्मरण करो। यहां 'स्मर-स्मर' पद की आवृत्ति से यमक रूप शब्दालङ्कार, और 'स्मरमिव' इस उपमा रूप अर्थालङ्कार का एकाश्रयानुप्रवेश रूप सङ्कर है। यहां प्रतीयमान की शङ्का का भी अवसर नहीं है। उनके गुणप्रधान भाव का निर्णय तो दूर रहा। इसका दूसरा उदाहरण है:—

तुल्योदयावसानत्वाद् गतेऽस्तं प्रति भास्वति।
वासाय वासरः क्लान्तो विशतीव तमोगुहाम्॥

सूर्य और वासर [दिन] दोनों तुल्योदयावसान हैं, दोनों का उदय और अस्त साथ साथ होता है। इसलिए जब सूर्य अस्त होने लगा तो मानो खिन्न होकर वासर भी तमोगुहा में प्रविष्ट सा हो जाता है। यह इस श्लोक का भाव है। यहां 'विशतीव' यह उत्प्रेक्षा अलङ्कार है। और 'तमोगुहाम्' यह एक देशविवर्ति रूपक है। यहां सूर्य स्वामी, और वासर सेवक है। सूर्य का अस्त स्वामिविपत्ति, और वासर का तमोगुहाप्रवेश स्वामिविपत्तिसमुचित व्रतग्रहण रूप है। परन्तु इन सबका आरोप नहीं किया है केवल तम पर गुहा का आरोप है इसलिए यह एकदेशविवर्ति रूपक है। इस प्रकार यहां रूपक और उत्प्रेक्षा दोनों समान रूप से वाच्य होने से उनमें गुण प्रधानभाव ही नहीं है।

सङ्कर का चौथा भेद अङ्गाङ्गिभाव सङ्कर है। उसका लक्षण और उदाहरण निम्न है:—

परस्परोपकारेण यत्रालंकृतयः स्थिताः।
स्वातन्त्र्येणात्मलाभं नो लभन्ते सोऽपि सङ्करः॥ भामह ३, ४८

जहां अनेक अलङ्कार परस्परोपकारक भाव से स्थित हों, स्वातंत्र्य से नहीं, वह भी [अङ्गाङ्गिभाव] सङ्कर होता है जैसे:—

प्रवातनीलोत्पलनिर्विशेषं अधीरविप्रेक्षितमायताक्ष्या।
तया गृहीतं नु मृगाङ्गनाभ्यस्ततो गृहीतं नु मृगाङ्गनाभिः॥

यह कुमार संभव [१,४६] का श्लोक है। उस आयताक्षी पार्वती ने प्रवात—तेज़ हवा से चञ्चल नील कमल के समान, अधीर दृष्टि क्या मृगों से ली

सङ्करालङ्कारेऽपि यदालङ्कारोऽलङ्कारान्तरच्छायामनुगृह्णाति, तदा व्यङ्ग्यस्य प्राधान्येनाविवक्षितत्वान्न ध्वनिविषयत्वम् । अलङ्कारद्वय-संभावनायान्तु वाच्यव्यङ्ग्ययोः समं प्राधान्यम् । अथ वाच्योपसर्जनीभावेन व्यङ्ग्यस्य तत्रावस्थानं[1] तदा सोऽपि ध्वनिविषयोऽस्तु, न तु स एव ध्वनि-रिति वक्तुं शक्यम् । पर्यायोक्तनिर्दिष्टन्यायात् । अपि च सङ्करालङ्कारे-ऽपि[2] च क्वचित् सङ्करोक्तिरेव ध्वनिसंभावनां निराकरोति[3] ।

अथवा मृगों ने उस—पार्वती-से ली । यह कालिदास के इस श्लोक का भाव है । अर्थात् उसकी दृष्टि हरिणी की दृष्टि के समान चञ्चल है । इस प्रकार यहां उपमा अलङ्कार व्यङ्ग्य है और सन्देहालङ्कार वाच्य है । परन्तु व्यङ्ग्य उपमा, वाच्य सन्देहा-लङ्कार को ही चारुत्वोत्कर्ष प्रदान कर अनुगृहीत करती है । उसका पर्यवसान सन्देह की पुष्टि में ही होता है इसलिए वह गुणभूत है । और उपमाजनित चमत्कृति में सन्देह साहाय्य करता है इसलिए दोनों का परस्पर अङ्गाङ्गिभाव है ।

इस प्रकार सङ्कर के चारों भेदों में से बीच के दो भेदों में तो व्यङ्ग्य संभावना ही नहीं है । चतुर्थ अङ्गाङ्गिभाव सङ्कर में और प्रथम सन्देह सङ्कर में व्यङ्ग्य की सम्भावना हो सकती है परन्तु वहां भी व्यङ्ग्य का प्राधान्य निश्चित न होने से ध्वनि-व्यवहार नहीं हो सकता । इसी बात को ग्रन्थकार आगे कहते हैं—

सङ्करालङ्कार में भी जहां एक अलङ्कार दूसरे की छाया [सौन्दर्य] को पुष्ट [अनुगृहीत] करता है [अर्थात् अङ्गाङ्गिभाव रूप चतुर्थ भेद में] वहां व्यङ्ग्य का प्राधान्य विवक्षित न होने से वह ध्वनि का विषय नहीं है । [सन्देह सङ्कर रूप प्रथम भेद में] दो अलंकारों की संभावना होने पर तो वाच्य और व्यङ्ग्य दोनों का सम प्राधान्य होता है । [अतः वहां भी ध्वनि की संभावना नहीं है] और यदि वहां [अङ्गाङ्गिभाव सङ्करालङ्कार में] व्यङ्ग्य वाच्य के उपसर्जनीभाव [गौण रूप] से स्थित हो तब तो वह भी ध्वनि [अलङ्कार ध्वनि] का विषय हो सकता है । न कि केवल वही ध्वनि है । पर्यायोक्त निर्दिष्ट न्याय से । और एक बात यह भी है कि सङ्करालङ्कार में सर्वत्र सङ्कर शब्द का प्रयोग ही ध्वनि संभावना का निराकरण कर देता है ।

यहां 'सङ्करालङ्कारेऽपि च क्वचित्' इस की व्याख्या करते समय 'क्वचिदपि सङ्करालङ्कारे' इस प्रकार अन्वय करना चाहिए । उसमें भी 'क्वचिदपि' का अर्थ

---

१. तत्रापि व्यवस्थानम् नि०, दी० । २. संकरालंकारस्य सङ्करोक्तिरेव ध्वनिसंभावनां करोति । नि० ।

सर्वत्र होगा । 'क्वचिदपि सङ्करालङ्कारे' का अर्थ हुआ कि सङ्करालङ्कार में सर्वत्र अर्थात् सङ्करालङ्कार के सभी भेदों में सङ्कर शब्द का प्रयोग उनकी सङ्कीर्णता का प्रतिपादक है। वहां यदि किसी एक की प्रधानता हो जाय तो फिर सङ्कर ही कहां रहेगा ? इसलिए सङ्कर शब्द का प्रयोग ही वहां व्यङ्ग्यप्राधान्यरूप ध्वनि का निराकरण कर देता है । फिर भी यदि आप :—

न भवति गुणानुरागः खलानां केवलं प्रसिद्धिशरणानाम् ।
किल प्रस्नौति शशिमणिः चन्द्रे न प्रियामुखे दृष्टे ॥

केवल प्रसिद्धि चाहने वाले दुष्टों को गुणों से प्रेम नहीं होता चन्द्रकान्त मणि चन्द्रमा को देख कर तो द्रवित हो जाता है प्रिया के मुख को देख कर नहीं । यहां शशि मणि अर्थात् चन्द्रकान्त मणि चन्द्रमा को देख कर द्रवित होने लगता है परन्तु चन्द्र से भी अधिक सुन्दर प्रिया मुख को देख कर द्रवित नहीं होता। इस विशेष उदाहरण से प्रसिद्धि मात्र चाहने वाले दुष्टों को गुणों से अनुराग नहीं होता इस सामान्य नियम का समर्थन करने से अर्थान्तरन्यास अलङ्कार वाच्य है । और प्रियामुख चन्द्र से भी अधिक सुन्दर है यह व्यतिरेक अलङ्कार तथा यह चन्द्र नहीं है प्रिया मुख ही चन्द्र है यह अपह्नुति अलङ्कार व्यङ्ग्य है ।

इस प्रकार के किसी उदाहरण में व्यङ्ग्य की प्रधानता पर ही बल दें तो फिर उस स्थान पर अलङ्कार ध्वनि हो जायगी । अर्थात् वहां सङ्कर का अन्तर्भाव अलङ्कार ध्वनि में हो जायगा । क्योंकि पर्यायोक्त न्याय में ध्वनि के महाविषय और अङ्गी होने से उसमें अन्य अलङ्कारादि का अन्तर्भाव दिखाया जा चुका है । उसी न्याय से यहां भी समझना चाहिए ।

अप्रस्तुत के वर्णन से जहां प्रस्तुत का आक्षेप किया जाता है वहां अप्रस्तुत-प्रशंसा नामक अलङ्कार होता है । अप्रस्तुतप्रशंसा तीन प्रकार की होती है । पहिली सामान्य विशेष भाव मूलक, दूसरी कार्य कारण भाव मूलक और तीसरी सादृश्य मूलक । इनमें से पहिली और दूसरी प्रकार की अप्रस्तुतप्रशंसा के दो-दो भेद हो जाते हैं । इस प्रकार उन दोनों के दो-दो भेद होकर चार भेद और एक सादृश्यमूलक इस प्रकार पांच भेद हो जाते हैं । सामान्य विशेष भाव मूलक के दो भेद इस प्रकार होते हैं कि १—एक जगह सामान्य अप्रस्तुत होता है और उससे प्रस्तुत विशेष का आक्षेप होता है । और २—दूसरी जगह अप्रस्तुत विशेष होता है उससे प्रस्तुत सामान्य का आक्षेप होता है । इसी प्रकार कार्य-कारणभाव मूलक के भी दो भेद हो जाते हैं । एक जगह कारण अप्रस्तुत होता है उससे प्रस्तुत

कार्य का आक्षेप होता है और दूसरी जगह अप्रस्तुत कार्य से प्रस्तुत कारण का आक्षेप होता है । इस प्रकार चार भेद हुए और पांचवा भेद सादृश्यमूलक होता है। इस भेद के भी श्लेष निमित्तक, समासोक्ति निमित्तक और सादृश्यमात्र निमित्तक इस प्रकार तीन भेद हो जाने से अप्रस्तुत प्रशंसा के सात भेद बन जाते हैं। परन्तु भामह ने केवल पहिले तीन भेद ही किए हैं। एक सामान्य-विशेष भावमूलक, दूसरा कार्यकारण भावमूलक और तीसरा सादृश्यमूलक। इनमें पहिले दोनों भेदों में प्रस्तुत और अप्रस्तुत दोनों का सम प्राधान्य होने से ध्वनि का अवसर ही नहीं है। इसलिए उसके अन्तर्भाव का विचार ही नहीं हो सकता। तीसरे सादृश्यमूलक भेद में यदि अभिधीयमान अप्रस्तुत का अप्राधान्य और प्रतीयमान प्रस्तुत का प्राधान्य विवक्षित होगा तो अलङ्कार का ध्वनि में अन्तर्भाव हो जायगा अन्यथा अप्रस्तुत अभिधीयमान का प्राधान्य विवक्षित होने पर अप्रस्तुत प्रशंसा अलङ्कार होगा। इसी भाव को मन में रख कर ग्रन्थकार ने प्रकृत सदर्भ लिखा है।

भामहकृत अप्रस्तुत प्रशंसा का लक्षण तथा उसके उदाहरणादि निम्न प्रकार हैं:—

अधिकारादपेतस्य वस्तुनोऽन्यस्य या स्तुतिः।
अप्रस्तुत प्रशंसा सा त्रिविधा परिकीर्तिता ॥ भामह ३,२६

अप्रस्तुत सामान्य से प्रस्तुत विशेष के आक्षेप का उदाहरण :—

अहो संसारनैर्घृण्यं, अहो दौरात्म्यमापदाम्।
अहो निसर्गजिह्मस्य दुरन्ता गतयो विधेः ॥

यहां सर्वत्र दैव का ही प्राधान्य है इस अप्रस्तुत सामान्य से किसी प्रस्तुत वस्तु के विनाश रूप विशेष का आक्षेप होता है । परन्तु यहां वाच्य सामान्य, और प्रतीयमान विशेष दोनों का समप्राधान्य है अतः ध्वनिविषयत्व नहीं है।

अप्राकरणिक विशेष से प्राकरणिक सामान्य के आक्षेप का उदाहरण निम्न है :—

एतत् तस्य मुखात् कियत् कमलिनीपत्रे कणं वारिणो,
यन्मुक्तामणिरित्यमंस्त स जडः शृण्वन्यदस्मादपि।
अंगुल्यग्रलघुक्रियाप्रविलयिन्यादीयमाने शनैः,
कुत्रोड्डीय गतो ममेत्यनुदिनं निद्राति नान्तः शुचा ॥

उस मूर्ख ने कमलिनी के पत्र पर पड़े पानी के कण को मुक्तामणि समझ

लिया यह उसके लिए कौन बड़ी बात है। इससे भी आगे की बात सुनो। वह जब अपनी उस मुक्तामणि को धीरे से उठाने लगा तो अंगुली के अग्रभाग की क्रिया से ही उसके कहीं विलुप्त हो जाने पर, न जाने मेरा मुक्ता मणि उड़ कर कहां चला गया इस सोच में उसको नींद नहीं आती है। यह श्लोक का भाव है। यहां जल बिन्दु में मुक्तामणित्व संभावन रूप अप्रस्तुत विशेष से मूर्खों की अस्थान में ममत्व संभावना रूप प्रस्तुत सामान्य का बोध होता है। यहां वाच्य और व्यङ्ग्य का सम प्राधान्य होने से ध्वनि की संभावना नहीं है। इसी प्रकार निमित्त-निमित्तिभाव में भी समझना चाहिए। उसके उदाहरण यहां नहीं देंगे।

सादृश्यमूलक अप्रस्तुत प्रशंसा में जहां वर्णित अप्रस्तुत से आक्षिप्यमाण प्रस्तुत अधिक चमत्कारकारी होता है वहां वस्तु ध्वनि समझना चाहिए। उसे अप्रस्तुत प्रशंसा अलङ्कार का उदाहरण नहीं समझना चाहिए। अप्रस्तुत प्रशंसा अलङ्कार वहीं बनेगा जहां व्यङ्ग्य इस अभिधीयमान से अधिक चमत्कारी न हो। जैसे निम्न श्लोक में प्रतीयमान त अभिधीयमान अप्रस्तुत की अपेक्षा अधिक चमत्कारी है इसलिए वह वस्तुध्वनि का उदाहरण है अलङ्कार का नहीं :—

> भावव्रात हठाज्जनस्य हृदयान्याक्रम्य यन्नर्तयन्,
> भङ्गीभिर्विविधाभिरात्महृदयं प्रच्छाद्य संक्रीडसे।
> स त्वामाह जडं ततः सहृदयम्मन्यत्व दुःशिक्षितो,
> मन्येऽमुष्य जडात्मता स्तुतिपदं, त्वत्साम्यसंभावनात्॥

हे भावव्रात-अर्थात् पदार्थ समूह! समग्र विश्व सौन्दर्य के आकर इस प्राकृतिक जगत् के चन्द्रमा आदि पदार्थ समूह! तुम विविध प्रकारों से अपने आन्तरिक रहस्य को छिपा कर और लोगों के हृदयों को हठात् अपनी ओर आकृष्ट कर, स्वेच्छापूर्वक नचाते हुए जो क्रीड़ा करते हो, उसी से सहृदयम्मन्यत्व की भावना से दुःशिक्षित अपने सहृदय होने का मिथ्याभिमान करने वाले लोग तुमको जड़ कहते हैं। वस्तुतः वह स्वयं जड़, मूर्ख है। परन्तु उनको जड़ कहना भी तुम्हारी समानता का संपादक होने से उनके लिए स्तुति रूप ही है यह प्रतीत होता है।

यह इस श्लोक का भाव है। परन्तु इससे किसी महापुरुष का अप्रस्तुत चरित प्रतीयमान है जो अत्यन्त विद्वान् और गुणवान् होते हुए भी साधारण लोगों के बीच अपने पाण्डित्य आदि को प्रकाशित नहीं करता इस कारण लोग उसे मूर्ख कहते हैं। यहां जो लोकोत्तर चरित प्रतीयमान है वही प्रधान है। यहां अप्रस्तुत

अप्रस्तुतप्रशंसायामपि यदा सामान्यविशेषभावान्निमित्तनिमित्तिभावाद्वाभिधीयमानस्याप्रस्तुतस्य प्रतीयमानेन प्रस्तुतेनाभिसंबन्धस्तदा[1] अभिधीयमानप्रतीयमानयोः सममेव प्राधान्यम् । यदा तावत् सामान्यस्याप्रस्तुतस्य अभिधीयमानस्य प्राकरणिकेन विशेषेण प्रतीयमानेन संबन्धस्तदा विशेषप्रतीतौ सत्यामपि प्राधान्येन [2]तत्सामान्येनाविनाभावात् सामान्यस्यापि प्राधान्यम् । यदापि विशेषस्य सामान्यनिष्ठत्वं तदापि सामान्यस्य प्राधान्ये, सामान्ये सर्वविशेषाणामन्तर्भावाद् विशेषस्यापि प्राधान्यम् । निमित्तनिमित्तिभावे[3] चायमेव न्यायः । यदा तु सारूप्यमात्रवशेनाप्रस्तुतप्रशंसायामप्रकृतप्रकृतयोः संबन्ध स्तदाप्यप्रस्तुतस्य सरूपस्याभिधीयमानस्य प्राधान्येनाविवक्षायां ध्वनावेवान्तःपातः । इतरथा त्वलंकारान्तरमेव ।

से प्रस्तुत की प्रतीति होने पर अप्रस्तुत प्रशंसा अलङ्कार नहीं अपितु वस्तु ध्वनि है । लोचनकार ने भावव्रात वाला यह जो श्लोक उदाहरण रूप में यहां प्रस्तुत किया है वह कुछ कठिन होगया है । वस्तुतः सभी अन्योक्तियां इसका उदाहरण हो सकती हैं ।

इस प्रकार अप्रस्तुत प्रशंसा अलङ्कार में व्यङ्ग्य-प्रतीति रहते हुए सामान्य-विशेषभाव मूलक और कार्य कारणभाव मूलक चार भेदों में अभिधीयमान और प्रतीयमान दोनों का सम प्राधान्य होने से ध्वनि का अवसर नहीं और पांचवें सादृश्य मूलक भेद में जहां प्रतीयमान का प्राधान्य है उस अन्योक्ति रूप भेद में अप्रस्तुत प्रशंसा अलङ्कार ही नहीं अपितु वस्तु ध्वनि है । इसलिये ध्वनि का अन्तर्भाव अप्रस्तुत प्रशंसा अलङ्कार में भी नहीं हो सकता । यही प्रस्तुत सन्दर्भ का अभिप्राय है । शब्दानुवाद इस प्रकार होगा :—

अप्रस्तुत प्रशंसा में भी जब सामान्य विशेषभाव से अथवा निमित्त निमित्तिभाव से, अभिधीयमान अप्रस्तुत का प्रतीयमान प्रस्तुत के साथ सम्बन्ध होता है तब अभिधीयमान और प्रतीयमान दोनों का समान ही प्राधान्य होता हैं । जब कि अभिधीयमान अप्रस्तुत सामान्य का प्रतीयमान प्रस्तुत विशेष से सम्बन्ध

---

१. 'अभिधीयमानस्य अप्रस्तुतस्य प्रतीयमानेन प्रस्तुतेनाभिसंबन्धस्तदा' इतना पाठ नि० में नहीं है । २. तस्य नि० दी० । ३. कार्यकारणभावे दी० ।

तदयमत्र संक्षेपः ।

[1]व्यङ्ग्यस्य यत्राप्राधान्यं वाच्यमात्रानुयायिनः ।
समासोक्त्यादयस्तत्र वाच्यालंकृतयः स्फुटाः ॥
व्यङ्ग्यस्य प्रतिभामात्रे वाच्यार्थानुगमेऽपि वा ।
न ध्वनिर्यत्र वा तस्य प्राधान्यं न प्रतीयते ॥
तत्परावेव शब्दार्थौ यत्र व्यङ्ग्यं प्रति स्थितौ ।
ध्वनेः स एव विषयो मन्तव्यः सङ्करोज्झितः ॥

तस्मान्न ध्वनेरन्तर्भावः ।

होता है तब प्रधानतः विशेष की प्रतीति होने पर भी ['निर्विशेषं न सामान्यम्' इस नियम के अनुसार] उसका सामान्य से अविनाभाव होने के कारण सामान्य का भी प्राधान्य होता है। और जब विशेष सामान्यनिष्ठ होता है [अर्थात् जब अभिधीयमान अप्रस्तुत विशेष से प्रतीयमान प्रस्तुत सामान्य का आक्षेप होता है] तब भी सामान्य के प्राधान्य होने पर, सामान्य में ही समस्त विशेषों का अन्तर्भाव होने से विशेष का भी प्राधान्य होता है। निमित्त निमित्तिभाव में भी यही नियम लागू होता है। जब सादृश्यमात्र मूलक अप्रस्तुत प्रशंसा में अप्रकृत और प्रकृत का सम्बन्ध होता है तब भी अभिधीयमान अप्रस्तुत तुल्य पदार्थ का प्राधान्य अविवक्षित होने की दशा में [वस्तु] ध्वनि में अन्तर्भाव हो जाएगा। [वहां अप्रस्तुत प्रशंसा अलङ्कार नहीं होगा] अन्यथा ही अलङ्कार होगा।

'इतरथा त्वलङ्कारान्तरमेव' इस मूल में एवकार भिन्न क्रम है और इतरथा के बाद उसका अन्वय करना चाहिए। इतरथैव अलङ्कारान्तरम्।

इस सबका सारांश यह है कि :—

जहां वाच्य का अनुगमन करने वाले व्यङ्ग्य का अप्राधान्य है वहां समासोक्ति आदि वाच्य अलङ्कार स्पष्ट हैं।

जहां व्यङ्ग्य की केवल प्रतीतिमात्र होती है, अथवा वह वाच्य का अनुगामी पुच्छभूत है अथवा जहां उसका स्पष्ट प्राधान्य नहीं है वहां ध्वनि नहीं है।

---

१. ये तीनों कारिकाएं नहीं संग्रह या परिकर श्लोक हैं। इसी से इन पर वृत्ति भी नहीं है। नि० सा० तथा दी० में इन पर १४, १५, १६ कारिका संख्या डाल दी है, जो उचित नहीं है।

इतश्च नान्तर्भावः । यतः काव्यविशेषोऽङ्गी ध्वनिरिति कथितः । तस्य पुनरङ्गानि, अलङ्कारा गुणा वृत्तयश्चेति प्रतिपादयिष्यन्ते । न चावयव एव पृथग्भूतोऽवयवीति प्रसिद्धः । अपृथग्भावे तु तदङ्गत्वं तस्य । न तु तत्त्वमेव । यत्रापि तत्त्वं तत्रापि ध्वनेर्महाविषयत्वान्न तन्निष्ठत्वमेव ।

सूरिभिः कथितः इति विद्वदुपज्ञेयमुक्तिः, न तु यथाकथञ्चित् प्रवृत्तेति प्रतिपाद्यते । प्रथमे हि विद्वांसो वैयाकरणाः, व्याकरणमूलत्वात् सर्वविद्यानाम् । ते च श्रूयमाणेषु वर्णेषु ध्वनिरिति व्यवहरन्ति । तथैवान्यैस्तन्मतानुसारिभिः सूरिभिः काव्यतत्त्वार्थदर्शिभिर्वाच्यवाचक

जहां शब्द और अर्थ व्यङ्ग्य बोधन के लिए ही तत्पर हैं उसी को सङ्कर-रहित ध्वनि का विषय समझना चाहिए ।

इसलिये ध्वनि का [अन्यत्र अलङ्कारादि में] अन्तर्भाव नहीं हो सकता ।

इस कारण भी [ध्वनि का अन्यत्र अलङ्कारादि में] अन्तर्भाव नहीं हो सकता कि अङ्गीभूत [व्यङ्ग्य प्रधान] काव्यविशेष को ध्वनि कहा है । अलङ्कार गुण, और वृत्तियां उसके अङ्ग हैं यह आगे प्रतिपादित किया जावेगा । और [पृथग्भूत] अलग-अलग अवयव ही अवयवी नहीं कहे जाते । अपृथग्भूत [मिलकर समुदाय] रूप में [भी] वह [अवयव रूप अलङ्कारादि] उस [ध्वनि] के अङ्ग ही हैं न कि अङ्गी [ध्वनि] है । जहां कहीं [जैसे पर्यायोक्त के 'भ्रम धार्मिक' सदृश उदाहरणों में अथवा सङ्कर के—'भवति न गुणानुरागः' सदृश उदाहरणों में] व्यङ्ग्य का अङ्गित्व [या ध्वनित्व] होता भी है वहां भी ध्वनि के महाविषय [अधिकदेशवृत्ति, अर्थात् उन उदाहरणों से भिन्न स्थलों पर भी विद्यमान] होने से [ध्वनि] अलङ्कारादि में अन्तर्भूत नहीं होता ।

'सूरिभिः कथितः' [कारिका सं० १३ के इस वचन से] से यह [ध्वनि प्रतिपादनपरक] उक्ति [ध्वनिवाद] विद्वन्मतमूलक है यों ही [अप्रामाणिक स्वकल्पित रूप से] प्रचलित नहीं हो गयी है यह सूचित किया है ।

['विद्वद्भ्य उपज्ञा, प्रथम उपक्रमो ज्ञानं वा यस्या उक्तेः सा' इस प्रकार बहुव्रीहि समास ही करने से तत्पुरुषसमासाश्रित 'उपज्ञोपक्रमं तदाद्याचिख्यासायाम् अष्टा० २, ४, २१' सूत्र से नपुंसकत्व का अवकाश नहीं रहता । अन्यथा तत्पुरुष समास करने पर तो 'विद्वदुपज्ञा' यह स्त्रीलिंग प्रयोग न होकर 'विद्वदुपज्ञं' यह नपुंसकलिंग प्रयोग ही होगा । अतः यहां बहुव्रीहि समास ही करना चाहिए ।

संमिश्रः शब्दात्मा काव्यमिति व्यपदेश्यो व्यञ्जकत्वसाम्याद् ध्वनिरित्युक्तः। नचैवंविधस्य ध्वनेर्वक्ष्यमाणप्रभेदतद्भेदसङ्कलनया महाविषयस्य यत् प्रकाशनं [1]तदप्रसिद्धालङ्कारविशेषमात्रप्रतिपादनेन तुल्यमिति तद्भावितचेतसां युक्त एव संरम्भः। नच तेषु कथञ्चिदीर्ष्याकलुषितशेमुषीकत्वमाविष्करणीयम्। तदेवं [2]ध्वनेरभाववादिनः प्रत्युक्ताः।

प्रथम [सबसे मुख्य] विद्वान् वैयाकरण हैं। क्योंकि व्याकरण सब विद्याओं का मूल है। वे [वैयाकरण] सुनाई देने वाले वर्णों को ध्वनि कहते हैं। उसी प्रकार उनके मत को मानने वाले, काव्य तत्वार्थदर्शी अन्य विद्वानों ने भी वाच्य, वाचक, [संमिश्र्यते विभावानुभावसंवलनयेति संमिश्रः व्यङ्ग्यार्थः] व्यङ्ग्यार्थ, [शब्दनं शब्दः तदात्मा व्यञ्जनरूपः शब्दव्यापारः] व्यञ्जना व्यापार, और काव्य पद से व्यवहार्य [अर्थात् काव्य, इन पांचों] को ध्वनि कहा है। ['ध्वनतीति ध्वनिः' इस व्युत्पत्ति से वाचकशब्द और वाच्यार्थ को, 'ध्वन्यते इति ध्वनिः' इस व्युत्पत्ति से व्यङ्ग्यार्थ को, ध्वननं ध्वनिः इस व्युत्पत्ति से व्यञ्जना व्यापार को और 'ध्वन्यतेऽस्मिन्निति ध्वनिः' इस व्युत्पत्ति से पूर्वोक्त ध्वनि चतुष्टय युक्त काव्य को ध्वनि कहते हैं। यह व्याख्या लोचनकार के अनुसार है।] इस प्रकार के और आगे कहे जाने वाले भेद-प्रभेद के सङ्कलन से अत्यन्त व्यापक [महाविषय] ध्वनि का जो प्रतिपादन है वह केवल अप्रसिद्ध अलङ्कार विशेषों के प्रतिपादन के समान [नगण्य] नहीं है इस लिए उसके समर्थकों का उत्साहातिरेक उचित ही है। उनके प्रति किसी प्रकार की ईर्ष्या कलुषित वृत्ति प्रदर्शित नहीं करनी चाहिए। इस प्रकार ध्वनि के अभाववादियों [१ 'तदलङ्कारादिव्यतिरिक्तः कोऽयं ध्वनिर्नामेति' २ 'तत्समयान्तःपातिनः सहृदयान् कांश्चित्परिकल्प्य तत्प्रसिद्ध्या ध्वनौ काव्यव्यपदेशः परिवर्तितोऽपि सकलविद्वन्मनोग्राहितामवलम्बते' इत्यादि, और ३ तेषामन्यतमस्यैव वापूर्वसमाख्यामात्र करणे यत्किञ्चन कथनं स्यात् इत्यादि तीनों पक्षों] का निराकरण हो गया।

प्रथम विद्वान् वैयाकरण श्रूयमाण वर्णों को ध्वनि कहते हैं इसलिए उनके अनुयायी आलङ्कारिकों ने ध्वनि शब्द का प्रयोग किया। यहां वैयाकरणों के साथ जो आलङ्कारिकों का सिद्धान्त साम्य प्रदर्शित किया है उसके स्पष्ट रूप से समझने के लिए वैयाकरणों के 'स्फोटवाद' और उसके साथ शब्द तथा उससे अर्थ-बोध

---

१ तदत्र प्रसिद्ध नि०, दी। २ ध्वनेस्तावदभाववादिनः नि०, दी०।

की सारी प्रक्रिया का समझना आवश्यक है। इसलिए संक्षेप में उसका उल्लेख यहां कर रहे हैं।

शब्द जिसको हम कानों से सुनते हैं उसके तीन कारण वैशेषिक दर्शन में माने गए हैं। १ संयोग, २ विभाग और ३ शब्द। शब्द का आश्रय आकाश है। उसका ग्रहण श्रोत्रेन्द्रिय से होता है और संयोग, विभाग अथवा शब्द इनमें से किसी एक से उसकी उत्पत्ति होती है। घंटा या भेरी के बजाने से जो शब्द पैदा होता है वह संयोगज शब्द है। उसकी उत्पत्ति घंटा और मुगरी अथवा भेरी और दण्ड के संयोग से होती है। बांस या काग़ज़ आदि के फाड़ने से जो शब्द उत्पन्न होता है वह विभागज शब्द है, वंश के दलद्वय या कागज़ के दोनों खण्डों के विभाग से उसकी उत्पत्ति होती है। इस प्रकार प्रारम्भिक प्रथम शब्द की उत्पत्ति तो संयोग या विभाग इन दो ही कारणों से होती है। परन्तु वह प्रारम्भिक शब्द हमको सुनाई नहीं देता। घण्टा विद्यालय में बजता है, हम आश्रम में बैठे हैं। इस देश भेद के कारण उस प्रथमोत्पन्न शब्दको हम साक्षात् नहीं सुनते हैं। उस शब्दसे वायु मण्डल में क्रमिक शब्द धारा उपत्न्न होते-होते जो शब्द हमारे श्रोत्र देश में आकर उत्पन्न होता है वह शब्द हमको सुनाई देता है। आद्य शब्द या बीच के शब्द सुनाई नहीं देते। घण्टे का शब्द सुना यह प्रतीति सादृश्य के कारण होती है।

इस शब्द-धारा में प्रथम शब्द के बाद जितने भी शब्द उत्पन्न होते हैं वे सब शब्दज शब्द हैं। इस शब्द धारा की प्रगति के विषय में दो प्रकार के मत हैं एक 'वीचीतरङ्ग न्याय' और दूसरा 'कदम्ब-मुकुल-न्याय' नाम से कहा जाता है। जिस प्रकार तालाब में एक कंकड़ डाल देने से उसमें लहरें उत्पन्न हो जाती हैं। प्रारम्भ में वह लहर एक बहुत छोटा सा गोलाकार चक्र बनाती है। जो बढ़ते-बढ़ते सारे तालाब में व्याप्त हो जाता है। इसी प्रकार प्रथम शब्द से उसके उत्पत्ति स्थान के चारों ओर एक शब्द तरङ्ग का चक्र उत्पन्न होता है जो बढ़ते-बढ़ते सुदूरवर्ती आकाश क्षेत्र तक व्यापक हो जाता है। और जहां-जहां उस शब्द को, ग्रहण करने का उपकरण श्रोत्र-यंत्र अथवा रेडियो आदि अन्य यन्त्र होता है वहां वह शब्द सुनाई देता है। यह 'वीची तरङ्ग न्याय' हुआ इसमें सब दिशाओं में उत्पन्न होने वाली शब्द-धारा परस्पर सम्बद्ध और एक है।

दूसरा 'कदम्ब-मुकुल-न्याय' है। कदम्ब-मुकुल का अर्थ है कदम्ब की कली। इस कली के केन्द्र शीर्ष स्थानमें एक नन्ही सी कील जैसी खड़ी रहती है। फिर उस

केन्द्र बिन्दु के चारों ओर उसी प्रकार का अवयवों का एक वृत्त बन जाता है। इसी प्रकार यह वृत्त बढ़ता हुआ सारे कदम्ब-मुकुल में व्याप्त हो जाता है। यही शब्द की स्थिति है। इसको 'कदम्ब-मुकुल-न्याय' कहते हैं। इन दोनों न्यायों में अन्तर यह पड़ता है कि 'वीची-तरङ्ग-न्याय' के अनुसार सब दिशाओं में चलने वाली शब्द-धारा एक है और 'कदम्ब-मुकुल-न्याय' में सब कीलों के अलग-अलग व्यक्तित्व के समान सब ओर उत्पन्न होने वाले शब्द अनेक हैं।

यह शब्द के सुनने की प्रक्रिया हुई। इस प्रक्रिया से जिस समय उस शब्द धारा का हमारे श्रोत्र से सम्बन्ध होता है उस समय हमको शब्द का ग्रहण होता है। फिर जब शब्द धारा आगे बढ़ जाती है तब हमको शब्द का सुनाई देना बन्द हो जाता है। इसी को शब्द को अनित्य मानने वाले नैयायिक आदि शब्द का नाश और नित्यतावादी वैयाकरण आदि तिरोभाव कहते हैं। इसलिए शब्द आशुतर विनाशी अथवा तिरोभावी है, क्षणिक है। ऐसी दशा में तीन चार वर्णों से मिल कर बने हुए घटः पटः इत्यादि शब्दों में प्रत्येक वर्ण सुनाई देने के बाद अगले क्षण में नष्ट या तिरोभूत हो जाने से सब का एक समुदाय रूप में इकट्ठा होना संभव नहीं है। इस लिए अनेक वर्णों के समुदाय रूप पद और अनेक पदों के समुदाय रूप वाक्य आदि का निर्माण भी नहीं हो सकता। फिर उनसे अर्थ बोध कसे होगा, यह एक प्रश्न है। इसके समाधान के लिए प्राचीन शब्दशास्त्री वैयाकरणों ने 'स्फोटवाद' की कल्पना की है। 'स्फोट' शब्द का अर्थ है 'स्फुटति अर्थः यस्मात् सः स्फोटः' जिस से अर्थ प्रस्फुटित होता है, अर्थ की प्रतीति होती है उसको 'स्फोट' कहते हैं। इस सिद्धान्त के अनुसार अर्थ की प्रतीति सुनाई देने वाले वर्णों से नहीं होती। क्योंकि उनके क्रमिक और आशुतर विनाशी अथवा तिरोभावी होने से उनके समुदाय रूप पद ही नहीं बन सकते। इसलिए इन श्रूयमाण वर्णों से ही जिनको ध्वनि भी कहते हैं और नाद भी, पूर्व-पूर्व वर्णानुभवजनितसंस्कारहसकृत-चरमवर्ण-श्रवण से सदसद् अर्थात् विद्यमान और पूर्व तिरोभूत समस्त वर्णों को ग्रहण करने वाली सदसदनेकवर्णावगाहिनी पदप्रतीति होती है। अर्थात् बुद्धि में समस्त वर्णों का समुदाय रूप एक नित्य शब्द अभिव्यक्त होता है। इसी को वैयाकरण 'स्फोट' कहते हैं। इसी से अर्थ की प्रतीति होती है। वयाकरण जब शब्द को नित्य कहते हैं तब उसका अभिप्राय इसी 'स्फोट' रूप शब्द की नित्यता से होता है। इसी प्रकार अनेक पदों के समुदाय रूप 'वाक्य स्फोट' की अभिव्यक्ति पदों द्वारा होती है। वैयाकरणों ने १ वर्णस्फोट, २ पदस्फोट, ३ वाक्यस्फोट, ४ अखण्डपदस्फोट, ५ अखण्ड वाक्य स्फोट,

अस्ति ध्वनिः । स चाविवक्षितवाच्यो विवक्षितान्यपरवाच्यश्चेति द्विविधः सामान्येन । तत्राद्यस्योदाहरणम् :—

सुवर्णपुष्पां पृथिवीं चिन्वन्ति पुरुषास्त्रयः ।
शूरश्च कृतविद्यश्च यश्च जानाति सेवितुम् ॥

---

६ वर्ण, ७ पद, ८ वाक्य गत तीन प्रकार के जाति स्फोट इस प्रकार आठ तरह के स्फोटों का वर्णन वैयाकरण-भूषण आदि ग्रन्थों में विस्तार पूर्वक किया है। उन सब का मूल महर्षि पतञ्जलि का महाभाष्य और भर्तृहरि का वाक्यपदीय ग्रन्थ है।

आलङ्कारिकों ने वैयाकरणों के ध्वनि शब्द का प्रयोग इस आधार पर लिया है कि वैयाकरण उन वर्णों को ध्वनि कहते हैं जो 'स्फोट' को अभिव्यक्त करते हैं। अर्थात् 'ध्वनतीति ध्वनिः' इस व्युत्पत्ति के आधार पर वैयाकरण 'स्फोट' के अभिव्यञ्जक वर्णों को ध्वनि कहते हैं इसी प्रकार ध्वनिवादियों ने 'ध्वनतीति ध्वनिः' इस व्युत्पत्ति के आधार पर वाच्य-वाचक से भिन्न व्यङ्ग्य अर्थ को बोधन करने वाले शब्द, अर्थ आदि के लिए ध्वनि शब्द का प्रयोग किया है। इसी बात का सङ्केत ऊपर ग्रन्थकार ने किया है और उसी के आधार पर काव्यप्रकाशकार ने, 'बुधैर्वैयाकरणैः प्रधानभूतस्फोटरूपव्यङ्ग्यव्यञ्जकस्य शब्दस्य ध्वनिरिति व्यवहारः कृतः, ततस्तन्मतानुसारिभिरन्यैरपि न्यग्भावितवाच्यव्यङ्ग्यव्यञ्जनक्षमस्य शब्दार्थ युगलस्य' लिखा है । इस प्रकार मुख्य रूप से १ शब्द २ अर्थ के लिए और फिर ३ व्यञ्जना व्यापार, ४ व्यङ्ग्य अर्थ, तथा ५ व्यङ्ग्य प्रधान काव्य के लिए ध्वनि शब्द का व्यवहार होने लगा। अत एव ध्वनिवाद स्वकल्पित नहीं अपितु पाणिनि पतञ्जलि सदृश मुनियों के मत के आधार पर आश्रित है।

[इसलिए] ध्वनि है। वह सामान्यतः अविवक्षित वाच्य [लक्षणा मूल] और विवक्षितान्यपरवाच्य [अभिधा मूल] भेद से दो प्रकार का होता है। उनमें से प्रथम [अविवक्षित वाच्य, लक्षणा मूल ध्वनि] का उदाहरण यह है :—

सुवर्ण जिसका पुष्प है ऐसी पृथिवी का चयन [अर्थात् पृथिवी रूप लता के सुवर्ण रूप पुष्पों का चयन] तीन ही पुरुष करते हैं। शूर, विद्वान् और जो सेवा करना जानता है।

---

१ च के बाद असौ नि० तथा दी० में अधिक है। २ सामान्येन द्विविधः नि० दी०।

द्वितीयस्यापि :—

शिखरिणि क्व नु नाम कियच्चिरं, किमभिधानमसावकरोत्तपः ।
सुमुखि येन तवाधरपाटलं, दशति बिम्बफलं शुकशावकः ॥१३॥

इस श्लोक की व्याख्या में लोचनकार ने 'सुवर्णानि पुष्यतीति सुवर्णपुष्पा' यह व्याख्या की है । वह चिन्त्य है । इस विग्रह में कर्म सुवर्ण उपपद रहते नाम धातु से 'कर्मण्यण्' सूत्र से अण् प्रत्यय और उसके प्रभाव से 'टिड्ढाणञ्' इत्यादि सत्र से ङीप् होकर सुवर्णपुष्पी प्रयोग बनेगा सुवर्णपुष्पा नहीं । इस लिए उसका विग्रह 'सुवर्णमेव पुष्पं यस्याः सा सुवर्णपुष्पा' इस प्रकार करना चाहिए । हमने इसी विग्रह को मानकर अर्थ किया है । लोचन ग्रन्थ को अर्थप्रदर्शनात्मक मात्र मान कर न कि विग्रह मान कर कथञ्चित् उपपादन करना चाहिये ।

यहां, न तो पृथिवी कोई लता है, न सुवर्ण पुष्प और न उसका चयन ही हो सकता है अतः 'सुवर्णपुष्पा पृथिवी का चयन' यह वाक्य यथाश्रुत रूप में अन्वित नहीं हो सकता इसलिए मुख्यार्थ बाध होने से लक्षणा द्वारा विपुल धन और उसके अनायासोपार्जन से सुलभ समृद्धिसम्भारभाजनता को व्यक्त करता है । लक्षणा का प्रयोजन शूर कृतविद्य और सेवकों का प्राशस्त्य स्वपद से वाच्य न होकर गोप्यमान कामिनी कुचकलशवत् सौन्दर्यातिशय रूप से ध्वनित होता है । लक्षणा मूल होने से इसको अविवक्षित वाच्य ध्वनि कहते हैं । यहां यदि अभिहितान्वयवादियों की तात्पर्या शक्ति को भी माना जाय तो अभिधा, तात्पर्या, लक्षणा, व्यञ्जना चारों, अन्यथा तीनों वृत्तियां व्यापार करती हैं ।

दूसरे [विवक्षितान्यपर वाच्य, अभिधामूल ध्वनि] का भी [उदाहरण निम्न है] :—

हे सुमुखि ! इस शुक शावक ने किस पर्वत पर, कितने दिनों तक, कौन सा तप किया है जिसके कारण तुम्हारे अधर के समान रक्तवर्ण बिम्ब फल को काट [ने का सौभाग्य-पुण्यातिशयलभ्य सौभाग्य-प्राप्त कर] रहा है ।

श्लोक में 'तवाधर पाटलं' में 'तव' पद को असमस्त स्वतन्त्र षष्ठ्यन्त पद के रूप में प्रयोग किया है । त्वदधरपाटलं' ऐसा समस्त प्रयोग नहीं किया है । इसे कुछ लोग केवल छन्द के अनुरोध से किया हुआ प्रयोग मानते हैं । परन्तु वह वास्तव में ठीक नहीं है । यहां अधर के साथ त्वत् पदार्थ अर्थात् सम्बोधित की जाने वाली नायिका, का संबन्ध, प्राधान्येन बोधन करना अभीष्ट है । यदि 'तव' पद को समास में डाल दिया जाय तो वह अधर पदार्थ का विशेषणमात्र हो जाने से

यदप्युक्तं भक्तिर्ध्वनिरिति, तत् प्रतिसमाधीयते—

प्रधान नहीं रहेगा। उस को असमस्त रखने का अभिप्राय यह है कि जैसे 'अरुणया पिङ्गाक्ष्या एकहायन्या गवा सोमं क्रीणाति, इस वैदिक वाक्य में 'अरुणया गवा' गौ के विशेषणीभूत आरुण्य का साध्यता सम्बन्ध से क्रय क्रिया में भी सम्बन्ध हो जाता है। अथवा 'धनवान् सुखी' इस लौकिक वाक्य में वान् इस मतुप् प्रत्ययार्थ में अन्वित धन शब्द का प्रयोज्यत्व संबन्ध से सुख के साथ भी अन्वय होकर अर्थबोध होता है। इसी प्रकार अधरान्वित त्वत् पदार्थ का प्रयोज्यत्व संबन्ध से बिम्बफलकर्मक दशन के साथ भी अन्वय होकर तुम्हारे अधरारुण्यलाभ से गर्वित बिम्ब फल को तुम्हारे संबन्ध से ही, मुख्यतः तुमको लक्ष्य में रख कर ही दशन कर रहा है। यह अर्थ विवक्षित है इसलिए 'तव' इस असमस्त पद का प्रयोग किया है। 'दशति' का अर्थ औदरिक अर्थात् पेटू-के समान खा जाना नहीं अपितु रसास्वाद करना है। शुक शावक की उचित तारुण्यकाल पर उसकी प्राप्ति और रसज्ञता यह सब पुण्यातिशय लभ्य है यह अर्थ और इस के साथ अनुरागी का स्वाभिप्राय ख्यापन व्यङ्ग्य है।

यहां अभिधा, तात्पर्या और व्यञ्जना इन तीन वृत्तियों के ही व्यापार होते हैं। बीच में मुख्यार्थ बाध न होने से लक्षणा की आवश्यकता नहीं होती। अथवा इस आकस्मिक प्रश्न की असङ्गति मान कर यदि लक्षणा का भी उपयोग किया जाय तो फिर यहां भी पूर्व श्लोक के समान चार व्यापार हो जावेंगे। फिर भी इस को पूर्व लक्षणा मूलक अविवक्षित वाच्य ध्वनि से भिन्न इस आधार पर किया जायगा कि पूर्व उदाहरण में केवल लक्षणा ही ध्वनन व्यापार में प्रधान सहकारिणी थी और यहां वाक्यार्थ सौन्दर्य से ही व्यङ्ग्य की प्रतीति होने से अभिधा और तात्पर्या शक्ति मुख्य सहकारिणी हैं। लक्षणा का तो नाम मात्र का उपयोग होता है।

ऊपर 'ध्वनेस्तावदभाववादिनः प्रत्युक्ताः' लिखा था। ध्वनि के अभाव-वादियों के खण्डन के बाद 'भाक्तमाहुस्तमन्ये' इस सिद्धान्त का खण्डन करना चाहिए था। उसको न करके ग्रन्थकार ध्वनि के अविवक्षित वाच्य और विवक्षितान्यपर-वाच्य भेद प्रतिपादन करने में लग गए। इसका कारण यह है कि इन उदाहरणों के आधार पर भक्तिवाद और अलक्षणीयतावाद का खण्डन सुकर होगा। अतः इन उदाहरणों के बाद उन दोनों मतों का खण्डन करेंगे ॥१३॥

[अब दूसरे 'भाक्तमाहुस्तमन्ये' इस पक्ष का खण्डन प्रारम्भ करते हैं]

जो यह कहा था कि भक्ति ध्वनि है उसका समाधान करते हैं :—

भक्त्या बिभर्ति नैकत्वं रूपभेदादयं ध्वनिः ।

अयमुक्तप्रकारो ध्वनिर्भक्त्या नैकत्वं बिभर्ति, भिन्नरूपत्वात् । वाच्यव्यतिरिक्तस्यार्थस्य वाच्यवाचकाभ्यां तात्पर्येण प्रकाशनं यत्र व्यङ्ग्यप्राधान्ये स ध्वनिः । उपचारमात्रन्तु भक्तिः ।

यह उक्त [शब्द; अर्थ, व्यञ्जना व्यापार, व्यङ्ग्य अर्थ और उन सबका समुदाय रूप काव्य यह पांचों भेद वाला] ध्वनि, [भक्ति या लक्षणा से] भिन्न रूप होने के कारण भक्ति-[लक्षणा] के साथ अभेद-[एकत्व]-को प्राप्त नहीं हो सकता है ।

यह उक्त प्रकार का [पञ्चविध] ध्वनि भिन्न रूप होने के कारण भक्ति [लक्षणा] से अभिन्न नहीं हो सकता । वाच्यार्थ से भिन्न अर्थ को वाच्य-वाचक द्वारा तात्पर्य रूप से व्यङ्ग्य का प्राधान्य होते हुए जहां प्रकाशित किया जाता है उसको ध्वनि कहते हैं । और भक्ति तो केवल उपचार का नाम है ।

'भाक्तवाद' के तीन विकल्प करके उसका खण्डन करेंगे । उनमें १—पहिला विकल्प यह है कि जब पूर्वपक्षी भक्ति को ध्वनि कहता है तो क्या भक्ति और ध्वनि शब्द, को घट, कलश आदि के समान पर्याय रूप मान कर दोनों का अभेद प्रतिपादन करना चाहता है । २—दूसरा विकल्प यह है कि क्या वह भक्ति को ध्वनि का लक्षण कहना चाहता है । ३ अथवा 'काकवद् देवदत्तस्य गृहम्' के समान भक्ति को ध्वनि का उपलक्षण मानता है । यह तीसरा विकल्प है । इतरव्यावर्तक अर्थात् अन्य समानजातीय और असमानजातीय पदार्थों से भेद कराने वाले असाधारण धर्म को लक्षण कहते हैं । जैसे गन्धवत्त्व पृथिवी का लक्षण है । 'गन्धवती पृथिवी ।' यह गन्धवत्त्व धर्म पृथिवी में रहता है परन्तु उसको छोड़ कर उसके समानजातीय या असमानजातीय और किसी भी पदार्थ में नहीं रहता है इसलिए वह पृथिवी का लक्षण होता है । पृथिवी द्रव्य है । उसके समानजातीय अप् , तेज, वायु, आकाश, काल, दिक्, आत्मा और मन ये आठ द्रव्य और नवीं पृथिवी, इस प्रकार कुल नौ द्रव्य वैशेषिक दर्शन में माने गए हैं । उनमें पृथिवी को छोड़कर और किसी में गन्धवत्त्व नहीं रहता । [जल या वायु में जो सुगन्ध, दुर्गन्ध प्रतीत होता है वह पार्थिव परमाणुओं के संबंध से ही होता है] इसी प्रकार पृथिवी के असमानजातीय गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, समवाय आदि पदार्थ वैशेषिक ने माने हैं उनमें भी गन्ध नहीं रहती इसलिए

गन्धवत्त्व पृथिवी को समानजातीय और असमानजातीय पदार्थों से भिन्न करने वाला पृथिवी का असाधारण धर्म होता है। इसी को लक्षण कहते हैं। 'लक्षणन्त्वसाधारणधर्मवचनम् ।' समानासमानजातीय से भेद करना ही लक्षण का प्रयोजन है। 'समानासमानजातीय व्यवच्छेदो हि लक्षणार्थः ।'

विशेषण वर्तमान व्यावर्तक धर्म होता है और अवर्तमान व्यावर्तक धर्म को 'उपलक्षण' कहते हैं। जैसे 'काकवद् देवदत्तस्य गृहम्' यहां काकवत्त्व देवदत्त के गृह का लक्षण या विशेषण नहीं अपितु 'उपलक्षण' है। इसका अभिप्राय यों समझना चाहिये कि कभी दो आदमी साथ-साथ कहीं गए। एक मकान पर उन्होंने बहुत कौए से बैठे देखे जिसके कारण उन दोनों का ध्यान उस ओर गया। वह अपने घर चले आए। पीछे किसी दिन उनमें से एक आदमी को देवदत्त के घर का परिचय देने की आवश्यकता पड़ी। उस समय यह वाक्य प्रयुक्त किया गया है। उसका अभिप्राय यह है कि जिस घर पर कौए बैठे थे वही देवदत्त का घर है। यहां जिस समय यह वाक्य देवदत्त के घर का परिचय करा रहा है उस समय उस पर कौए न बैठे होने पर भी यह काकवद् पद देवदत्त के गृह का अन्य गृहों से विभेद बोध कराता है। इस प्रकार वर्तमान व्यावर्तक धर्म को विशेषण तथा अवर्तमान व्यावर्तक को 'उपलक्षण' कहते हैं। यही विशेषण और उपलक्षण का भेद है।

ध्वनि को भाक्त मानने वाले पक्ष के तीन विकल्प करके उनका खण्डन किया गया है। इनमें से पहिले भक्ति और ध्वनि का अभेद मानने वाले विकल्प का खण्डन तो 'भक्त्या बिभर्ति नैकत्वं' इत्यादि कारिका के पूर्वार्द्ध से हो गया और दूसरे लक्षणवादी विकल्प का खण्डन कारिका के उत्तरार्द्ध से मुख्यतः, और आगे की कारिकाओं में भी किया है। तीसरे 'उपलक्षण' पक्ष के विषय में आगे १६ वीं कारिका में कहेंगे।

'उपचारमात्रं भक्तिः' में उपचार शब्द का अर्थ गौण प्रयोग है। जो शब्द जिस अर्थ में सङ्केतित है उस अर्थ को छोड़ कर उससे संबद्ध अन्य अर्थ को बोधन करना उपचार कहाता है। और व्यङ्ग्य का जहां प्राधान्य होता है उसे ध्वनि कहते हैं इस रूपभेद के कारण ध्वनि और भक्ति अभिन्न नहीं हो सकते। यह प्रथम विकल्प का खण्डन हुआ।

२-यह भक्ति ध्वनि का लक्षण भी नहीं हो सकती है, यह कहते हैं :—

[1]मा चैतत् स्याद् भक्तिर्लक्षणं ध्वनेरित्याह :—

अतिव्याप्तेरथाव्याप्तेर्न चासौ लक्ष्यते तया ॥१४॥

[2]नैव भक्त्या ध्वनिर्लक्ष्यते। कथम् ? अतिव्याप्तेरव्याप्तेश्च। तत्रातिव्याप्तिर्ध्वनिव्यतिरिक्तेऽपि विषये भक्तेः संभवात्। यत्र हि [3]व्यङ्ग्यकृतं महत् सौष्ठवं नास्ति तत्राप्युपचरितशब्दवृत्त्या प्रसिद्ध्यनुरोधप्रवर्तितव्यवहाराः कवयो दृश्यन्ते। यथा—

परिम्लानं पीनस्तनजघनसङ्गादुभयतः,
तनोर्मध्यस्यान्तः परिमिलनमप्राप्य हरितम्।
इदं व्यस्तन्यासं[4] श्लथभुजलताक्षेपवलनैः,
कृशाङ्ग्याः सन्तापं वदति बिसिनीपत्रशयनम् ॥

अतिव्याप्ति और अव्याप्ति के कारण ध्वनि भक्ति से लक्षित भी नहीं हो सकता।

भक्ति ध्वनि का लक्षण भी नहीं हो सकती है। क्यों? अतिव्याप्ति और अव्याप्ति के कारण। उसमें अतिव्याप्ति इसलिए है कि ध्वनि से भिन्न विषय में भी भक्ति [लक्षणा] हो सकती है। जहां व्यङ्ग्य के कारण विशेष सौन्दर्य नहीं होता वहां भी कवि, प्रसिद्धिवश उपचार या गौणी शब्द वृत्ति से व्यवहार करते हुए देखे जाते हैं। जैसे—

यह श्लोक रत्नावली नाटिका में सागरिका के मदनशय्या को छोड़ कर लताकुञ्ज से चले जाने के बाद राजा और विदूषक के उस कुञ्ज में प्रवेश करने पर उस मदनशय्या की अवस्था को देख कर विदूषक के प्रति राजा की उक्ति है। उसमें राजा शय्या का वर्णन करता है।

कमलिनी पत्रों का यह शयन [सागरिका] के पीनस्तन और जघन के संसर्ग से दोनों ओर मलिन हो गया है और शरीर के बीच के [कमर] भाग का पत्रों से स्पर्श न होने के कारण [शय्या का] वह भाग हरा है। शिथिल भुजाओं के इधर उधर फेंकने के कारण इसकी रचना अस्तव्यस्त हो गई है। इस प्रकार यह कमलिनी पत्र की शय्या कृशाङ्गी [सागरिका] के सन्ताप को कहती है।

---

१ तत्रैतत्। नि० न च नि०. दी०। ३ व्यञ्जकत्वकृतं नि०।
४ प्रशिथिलभुजाक्षेपवलनैः नि०।

तथा :—

चुम्बिज्जइ सअहुत्तं अवरुन्धिज्जइ सहस्सहुन्तम्मि ।
विरमिअ पुणो रमिज्जइ पिओ जणो णत्थि पुनरुत्तम् ॥
[चुम्ब्यते शतकृत्वोऽवरुध्यते सहस्रकृत्वः ।
विरम्य पुना रम्यते प्रियो जनो नास्ति पुनरुक्तम् ॥ इतिच्छाया]

तथा :—

कुविआओ पसन्नाओ ओरुण्णमुहीओ विहसमाणाओ ।
जह गहिओ तह हिअअं हरन्ति उच्छिन्त महिलाओ ॥
[कुपिताः प्रसन्ना अवरुदितमुख्यो[1] विहसन्त्यः ।
यथा गृहीतास्तथा हृदयं हरन्ति स्वैरिण्यो महिलाः ॥ इतिच्छाया]

यहां 'वदति' का अर्थ प्रकट करना है, यह बात स्पष्ट है । इस अगूढ़ बात को यदि 'वदति' पद से लक्षणा से कहने के बजाय 'प्रकटयति' पद से अभिधा द्वारा प्रकाशित किया जाता तो भी कोई अचारुत्व नहीं होता । और अब लक्षणा द्वारा कहने से उसमें कोई अधिक चारुत्व नहीं हो गया । इस प्रकार यहां व्यङ्ग्यप्राधान्य रूप ध्वनि के न होने पर भी 'वदति' पद में लक्षणा रूप भक्ति का आश्रय लिया गया है अतएव भक्ति के अतिव्याप्त होने से वह ध्वनि का लक्षण नहीं हो सकती ।

इसी प्रकार—

प्रिय जन को सैकड़ों बार चुम्बन करते हैं, हजारों बार आलिङ्गन करते हैं। रुक-रुक कर बार-बार रमण किया जाता है फिर भी पुनरुक्त नहीं प्रतीत होता ।

यहां पुनरुक्त अर्थ तो असंभव है इसलिए पुनरुक्त पद से अनुपादेयता लक्षित होती है । यहां भी व्यङ्ग्य-प्राधान्य रूप ध्वनि न होने पर भी पुनरुक्त पद से लक्षणा द्वारा अनुपादेयता अर्थ लक्षित होने से अतिव्याप्ति के कारण भक्ति ध्वनि का लक्षण नहीं हो सकती ।

इसी प्रकार :—

स्वैरिणी स्त्रियां नाराज़ या प्रसन्न, हंसती हुई या रोती हुई, जैसे भी देखो [सभी रूप में] वह मन को हरण कर लेती हैं ।

---

[1] वदनाः नि० ।

तथा :—

अज्जाए पहारो णवलदाए दिण्णो पिएण थणवट्टे ।
मिउओ वि दूसहो जाओ हिअए सवत्तीणम् ॥
[¹आर्याया: प्रहारो नवलतया दत्तः प्रियेण स्तनपृष्ठे ।
मृदुकोऽपि दुस्सह इव जातो हृदये सपत्नीनाम् ॥ इतिच्छाया]

तथा :—

परार्थे यः पीडामनुभवति भङ्गेऽपि मधुरो,
यदीयः सर्वेषामिह खलु विकारोऽप्यभिमतः ।
न संप्राप्तो वृद्धिं यदि स भृशमक्षेत्रपतितः,
किमिक्षोर्दोषोऽसौ न पुनरगुणाया मरुभुवः ।

अत्रेक्षुपक्षेऽनुभवतिशब्दः ।

न चैवंविधः कदाचिदपि ध्वनेर्विषयः² ॥१४॥

यहां गृहीता पद से उपादेयता और हरण पद से उनकी आधीनता लक्षणा द्वारा बोधित होती है। परन्तु ध्वनि का अवसर न होने से यहां भी अतिव्याप्ति है। अतः भक्ति ध्वनि का लक्षण नहीं हो सकती है

इसी प्रकार—

नई नवेली होने से कनिष्ठा भार्या के स्तनों पर दिया हुआ प्रिय [नायक] का मृदु प्रहार भी सपत्नियों के हृदय के लिए दुःसह हो गया।

यहां 'दत्तः' पद में लक्षणा है। 'दत्तः' प्रयोग 'डुदाञ् दाने' धातु से बना है। दान का लक्षण 'स्वस्वत्वनिवृत्तिपूर्वकं परस्वत्वोत्पादनं दानम्' अर्थात् किसी वस्तु पर से अपने अधिकार को हटा कर दूसरे का अधिकार स्थापित कर देना होता है। यह दान का अर्थ यहां असङ्गत होने से प्रतिफलित रूप अर्थ को लक्षणया बोधित करता है। यहां भी ध्वनि के अभाव में भी लक्षणा होने से अतिव्याप्ति है। अतः भक्ति [लक्षणा] ध्वनि का लक्षण नहीं हो सकसी है।

इसी प्रकार :—

जो [सज्जन पक्ष में] दूसरों के लिए पीड़ा सहन करता है, [इक्षु पक्ष में कोल्हू में पेला जाता है] जो [सज्जन पक्ष में] अपमानित होने पर भी [इक्षु पक्ष में तोड़ा जाने पर भी] मधुर रहता है, जिसका विकार [सज्जन पक्ष में]

---

१ भार्यया: बालप्रिया०, कनिष्ठ भार्याया: दी०नि०। २ध्वनेर्विषयोऽभिमतः नि०।

यतः—

उक्त्यन्तरेणाशक्यं यत् तच्चारुत्वं प्रकाशयन् ।
शब्दो व्यञ्जकतां बिभ्रद् ध्वन्युक्तेर्विषयीभवेत् ॥ १५ ॥

अत्र चोदाहृते विषये नोक्त्यन्तराशक्यचारुत्वव्यक्तिहेतुः शब्दः ॥१५॥

किञ्च :—

रूढा ये विषयेऽन्यत्र शब्दाः स्वविषयादपि ।
लावण्याद्याः प्रयुक्तास्ते न भवन्ति पदं ध्वनेः ॥ १६ ॥

क्रोधादि, इक्षु पक्ष में उससे बनी गुड़ शक्कर आदि] भी सबको अच्छा लगता है वह यदि किसी अनुचित स्थान [इक्षु पक्ष में ऊसर खेत] में पड़ कर वृद्धि [पद समृद्धि या उन्नति को इक्षु पक्ष में आकार वृद्धि को] प्राप्त नहीं होता है तो क्या यह इक्षु [ईख, गन्ना] का दोष है उस निगु‍ण भूमि [स्वामी, इक्षु पक्ष में खेत] का दोष नहीं है ।

[यहां इक्षु पक्ष में 'अनुभवति' पद का मुख्यार्थ असङ्गत होने से लक्षणा द्वारा पीड्यमानत्व का बोध करता है । परन्तु व्यङ्ग्य का प्राधान्य न होने से ध्वनि नहीं है और ध्वनि के अभाव में भी भक्ति [लक्षणा] है इसलिए साध्याभाववद्वृत्तित्व रूप अतिव्याप्ति होने से भक्ति ध्वनि का लक्षण नहीं हो सकती ।

यहां इक्षु पक्ष में 'अनुभवति' शब्द [भाक्त] है । परन्तु ऐसा कभी भी ध्वनि का विषय नहीं होता ॥१४॥

क्योंकि—

उक्त्यन्तर से जो चारुत्व प्रकाशित नहीं किया जा सकता उसको प्रकाशित करने वाला व्यञ्जना व्यापार युक्त शब्द ही ध्वनि कहलाने का अधिकारी हो सकता है ।

और यहां ऊपर उद्धृत उदाहरणों में कोई शब्द उक्त्यन्तर से अशक्य चारुत्व को प्रकाशित करने का हेतु नहीं हैं [इसलिए ध्वनि का विषय नहीं है] ॥१५॥

और भीः—

जो लावण्य आदि शब्द अपने विषय [लवणयुक्तत्व] से भिन्न [सौन्दर्यादि] अर्थ में रूढ़ [प्रसिद्ध] हैं, वे भी प्रयुक्त होने पर ध्वनि का विषय नहीं होते ।

तेषु चोपचरितशब्दवृत्तिरस्तीति[1] । तथाविधे च विषये क्वचित् संभवन्नपि ध्वनिव्यवहारः प्रकारान्तरेण प्रवर्तते, न तथाविधशब्द-मुखेन ॥१६॥

अपि च :—

मुख्यां वृत्तिं परित्यज्य गुणवृत्त्याऽर्थदर्शनम् ।
यदुद्दिश्य फलं, तत्र शब्दो नैव स्खलद्गतिः ॥ १७ ॥

तत्र हि चारुत्वातिशयविशिष्टार्थप्रकाशनलक्षणे प्रयोजने कर्तव्ये यदि शब्दस्यामुख्यता तदा तस्य प्रयोगे दुष्टतैव स्यात् । न चैवम् ॥१७॥

लक्षणा में रूढ़ि या प्रयोजन में से एक का होना आवश्यक है इस दृष्टि से लक्षणा के दो भेद हो जाते हैं । इन दोनों भेदों में से पहिले रूढि वाले भेद में भक्ति-लक्षणा-तो रहती है परन्तु प्रयोजन रूप व्यङ्ग्य या ध्वनि का अभाव होता है । दूसरे प्रयोजन वाले भेद में प्रयोजन व्यङ्ग्य तो होता है परन्तु वह लक्षणा से नहीं, व्यञ्जना से बोधित होता है । इसलिये भक्ति ध्वनि का लक्षण नहीं हो सकती । इसी बात का क्रमशः प्रतिपादन करने के लिए १६ तथा १७ कारिका लिखी हैं ।

उन [लावण्य आदि शब्दों] में उपचरित गौणी शब्द वृत्ति तो है [परन्तु ध्वनि नहीं है] । इस प्रकार के उदाहरणों में यदि कहीं ध्वनि व्यवहार सम्भव भी हो तो वह उस प्रकार के [लावण्य; आनुलोम्य, प्रातिकूल्य आदि] शब्द द्वारा नहीं अपितु प्रकारान्तर से होता है ॥१६॥

और भी :—

जिस [शैत्यपावनत्वादि] फल को लक्ष्य में रख कर ['गङ्गायां घोषः' इत्यादि वाक्यों में] मुख्य [अभिधा] वृत्ति को छोड़ कर गुण वृत्ति [लक्षणा] द्वारा अर्थ बोध कराया जाता है उस फल का बोधन करने में शब्द बाधितार्थ [स्खलद्गति] नहीं है ।

उस चारुत्वातिशय विशिष्ट अर्थ के प्रकाशन रूप प्रयोजन के संपादन में यदि शब्द गौण [बाधितार्थ] हो तब तो उस शब्द का प्रयोग दूषित ही होगा । परन्तु ऐसा नहीं है ।

इसका अभिप्राय यह है कि शब्द का मुख्य अर्थबोधक व्यापार अभिधा है । साधारणतः अभिधा द्वारा बोधित मुख्यार्थ में ही हम शब्दों का प्रयोग करते हैं । परन्तु कहीं-कहीं मुख्यार्थ को छोड़ कर उससे सम्बद्ध किसी अन्य अर्थ में

---

१. तेषु से अस्ति तक का पाठ दी० मे नहीं है ।

भी शब्दों का प्रयोग करते हैं। ऐसे प्रयोगों के समय कोई विशेष कारण हमारे सामने अवश्य होता है। ये कारण दो प्रकार के हैं एक तो रूढ़ि दूसरा विशेष प्रयोजन। रूढ़ि का अर्थ प्रसिद्धि है। रूढ़ि का उदाहरण लावण्य, आनुलोम्य, प्रातिकूल्य आदि शब्द हैं। 'लवणस्य भावो लावण्यम्'। लवण के भाव अथवा लवणयुक्तत्व को लावण्य कहना चाहिये। यही उसका मुख्यार्थ है। परन्तु हम लावण्य शब्द का प्रयोग इस अर्थ में न करके सौन्दर्य के अर्थ में करते हैं। इसका कारण रूढ़ि या प्रसिद्धि ही है। लावण्य शब्द बहुल प्रयोग के कारण सौन्दर्य अर्थ में रूढ़ हो गया है। इसी प्रकार 'लोम्नामनुकूलं अनुलोमं मर्दनम्।' शरीर की रोमों के अनुकूल मालिश अनुलोम मर्दन है। पैर में मालिश करते समय यदि नीचे से ऊपर की ओर मालिश की जाय तो वह अनुलोम नहीं प्रतिलोम मर्दन होगा। रोमों के अनुकूल यह अनुलोम शब्द का अर्थ हुआ। इसी प्रकार 'कूलस्य प्रतिपक्षतया स्थितं स्रोतः प्रतिकूलम्।' नदी की धारा कूल अर्थात् किनारे को काट देती है इसलिए कूल के प्रतिपक्ष विरोधी रूप होने से प्रतिकूल कहलाती है। यह उनके मुख्यार्थ हैं। परन्तु उनका प्रयोग उस मुख्यार्थ को छोड़ कर तत् सदृश अनुकूल और विरुद्ध अर्थ में होता है। यह अर्थ यद्यपि उन शब्दों के वाच्यार्थ नहीं हैं फिर भी बहुल प्रयोग के कारण उन अर्थों में रूढ़ हो गए हैं। इसलिए रूढ़ि लक्षणा के उदाहरण होते हैं। इनमें भक्ति 'लक्षणा' तो होती है परन्तु व्यङ्ग्य का ही अभाव होने से व्यङ्ग्य प्राधान्य रूप ध्वनि नहीं होती। इसका प्रतिपादन १६वीं कारिका में किया है।

दूसरी प्रयोजनवती लक्षणा होती है। इसमें किसी विशेष प्रयोजन से मुख्यार्थ को छोड़ कर गौण अर्थ में शब्द का प्रयोग किया जाता है। जैसे 'गङ्गायां घोषः।' गङ्गा का अर्थ गङ्गा की जलधारा है, और घोष का अर्थ आभीर पल्ली-घोषियों की बस्ती या नगला-है। 'गङ्गायां' में सप्तमी विभक्ति का अर्थ आधारत्व है। इस प्रकार जलप्रवाह के ऊपर घोष है यह वाक्यार्थ होता है। परन्तु जलप्रवाह के ऊपर घोसियों की बस्ती बन नहीं सकती। इसलिए गङ्गा शब्द तट रूप अर्थ का बोध कराता है और उसका अर्थ [गङ्गा के] किनारे पर घोष है, यह होता है। इस बात को सीधे 'गङ्गातटे घोषः' इन शब्दों में भी कह सकते थे। और उस दशा में अभिधा शक्ति से ही काम चल जाता। परन्तु वक्ता ने 'गङ्गातटे घोषः' न कह कर जो 'गङ्गायां घोषः' कहा है उसका विशेष प्रयोजन है। तट की सीमा बहुत दूर तक है। इलाहाबाद और कानपुर गङ्गा तट के नगर हैं। उनका गङ्गा से सबसे अधिक दूर का भाग भी जो कई मील दूर हो सकता है, गङ्गा तट

की सीमा में आ जाता है। वहां तक गङ्गा के शत्य पावनत्वादि धर्मों का कोई प्रभाव नहीं रहता। परन्तु जो स्थान ठीक गङ्गा के तट पर ही है वहां शत्य भी होगा और पावनत्व भी। यह आभीर पल्ली [घोष] बिल्कुल गङ्गा में ही है अतः वहां शैत्य-पावनत्व का अतिशय है इस बात को बोधन करने के लिए 'गङ्गायां घोषः' इस प्रकार का प्रयोग किया गया है। शत्यपावनत्व का बोधन करना लक्षणा का प्रयोजन है। यहां लक्षणा शक्ति से तट रूप अर्थ बोधित होता है और शत्यपावनत्व के अतिशय रूप प्रयोजन का बोध व्यञ्जना वृत्ति से होता है। उसका बोध लक्षणा से नहीं हो सकता। इसी बात का प्रतिपादन १७वीं कारिका में किया गया है।

'गङ्गायां घोषः' इस वाक्य में पहिले अभिधा शक्ति से वाच्यार्थ उपस्थित होता है उसका बाध होने पर लक्षणा से तट रूप अर्थ प्रतीत होता है यह लक्ष्यार्थ होता है। अर्थात् जिस अर्थ को हम लक्ष्यार्थ कहते हैं उससे पूर्व मुख्यार्थ का उपस्थित होना और उसका बाध होना यह दोनों बातें लक्षणा में आवश्यक हैं। अब यदि शैत्यपावनत्व के अतिशय को लक्ष्यार्थ मानना चाहें तो उससे पूर्व उपस्थित तट रूप अर्थ को मुख्यार्थ मानना और फिर उसका अन्वयानुपपत्ति या तात्पर्यानुपपत्ति रूप बाध मानना आवश्यक है। इसी के लिए कारिका में बाधितार्थ बोधक स्खलद्गति शब्द का प्रयोग किया गया है। परन्तु शैत्यपावनत्वातिशय बोध के पूर्व उपस्थित होनेवाला तट रूप अर्थ न तो गङ्गा शब्द का मुख्यार्थ ही है और न बाधित ही है। क्योंकि उसका घोष के साथ आधाराधेयभाव संबन्ध मानने में कोई बाधा नहीं है। फिर भी दुर्जन-तोष-न्याय से उसको बाधितार्थ मानें तो भी फिर उसके बाद उपस्थित होने वाले शैत्यपावनत्व के अतिशय को लक्ष्यार्थ कहना होगा। ऐसी दशा में गङ्गा पद के इस अर्थ में रूढ़ न होने से उस लक्षणा का कोई प्रयोजन मानना पड़ेगा। उस दूसरे प्रयोजन को भी लक्ष्यार्थ कहोगे तो फिर उसका भी तीसरा प्रयोजन मानना होगा और इस प्रकार अनवस्था होगी। इसलिए यह मार्ग ठीक नहीं है। यही १७वीं कारिका का अभिप्राय है। इसी विषय को मम्मट ने अपने काव्यप्रकाश में निम्न शब्दों में लिखा है :—

यस्य प्रतीतिमाधातुं लक्षणा समुपास्यते।
फले शब्दैकगम्येऽत्र व्यञ्जनान्नापरा क्रिया॥
नाभिधा समयाभावात्, हेत्वभावान्न लक्षणा।
लक्ष्यं न मुख्यं, नाप्यत्र बाधो, योगः फलेन नो॥
न प्रयोजनमेतस्मिन्, न च शब्दः स्खलद्गतिः।
एवमप्यनवस्था स्याद् या मूलक्षयकारिणी॥ का० प्र० २, १४, १६

जिस फल की प्रतीति कराने के लिए लक्षणा का आश्रय लिया जाता है, शब्द मात्र से बोध्य उस फल के बोधन में व्यञ्जना के अतिरिक्त दूसरा व्यापार संभव नहीं है।

संकेत न होने से अभिधा नहीं हो सकती और मुख्यार्थ बाधादि हेतुओं के न होने से लक्षणा नहीं हो सकती है। लक्ष्यार्थ न तो मुख्यार्थ ही है न उसका बाध ही होता है, न उसका फल के साथ सम्बन्ध है, न उसमें कोई प्रयोजन है और न शब्द स्खलद्गति है। और यह सब मानें भी तो मूल का ही विनाश कर देने वाली अनवस्था हो जावेगी।

अधिकांश लोग अन्वयानुपपत्ति को लक्षणा का बीज मानते हैं। परन्तु नागेश ने तात्पर्यानुपपत्ति को लक्षणा का बीज माना है। इसका कारण यह है कि 'काकेभ्यो दधि रक्ष्यताम्' में अन्वयानुपत्ति नहीं है। कोई अपना दही बाहर छोड़ कर ज़रा देर के लिए भीतर गया। उसे डर था कि मैं जितनी देर भीतर जाऊंगा उतने में कौए दधि को खराब न कर दें। इस लिए वह अपने पास के आदमी से कहता गया कि ज़रा कौओं से दही को बचाना। इस वाक्य के अन्वय में कोई बाधा न होने से लक्षणा का अवसर नहीं है। परन्तु यहाँ काक पद की लक्षणा 'दध्युपघातक' अर्थ में होती है। कहने वाले का तात्पर्य यह नहीं है कि केवल कौओं से बचाना और यदि कुत्ता आवे तो उसे खा जाने देना। उसका अभिप्राय तो दही के उपघातक सबसे ही बचाने में है। इस लिए तात्पर्यानुपपत्ति को लक्षणा का बीज मानने से ही लक्षणा हो सकती है। अतएव नागेश अन्वयानुपपत्ति के बजाय तात्पर्यानुपपत्ति को लक्षणा का बीज मानते हैं।

इसलिए जिस शैत्यपावनत्वादि रूप प्रयोजन के बोधन के लिए मुख्यवृत्ति अभिधा को छोड़ कर गुणवृत्ति लक्षणा से अर्थ प्रतिपादन किया जाता है वह प्रयोजन लक्षणा से नहीं अपितु व्यञ्जना से बोधित होता है। इस लिए लक्षणा व्यापार और व्यञ्जना व्यापार दोनों का विषय भेद है। 'गङ्गायां घोषः' में भक्ति का विषय तट और ध्वनि का विषय शैत्यपावनत्व है। विषय भेद होने से उन दोनों में धर्म-धर्मि भाव नहीं हो सकता। धर्मिगत कोई धर्म विशेष ही लक्षण होता है। ध्वनि और भक्ति में धर्म-धर्मिभाव न होने से भी भक्ति ध्वनि का लक्षण नहीं। वाचक शब्द से बोधित मुख्यार्थ का बाध होने पर ही लक्षणा प्रवृत्त होती है इस लिए लक्षणा वाचकाश्रित या अभिधापुच्छभूता है, वह विषय भेद होने से व्यञ्जनामात्राश्रित ध्वनि का लक्षण नहीं हो सकती। विषयता सम्बन्ध से भक्ति का अधिकरण तीर और ध्वनि का अधिकरण शत्यपावनत्व है। अतः एकविषय-

तस्मात् :—

वाचकत्वाश्रयेणैव गुणवृत्तिर्व्यवस्थिता ।
व्यञ्जकत्वैकमूलस्य ध्वनेः स्याल्लक्षणं कथम् ॥ १८ ॥

तस्मादन्यो ध्वनिः, अन्या च गुणवृत्तिः ।

अव्याप्तिरप्यस्य लक्षणस्य । नहि ध्वनिप्रभेदो विवक्षितान्यपर-वाच्यलक्षणः, अन्ये च बहवः प्रकाराः भक्त्या व्याप्यन्ते । तस्माद् भक्ति-रलक्षणम् ॥१८॥

घटित स्वविषयविषयकत्व रूप परम्परासम्बन्धेन भक्ति के ध्वन्यवृत्ति होने से भक्ति ध्वनि का लक्षण नहीं हो सकती ॥१७॥

इस लिए—

वाचक के आश्रय स्थित होने वाली गुणवृत्ति-भक्ति केवल व्यञ्जनामूलक ध्वनि का लक्षण कैसे हो सकती है ।

इसलिए ध्वनि अलग है और गुण वृत्ति अलग ।

१४ वीं कारिका में "अतिव्याप्तेरथाव्याप्ते र्नचासौ लक्ष्यते तया" कहा था । उसमें यहां तक अतिव्याप्ति ['अलक्ष्यवृत्तित्वमतिव्याप्तिः'] दोष का निरूपण किया । आगे 'लक्ष्यैकदेशावृत्तित्वमव्याप्तिः' रूप अव्याप्ति दोष का प्रतिपादन करते हैं । अव्याप्ति और अतिव्याप्ति दोनों लक्षण के दोष हैं । इनके अतिरिक्त एक असंभव दोष और है 'लक्ष्यमात्रावृत्तित्वमसंभवः ।' यहां कारिकाकार ने अव्याप्ति तथा अतिव्याप्ति का ही उल्लेख किया है । जो लक्षण लक्ष्य के एक देश में न रहे उसको अव्याप्तिदोषग्रस्त कहा जाता है । यहां भक्ति को ध्वनि का लक्षण मानने में अव्याप्ति दोष भी आता है । ध्वनि के अभी अविवक्षित वाच्य तथा विवक्षितान्यपरवाच्य दो भेद बताए थे । अतएव भक्ति को यदि ध्वनि का लक्षण माना जाय तो इन दोनों भेदों में भक्ति का अस्तित्व अपेक्षित है ।

इस लक्षण की अव्याप्ति भी है । विवक्षितान्यपरवाच्य [अभिधामूल] ध्वनि और ध्वनि के अन्य अनेक प्रकारों में भक्ति या लक्षणा व्याप्त नहीं रहती है इस लिए भक्ति ध्वनि का लक्षण नहीं है ।

यहां भक्ति को ध्वनि का लक्षण मानने में अव्याप्ति दोष दिखाया है कि विवक्षितान्ययरवाच्य-अभिधामूल-ध्वनि के उदाहरणों में ध्वनि तो रहती है परन्तु वहां भक्ति या लक्षणा नहीं रहती इसलिए भक्ति अव्याप्त है । यह विषय

थोड़ा विवादग्रस्त है इसलिए उसका अधिक स्पष्टीकरण अपेक्षित है। ऊपर विवक्षितान्यपरवाच्य ध्वनि का उदाहरण 'शिखरिणि' आदि श्लोक दिया था। उसकी व्याख्या करते हुए [पृष्ठ ७६ पर] लिखा था कि साधारणतः उसमें अभिधा, तात्पर्या और व्यञ्जना—इन तीन वृत्तियों के व्यापार होते हैं। परन्तु उसके साथ दूसरा विकल्प यह भी दिखाया था कि "यदि वा आकस्मिकविशिष्टप्रश्नार्थानुपपत्तेमुख्यार्थबाधायां सादृश्याल्लक्षणा भवतु मध्ये। तेन च द्वितीयभेदेऽपि चत्वार एव व्यापाराः।" लोचन। अर्थात् इस श्लोक में यह जो प्रश्न किया गया है उस आकस्मिक प्रश्न का कोई अवसर न होने से वह अनुपपन्न है इस प्रकार मुख्यार्थ बाध मान कर बीच में सादृश्य से लक्षणा व्यापार भी मानने से इस उदाहरण में भी चार व्यापार हो जाते हैं। परन्तु ध्वनन में लक्षणा के विशेष सहकारी न होने से लक्षणामूल ध्वनि से भेद रहेगा। इस सादृश्य-मूलक लक्षणा को आलङ्कारिक गौणी लक्षणा नाम से व्यवहृत करते हैं। परन्तु मीमांसक गौणी को लक्षणा से भिन्न अलग वृत्ति मानते हैं। उनके मत से लक्षणा और गौणी का भेद यह है कि 'गौणे शब्दप्रयोगो न लक्षणायाम्'। "सिंहो माणवकः" यह गौणी का उदाहरण है इसमें सिंह शब्द गौणी वृत्ति से क्रौर्यादि विशिष्ट प्राणी का बोधक होता है और उसका माणवक पद के साथ सामानाधिकरण्य होता है। पदों के सामानाधिकरण्य का अभिप्राय विभिन्न रूपेण एकार्थावबोधकत्व है सिंह और माणवक पद के सामानाधिकरण्य का अभिप्राय यही है कि वे दोनों भिन्न-भिन्न रूप से एक माणवक अर्थ को ही बोधन करते हैं। इस प्रकार सिंह पद और माणवक पद दोनों सामानाधिकरण्य के कारण एक ही अर्थ को बोधन करते हैं। फिर भी दोनों शब्दों का प्रयोग होता है इसी से यह गौणी है। 'गौणे शब्दप्रयोगो न लक्षणायाम्।' 'गङ्गायां घोषः' इस लक्षणा के उदाहरण में तटार्थ के बोधक शब्द का प्रयोग नहीं होता यही लक्षणा और गौणी का भेद है। परन्तु आलङ्कारिकों के मत में यह शब्द प्रयोग भी गौणी तथा लक्षणा का भेदक नहीं है। क्योंकि आलङ्कारिकों ने प्रकारान्तर से लक्षणा के सारोपा और साध्यवसाना भेद भी माने हैं।

विषयस्यानिगीर्णस्यान्यतादात्म्यप्रतीतिकृत् ।
सारोपा स्यान्निगीर्णस्य मता साध्यवसानिका ॥

जिसमें विषय का निगरण नहीं होता अर्थात् माणवक शब्द का भी प्रयोग होता है उसे सारोपा कहते हैं और जहां उसका निगरण हो जाता है वहां उसे साध्यवसाना कहते हैं। इस प्रकार जिसे मीमांसक गौणी कहता है वहां भी

लक्षणा व्याप्त रहती है। तब 'शिखरिणि' में सादृश्य से गौणी लक्षणा मानकर वहां भी चार व्यापार मान ही लिए तब यह कसे कहा जा सकता है कि विवक्षितान्यपरवाच्य ध्वनि में लक्षणा अव्याप्त होने से भक्ति को ध्वनि का लक्षण नहीं माना जा सकता।

इस प्रश्न का उत्तर यह है कि विवक्षितान्यपरवाच्य ध्वनि के असंलक्ष्यक्रम और संलक्ष्यक्रम व्यङ्ग्य यह दो मुख्य भेद आगे किये जावेंगे। इन दोनों में रसादि ध्वनि को असंलक्ष्यक्रम व्यङ्ग्य ध्वनि कहते हैं। और संलक्ष्यक्रम व्यङ्ग्य के पन्द्रह भेद किए गए हैं इनमें विवक्षितान्यपरवाच्य ध्वनि के समस्त भेदों में रस ध्वनि ही सबसे अधिक प्रधान है और उसमें मुख्यार्थबाध आदि का कोई अवसर नहीं है इसलिए उस मुख्य भेद में लक्षणा का अवसर न होने से विवक्षितान्यपर वाच्य ध्वनि में भक्ति की अव्याप्ति प्रदर्शित की है।

कुछ मीमांसक इस रसबोध में शब्द व्यापार की आवश्यकता नहीं मानते हैं। वह रस को अनुमान या स्मृति का विषय मानते हैं। उनका कहना है कि धूम दर्शन के बाद जैसे अग्नि की स्मृति हो आती है इसी प्रकार विभावादि के ज्ञान के अनन्तर रत्यादि चित्तवृत्ति की स्मृति हो आती है। इसलिए उसमें शब्द व्यापार की आवश्यकता ही नहीं है। तब उसमें भक्ति या लक्षणा की अव्याप्ति दिखाना और उसके आधार पर भक्ति को ध्वनि का अलक्षण कहना व्यर्थ है।

इस शङ्का का समाधान यह है कि क्या दूसरे की वृत्ति के परिज्ञान मात्र को आप रस समझते हैं अथवा स्वानुभवगोचर चर्वणात्मा अलौकिक आनन्दानुभव है उसको रस कहते हैं। यदि आप दूसरों की चित्तवृत्ति के परिज्ञान मात्र को रस समझते हैं तो यह आपका भ्रम है। हम उसे रस नहीं कहते। यह अवश्य है कि उसका परिज्ञान अनुमान या स्मृति आदि से हो सकता है परन्तु वह हमारे यहां रस नहीं है हम तो अपने आत्मा में होने वाली अलौकिक आनन्द की अनुभूति को रस कहते हैं। वह अनुमेय नहीं है अतः हमारे यहां तो रस अनुमान का विषय नहीं है। उसको अनुमान द्वारा सिद्ध करने के लिए जो भी हेतु दिए जा सकते हैं वह सब हेत्वाभास मात्र है, रस वस्तुतः उससे परे है। इसलिए विवक्षितान्यपरवाच्य ध्वनि के प्रधान भेद रस ध्वनि और उसके प्रभेद रसाभास, भाव, भावाभास, भावोपशम, भावोदय, भावसन्धि, भावशवलता आदि ध्वनियों में मुख्यार्थ बाध के बिना ही रसादि की प्रतीति होने से भक्ति के प्रवेश का अवसर नहीं है और इस प्रकार अव्याप्ति होने से भक्ति ध्वनि का लक्षण नहीं हो सकती। यह स्पष्ट हो गया ॥१८॥

कस्यचिद् ध्वनिभेदस्य सा तु स्यादुपलक्षणम् ।

सा पुनर्भक्तिर्वक्ष्यमाणप्रभेदमध्यादन्यतमस्य भेदस्य यदि नामोपलक्षणतया संभाव्येत, यदि च गुणवृत्त्यैव ध्वनिर्लक्ष्यत इत्युच्यते तदभिधाव्यापारेण तदितरोऽलङ्कारवर्गः समग्र एव लक्ष्यत इति प्रत्येकमलङ्काराणां लक्षणकरणवैयर्थ्यप्रसङ्गः।

किञ्च,

लक्षणेऽन्यैः कृते चास्य पक्षसंसिद्धिरेव नः ॥१६॥

कृते वा पूर्वमेवान्यैर्ध्वनिलक्षणे पक्षसंसिद्धिरेव नः, यस्माद् ध्वनिरस्तीति नः पक्षः । स च प्रागेव संसिद्ध इति, अयत्नसम्पन्नसमीहितार्थाः सम्पन्नाः स्मः ।

वह भक्ति [वक्ष्यमाण प्रभेद वाले] ध्वनि के किसी विशेष भेद का ['काकवद् देवदत्तस्य गृहम्' के समान अविद्यमान व्यावर्तक] उपलक्षण हो सकती है ।

यदि वह भक्ति वक्ष्यमाण के प्रभेदों में से किसी विशेष भेद का 'उपलक्षण' [चतुर्थकक्षानिवेशी व्यञ्जना व्यापार काल में अवर्तमान व्यावर्तक] सम्भव हो और यदि [उसी के आधार पर] गुणवृत्ति से [समग्र] ध्वनि लक्षित हो सकती है यह कहा जाय तो अभिधा व्यापार से ही समग्र अलङ्कार वर्ग भी लक्षित हो सकता है इसलिए [वैयाकरणों और मीमांसकों द्वारा अभिधा का लक्षण कर देने पर और उसके द्वारा समस्त अलङ्कारों के लक्षित हो जाने से] अलग-अलग अलङ्कारों के लक्षण करना [भामह आदि आलङ्कारिकों का प्रयास] व्यर्थ ही है ।

और भी—

यदि अन्य लोगों ने ध्वनि का लक्षण कर दिया है तो हमारी पक्ष-सिद्धि ही होती है ।

अथवा यदि पहिले ही किन्हीं ने ध्वनि का लक्षण कर दिया है तो हमारी पक्षसिद्धि ही होती है । क्योंकि ध्वनि है—यही हमारा पक्ष है । और वह पहिले सिद्ध हो गया इसलिए हम बिना प्रयत्न के ही सफल मनोरथ हो गए [हमारी इष्टसिद्धि हो गई] ।

येऽपि सहृदयहृदयसंवेद्यमनाख्येयमेव ध्वनेरात्मानमाम्नासिषुस्तेऽपि न परीक्ष्यवादिनः। यत उक्तया नीत्या वक्ष्यमाणया च ध्वनेः सामान्य-विशेषलक्षणे प्रतिपादितेऽपि यद्यनाख्येयत्वं तत् सर्वेषामेव वस्तूनां तत्प्रसक्तम्।

यदि पुनर्ध्वनेरतिशयोक्त्यानया काव्यान्तरातिशायि तैः स्वरूप-माख्यायते तत्तेऽपि युक्ताभिधायिन एव ॥१६॥

इति श्री राजानकानन्दवर्धनाचार्यविरचिते ध्वन्यालोके
प्रथम उद्योतः।

उद्योत के प्रारम्भ में तीन अभाववादी, भक्तिवादी और अलक्षणीयता-वादी मत इस प्रकार ध्वनि विरोधी पांच पक्ष दिखाए थे। इनमें अभाववादी और भक्तिवादी मतों का खण्डन विस्तारपूर्वक इस उद्योत में किया है। इसी खण्डन प्रसङ्ग में 'यत्रार्थः शब्दो वा' [कारिका सं० १३] में ध्वनि का सामान्य लक्षण करके ध्वनि के अलक्षणीयतावाद का भी निराकरण कर ही दिया है। यह मान कर मूलकार ने अलक्षणीयतावाद के खण्डन के लिए अलग कारिका नहीं लिखी। परन्तु वृत्तिकार विषय को परिपूर्ण करने के लिए 'येऽपि' से प्रारम्भ कर 'युक्ताभिधायिनः' तक उस अलक्षणीयतावाद का खण्डन करते हैं।

जिन्होंने सहृदय हृदय संवेद्य ध्वनि के आत्मा को अवर्णनीय-अलक्षणीय कहा है उन्होंने भी सोच-समझ कर ऐसा नहीं कहा है। क्योंकि अब तक कही हुई तथा आगे कही जाने वाली नीति से ध्वनि के सामान्य और विशेष लक्षण प्रतिपादित कर देने पर भी यदि ध्वनि को अलक्षणीय कहा जाय तो फिर ऐसा अलक्षणीयत्व तो सभी वस्तुओं में आ जावेगा।

यदि वह इस अतिशयोक्ति द्वारा [वेदान्तियों के अनिर्वचनीयता वाद के समान] ध्वनि का अन्य काव्यों से उत्कृष्ट स्वरूप का प्रतिपादन करते हैं तब तो वह भी ठीक ही कहते हैं ॥१६॥

इति श्रीमदाचार्यविश्वेश्वरसिद्धान्तशिरोमणिविरचितायां
आलोकदीपिकाख्यायां हिन्दीव्याख्यायां
प्रथम उद्योतः।

द्वितीय उद्योतः

एवमविवक्षितवाच्यविवक्षितान्यपरवाच्यत्वेन [1] ध्वनिर्द्विप्रकारः प्रकाशितः । तत्राविवक्षितवाच्यस्य प्रभेदप्रतिपादनायेदमुच्यते ।

अर्थान्तरे संक्रमितमत्यन्तं वा तिरस्कृतम् ।
अविवक्षितवाच्यस्य ध्वनेर्वाच्यं द्विधा मतम् ॥ १ ॥

तथाविधाभ्यां च ताभ्यां व्यङ्ग्यस्यैव विशेषः[2] ।

अथ 'आलोकदीपिकायां' द्वितीय उद्योतः

इस प्रकार [प्रथम उद्योत में] अविवक्षितवाच्य [लक्षणामूल] और विवक्षितान्यपरवाच्य [अभिधामूल] भेद से दो प्रकार के ध्वनि का वर्णन किया था । उसमें से अविवक्षितवाच्य [लक्षणामूल] के भेदों [प्रभेद शब्द का अर्थ अवान्तर भेद और विवक्षितान्यपर वाच्य से अविवक्षितवाच्य का भेद दोनों किए हैं ।] के प्रतिपादन के लिए यह [कारिका] कहते हैं ।

अविवक्षितवाच्य ध्वनि का वाच्य [जिस वाच्य के अविवक्षित होने के कारण इस का नाम अविवक्षितवाच्य रखा गया है वह वाच्य] कहीं अर्थान्तर-संक्रमित और कहीं अत्यन्त तिरस्कृत होने से दो प्रकार का माना गया है।

उस प्रकार के [अर्थात् अर्थान्तर संक्रमित और अत्यन्त तिरस्कृत स्वरूप] उन दोनों [वाच्यों] से व्यङ्ग्यार्थ का ही विशेष [उत्कर्ष] होता है । [इस-लिए व्यङ्ग्यात्मक ध्वनि के प्रभेद के प्रसङ्ग में जो यह वाच्य के दो भेद प्रदर्शित किए हैं वह अप्रासङ्गिक नहीं हैं । क्योंकि उनके द्वारा व्यङ्ग्य का ही उत्कर्ष संपादन होता है ।]

अर्थान्तर संक्रमित में णिजन्त संक्रमित शब्द का प्रयोग किया है इसलिए उसका प्रयोजक कर्ता अपेक्षित है इसी प्रकार तिरस्कृत में भी कर्ता की अपेक्षा है । इन शब्दों के प्रयोग से यह सूचित किया है कि इस ध्वनि के व्यञ्जना

---

१ वाच्यत्वे नि० । २ इति व्यंग्यप्रकाशनपरस्य ध्वनेरेवायं प्रकारः । नि०दी० में अधिक है ।

व्यापार में जो सहकारी वर्ग लक्षणा, वक्तृविवक्षादि हैं उन्हीं के प्रभाव से वाच्यार्थ की यह दोनों अवस्थाएं होती हैं। कहीं वह अर्थान्तर मे संक्रमित कर दिया जाता है और कहीं अत्यन्त तिरस्कृत। यह व्यञ्जना के सहकारी वर्ग-मुख्यतः लक्षणा—का प्रभाव है। इसीलिए इस अविवक्षित वाच्य ध्वनि का दूसरा नाम लक्षणामूल ध्वनि भी है। अविवक्षित वाच्य ध्वनि में लक्षणा के प्रभाव से वाच्य अर्थान्तर-संक्रमित या अत्यन्त तिरस्कृत क्यों और कैसे हो जाता है इसके समझने के लिए लक्षणा की प्रक्रिया पर थोड़ा सा ध्यान देना चाहिए।

काव्यप्रकाशकार ने लक्षणा का निरूपण करते हुए उसके मुख्य दो भेद किए हैं, उपादान लक्षणा और लक्षण-लक्षणा। लक्षणा का सामान्य लक्षण है :—

मुख्यार्थबाधे तद्योगे रूढ़ितोऽथ प्रयोजनात्।
अन्योऽर्थो लक्ष्यते यत्सा लक्षणाऽऽरोपिता क्रिया ॥का० प्र० २, ६।

अर्थात् मुख्यार्थ के बाधित होने पर रूढ़ि अथवा प्रयोजन में से अन्यतर निमित्त से मुख्यार्थ से संबद्ध अन्य अर्थ की प्रतीति जिस शब्द शक्ति से होती है, शब्द में आरोपित उस शक्ति का नाम लक्षणा है। इस कारिका में 'तद्योगे' शब्द से मुख्यार्थ और लक्ष्यार्थ का सम्बन्ध आवश्यक बताया गया है। मुख्यार्थ से सम्बद्ध अर्थ ही लक्षणा से बोधित हो सकता है असंबद्धार्थ नहीं। असंबद्धार्थ में यदि लक्षणा होने लगे तो किसी पद की कहीं भी लक्षणा होने लगेगी। कोई व्यवस्था नहीं रहेगी। इसलिए संबन्ध का होना आवश्यक है। लक्षणा का नियन्त्रण करने वाले यह संबन्ध मुख्यतः पांच प्रकार के माने गए हैं।

अभिधेयेन संयोगात्सामीप्यात्समवायतः।
वैपरीत्यात् क्रियायोगाल्लक्षणा पञ्चधा मता ॥

इन पञ्चविध संबन्धों में सादृश्य संबन्ध परिगणित नहीं हुआ है इसलिए मीमांसक सादृश्यमूलक अन्यार्थ प्रतीति जनक 'गौणी' वृत्ति को लक्षणा से अलग मानते हैं। आलङ्कारिक इन पांचों को केवल शुद्धा लक्षणा का ही नियामक संबन्ध मानकर सादृश्यमूलक लक्षणा को गौणी लक्षणा नाम से लक्षणा का ही अवान्तर भेद मानते हैं।

लक्षणा के अवान्तर भेद करते हुए काव्यप्रकाशकार ने उसके उपादान लक्षणा और लक्षण लक्षणा यह मुख्य दो भेद माने हैं और उनके लक्षण इस प्रकार किए हैं :—

स्वसिद्धये पराक्षेपः, परार्थे स्वसमर्पणम् ।
उपादानं, लक्षणं, चेत्युक्ता शुद्धैव सा द्विधा ॥ का० प्र० २, १० ।

जहां मुख्यार्थ अपनी सिद्धि अर्थात् अन्वयानुपत्ति को दूर करने के लिए किसी अन्य अर्थ का आक्षेप करा लेता है और उस आक्षिप्त अर्थ की सहायता से अपने अन्वय को उपपन्न करा देता है उसको उपादान लक्षणा कहते हैं। इसका दूसरा नाम अजहत्स्वार्था भी है। जसे, 'श्वेतो धावति' या 'कुन्ताः प्रविशन्ति' उदाहरणों में धावन क्रिया श्वेत गुण में नहीं किसी द्रव्य में ही रह सकती है। श्वेत गुण के साथ धावन क्रिया का साक्षात् अन्वय बाधित है। इस लिए मुख्यार्थ बाधित होने से श्वेत शब्द समवाय संबन्ध से संबद्ध अश्व का आक्षेप करा लेता है। इस प्रकार लक्षणा से अश्व अर्थ के आ जाने पर 'श्वेत-गुणवान् अश्वो धावति' यह अन्वय बन जाता है उसमें कोई अनुपपत्ति नहीं रहती। इसमें श्वेत पद का अर्थ भी बना रहता है इसलिए इसको उपादान लक्षणा कहते हैं। इसी प्रकार 'कुन्ताः प्रविशन्ति' में अचेतन कुन्तों [भालों] में प्रवेश क्रिया का अन्वय अनुपपन्न है। इसलिए कुन्त शब्द, कुन्त के साथ संयोग सम्बन्ध संबद्ध कुन्तधारी पुरुष का आक्षेप करा लेता है। और उसकी सहायता से अन्वय उपपन्न हो जाता है यह दोनों उपादान लक्षणा के उदाहरण हैं।

लक्षण लक्षणा का उदाहरण 'गङ्गायां घोषः' है। इस वाक्य में जलप्रवाह रूप गङ्गा के साथ आभीर-पल्ली-घोसियों की बस्ती का आधाराधेय भाव से अन्वय अनुपपन्न होने पर घोष पदार्थ की आधेयता सिद्धि के लिए गङ्गा शब्द अपने अर्थ को समर्पित कर देता है। अर्थात् गङ्गा शब्द अपने अर्थ को छोड़ कर तट रूप अर्थ का लक्षणया बोध कराता है। इस प्रकार गङ्गा शब्द ने अपने अर्थ को छोड़ कर सामीप्य संबन्ध से तट रूप अर्थ का बोध कराया इसलिए यह लक्षण लक्षणा का उदाहरण है इसको जहत्स्वार्था भी कहते हैं।

इस प्रकार लक्षणा के दो मुख्य भेदों में से एक अजहत्स्वार्था उपादान लक्षणा में शब्द अपने मुख्य अर्थ को छोड़ता नहीं अपितु लक्षणा उसके सामान्य व्यापक अर्थ को किसी विशेष अर्थ में संक्रान्त करा देती है। इसी से उसको अजहत्-स्वार्था कहते हैं। यही अर्थान्तर संक्रमित वाच्य ध्वनि का मूल है। इसी के प्रभाव से अविवक्षित वाच्य ध्वनि के अर्थान्तर संक्रमित वाच्य भेद में वाच्य अर्थ अपनी स्थिति रखते हुए स्व विशेष में पर्यवसित होता है। इसीलिए उसको अर्थान्तर-संक्रमित वाच्य ध्वनि कहते हैं। 'नयने तस्यैव नयने' उसी के नेत्र नेत्र हैं जिसने...। इस में द्वितीय नयन शब्द भाग्यवत्तादि गुण विशिष्ट

तत्रार्थान्तरसंक्रमितवाच्यो यथा :—

स्निग्धश्यामलकान्तिलिप्तवियतो वेल्लद्बलाका घनाः,
वाताः शीकरिणः पयोदसुहृदामानन्दकेकाः कलाः ।
कामं सन्तु दृढ़ं कठोरहृदयो रामोऽस्मि सर्वं सहे,
वैदेही तु कथं भविष्यति हहा हा देवि धीरा भव ॥

इत्यत्र रामशब्दः । अनेन हि व्यङ्ग्यधर्मान्तरपरिणतः संज्ञी प्रत्याय्यते, न संज्ञिमात्रम्[1] ।

नयन का बोधक है । यदि दोनों शब्दों का साधारण नेत्र ही अर्थ करें तो पुनरुक्ति होगी इसलिए दूसरा नयन शब्द भाग्यवत्तादि गुण विशिष्ट नेत्रों का प्रतिपादक होने से अर्थान्तर संक्रमित वाच्य ध्वनि का उदाहरण होता है ।

लक्षणा का दूसरा भेद लक्षण-लक्षणा है । इसमें दूसरे के अन्वयसिद्धि के लिए एक शब्द अपने अर्थ को बिल्कुल छोड़ देता है । इसलिए इसको जहत्स्वार्था कहते हैं । मुख्यार्थ का अत्यन्त परित्याग ही उसका तिरस्कार है । इसलिए लक्षण-लक्षणा में वाच्यार्थ के अत्यन्त तिरस्कार-सर्वथा परित्याग-के कारण ही उसको जहत्स्वार्था कहते हैं । यही अविवक्षित वाच्य ध्वनि के अत्यन्त तिरस्कृत वाच्य भेद का मूल है । इस प्रकार अर्थान्तर संक्रमित वाच्य ध्वनि के नाम में जो णिजन्त संक्रमित पद का प्रयोग है वह व्यञ्जना की सहकारिणी लक्षणा-के प्रभाव को द्योतित करता है । आगे इन दोनों के उदाहरण देते हैं :—

स्निग्ध एवं श्याम कान्ति से आकाश को व्याप्त करने वाले, और बलाका; बकपंक्ति-जिनके पास बिहार कर रही है ऐसे सघन मेघ [भले ही उमड़ें], शीकर-छोटे-छोटे जल कणों-से युक्त [शीतल मन्द] समीर [भले ही बहे] और मेघों के मित्र मयूरों की आनन्दभरी कूकें भी चाहे कितनी ही [श्रवणगोचर] हों, मैं तो कठोर हृदय राम हूं सब कुछ सह लूंगा । परन्तु [अति सुकुमारी, कोमल हृदया, वियोगिनी] वैदेही की क्या दशा होगी ? हा देवि धैर्य रखना ।

इसमें राम शब्द [अर्थान्तर संक्रमित वाच्य] है । इससे केवल संज्ञिमात्र राम का बोध नहीं होता अपितु व्यङ्ग्य धर्म विशिष्ट [अत्यन्त दुःखसहिष्णु रूप संज्ञी] राम का बोध होता है ।

---

[1] न संज्ञामात्रम् नि० ।

यथा च ममैव विषमबाणलीलायाम्—

ताला जाअन्ति गुणा जाला दे सहिअएहि घेप्पन्ति ।
रइकिरणानुग्गहिआइँ होन्ति कमलाइँ कमलाइँ ॥

[*तदा जायन्ते गुणा यदा ते सहृदयैर्गृह्यन्ते ।*
रविकिरणानुगृहीतानि भवन्ति कमलानि कमलानि ॥ इति छाया]

इत्यत्र द्वितीयः कमलशब्दः ।

इस श्लोक के वक्ता राम हैं। अतएव 'रामोऽस्मि' के स्थान पर केवल 'अस्मि' कहने पर भी 'अहम्' पद की प्रतीति द्वारा राम का बोध हो जाता। इस लिए प्रकृत में राम पद का मुख्यार्थ अनुपपन्न होकर [अजहत्स्वार्था उपादान] लक्षणा द्वारा, अत्यन्त दुःखसहिष्णुत्व विशिष्ट राम का बोध कराता है। मैं राम हूँ अर्थात् पिता के अत्यन्त वियोग, राज्य त्याग, वनवास, जटाचीर धारण, स्त्री हरण आदि अनेक दुःखों का सहन करने वाला अत्यन्त कठोर हृदय राम हूँ मैं सब कुछ सहन कर सकूंगा। यहां 'दृढं कठोरहृदयः' यह पद उक्त लक्ष्यार्थ की प्रतीति में विशेष सहायक होता है। और राम पद अत्यन्त दुःखसहिष्णुत्व विशिष्ट राम का बोधक होने से अर्थान्तरसंक्रमित वाच्य ध्वनि का उदाहरण है। उन्हीं दुःख सहिष्णुत्व आदि धर्मों का अतिशय व्यङ्ग्य है।

यद्यपि ग्रन्थकार ने इसे केवल अर्थान्तर संक्रमित वाच्य के उदाहरण के रूप में प्रस्तुत किया है और अत्यन्त तिरस्कृत वाच्य का उदाहरण आगे देंगे। परन्तु यहां आकाश के निराकार होने से उसका लेपन संभव न होने से लिप्त शब्द अपने अर्थ को सर्वथा छोड़कर, व्याप्त अर्थ का बोध कराता है। इसी प्रकार 'पयोदसुहृदां' में सौहार्द चेतन का धर्म ही हो सकता है इसलिये मेघ में संभव न होने से सुहृद् शब्द अपने अर्थ को छोड़ कर लक्षणलक्षणा से आनन्ददायक अर्थ को बोधन कराता है इस प्रकार यह दोनों पद अत्यन्त तिरस्कृत वाच्य के उदाहरण भी हो सकते हैं। परन्तु ग्रन्थकार ने अत्यन्त तिरस्कृत वाच्य का अलग ही उदाहरण देना उचित समझा इसलिए वह आगे इसका उदाहरण देंगे। अभी अगला एक और उदाहरण अर्थान्तर संक्रमित वाच्य का ही स्वरचित विषम-बाण-लीला नामक काव्य से देते हैं।

और जैसे मेरे ही 'विषमबाणलीला' [नामक काव्य] में—

[गुण] गुण तभी होते हैं जब सहृदय उनको ग्रहण करते हैं; सूर्य की किरणों से अनुगृहीत कमल ही कमल होते हैं।

यहां द्वितीय कमल शब्द।

अत्यन्ततिरस्कृतवाच्यो यथादिकवेर्वाल्मीकेः—

रविसंक्रान्तसौभाग्यस्तुषारावृतमण्डलः ।
निश्वासान्ध इवादर्शश्चन्द्रमा न प्रकाशते ॥ इति

अत्रान्धशब्दः ।

यहाँ द्वितीय कमल शब्द लक्षणा द्वारा लक्ष्मीभाजनत्वादि धर्म विशिष्ट कमल का बोधक होने से अर्थान्तर संक्रमित है और चारुत्व का अतिशय व्यङ्ग्य है। इसी प्रकार पूर्वार्द्ध में गुण शब्द की भी आवृत्ति मान कर गुण तभी गुण होते हैं जब सहृदय उनको ग्रहण करते हैं। ऐसा अर्थ करना चाहिये। उस दशा में द्वितीय गुण शब्द उत्कृष्टत्वादि धर्म विशिष्ट गुण का बोधक होने से अर्थान्तर संक्रमित वाच्य होगा और उस उत्कर्ष का अतिशय व्यङ्ग्य होगा। यह दोनों श्लोक अर्थान्तर संक्रमित वाच्य ध्वनि के उदाहरण हुए। आगे अत्यन्त तिरस्कृत वाच्य के उदाहरण देते हैं।

अत्यन्त तिरस्कृत वाच्य [का उदाहरण] जैसे आदि कवि बाल्मीकि का [पंचवटी में हेमन्त वर्णन के प्रसङ्ग में रामचन्द्र जी का कहा हुआ यह श्लोक] :—

[हेमन्त में सूर्य के चन्द्रमा के समान अनुष्ण और आह्लाददायक हो जाने से] जिस [चन्द्रमा] की शोभा सूर्य में संक्रान्त हो गई है [अथवा सूर्य से प्रकाश को ग्रहण करने वाला] तुषार से आच्छादित मण्डल वाला चन्द्रमा निश्वास से मलिन दर्पण के समान प्रकाशित नहीं होता है।

यहां अन्ध शब्द।

अन्ध शब्द नेत्रहीन का वाचक है। चन्द्रमा में नेत्रहीनत्वरूप अन्धत्व अनुपपन्न होने से अन्ध शब्द अपने नेत्रविहीनत्व अर्थ को सर्वथा छोड़ कर अप्रकाश रूप अर्थ को जहत्स्वार्था लक्षणलक्षणा से बोधित करता है और अप्रकाशातिशय व्यङ्ग्य होता है। अन्ध शब्द अपने अर्थ को सर्वथा छोड़ कर अप्रकाश रूप अर्थ को बोधन करता है इसलिए अन्ध शब्द का मुख्यार्थ यहां अत्यन्त तिरस्कृत हो जाता है। इसी से इसको अत्यन्त तिरस्कृत वाच्य ध्वनि का उदाहरण माना है।

भट्ट नायक ने इस श्लोक की व्याख्या में 'इव' शब्द का यथाश्रुत अन्वय मान कर "इव शब्दयोगाद् गौणताप्यत्र न काचित्" लिख कर अन्ध पद में लक्षणा मानने की आवश्यकता नहीं समझी है। परन्तु उनकी यह व्याख्या सङ्गत

गअणं च मत्तमेहं धारालुलिअज्जुणाइँ अ वणाइं ।
णिरहङ्कारमिअङ्का हरन्ति नीलाओ वि णिसाओ ॥
[*गगनं च मत्तमेघं धारालुलितार्जुनानि च वनानि ।*
निरहङ्कारमृगाङ्का हरन्ति नीला अपि निशाः ॥ इति छाया]

अत्र मत्तनिरहङ्कारशब्दौ ॥१॥

नहीं है । 'इव' शब्द चन्द्रमा और आदर्श के उपमानोपमेय भाव का बोधक है । निश्वासान्ध पद आदर्श का विशेषण है । 'निश्वासान्ध आदर्श इव चन्द्रमा न प्रकाशते' इस प्रकार अन्वय होने से इव शब्द भिन्नक्रम है । इसलिए अन्ध पद को स्वार्थ में बाधित होने से जहत्स्वार्था लक्षणलक्षणा द्वारा अप्रकाशरूप अर्थ का बोधक मानना ही होगा और उस दशा में अप्रकाशातिशय को व्यञ्जना द्वारा बोधित कर यह अत्यन्त तिरस्कृत वाच्य ध्वनि का उदाहरण होगा ।

[न केवल ताराओं से भरा निर्मल आकाश हो अपितु] **मदमाते उमड़ते मेघों से आच्छादित आकाश** [भी, न केवल मन्द-मन्द मलय मारुत से आन्दोलित आम्र वन हो अपितु वर्षा को] **धाराओं से आन्दोलित अर्जुन वन** [और न केवल उज्वल चन्द्र किरणों से प्रज्वलित चांदनीं रातें ही मन को लुभाने वाली नहीं होतीं अपितु सौन्दर्य से रहित] **गर्वहीन चन्द्रमा वाली** [वर्षाकाल की अन्धकारमयी] **काली रातें भी मन को हरण करने वाली होती हैं ।**

यहां मत्त और निरहङ्कार शब्द ।

मद्य के उपयोग से पैदा हुई क्षीबता मत्त शब्द का, और सौन्दर्यादि के कारण उत्पन्न दर्प, अहङ्कार शब्द का मुख्यार्थ हैं । वह दोनों धर्म चेतन में ही रह सकते हैं । यहां मत्तता का मेघ के साथ और निरहङ्कारत्व का चन्द्रमा के साथ जो संबन्ध वर्णन किया है वह अनुपपन्न है । अतः मुख्यार्थ बाध के कारण यह 'मत्त' शब्द सादृश्यवश असमञ्जसकारित्व, दुर्निवारत्व आदि तथा निरहङ्कार शब्द विच्छायत्वादि धर्मों को व्यक्त करता है । अतएव यहां अत्यन्त तिरस्कृत वाच्य ध्वनि है ॥१॥

ऊपर ध्वनि के दो भेद किए थे । अविवक्षितवाच्य या लक्षणामूल ध्वनि और दूसरा विवक्षितान्यपरवाच्य या अभिधामूल ध्वनि । इनमें से पहिले अर्थात् अविवक्षितवाच्य [लक्षणामूल] ध्वनि के अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य और अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य यह दो अवान्तर भेद और किए । इसी प्रकार अब विवक्षितान्यपर वाच्य [अभिधामूल] ध्वनि के अवान्तर भेद दिखावेंगे । इसके भी पहिले दो

असंलक्ष्यक्रमोद्योतः क्रमेण द्योतितः परः ।
विवक्षिताभिधेयस्य ध्वनेरात्मा द्विधा मतः ॥ २ ॥

मुख्यतया प्रकाशमानो व्यङ्ग्योऽर्थो ध्वनेरात्मा । स च वाच्यार्थापेक्षया कश्चिदलक्ष्यक्रमतया[1] प्रकाशते, कश्चित् क्रमेणेति द्विधा मतः ॥२॥

भेद होते हैं । एक असंलक्ष्यक्रम व्यङ्ग्य और दूसरा संलक्ष्यक्रम व्यङ्ग्य । रस, भाव, तदाभास, भावशान्ति, भावोदय, भावसन्धि, भावशबलता रूप आस्वादप्रधान ध्वनि को असंलक्ष्यक्रम व्यङ्ग्य ध्वनि कहते हैं । इसके अवान्तर भेदों का अनन्त विस्तार हो जायेगा इस कारण उसका विस्तार नहीं किया गया है । अपितु असंलक्ष्यक्रम व्यङ्ग्य को एक ही भेद माना है । दूसरे संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य के अनेक भेद किए गए हैं । आगे विवक्षितान्यपरवाच्य [अभिधामूल] ध्वनि के असंलक्ष्यक्रम और संलक्ष्यक्रम व्यङ्ग्य दो भेद करके पहिले असंलक्ष्यक्रम व्यङ्ग्य के विषय में कुछ विशेष बातें लिखते हैं ।

विवक्षितवाच्य [अभिधामूल] ध्वनि का आत्मा [स्वरूप] असंलक्षित क्रम से और दूसरा संलक्षित क्रम से प्रकाशित [होने से] दो प्रकार का माना गया है ।

प्रधान रूप से प्रकाशित होने वाला व्यङ्ग्य अर्थ, ध्वनि का आत्मा [स्वरूप] है । और वह कोई वाच्यार्थ की अपेक्षा से अलक्षित क्रम से प्रकाशित होता है और कोई [संलक्ष्य] क्रम से, उस प्रकार दो तरह का माना गया है ।

कारिका में विवक्षिताभिधेय और ध्वनि दोनों का समानाधिकरण रूप से प्रयोग किया गया है । यों अभिधेय अभिधा शक्ति का और ध्वनि व्यञ्जना शक्ति का विषय होने से दोनों अलग-अलग हैं । परन्तु यहां दोनों का सान्निध्य और सामानाधिकरण्य, अभिधेय की अन्यपरता को व्यक्त करता है । तदनुसार विवक्षिताभिधेय का अर्थ विवक्षितान्यपरवाच्य करने से ध्वनि के साथ उसका सामानधिकरण्य उपपन्न हो जाता है । पहिली कारिका में अविवक्षितवाच्य [लक्षणामूल] ध्वनि के जो अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य और अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य दो भेद दिखाए हैं वह वाच्यार्थ की प्रतीति के स्वरूप भेद से दिखाए हैं और इस कारिका में विवक्षितान्यपरवाच्य ध्वनि के जो असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य और संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य दो भेद दिखाए हैं वह व्यञ्जना व्यापार के स्वरूप भेद से दिखाए हैं ॥२॥

---

१. तुल्यं प्रकाशते नि० ।

तत्र,

रसभावतदाभासतत्प्रशान्त्यादिरक्रमः ।
ध्वनेरात्माऽङ्गिभावेन भासमानो व्यवस्थितः ॥ ३ ॥

रसादिरर्थो हि [1]सहेव वाच्येनावभासते । स चाङ्गित्वेनावभासमानो ध्वनेरात्मा ॥३॥

प्रधान रूप से प्रकाशित होने वाला व्यङ्ग्य ही ध्वनि का स्वरूप है । अर्थात् जहां व्यङ्ग्य अर्थ का प्रधान्य होता है वहीं ध्वनि काव्य माना जाता है । इसका अर्थ यह हुआ कि जहां व्यङ्ग्य का प्राधान्य नहीं होता उसको ध्वनि काव्य नहीं माना जाता । इसलिए रस आदि व्यङ्ग्य भी अप्रधान होने की दशा में ध्वनि नहीं कहलाते हैं । केवल प्रधान होने की दशा में ही ध्वनि कहलाते हैं । और जहां वह किसी दूसरे अङ्गी के अङ्ग बन जाते हैं वहां रसवदादि अलङ्कार कहलाते हैं । अगली दो कारिकाओं में रसादि की प्रधानता और अप्रधानता मूलक ध्वनित्व और रसवदलङ्कारत्व का प्रतिपादन करते हैं ।

उनमें से :—

रस, भाव, तदाभास, [अर्थात् रसाभास और भावाभास] और भावशान्ति आदि [आदि शब्द से भावोदय, भावसन्धि और भावशबलता का भी ग्रहण करना चाहिए] अक्रम [असंलक्ष्य क्रम व्यङ्ग्य] अङ्गीभाव से [अर्थात् प्राधान्येन] प्रतीत होता हुआ ध्वनि के आत्मा [स्वरूप] रूप से स्थित होता है ।

रसादि रूप अर्थ वाच्य के साथ ही सा प्रतीत होता है । और वह प्रधान रूप से प्रतीत होने पर ध्वनि का आत्मा [स्वरूप] होता है ।

निर्णयसागरीय संस्करण में सहेव के स्थान पर सहैव पाठ है । 'वाच्येन सहैव अवभासते' वाच्य के साथ ही प्रकाशित होता है यह वाक्यार्थ उस पाठ के अनुसार होता है । इस पाठ और उसके अर्थ में कई दोष आ जाते है । एवकार के बल से, रसादि की प्रतीति वाच्य प्रतीत के साथ ही होती है यह अर्थ माना जाय तो वाच्य और रसादि की प्रतीति में कोई क्रम न होने से रसादि को अक्रम व्यङ्ग्य कहना चाहिए परन्तु सिद्धान्त पक्ष यह है कि रसादि की प्रतीति में क्रम होता तो अवश्य है परन्तु शीघ्रता के कारण [उत्पलशतपत्रव्यतिभेदवत् लाघवात्

---

१. सहैव नि० ।

न संलक्ष्यते] प्रतीत नहीं होता। इसलिए रसादि को असंलक्ष्यक्रम व्यङ्ग्य कहा जाता है अक्रमव्यङ्ग्य नहीं। दूसरी बात 'युगपज्ज्ञानानुत्पत्तिर्मनसो लिङ्गम् न्याय दर्शन १, १, १६ सूत्र' के अनुसार वाच्य और व्यङ्ग्य दोनों की एक साथ प्रतीति हो भी नहीं सकती। तीसरी बात यह है कि लोचनकार ने यहाँ 'एव' पाठ न मान कर 'इव' पाठ ही माना है। और लिखा है कि "सहेवेति इव शब्देनासंलक्ष्यता विद्यमानत्वेऽपि क्रमस्य व्याख्याता।" अर्थात् वाच्य और रस आदि व्यङ्ग्य की प्रतीति में क्रम होते हुए भी शीघ्रता के कारण प्रतीत नहीं होता यह असंलक्ष्यता ही इव शब्द से सूचित होती है। इसलिए निर्णयसागरीय पाठ असङ्गत है।

कारिका में रस के साथ भाव आदि का भी उल्लेख किया है। रस्यते आस्वाद्यते इति रसः' इस व्युत्पत्ति के अनुसार रस, भाव, रसाभास, भावाभास, भावशान्त्यादि सब ही रस श्रेणी में आते हैं। परन्तु फिर भी उन सब में कुछ भेद है।

रतिर्देवादिविषया व्यभिचारी तथाञ्जितः।
भावः प्रोक्तः, तदाभासा ह्यनौचित्यप्रवर्तिताः॥ का० प्र० ४, ३५

अर्थात् देवता, गुरु आदि विषयक रति-प्रेम, तथा अभिव्यक्त व्यभिचारी भाव को भाव कहते हैं। और रस तथा भाव के अनुचित वर्णन को रसाभास एवं भावाभास कहते हैं।

रस प्रक्रिया—

"विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद् रसनिष्पत्तिः" यह भरत मुनि का सूत्र है। इसका आशय यह है कि विभाव, अनुभाव और सञ्चारीभाव के संयोग से परिपुष्ट रत्यादि स्थायीभाव आस्वादावस्थापन्न होकर रस कहलाते हैं। यह भरत का मूल सूत्र सीधा-सा जान पड़ता है परन्तु वह बड़ा विवादग्रस्त रहा है। अनेक आचार्यों ने अनेक प्रकार से उसकी व्याख्या की है। काव्यप्रकाश में मम्मटाचार्य ने उनमें से १ भट्ट लोल्लट, २ श्री शंकुक, ३ भट्ट नायक, ४ अभिनवगुप्तपादाचार्य के चार मतों का उल्लेख किया है। 'लोचन' में भी इस सम्बन्ध में अनेक मतों का उल्लेख मिलता है। उन सब मतों को समझने के लिए पहिले रस प्रक्रिया के पारिभाषिक शब्द विभाव, अनुभाव, सञ्चारी भाव, स्थायी भाव आदि को समझ लेना चाहिए।

स्थायी भाव—

मनुष्य जो कुछ देखता, सुनता या अन्य किसी प्रकार अनुभव करता

है उस सबका संस्कार उसके मन पर रहता है। वह अनुभव तो क्षणिक होने से नष्ट हो जाता है परन्तु वह अपने पीछे एक स्थायी वस्तु 'संस्कार' छोड़ जाता है। जिसे 'वासना' भी कहते हैं। ये संस्कार अपने योग्य उद्बोधक सामग्री पाकर उद्बुद्ध हो जाते हैं। उस उद्बोधक सामग्री से न केवल इस समय या इस जन्म के अपितु पूर्वकालीन अनेक जन्म-जन्मान्तर से व्यवहित अथवा इस जन्म में भी अनेक देश-देशान्तर-व्यवहित संस्कारों का उद्बोध हो सकता है। योगदर्शन ने इन वासनाओं अथवा संस्कारों के अनादित्व और अत्यन्त सुदूरवर्ती संस्कारों की भी अभिव्यक्ति का वर्णन किया हैं।

तासामनादित्वञ्चाशिषो नित्यत्वात्। योगसूत्र ४,६।
जातिदेशकालव्यवहितानामप्यानन्तर्यं स्मृतिसंस्कारयोरेकरूपत्वात्। यो० ४,१०।

यदि हम इन संस्कारों की गणना करना चाहें तो वह असम्भव है। एक पुरुष में मन के एक जन्म के संस्कारों का परिगणन भी संभव नहीं है फिर उसके अपरिगणित पूर्व जन्म और संसार के अपरिमित प्राणियों के संस्कारों की गणना तो सर्वथा असंभव ही है। फिर भी प्राचीन आचार्यों ने उन संस्कारों का वर्गीकरण करने का प्रयत्न किया है। साहित्य शास्त्र की रस प्रक्रिया में स्थायीभाव शब्द से कहीं चार, कहीं आठ, कहीं नौ और कहीं दस स्थायीभावों का वर्णन किया गया है। वह उन अनादि कालीन संस्कारों या वासनाओं का वर्गीकृत रूप ही है। मन में स्थायी रूप से रहने वाली वासना या संस्कार का नाम ही स्थायी भाव है। इन संस्कारों में सबसे प्रबल और बहुसंख्यक वासनाएं १. राग, २. द्वेष, ३ उत्साह और ४. जुगुप्सा से सम्बन्ध रखने वाली होती है। क्योंकि वह प्राणी की सबसे अधिक स्वाभाविक प्रवृत्तियां हैं। और न केवल मानव योनि में अपितु पशु, पक्षी, कीट, पतङ्ग आदि सभी योनियों में पाई जाती हैं। साहित्यिक आचार्यों ने इन स्थायी भावों का परिगणन इस प्रकार किया है :—

रतिर्हासश्च शोकश्च क्रोधोत्साहौ भयं तथा।
जुगुप्सा विस्मयश्चेति स्थायीभावाः प्रकीर्तिताः॥ का० प्र० ४, ३०

रति, हास, शोक, क्रोध, उत्साह, भय, जुगुप्सा, और विस्मय यह आठ और कहीं निर्वेद या वैराग्य को भी मिला कर नौ स्थायीभाव माने हैं।

आलम्बन और उद्दीपन विभाव—

इन स्थायी भावों को उद्बुद्ध करने वाली सामग्री मुख्यतः दो प्रकार की है। एक आलम्बन और दूसरी उद्दीपन। नायक और नायिकादि के आलम्बन

से स्थायीभाव उद्बुद्ध होते हैं इसलिए उनको आलम्बनात्मक सामग्री या आलम्बन विभाव कहते हैं। बाह्य परिस्थिति उद्यान, प्राकृतिक सौन्दर्य आदि उसके उद्दीपक होने से उद्दीपन सामग्री में आते हैं और उद्दीपन विभाव कहलाते हैं। आलङ्कारिकों ने स्थायी-भावों की इस द्विविध उद्बोधक सामग्री को विभाव नाम से निर्दिष्ट किया है :—

रत्याद्युद्बोधका लोके विभावाः काव्यनाट्ययोः।
आलम्बनोद्दीपनाख्यौ तस्य भेदावुभौ स्मृतौ ॥
आलम्बनो नायकादिस्तमालम्ब्य रसोद्गमात्। सा० द० ३, २९
उद्दीपनविभावास्ते रसमुद्दीपयन्ति ये।
आलम्बनस्य चेष्टाद्या देशकालादयस्तथा ॥ सा० द० ३, १३१।

अनुभाव—

मन के भीतर स्थायी रूप से विद्यमान रत्यादि वासनाओं या स्थायीभावों का इस आलम्बन तथा उद्दीपन सामग्री अर्थात् विभावों से उद्बोधन मात्र होता है उत्पत्ति नहीं। भट्ट लोल्लट ने 'विभावैर्ललनोद्यानादिभिरालम्बनोद्दीपनकारणैः रत्यादिको भावो जनितः' लिखा है वहां 'जनितः' का अर्थ 'उद्बुद्धः' ही करना चाहिए। क्योंकि यदि रत्यादि की उत्पत्ति मानें तो फिर वह स्थायीभाव ही कहां रहा। इस प्रकार जब इस सामग्री से रत्यादि वासना उद्बुद्ध हो जाती है तो उन वासनाओं का प्रभाव बाहर दिखाई देने लगता है। मनोगत उद्बुद्ध वासना के अनुसार ही मनुष्य की चेष्टा, आकार-भङ्गी आदि में भेद हो जाता है। इसी को आलङ्कारिक लोग अनुभाव कहते हैं। विभाव तो रत्यादि के उद्बोध के कारण हैं और अनुभाव उनके कार्य हैं। इसीलिए इनको 'अनु पश्चात् भवन्तीति अनुभावाः' अनुभाव कहते हैं। यह अनुभाव हर एक वासना या स्थायी भाव के अनुसार अलग-अलग होते हैं।

उद्बुद्धं कारणैः स्वैर्बहिर्भावं प्रकाशयन्।
लोके यः कार्यरूपः सोऽनुभावः काव्यनाट्ययोः ॥ सा० द० ३, १३२।

इन अनुभावों में :—

स्तम्भः स्वेदोऽथ रोमाञ्चः स्वरभङ्गोऽथ वेपथुः।
वैवर्ण्यमश्रु प्रलय इत्यष्टौ सात्विकाः स्मृताः ॥ सा० द० ३, १३५।

इन आठ सात्विक भावों को प्रधान होने के कारण 'गोबलीवर्दन्याय' से अलग भी गिना दिया जाता है।

व्यभिचारी भाव—

स्थायी भाव से उल्टा व्यभिचारी भाव है उसको सञ्चारी भाव भी कहते हैं। स्थायी भाव की स्थायिता ही उसकी विशेषता है इसी प्रकार व्यभिचारी भाव का अस्थायित्व उसकी विशेषता है। स्थायी भाव की उपमा 'लवणाकर' से दी गई है। सांभर झील में जो कुछ डाल दो थोड़े समय में नमक बन जाता है। इसी प्रकार जो विरुद्ध या अविरुद्ध भावों से विच्छिन्न नहीं होता है वही स्थायी भाव है।

> विरुद्धैरविरुद्धैर्वा भावैर्विच्छिद्यते न यः।
> आत्मभावं नयत्याशु सः स्थायी लवणाकरः॥ दशरूपक ४,३४
> अविरुद्धा विरुद्धा वा यं तिरोधातुमक्षमाः।
> आस्वादांकुरकन्दोऽसौ भावः स्थायीति सम्मतः॥ सा० द० ३,१७४

इसके विपरीत सञ्चारी भाव या व्यभिचारी भाव समुद्र की तरङ्गों के समान अस्थिर है। वह स्थायी भाव के परिपोष में सहकारी होते हैं। उनकी संख्या ३३ मानी गई है।

> विशेषादाभिमुख्येन चरन्तो व्यभिचारिणः।
> स्थायिन्युन्मग्ननिर्मग्नाः कल्लोला इव वारिधेः॥ दशरूपक ४,७॥
> निर्वेदग्लानिशङ्काश्रमधृतिजड़ताहर्षदैन्यौग्र्यचिन्ता-
> स्त्रासेर्ष्यामर्षगर्वाः स्मृतिमरणमदाः सुप्तनिद्राविबोधाः।
> व्रीडापस्मारमोहाः समतिरलसता वेगतर्कावहित्था,
> व्याध्युन्मादौ विषादोत्सुकचपलयुतास्त्रिंशदेते त्रयश्च॥

रसास्वाद और रससंख्या—

यही विभाव, अनुभाव और सञ्चारीभाव रस की सामग्री हैं। आलम्बन और उद्दीपन विभाव स्थायीभाव को उद्बुद्ध करते हैं। अनुभाव उसको प्रतीति योग्य बनाते हैं और व्यभिचारी भाव उसको परिपुष्ट करते हैं। इस प्रकार इन सबके संयोग से स्थायीभाव रसन योग्य-आस्वाद योग्य हो जाता है। उसका आस्वाद होने लगता है। इसी आस्वादन या रसन को 'रस' कहते हैं। उस आस्वादन अवस्था का नाम ही रस है। उससे अतिरिक्त रस कुछ और नहीं है। इसलिए जहां कहीं 'रसःआस्वाद्यते' आदि व्यवहार होता है वहां 'राहोः शिरः' के समान विकल्प प्रतीति का विषय अथवा 'ओदनं पचति इतिवद्' औपचारिक प्रयोगमात्र समझना चाहिए।

श्रृंगारहास्यकरुणरौद्रवीरभयानकाः ।
बीभत्साद्भुतसंज्ञौ चेत्यष्टौ नाट्ये रसाः स्मृताः ॥ का० प्र० २९
निर्वेदस्थायिभावो हि शान्तोऽपि नवमो रसः । का० प्र० ३५

काव्य में श्रृङ्गारादि आठ और नवम शान्त रस इस प्रकार नौ रस माने गए हैं परन्तु नाटक में शान्त रस का परिपाक सम्भव न होने से उसको छोड़ कर आठ ही रस माने गए हैं। शान्त रस के सम्बन्ध में विवेचना करते हुए दशरूपक में लिखा है।

शममपि केचित् प्राहुः पुष्टिर्नाट्येषु नैतस्य। दश० ४, ३५
निर्वेदादिरताद्रूप्यादस्थायी स्वदते कथम्।
वैरस्यायैव तत्पोषस्तेनाष्टौ स्थायिनो मताः ॥ दश० ४, ३६।

इह शान्तरसं प्रति वादिनामनेकविधाः विप्रतिपत्तयः। केचिदाहुः नास्त्येव शान्तो रसः तस्याचार्येण विभावाद्यप्रतिपादनाल्लक्षणाकरणात्। अन्ये तु वस्तुतस्तस्याभावं वर्णयन्ति। अनादिकालप्रवाहायातरागद्वेषयोरुच्छेत्तुमशक्यत्वात्। अन्ये तु वीरबीभत्सादावन्तर्भावं वर्णयन्ति। तथा यथा अस्तु। सर्वथा नाटकादावभिनयात्मनि स्थायित्वमस्माभिः शमस्य निषिध्यते। तस्य समस्तव्यापारप्रविलयरूपस्याभिनयायोगात्। यत्तु कैश्चिन्नागानन्दादौ शमस्य स्थायित्वमुपवर्णितं तत्तु मलयवत्यनुरागेण आप्रबन्धप्रवृत्तेन, विद्याधरचक्रवर्तित्वप्राप्त्या विरुद्धम्। नह्येकानुकार्यविभावालम्बनौ विषयानुरागापरागावुपलब्धौ। अतो दयावीरोत्साहस्यैव तत्र स्थायित्वम्।

विरुद्धाविरुद्धाविच्छेदित्वस्य निर्वेदादीनामभावादस्थायित्वम्। अतएव ते चिन्तादयः स्वस्वव्यभिचार्यन्तरिता अपि परिपोषं नीयमाना वैरस्यमावहन्ति।

इस का भाव यह है कि शम को स्थायी भाव मानने के विषय में कई प्रकार की विप्रतिपत्तियां पाई जाती हैं। १-भरत ने नाट्यशास्त्र में शान्त रस के विभावादि का प्रतिपादन भी नहीं किया है और न शम का लक्षण ही किया है इसलिए कुछ लोग शम को स्थायीभाव नहीं मानते। २-दूसरे लोगों का कहना यह है कि राग-द्वेष आदि दोषों का सर्वथा नाश हो जाने पर ही शम की स्थिति उत्पन्न हो सकती है। परन्तु अनादि काल-प्रवाह से आने वाले राग द्वेष का सर्वथा अभाव संभव नहीं है इसलिए शम हो ही नहीं सकता है। ३-अन्य लोग वीर, बीभत्स आदि रसों में उसका अन्तर्भाव करते हैं। इनमें से चाहे कुछ ठीक हो। हमारा [दशरूपक और उस के टीकाकार का] कहना यह है कि समस्त व्यापारविलयरूप शम का अभिनय संभव नहीं है इसलिए अभिनयात्मक

नाट्य में शम का स्थायीभावत्व हम नहीं मान सकते। जिन लोगों ने नागानन्द नाटक में शान्त रस माना है उनका वह कथन नागानन्द में आदि से अन्त तक पाए जाने वाले मलयवती के प्रति अनुराग और विद्याधरचक्रवर्तित्व की प्राप्ति के विरुद्ध होने से वहां शान्त रस नहीं। अपितु दयावीर का उत्साह ही वहां स्थायीभाव और वीर रस है।

स्थायीभाव का लक्षण 'विरुद्धाविरुद्धाविच्छेदित्व' ऊपर कहा गया है वह भी शम में नहीं घटता। अतएव शम स्थायीभाव नहीं है। नाटक में उसका परिपोष वैरस्यतापादक ही होगा इसलिए दशरूपककार धनञ्जय के मत में कम से कम नाटक में शम स्थायीभाव नहीं है।

रसानुभवकालीन चतुर्विध चित्तवृत्ति—

विभाव, अनुभाव, सञ्चारी भाव के योग से स्थायीभाव का परिपोष होकर जो आस्वादन होता है इसी को रस कहते हैं। यह आस्वादन या रस वस्तुतः चित्त की एक अवस्थाविशेष है। ऊपर हमने लिखा था कि हमारे अन्तःकरण में अनादि काल से सञ्चित जो वासनाएं हैं, जिन्हें संस्कार भी कहते हैं, उन्हीं को साहित्यशास्त्र या अलङ्कार शास्त्र के आचार्यों ने वर्गीकरण करके स्थायीभाव नाम दिया है। यह वर्गीकरण वस्तुतः रसानुभूति काल में चित्त की जो अवस्था होती है उसी के आधार पर किया गया है और वह उनकी सूक्ष्म मनोवैज्ञानिक विवेचना-शक्ति का परिचायक है। ऊपर जो आठ स्थायीभाव दिखलाए हैं उनको भी संक्षिप्त करके चार प्रकार की मनोदशाओं का विवेचन दशरूपककार ने किया है। रसास्वाद के समय चित्त की जो-जो भिन्न-भिन्न अवस्थाएं होती हैं उन्हें विकाश, विस्तार, विक्षोभ, और विक्षेप इन चार रूपों में विभक्त किया गया है। प्रेम के समय या शृंगार रस के अनुभव काल में जो चित्त की अवस्था होती है उसका नाम विकाश रखा गया है। इसी प्रकार वीर रस के अनुभवकालीन चित्तवृत्ति को विस्तार, बीभत्सानुभूति कालीन स्थिति को विक्षोभ और रौद्रानुभूतिकालिक मनःस्थिति को विक्षेप नाम दिया गया है।

रसचतुष्टयवाद—

इस प्रकार चित्त की चार प्रकार की दशा ही होने से शृंगार, वीर, बीभत्स और रौद्र इन चार रसों को ही इन लोगों ने मौलिक रस माना है और शेष चार करुण, हास्य, अद्भुत और भयानक को उनके आश्रित। क्योंकि इन चारों में भी वही चार प्रकार की मनोदशा होती है। इसलिए हास्य में शृङ्गार के समान चित्त

का विकाश, अद्भुत में वीर रस के समान चित्त का विस्तार, भयानक रस में बीभत्स के समान क्षोभ और करुण रस में रौद्र रस के समान चित्त में विक्षेप का प्राधान्य होता है। इस प्रकार रसानुभूति-काल में चित्त की चार प्रकार की मनोदशा संभव होने के कारण चार ही मौलिक रस हैं और शेष चार की उनके द्वारा उत्पत्ति होती है।

शृंगाराद्धि भवेद्धास्यो रौद्राच्च करुणो रसः।
वीराच्चैवाद्भुतोत्पत्ति र्बीभत्साच्च भयानकः॥

इसीलिए भरत के नाट्य शास्त्र में हास्य का लक्षण करते हुए लिखा है,

शृंगारानुकृतिर्या तु सा हास्य इति कीर्तितः।

इस सारे विषय का प्रतिपादन दशरूपक में इस प्रकार किया है।

स्वादः काव्यार्थसंभेदादात्मानन्दसमुद्भवः।
विकाशविस्तरक्षोभविक्षेपैः स चतुर्विधः॥ ४, ४३
शृंगारवीरबीभत्सरौद्रेषु मनसः क्रमात्।
हास्याद्भुतभयोत्कर्ष करुणानां त एव हि॥ ४, ४४
अतस्तज्जन्यता तेषामतएवावधारणम्।

काव्य और नाटक से रसोत्पत्ति विषयक विविध मत—

नाटक और काव्य में रसोत्पत्ति के विषय में भी कुछ थोड़ा भेद सा प्रतीत होता है। नाटक के देखते समय रसोत्पत्ति कहां होती है और कैसे होती? है इस विषय में भट्ट लोल्लट, श्री शंकुक, भट्टनायक और अभिनवगुप्त के मत अलग-अलग है।

१—भट्टलोल्लट का 'उत्पत्तिवाद'

इनमें से भट्ट लोल्लट रस की उत्पत्ति मुख्य रूप से अनुकार्य अर्थात् सीता-रामादिनिष्ठ मानते हैं। और उनका अनुकरण करने के कारण नट में भी रस की प्रतीति होती है ऐसा उनका मत है। उनके अनुसार ललना और उद्यानादि आलम्बन तथा उद्दीपन विभावों से रामादि में रत्यादि की उत्पत्ति अर्थात् उद्बोध होता है उसके कार्यभूत कटाक्षादि अनुभावो से रामगत रत्यादि स्थायीभाव प्रतीति-योग्य बन जाता है और निर्वेदादि व्यभिचारी भावों की सहायता से परिपुष्ट होकर मुख्यतः रामादि में और उनके अनुकरण करने के कारण गौण रूप से नट में रस की प्रतीति होती है यह भट्ट लोल्लट आदि का प्रथम मत है।

भट्टलोल्लट की आलोचना—

लोल्लट के मत में मुख्यत: अनुकार्य रामादिगत और गौण रूप से नटगत रस की उत्पत्ति मानने से सामाजिक में रसोत्पत्ति का कोई अवसर नहीं रहता। इसलिए सामाजिक को उस रस का आस्वाद होना सम्भव प्रतीत नहीं होता यह एक बड़ी त्रुटि रह जाती है। इसलिए शंकुक ने इस मत का खण्डन कर अपने 'रसानुमितिवाद' की स्थापना की है।

२—श्री शंकुक का अनुमितिवाद—

इस मत अर्थात् शंकुक के 'रसानुमितिवाद' में रस अनुकार्य रामादि-निष्ठ नहीं अपितु अनुकर्ता अर्थात् नटगत उत्पन्न होता है। नट को राम समझ कर उसके द्वारा शिक्षाभ्यास चातुर्य से प्रदर्शित कृत्रिम विभाव, अनुभाव, व्यभिचारी भाव आदि के द्वारा नट में रस का अनुमान होता है। इस दशा में नट में जो राम बुद्धि होती है उसे हम न सम्यग्ज्ञान कह सकते हैं और न मिथ्याज्ञान, न संशय कह सकते हैं और न सादृश्यमात्र प्रतीति। वह इन सब प्रतीतियों से विलक्षण 'चित्रतुरगन्याय' से अनिर्वचनीय प्रतीति है। जैसे चित्राङ्कित घोड़े को देख कर जो तुरग की प्रतीति होती है वह यथार्थ प्रतीति नहीं है क्योंकि वास्तविक तुरग वहां नहीं है। "तद्वति तत्प्रकारकं ज्ञानं प्रमा" यह यथार्थज्ञान या प्रमा का लक्षण है वह नहीं घटता इसलिए चित्र-तुरग बुद्धि या नाट्यशाला गत रामरूपधारी नट में राम-बुद्धि यथार्थ नहीं है। न वह मिथ्या ही है और न सादृश्य या संशय रूप। इन सबसे विलक्षण अनिर्वचनीय राम प्रतीति से नट को राम रूप में ग्रहण करके उस नट के द्वारा प्रकाशित अनुभावादि भी जो वास्तव में कृत्रिम है पर उनको कृत्रिम न मान कर उन के आधार पर नट में रत्यादि का अनुमान होता है। वह अनुमिति प्रतीति भी अन्य अनुमीयमान पदार्थों से भिन्न प्रकार की होती है। क्योंकि साधारणतः अनुमिति परोक्ष ज्ञान है और रस की अनुभूति प्रत्यक्षात्मक होती है। इसलिए रसादि प्रतीति के अनुमिति रूप होते हुए भी अन्य अनुमितियों से विलक्षण होने से नटगत रत्यादि का सामाजिक को अनुभव होता है। यह शंकुक का मत है।

शंकुक के 'अनुमितिवाद' की आलोचना—

परन्तु यह शंकुक महोदय वस्तुतः त्रिशंकु की भांति अधर लटके हुए हैं। उनका सब कुछ कल्पित है। अनुमिति के लिए जिस नट रूप राम को पक्ष बनाया है उसका रामत्व निश्चित नहीं। उस अनुमान के लिए जिन अनुभावादि को

लिङ्ग या हेतु बनाया वह भी कल्पित कृत्रिम हैं पर उनको अकृत्रिम माना जा रहा है। उस हेतु के द्वारा जिस रत्यादि स्थायी भाव की सिद्धि करनी है वह भी संभावित मात्र अयथार्थ है। उस परोक्ष अनुमिति को जो अपरोक्षात्मक या साक्षात्कारात्मक अनुभूति स्वरूप माना है वह भी कल्पित है। यह सब उनका स्व-कल्पित मत है इन्हीं सारी कल्पनाओं में भरत के "विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद् रस निष्पत्तिः" इस सूत्र में आए हुए 'संयोगात्' शब्द का अर्थ उन्होंने 'गम्य-गमकभावरूपात् सम्बन्धात्' किया है। और उस गम्यगमकभाव से 'रामोऽयं सीता-विषयकरतिमान् सीताविषयकविभावादिसम्बन्धित्वाद् सीताविषयककटाक्षादिमत्त्वा-द्वा यो नवं स नवं यथाहम्' यह जो अनुमान किया है उसमें 'अहं' को व्यतिरेकी उदाहरण बनाया है और उसी अहं पद बोध्य सामाजिक को रस का चर्वणाश्रय माना है। यह सब कुछ एक दम असङ्गत है।

भट्टनायक द्वारा 'उत्पत्तिवाद' 'अनुमितिवाद' और 'अभिव्यक्तिवाद' की आलोचना :—

तीसरा मत भट्ट नायक का 'भोजकत्व वाद' है। भट्ट नायक ने लिखा है, कि रस यदि परगत अर्थात् अनुकार्यगत या अनुकर्ता नटगत प्रतीत हो तो दोनों ही दशाओं में उसका सामाजिक सहृदय से कोई सम्बन्ध नहीं बन सकेगा और वह सामाजिक के लिए तटस्थ के समान निष्प्रयोजन होगा। दूसरी ओर यदि उसकी उत्पत्ति स्वगत अर्थात् सामाजिकगत मानें तो भी सङ्गत नहीं है क्योंकि उसकी उत्पत्ति सीता आदि विभावों के द्वारा होती है वह सीता आदि राम के प्रति तो विभावादि हो सकते हैं सामाजिक के प्रति नहीं। साधारणीकरण व्यापार से सीता और रामादि का व्यक्तित्व निकल कर उनमें सामान्य कान्तात्व आदि रूप ही रह जाता है इसलिए वह सामाजिक के प्रति भी विभावादि हो सकते हैं यह कहना भी ठीक नहीं है। अथवा बीच में स्व कान्ता का स्मरण मानने से भी काम नहीं चलेगा। क्योंकि देवतादि के वर्णन—जैसे 'कुमारसंभव आदि में पार्वती आदि के वर्णन प्रसंग—में भी रसास्वाद होता है और उनको भी होता है जिनकी कान्ता न थी, न है। देवता वर्णन स्थल में वर्ण्यमान पार्वती आदि में देवत्व बुद्धि और पूज्यता प्रतीति ही साधारणीकरण में बाधक है। इसलिए रस की न स्वगत [सामाजिकगत] उत्पत्ति बनती है और न परगत [अनुकार्य रामादि गत अथवा अनुकर्तृ नटादिगत]। इसी प्रकार स्वगत या परगत न प्रतीति बनेगी और न अभिव्यक्ति। अभिव्यक्ति पक्ष में और भी दोष है। अभिव्यक्ति पूर्व सिद्ध अर्थ की ही होती है। परन्तु रस तो अनुभूति का नाम है अनुभव काल के पूर्व या

पश्चात् उसका कोई अस्तित्व ही नहीं है। इसलिए भी अभिव्यक्ति नहीं बनती। यदि यह कहें कि रस वासना या स्थायीभाव के रूप में स्थित है उसी की अभिव्यक्ति होती है तो भी ठीक नहीं है। क्योंकि अभिव्यक्ति स्थल में दीपकादि अभिव्यञ्जक सामग्री में उत्कृष्टता-निकृष्टता का तारतम्य भीउपलब्ध होता है वसा तारतम्य रसाभिव्यञ्जक सामग्री में नहीं बनता है इसलिए रस की स्वगत या परगततया उत्पत्ति प्रतीति या अभिव्यक्ति कुछ भी नहीं बनती। 'इसलिए न ताटस्थ्येन [अनुकार्यगतत्वेन नटगतत्वेन वा] नात्मगतत्वेन [सामाजिक गतत्वेन] वा रसः प्रतीयते, नोत्पद्यते, नाभिव्यज्यते' [का० प्र०] 'तेन न प्रतीयते, नोत्पद्यते नाभिव्यज्यते काव्येन रसः' [लोचन०]

४—भट्टनायक का 'भोजकत्ववाद'—

यह तो अन्य मतों की आलोचना हुई तब भट्ट नायक का अपना मत क्या है ? उनका अपना मत यह है कि काव्यात्मक शब्दों में अन्य शब्दों से विलक्षण 'अभिधायकत्व' 'भावकत्व' और 'भोजकत्व रूप' तीन व्यापार रहते हैं। अभिधायकत्व व्यापार अर्थविषयक, भावकत्व व्यापार रसादि विषयक और भोजकत्व व्यापार सहृदयक विषयक होता है। यदि यह तीन व्यापार न मान कर केवल एक [शुद्ध] अभिधा व्यापार ही माना जाय तो 'तंत्र' आदि शास्त्र-न्याय और श्लेषादि अलङ्कारों में कोई भेद न रहेगा। 'तंत्रं नाम अनेकार्थबोधेच्छया पदस्यैकस्य सकृदुच्चारणम्।' अनेक अर्थों के बोधन की इच्छा से एक पद का एक ही बार उच्चारण करना यह शास्त्र में 'तंत्र' नाम से प्रसिद्ध है। जैसे पाणिनि के 'हलन्त्यम्' सूत्र में 'तंत्र-न्याय' से दो अर्थ होते हैं। 'हलिति सूत्रे अन्त्यम् इत् स्यात्। 'और'उपदेशे अन्त्यं हल् इत् स्यात्'। यहां 'तंत्र-न्याय' से दो अर्थ तो प्रतीत हो जाते हैं परन्तु सहृदयसंवेद्य कोई चमत्कार प्रतीत नहीं होता। इसी प्रकार 'भावकत्व' और 'भोजकत्व' व्यापार के अभाव में 'सर्वदो माधवः' आदि श्लेषालङ्कार के स्थलों में दो अर्थों की प्रतीति तो हो जावेगी परन्तु सहृदयसंवेद्य कोई चमत्कार अनुभवगोचर नहीं होगा। इसलिए दूसरा 'भावकत्व' व्यापार मानना आवश्यक है। इस 'भावकत्व' व्यापार के बल से अभिधा शक्ति में विलक्षणता हो जाती है। यह भावकत्व व्यापार रसके प्रति होता है और वह विभावादि का साधारणीकरण करता है। उससे साधारणीकरण द्वारा रसादि के भावित हो जाने पर तीसरे 'भोजकत्व' व्यापार द्वारा अनुभव और स्मृति रूप द्विविध लौकिक ज्ञान से विलक्षण, चित्त के विस्तार विकासादि रूप, रजस्तमोवैचित्र्यानुविद्धसत्वमय, निजचेतनस्वरूप, आनन्दरूप, परब्रह्मास्वादसहोदर

अनुभूतिरूप, भोग निष्पन्न होता है यह भट्ट नायक का मत है। लोचनकार ने उनके मत का इस प्रकार उल्लेख किया है।

"रसो यदा परगततया प्रतीयते तर्हि ताटस्थ्यमेव स्यात्। न च स्वगतत्वेन रामादिचरितमयात्काव्यादसौ प्रतीयते। स्वात्मगतत्वेन च प्रतीतौ स्वात्मनि रसस्योत्पत्तिरेवाभ्युपगता स्यात्। सा चायुक्ता। सीतायाः सामाजिकं प्रत्यविभावत्वात्। कान्तात्वं साधारणं वासनाविकासहेतुविभावतायां प्रयोजकमितिचेत्—देवतावर्णनादौ तदपि कथम्। न च स्वकान्तास्मरणं मध्ये संवेद्यते।

अलोकसामान्यानां च रामादीनां ये समुद्रसेतुबन्धनादयो विभावास्ते कथं साधारण्यं भजेयुः। न चोत्साहादिमान् रामः स्मर्यते। अनुभूतत्वात्। शब्दादपि तत् प्रतिपत्तौ न रसोपजनः। प्रत्यक्षादिव नायकमिथुनप्रतिपत्तौ। उत्पत्तिपक्षे च करुणस्योत्पादाद् दुःखित्वे करुणरसप्रेक्षासु पुनरप्रवृत्तिः स्यात्। तन्नोत्पत्तिरपि। नाप्यभिव्यक्तिः, शक्तिरूपस्य हि शृङ्गारस्याभिव्यक्तौ विषयार्जनतारतम्यप्रवृत्तिः स्यात्। तत्रापि किं स्वगतोऽभिव्यज्यते रसः परगतो वेति पूर्ववदेव दोषः।

तेन न प्रतीयते नोत्पद्यते नाभिव्यज्यते काव्येन रसः। किन्त्वन्यशब्दवैलक्षण्यं काव्यात्मनः शब्दस्य त्र्यंशताप्रसादात्। तत्राभिधायकत्वं वाच्यविषयं 'भावकत्वं' रसादिविषयं, 'भोगकृत्त्वं' सहृदयविषयमिति त्रयोऽशभूता व्यापाराः। तत्राभिधाभागो यदि शुद्धः स्यात् तंत्रादिभ्यः शास्त्रन्यायेभ्यः श्लेषाद्यलङ्काराणां को भेदः। वृत्तिभेदवैचित्र्यं चाकिञ्चित्करम्। श्रुतिदुष्टादिवर्जनं च किमर्थम्। तेन रसभावनाख्यो द्वितीयो व्यापारः। यद्वशादभिधाविलक्षणैव। तच्चतद्भावकत्वं नाम रसान् प्रति यत्काव्यस्य तद्विभावादीनां साधारणत्वापादनं नाम। भाविते च रसे तस्य भोगो योऽनुभवस्मरणप्रतिपत्तिभ्यो विलक्षण एव द्रुतिविस्तरविकासात्मा रजस्तमोवैचित्र्यानुविद्धसत्वमयनिजचित्स्वभावनिर्वृतिविश्रान्तिलक्षणः परब्रह्मास्वादसविधः। स एव प्रधानभूतोंऽशः सिद्धरूप इति। व्युत्पत्तिर्नामाप्रधानमेवेति।

४—अभिनवगुप्तपादाचार्य का अभिव्यक्तिवाद—

अगला चौथा मत लोचनकार अभिनवगुप्त का है। भट्ट नायक के मत में जो 'भावकत्व' और 'भोजकत्व' दो नये व्यापार माने गए हैं उन्हें अभिनवगुप्त अनावश्यक मानते हैं और अप्रामाणिक भी। वे काव्य से व्यञ्जनाव्यापार द्वारा गुण अलङ्कार आदि के औचित्य रूप इतिकर्तव्यता से रस को सिद्ध करते हैं। यहां साधक काव्य है। साध्य रस। साधन व्यञ्जना व्यापार है और इतिकर्तव्यता रूप में गुणालङ्कारादि औचित्य का अन्वय होता है। इस प्रकार 'भावकत्व' और 'भोजकत्व'

दोनों को व्यञ्जना रूप मान कर उस व्यञ्जना से सामाजिक में रस की अभिव्यक्ति मानते हैं। अतः उनका मत 'अभिव्यक्तिवाद' कहलाता है।

५—अन्य मत—

इन के अतिरिक्त कुछ और भी छोटे-छोटे मत हैं जिनका उल्लेख लोचनकार ने बहुत संक्षेप मेंइस प्रकार किया है—

'अन्ये तु शुद्धं विभावं, केचित्तु स्थायिमात्रम्, इतरे व्यभिचारिणं, अन्येतत्संयोगं, एके अनुकार्यं, केचन सकलमेव समुदायं रसमाहुः।'

नाट्य रस—

यह सब मत नाट्य रस के सम्बन्ध में हैं। नाट्यरस शब्द का प्रयोग भरतमुनि ने किया है। ऊपर के व्याख्याताओं ने नाट्यरस शब्द की व्युत्पति भी अपने-अपने सिद्धान्त के अनुसार अलग-अलग ढङ्ग से की है। लोल्लट के मत में अनुकार्यगत रस की उत्पत्ति होती है और 'नाट्ये प्रयुज्यमानत्वान्नाट्यरसः' यह नाट्य रस का विग्रह होता है। शंकुक के मत में अनुकार्याभिन्न नर्तक में अनुमीयमान रस का सामाजिक आस्वादन करता है। इसलिए उनके मत में 'नाट्ये, नाट्याश्रये नटे रसः नाट्यरसः' यह विग्रह होता है। इसी प्रकार दूसरे मतों में 'नाट्याद्रसः' अथवा 'नाट्यमेव रसः नाट्यरसः' यह विग्रह होते हैं।

नाट्य के भी दो रूप माने गए हैं—एक लोकधर्मी नाट्य और दूसरा नाट्यधर्मी नाट्य। लोकधर्मी नाट्य उसको कहते हैं जिसमें स्वाभाविक अभिनय होता है अर्थात् स्त्री पुरुष का और पुरुष स्त्री का रूप धारण करके अभिनय नहीं करता। 'स्वभावाभिनयोपेतं न नास्त्रीपुरुषाश्रयं नाट्यं लोकधर्मि'। और जहां स्वर, अलङ्कार और स्त्री पुरुषादि के वेष परिवर्तन आदि की आवश्यकता होती है वह नाट्यधर्मि नाट्य होता है। 'स्वरालङ्कारसंयुक्तमस्वस्थपुरुषाश्रयं नाट्यं नाट्यधर्मि'।

काव्य रस—

काव्यरस की प्रक्रिया नाट्यरस की प्रक्रिया से तनिक भिन्न है। क्योंकि वहां नाटक के समान आलम्बन और उद्दीपन बिभाव दृष्टिगोचर नहीं अपितु काव्य शब्दों से बुद्धिस्थ होते हैं। काव्य में, विभावादि उपस्थापक लोकधर्मि नाट्य के स्थान पर स्वभावोक्ति और नाट्यधर्मि नाट्य के स्थान पर वक्रोक्ति को माना है। इनसे विभावादि की उपस्थिति हो जाने पर आगे रस की प्रक्रिया प्रायः समान ही है।

भाव—

रसों के बाद दूसरा स्थान भावों का है । देवादिविषयक अर्थात् देवता, गुरु, राजा आदि विषयक रति और प्रधान रूप से व्यञ्जित व्यभिचारी भाव इन दोनों को भाव कहते हैं। "रतिर्देवादिविषया व्यभिचारी तथाञ्जितः भावः प्रोक्तः।" देवादि विषयक रति रूप भाव के निम्न उदाहरण हो सकते हैं—

१–कण्ठकोणविनिविष्टमीश ते कालकूटमपि मे महामृतम्।
अप्युपात्तममृतं भवद्वपुर्भेदवृत्ति यदि मे न रोचते॥

२–हरत्यघं संप्रति हेतुरेष्यतः शुभस्य पूर्वाचरितैः कृतं शुभैः।
शरीरभाजां भवदीयदर्शनं व्यनक्ति कालत्रितयेऽपि योग्यताम्॥

इनमें पहिले में शिवविषयक और दूसरे में नारदमुनिविषयक रति [प्रेम, श्रद्धा] प्रदर्शित की है। अतएव यह भाव है । इसके अतिरिक्त जहां व्यभिचारी भाव प्रधानतया व्यक्त होता है वहां भी भाव व्यवहार ही होता है ।

व्यभिचारी भाव की स्थिति में उदय, स्थिति और अपाय यह तीन दशा हो सकती हैं । इनमें से उदय वाली स्थिति को भावोदय नाम से और अपाय वाली दशा को भाव-प्रशम नाम से अलग कह दिया है । स्थिति वाली दशा के भी तीन प्रकार हो सकते हैं। अकेले एक भाव की स्थिति, अथवा दो भावों की स्थिति अथवा दो से अधिक भावों की स्थिति इनमें दो भावों की स्थिति को भाव-सन्धि और दो से अधिक भावों की स्थिति को भावशवलता कहा जाता है । भावों की यह सभी अवस्थाएं आस्वाद योग्य होने से 'रस्यते इति रसः' इस व्युत्पत्ति के अनुसार रस श्रेणी में आती हैं इसलिए कारिका में 'तत्प्रशमादि' में आदि पद से भावोदय, भाव-सन्धि, भाव-शवलता का भी ग्रहण किया गया है। विस्तारभय से इन सब के उदाहरण यहां नहीं दिये जा रहे हैं।

रसाभास और भावाभास—

कारिका का तदाभास शब्द रसाभास और भावाभास का बोधक है। 'अनौचित्यप्रवर्तिताः रसा रसाभासाः। और 'अनौचित्यप्रवर्तिता भावा भावाभासाः।' अनुचित रूप से वर्णित रस रसाभास और अनुचित रूप से वर्णित भाव भावाभास कहलाते हैं। जैसे पशु-पक्षियों के शृङ्गार का वर्णन अथवा गुरु आदि पूज्य पुरुषों के सम्बन्ध में हास्य का प्रयोग रसाभास के अन्तर्गत होता है ॥३।

[पिछली कारिका] में कहा था कि अङ्गित्वेन अर्थात् प्राधान्येन प्रतीत होने

इदानीं रसवदलङ्कारादलक्ष्यक्रमद्योतनात्मनो ध्वनेर्विभक्तो विषय इति प्रदर्श्यते ।

वाच्यवाचकचारुत्वहेतूनां विविधात्मनाम् ।
रसादिपरता यत्र स ध्वनेर्विषयो मतः ॥ ४ ॥

रस-भाव-तदाभास-तत्प्रशमलक्षणं मुख्यमर्थमनुवर्तमाना यत्र शब्दार्थालङ्कारा गुणाश्च परस्परं ध्वन्यापेक्षया[1] विभिन्नरूपा व्यवस्थितास्तत्र काव्ये ध्वनिरिति व्यपदेशः ॥४॥

वाले रस आदि ध्वनि के आत्मा है । इससे यह भी प्रतीत होता है कि रसादि की प्रतीति कहीं कहीं अङ्ग अर्थात् अप्रधान-रूप में भी होती है । जहां रस किसी अन्य के अङ्ग रूप में प्रतीत होते हैं वहां रसादि ध्वनि रूप न होकर रसवदलङ्कार कहलाते हैं । रसवदलङ्कार चार प्रकार के होते हैं । एक रसवत्, दूसरा प्रेय, तीसरा ऊर्जस्वि और चौथा भेद समाहित नाम से कहा जाता है । 'रस्यते इति रसः' इस व्युत्पत्ति से रस, दूसरे भाव, तीसरे तदाभास और चौथे भावशान्त्यादि यह चारों रस कहे ये । इन्हीं चारों की अङ्ग रूप में प्रतीति होने पर रसवदलङ्कार चार प्रकार के कहलाते हैं । जहां रस किसी अन्य रसादि का अङ्ग हो जाय वहां रसवदलङ्कार होता है । इसी प्रकार यदि भाव अन्य का अङ्ग प्रतीत हो तो प्रेय अलङ्कार, रसाभास या भावाभास की अङ्गता में ऊर्जस्वि और भावशान्त्यादि की अङ्गता होने पर समाहित नाम का अलङ्कार कहा जाता है । इन रसवदलङ्कार और रस ध्वनि के प्राधान्य और अप्राधान्य मूलक इसी भेद का अगली दो कारिकाओं में प्रतिपादन है ।

अब असंलक्ष्यक्रम व्यङ्ग्य रूप ध्वनि का विषय रसवदलङ्कारों से पृथक् है यह बात दिखलाते हैं ।

जहां नाना प्रकार के शब्द [वाचक] और अर्थ [वाच्य] तथा उनके चारुत्व हेतु [शब्दालङ्कार तथा अर्थालङ्कार] रस आदि परक [रसादि के अङ्ग] होते हैं वह ध्वनि का विषय है ।

रस-भाव-तदाभास और तत्प्रशम रूप मुख्य अर्थ के अनुगामी शब्द अर्थ उनके अलङ्कार तथा गुण और परस्पर ध्वनि से भिन्न स्वरूप जहां [अनुगामी रूप में] स्थित होते हैं उसी काव्य को ध्वनि काव्य कहते हैं ।

---

१ च अधिक है नि०, दी० ।

प्रधानेऽन्यत्र वाक्यार्थे यत्राङ्गन्तु रसादयः ।
काव्ये तस्मिन्नलङ्कारो रसादिरिति मे मतिः ॥ ५ ॥

यद्यपि रसवदलङ्कारस्यान्यैर्दर्शितो विषयस्तथापि यस्मिन् काव्ये प्रधानतयाऽन्योऽर्थो वाक्यार्थीभूतस्तस्य चाङ्गभूता ये रसादयस्ते रसादेरलङ्कारस्य विषया इति मामकीनः पक्षः । तद्यथा चाटुषु प्रेयोऽलङ्कारस्य वाक्यार्थत्वेऽपि रसादयोऽङ्गभूता दृश्यन्ते ।

यहां 'वाच्यं च वाचकं च तच्चारुत्वहेतवश्च [तयोश्चारुत्वहेतवश्च] इस प्रकार द्वन्द्व समास करना चाहिये। इसी प्रकार वृत्ति में भी। पिछले उद्योत में यह दिखाया था कि समासोक्ति आदि अलङ्कारो में वस्तु ध्वनि का अन्तर्भाव नहीं हो सकता है। यहां यह दिखाया है कि रसवदलङ्कारों में रसध्वनि का अन्तर्भाव नहीं होगा ॥४॥

जहां अन्य [अर्थात् अङ्गभूत रसादि से भिन्न, रस या वस्तु अथवा अलङ्कार] प्रधान वाक्यार्थ हो और उसमें रसादि [रस भाव, तदाभास, भावशान्त्यादि] अङ्ग हों उस काव्य में रसादि अलङ्कार [रसवत्, प्रेय, ऊर्जस्वि, समाहित] होते हैं यह मेरी सम्मति है।

यद्यपि रसवदलङ्कार का विषय अन्यों ने प्रदर्शित किया है फिर भी जिस काव्य में प्रधानतया कोई अन्य अर्थ [रस, या वस्तु, या अलङ्कार] वाक्यार्थ हो उस [प्रधान वाक्यार्थ] के अङ्गभूत जो रसादि [हों] वह रसादि अलङ्कार के विषय होते हैं यह मेरा पक्ष है। जैसे चाटु [वाक्यों-चापलूसी के वचनों] में प्रेयोऽलङ्कार [भामह ने गुरु, देव, नृपति, पुत्रविषयक प्रेम वर्णन को प्रेयोऽलङ्कार कहा है उस] के [मुख्य] वाक्यार्थ होने पर भी रसादि अङ्गरूप में दिखाई देते है। [वहां रसादि अलङ्कार होगा यह मेरा मत है]।

इस गद्यवृत्ति भाग की व्याख्या में लोचनकार ने बहुत खींचतान की है। यद्यपि मूल वृत्ति ग्रन्थ की रचना यहां कुछ अटपटी-सी है फिर भी लोचनकारकृत खींचातानी के बिना भी उसकी सङ्गति लग सकती है। उन्होंने 'तस्य चाङ्गभूतः' में 'तस्य' शब्द का अर्थ 'काव्यस्य सम्बन्धिनो ये रसादयः' ऐसा किया है उसके बजाय 'तस्य वाक्यार्थीभूतस्य अङ्गभूता ये रसादयः' यह अर्थ अधिक सरल और सङ्गत होगा।

'तद्यथा चाटुषु' इस अंश की व्याख्या में भी दो पक्ष दिखाए हैं। भामह के

स च रसादिरलङ्कारः शुद्धः सङ्कीर्णो वा। तत्राद्यो यथा—

किं हास्येन न मे प्रयास्यसि पुनः, प्राप्तश्चिराद्दर्शनम्,
केयं निष्करुण ! प्रवासरुचिता ? केनासि दूरीकृतः।
स्वप्नान्तेष्विति ते वदन्, प्रियतमव्यासक्तकण्ठग्रहो,
बुद्ध्वा रोदिति रिक्तबाहुवलयस्तारं रिपुस्त्रीजनः ॥

अभिप्राय से इस सब को एक वाक्य माना है। और उद्भट के मतानुसार वाक्य-भेद मान कर व्याख्या की है।

भामहाभिप्रायेण चाटुषु प्रेयोऽलङ्कारस्य वाक्यार्थत्वेऽपि रसादयोऽङ्गभूता दृश्यन्त इतीदमेकं वाक्यम्।...उद्भट मतानुसारिणस्तु भङ्क्त्वा व्याचक्षते।

'किं हास्येन' इत्यादि आगे उदाहरण रूप में उद्धृत पद्य में वर्ण्यमान नरपति-प्रभाव ही वाक्यार्थ है न कि अलङ्कार ही वाक्यार्थ है। इसलिये मूल के 'प्रेयोऽलङ्कारस्य वाक्यार्थत्वे' का अर्थ बहुव्रीहि समास मान कर 'प्रेयानलङ्कारो यत्र सः प्रेयोऽलङ्कारः' अर्थात् प्रेयान् अलङ्कार जिसका है वह वर्ण्यमान नरपति-प्रभाव रूप अलङ्कार नहीं, अपितु अलङ्करणीय वाक्यार्थ है। अथवा 'प्रेयोऽलङ्कारस्य वाक्यार्थत्वे' में 'वाक्यार्थत्वे' का अर्थ वाक्यार्थ न मान कर प्राधान्य किया जाय इस प्रकार की द्विविध व्याख्या भामह मत से की है।

और उद्भट मतानुसार इन दोनों को अलग वाक्य मान कर पूर्व वाक्य का अर्थ रसवदलङ्कार का विषय होता है, यह किया है। और इस उत्तर वाक्य का अर्थ वाक्यों चाटु के वाक्यार्थ होने पर प्रेयोऽलङ्कार का भी विषय होता है। न केवल रसवदलङ्कार का अपितु प्रेयोऽलङ्कार का भी विषय होता है इस प्रकार किया है। रसवत् और प्रेय शब्द से ऊर्ज्जस्वि, समाहित, भावोदय, भावसन्धि, भाव-शबलता सहित सातों रसवदलङ्कारों का ग्रहण है।

वह रसादि अलङ्कार शुद्ध और सङ्कीर्ण [दो प्रकार का होता है। जो अङ्गभूत अन्य रस या अलङ्कार से मिश्रित नहीं है अर्थात् जहां एक ही रस आदि प्रेयोऽलङ्कार अर्थात् गुरुदेव, नृपति, पुत्र विषयक प्रीति का अङ्ग है वहां शुद्ध रसवदलङ्कार] होता है। उनमें से प्रथम [अर्थात् शुद्ध रसवदलङ्कार का उदाहरण] जैसे—

[इस श्लोक में किसी राजा की स्तुति की गई है उसका भाव यह है कि तुमने अपने शत्रुओं का नाश कर डाला। उनकी स्त्रियां रात को स्वप्न में अपने पति को देखती हैं और उनके गले में हाथ डाल कर कहती हैं] इस हंसी करने से

इत्यत्र करुणस्य शुद्धस्याङ्गभावात् स्पष्टमेव रसवदलङ्कारत्वम् । एवमेवंविधे विषये रसान्तराणां स्पष्ट एवाङ्गभावः ।

सङ्कीर्णो रसादिरङ्गभूतो यथा—

क्षिप्तो हस्तावलग्नः प्रसभमभिहतोऽप्याददानोंऽशुकान्तं,
गृह्णन् केशेष्वपास्तश्चरणनिपतितो नेक्षितः संभ्रमेण ।
आलिङ्गन्योऽवधूतस्त्रिपुरयुवतिभिः साश्रुनेत्रोत्पलाभिः
कामीवार्द्रापराधः स दहतु दुरितं शाम्भवो वः शराग्निः ॥

क्या लाभ है । बड़े दिन बाद दर्शन हुए हैं । अब मैं जाने नहीं दूंगी,हे निष्ठुर ! बताओ तुम्हारी प्रवास में [बाहर रहने की] रुचि क्यों हो गई है । तुमको किसने मुझसे अलग कर दिया है । स्वप्न में, पति के कण्ठ का आलिङ्गन कर इस प्रकार कहने वाली तुम्हारी रिपु-स्त्रियां उठ कर [देखती हैं कि प्रियतम के कण्ठग्रहण के लिये जो अपने बाहुओं का वलय उन्होंने बना रखा था वह तो रिक्त है] अपने रिक्त बाहु वलय को देख कर तारस्वर से रोती है ।

इस उदाहरण में शुद्ध [रसान्तर अथवा अलङ्कारान्तर से असङ्कीर्ण] करुण रस [राजविषयक प्रीति का] अङ्ग है इसलिये स्पष्ट ही रसवदलङ्कार है । इसी प्रकार इस तरह के उदाहरणों में अन्य रसों का भी अङ्गभाव स्पष्ट है ।

सङ्कीर्ण रसादि [भी] अङ्गरूप [होता है] जैसे :—

त्रिपुर दाह के समय शम्भु के बाण [से] समुद्भूत, त्रिपुर की युवतियों द्वारा आर्द्रापराध [तत्काल कृत पराङ्गनोपभोगादि अपराध युक्त] कामी के समान, हाथ छूने पर झटक दिया गया, ज़ोर से ताड़ित करने पर भी वस्त्र के छोर को पकड़ता हुआ, केशों को पकड़ते समय हटाया गया, पैरों में पड़ा हुआ भी सम्भ्रम [क्रोध अथवा घबराहट] के कारण न देखा गया, और आलिङ्गन [करने के प्रयत्न] करने पर आंसुओं से परिपूर्ण नेत्रकमल वाली [कामीपक्ष में ईर्ष्या के कारण और और अग्नि पक्ष में बचाव की आशा से रहित होने के कारण रोती हुई] त्रिपुर-सुन्दरियों द्वारा तिरस्कृत [कामीपक्ष में प्रत्यालिङ्गन द्वारा स्वीकृत न करके और अग्नि-पक्ष में सारे शरीर को झटककर फेंका गया] शम्भु का शराग्नि तुम्हारे दुःखों को दूर करे ।

इत्यत्र त्रिपुररिपुप्रभावातिशयस्य वाक्यार्थत्वे ईर्ष्याविप्रलम्भस्य श्लेषसहितस्याङ्गभाव इति ।

एवंविध एव रसवदाद्यलङ्कारस्य[1] न्याय्यो विषयः । अतएव चेर्ष्याविप्रलम्भकरुणयोरङ्गत्वेन व्यवस्थानात्समावेशो न दोषः ।

यत्र हि रसस्य वाक्यार्थीभावस्तत्र कथमलङ्कारत्वम् । अलङ्कारो हि चारुत्वहेतुः प्रसिद्धः । न त्वसावात्मैवात्मनश्चारुत्वहेतुः । तथा चायमत्र संक्षेपः—

[2]रसभावादितात्पर्यमाश्रित्य विनिवेशनम् ।
अलंकृतीनां सर्वासामलङ्कारत्वसाधनम् ॥

इस [श्लोक] में त्रिपुरारि [शिव] के प्रभावातिशय के [मुख्य] वाक्यार्थ होने पर श्लेषसहित ईर्ष्याविप्रलम्भ उसका अङ्ग है । [इसलिए यहां सङ्कीर्ण रसादि अङ्ग है ।]

इसी प्रकार के उदाहरण रसवद्लङ्कार के उचित विषय होते हैं । इसीलिए [यहां] ईर्ष्याविप्रलम्भ और करुण दोनों [विरोधी रसों] के अङ्ग रूप में स्थित होने से दोष नहीं है ।

जहां रस का वाक्यार्थत्व है [अर्थात् जहां रस ही प्रधान है वहां तो वह अलङ्कार्य है अलङ्कार नहीं अतएव वहां ध्वनि होती है रसवदलङ्कार नहीं] वहां उसको [रसवत्] अलङ्कार कैसे मानें । [अर्थात् नहीं मान सकते हैं] चारुत्वहेतु को ही अलङ्कार कहते हैं । वह स्वयं ही अपना चारुत्वहेतु [अर्थात् प्रधान होने से स्वयं ही अलङ्कार्य है और रसवदलङ्कार होने से चारुत्वहेतु भी] हो यह तो नहीं हो सकता । इसलिए इसका सारांश यह हुआ कि :—

रस, भाव आदि [को प्रधान मान कर तत्परतया उनके अङ्ग रूप] तात्पर्य से अलङ्कारों की स्थिति ही सब अलङ्कारों के अलङ्कारत्व [चारुत्व-हेतुत्व] का साधक है ।

---

१. रसवदलंकारस्य दी० । २. नि० तथा दी० ने इस पर कारिका की संख्या दी है । बालप्रिया वाले संस्करण में नहीं ।

तस्माद्यत्र रसादयो वाक्यार्थीभूताः [1]स सर्वः न रसादेरलङ्कारस्य[2] [3]विषयः, स ध्वनेः प्रभेदः । तस्योपमादयोऽलङ्काराः । यत्र तु प्राधान्येनार्थान्तरस्य वाक्यार्थीभावे रसादिभिश्चारुत्वनिष्पत्तिः क्रियते स रसादेरलङ्कारताया विषयः ।

इसलिए जहां रसादि वाक्यार्थीभूत [अर्थात् प्रधानतया बोधित] होते हैं, वह सब [स्थल] रसादि अलङ्कार के विषय नहीं [अपितु] वह ध्वनि [रसादि ध्वनि] के भेद हैं। उस के [रसादि ध्वनि के चारुत्वहेतु] उपमादि अलङ्कार होते हैं। और जहां प्राधान्येन कोई दूसरा अर्थ वाक्यार्थीभूत हो और रसादि उसके चारुत्व का संपादन करते हैं वह रसादि अलङ्कार का विषय है।

'क्षिप्तो हस्तावलग्नः' इत्यादि पद्य में कविनिष्ठ शिवविषयक भक्ति प्रधानतया व्यज्यमान है तथा शिव का त्रिपुरदाह के प्रति उत्साह उसका पोषक है। परन्तु वह उत्साह अनुभाव-विभाव आदि से परिपुष्ट न होने के कारण परिपक्व रस न होकर भाव मात्र रह गया है। पतियों के मर जाने पर अग्नि की इस आपत्ति में पड़ी हुई त्रिपुर सुन्दरियों के वर्णन से प्रकट होने वाला करुण रस उस उत्साह का अङ्ग है। और 'कामीवार्द्रापराधः' में प्रदर्शित कामी के साम्य से उपमा द्वारा प्रतीति होने वाला शृङ्गार रस उस करुण रस का अङ्ग है। परन्तु वह करुण भी अन्तिम विश्रान्तिधाम नहीं है बल्कि उत्साह का अङ्ग है। इस प्रकार करुण और शृङ्गार दोनों ही उत्साहपोषित शिवविषयक रति–प्रीति– रूप भाव के उपकारक अङ्ग हैं। परन्तु ग्रन्थकार ने केवल 'श्लेष सहितस्य ईर्ष्या विप्रलम्भस्य अङ्गभावः' कहा है। उस अङ्गभाव में करुण को नहीं दिखाया। उनका अभिप्राय यह है कि यद्यपि यहां करुण रस है तो, परन्तु चारुत्वनिष्पादन में उसका अधिक योग नहीं है इसलिए 'श्लेषसहितस्य ईर्ष्या विप्रलम्भस्य लिखा है।

रसों का परस्पर विरोधाविरोध—

रसों में परस्पर शत्रु-मित्र भाव भी माना गया है। कुछ रस ऐसें होते हैं जिनका साथ-साथ वर्णन हो सकता है। कुछ ऐसे हैं जिनका साथ साथ। वर्णन नहीं किया जा सकता। इस प्रकार के विरोधी रसों में शृङ्गार रस का करुण, बीभत्स, रौद्र, वीर और भयानक के साथ विरोध माना गया है। आद्यः 'करुण-बीभत्सरौद्रवीरभयानकैः' । इस नीति के अनुसार करुण और शृङ्गार का एकत्र

---

१. सर्वे ते नि० । २. वा अधिक है नि० । ५. विषयाः नि० ।

वर्णन नहीं किया जा सकता है। परन्तु इस 'क्षिप्तो०' इत्यादि श्लोक में करुण और श्रृङ्गार दोनों का वर्णन आया है। इसी के समाधान करने के लिए ग्रन्थकार ने "अतएव चेर्ष्याविप्रम्भकरुणयोरङ्गत्वेन व्यवस्थानात् समावेशो न दोषः" यह पंक्ति लिखी है।

रसों के इस विरोध के तीन प्रकार हैं। किन्हीं का विरोध आलम्बन ऐक्य में होता है। किन्हीं का आश्रय ऐक्य में विरोध है और किन्हीं का नैरन्तर्य विरोधजनक है। जैसे श्रृङ्गार और वीर रस का आलम्बनैक्य से विरोध है। उस एक ही आलम्बन विभाव से श्रृङ्गार और वीर दोनों का परिपोष नहीं हो सकता। इसी प्रकार हास्य, रौद्र और बीभत्स के साथ सम्भोग श्रृङ्गार का तथा वीर, करुण, रौद्रादि के साथ विप्रलम्भ श्रृङ्गार का आलम्बनैक्येन विरोध है।

वीर और भयानक रस का आश्रय ऐक्य से विरोध है। एक ही आश्रय-व्यक्ति में एक साथ वीर और भयानक के स्थायीभाव भय और उत्साह उद्भूत नहीं हो सकते। इसी प्रकार शान्त और श्रृङ्गार रस का नैरन्तर्य विरोधजनक है। अर्थात् श्रृङ्गार से अव्यवहित शान्त रस का वर्णन दोषजनक है। यह रसों के विरोध की व्यवस्था हुई। इस रूप में यह रस एक दूसरे के विरोधी या शत्रु हैं। परन्तु श्रृङ्गार का अद्भुत के साथ, भयानक का बीभत्स के साथ, वीर रस का अदभुत और रौद्र रस के साथ किसी प्रकार विरोध नहीं है। न आलम्बनैक्येन, न आश्रयैक्येन, और न नैरन्तर्येण; इसलिए इनको मित्र रस कहा जा सकता है

प्रकृत 'क्षिप्तः' इत्यादि श्लोक में पतियों के मरने से आग की विपत्ति में पड़ी त्रिपुर सुन्दरियां करुण रस का आलम्बन विभाव हैं और 'कामीवार्द्रापराधः' इस 'कामीव' उपमा का सम्बन्ध भी उनके साथ ही होने से श्रृङ्गार का आलम्बन विभाव भी वही हैं। इस प्रकार यहां करुण और विप्रलम्भ श्रृङ्गार दोनों का आलम्बन ऐक्य से वर्णन किया है। परन्तु आलम्बनैक्य से ही इन दोनों रसों का विरोध है इसलिए यहां अनुचित रस वर्णन किया गया है। यह शङ्का है जिसका समाधान मूल में "ईर्ष्याविप्रलम्भकरुणयोरङ्गत्वेन व्यवस्थानात् समावेशो न दोषः।" लिख कर किया है।

विरोधी रसों के अविरोध सम्पादन का उपाय—

विरोधिनोऽपि स्मरणे, साम्येन वचनेऽपि वा।
भवेद् विरोधो नान्योन्यमङ्गिन्यङ्गत्वमाप्तयोः॥ सा० द० ७,३०।

अर्थात् दो विरोधी रसों का स्मरणात्मक वर्णनमात्र हो, अथवा दोनों का समभाव से अर्थात् गुणप्रधानभाव रहित वर्णन हो अथवा दोनों यदि किसी तीसरे के अङ्ग रूप में वर्णित हों तो इन तीन अवस्थाओं में उक्त विरोधी रसों का एक साथ वर्णन भी दोषजनक नहीं होता। यह सिद्धान्त माना गया है। यहां करुण और विप्रलम्भ शृङ्गार दोनों उत्साह परिपोषित भगवद्विषयक रति-भक्ति-के अङ्ग हैं। इसलिए उनका साथ वर्णन दोषजनक नहीं है। यही भाव "विप्रलम्भकरुणयोरङ्गत्वेन व्यवस्थानात् समावेशो न दोषः" इस समाधान का है।

श्लोक में जिस त्रिपुर-दाह के अग्निकाण्ड का वर्णन है वह पौराणिक कथा के आधार पर है। तारकासुर नाम का एक प्रसिद्ध असुर था। उसके तीन पुत्र हुए, तारकाक्ष, विद्युन्माली और कमललोचन। इन तीनों ने महा घोर तप करके ब्रह्मा जी और शिव जी को प्रसन्न किया और उनसे अन्तरिक्ष के तीनों पुरों का अधिकार प्राप्त किया। परन्तु पीछे अधिकार मद से मत्त हो वे नाना प्रकार के अत्याचार करने लगे। तब सब देवताओं ने विष्णु के नेतृत्व में शिव जी से मिल कर उनके नाश करने की प्रार्थना की। देवताओं की प्रार्थना मान कर शिव जी ने एक ही बाण छोड़ा जिससे वह तीनों पुर अग्नि से प्रज्वलित हो उठे और भस्म हो कर नष्ट हो गए। तब से शिव का एक नाम त्रिपुरारि भी हो गया है। प्रकृत श्लोक में उसी समय के इस अग्नि काण्ड का वर्णन किया गया है।

खण्ड रस का सञ्चारी रस—

अभी रसों के अङ्गाङ्गिभाव तथा विरोध की जो चर्चा की गई है उसके सम्बन्धमें एक शङ्का यह रह जाती है कि रस को अखण्ड समूहालम्बनात्मक, ब्रह्मास्वाद सहोदर माना गया है। ऐसे दो रसों का युगपत् एकत्र समावेश या प्रादुर्भाव ही सम्भव नहीं है इसलिए उनके विरोध अथवा अङ्गाङ्गिभाव का उपपादन कैसे होगा। इसका उत्तर यह है कि आपका कहना ठीक है। इसलिए ऐसे अपूर्ण रसों को रस न कह कर प्राचीन लोग 'सञ्चारी' रस नाम से व्यवहृत करते हैं और चण्डीदास ने उनको 'खण्डरस' नाम से कहा है।

अङ्गं बाध्योऽथ संसर्गी यद्यङ्गी स्याद्रसान्तरे।
नास्वाद्यते समग्रं तत्ततः खण्डरसः स्मृतः। सा० द० ७।

रसवदलङ्कार विषयक मतभेद—

अभी चौथी कारिका में रसवदलङ्कारों का वर्णन करते हुए कारिकाकार ने लिखा है कि "काव्ये तस्मिन्नलङ्कारो रसादिरिति मे मतिः।" अर्थात् जहां अन्य

कोई मुख्य वाक्यार्थ हो और रसादि अङ्ग रूप में वर्णित हों वहां रसादि अलङ्कार होता है यह मेरी सम्मति है। यह "मे मतिः" शब्द इस विषय में मतभेद को सूचित करते हैं। इसी की वृत्ति में वृत्तिकार ने भी यद्यपि 'रसवदलङ्कारस्यान्यैर्दर्शितो विषयः' लिख कर उस मतभेद की सूचना दी है। इस मतभेद के दो रूप हैं। कुछ लोगों का कहना है कि अलङ्कार तो कटक-कुण्डल के समान हैं वह साक्षात् वाच्य-वाचक के उपकारक और परम्परया रस के उपकारक होते हैं। जसे कटक-कुण्डल साक्षात् शरीर के उपकारक और शरीर द्वारा आत्मा के उपकारक होने से अलङ्कार कहलाते हैं। इसलिए—

उपकुर्वन्ति तं सन्तं येऽङ्गद्वारेण जातुचित्।
हारादिवदलङ्कारास्तेऽनुप्रासोपमादयः ॥ का० प्र० १०, १।

इत्यादि अलङ्कार के लक्षणों में अनुप्रास-उपमादि को अङ्ग अर्थात् शब्द और अर्थ द्वारा ही रसोपकारक माना है। परन्तु रसवदलङ्कार वाच्य और वाचक अर्थ या शब्द के उपकारक न होकर साक्षात् रसादि के उपकारक होते हैं इसलिए उनमें अलङ्कार का लक्षण ही नहीं घटता है इसलिए रसवदलङ्कार नहीं होते। ऐसी दशा में जहां रसादि अन्य के अङ्ग हैं वहां यह लोग रसवदलङ्कार न मान कर उसको गुणीभूत व्यङ्ग्य ही कहते हैं।

रसवदलङ्कारों के विषय में उठाई गई इस आपत्ति को दूर करने के लिए कुछ लोग चिरन्तन व्यवहारानुरोध से रसोपकारकत्वमात्र से गुणीभूत रसों में भाक्त अलङ्कार व्यवहार मान कर कथञ्चित् उनके रसवदलङ्कारत्व का उपपादन करते हैं।

दूसरे लोग इस समस्या को हल करने के लिए अलङ्कार के लक्षण में शब्दार्थ का समावेश व्यर्थ बता कर रसोपकारकत्वमात्र को अलङ्कार का मुख्य लक्षण मानकर गुणीभूत रसों में साक्षात् रसोपकारकत्व होने से उनमें रसवदलङ्कारत्व का उपपादन करते हैं। इनके मत में यह अलङ्कार-व्यवहार भाक्त नहीं अपितु मुख्य ही है।

इस दूसरे मत के लोग "उपकुर्वन्ति तं सन्तं येऽङ्गद्वारेण जातुचित्" इत्यादि अलङ्कार के लक्षण में अलङ्कारविशिष्टशब्दार्थज्ञानत्वेन और चमत्कारत्वेन कार्य-कारण-भाव मान कर उस अलङ्कार लक्षण का इस प्रकार परिष्कार करते हैं :—

समवायसम्बन्धावच्छिन्नचमत्कृतित्वावच्छिन्नजन्यतानिरूपित, समवायसम्बन्धावच्छिन्न ज्ञानत्वावच्छिन्न जनकतानिरूपित, विषयत्वसम्बन्धावच्छिन्न शब्दार्थान्यतरनिष्ठावच्छेदकतानिरूपितवच्छेदकतावत्वमलङ्कारत्वम्।

रसवदलङ्कार तथा गुणीभूत व्यङ्ग्य की व्यवस्था—

रसवदलङ्कारों के साथ ही गुणीभूत व्यङ्ग्य का प्रश्न भी सामने आ जाता है। अलङ्कार साक्षात् शब्दार्थ के ही उपकारक होते हैं और गुणीभूत रस शब्दार्थ के उपकारक न होकर साक्षात् रसान्तर के उपकारक होते हैं इसलिए उनमें अलङ्कार का सामान्य लक्षण न घटने से जो लोग उनको रसवदलङ्कार न कह कर गुणीभूत व्यङ्ग्य कहते हैं उनका मत तो स्पष्ट हो गया। उनके मत में ध्वनि और गुणीभूत व्यङ्ग्य दो ही वस्तु हैं इनसे भिन्न रसवदलङ्कार नाम की तीसरी वस्तु नहीं है परन्तु ध्वनिकार ने रसवदलङ्कार भी माने हैं और गुणीभूत व्यङ्ग्य भी। इनके मत में रसादि ध्वनि के अपराङ्ग होने में रसवत् तथा प्रेयोलङ्कार और वस्तु या अलङ्कार ध्वनि के अपराङ्गादि होने पर गुणीभूत व्यङ्ग्य मानने से ही दोनों का समन्वय हो सकेगा।

ध्वनि, उपमादि तथा रसवदलङ्कार—

रसवदलङ्कारों के विषय में दूसरा मतभेद जिसकी ओर कारिका और वृत्ति में संकेत किया गया है उसका स्वरूप यह है कि कुछ लोग १–चेतन के वाक्यार्थीभूत होने पर रसवदलङ्कार और २–अचेतन के वाक्यार्थीभूत होने पर उपमादि अलङ्कार मानते हैं। उनका आशय यह है कि अचेतन के वाक्यार्थीभूत होने पर उसमें चित्तवृत्तिरूप रसादि सम्भव न होने से उनके वर्णन में रसवदलङ्कार की सम्भावना नहीं है। अतएव उनको उपमादि अलङ्कार विषय चेतन के वाक्यार्थीभाव में रसवदलङ्कार का विषय मानना चाहिए। आलोककार ने 'इति मे मतिः' लिख कर इसी मत के विरुद्ध अपनी सम्मति प्रदर्शित की है। उनका आशय यह है कि :—

१—जहां रसादि की प्रतीति प्रधान रूप से होती है वहां रसध्वनि का विषय समझना चाहिए।

२—जहां मुख्य रस अलङ्कार्य है और कोई दूसरा रस भी अङ्गभूत नहीं है वहां उपमादि अलङ्कार का क्षेत्र है।

३—जहां रसादि अङ्ग रूप में हैं वहां रसवदलङ्कार का विषय है।

इस प्रकार १–ध्वनि, २–उपमादि अलङ्कार और ३–रसवदलङ्कारों का विषय भेद हो जाता है। इसके विपरीत उक्त चेतन और अचेतन के वर्णन भेद से भेद मानने वाले मत में यह विभाग नहीं बन सकता है। इसी विषय को ग्रन्थकार आगे उपस्थित करते हैं।

एवं ध्वनेः, उपमादीनां, रसवदलङ्कारस्य च विभक्तविषयता भवति । यदि तु चेतनानां वाक्यार्थीभावो रसाद्यलङ्कारस्य विषय इत्युच्यते तर्हि, उपमादीनां प्रविरलविषयता निर्विषयता वाभिहिता स्यात् । यस्मादचेतनवस्तुवृत्ते वाक्यार्थीभूते पुनश्चेतनवस्तुवृत्तान्त-योजनया कथञ्चिद्भवितव्यम् । अथ सत्यामपि तस्यां यत्राचेतनानां वाक्यार्थीभावो नासौ रसवदलङ्कारस्य विषय इत्युच्यते, तन्महतः[1] काव्यप्रबन्धस्य रसनिधानभूतस्य नीरसत्वमभिहितं स्यात् ।

यथा—

तरङ्ग-भ्रूभङ्गाक्षुभितविहगश्रेणिरशना,
विकर्षन्ती फेनं, वसनमिव संरम्भशिथिलम् ।
यथाविद्धं याति स्खलितमभिसन्धाय बहुशो,
नदीरूपेणेयं ध्रुवमसहना सा परिणता ॥

इस प्रकार [ऊपर वर्णित पद्धति से] ध्वनि, उपमादि अलङ्कार और रसवदलङ्कारों का क्षेत्र अलग-अलग हो जाता है । [इसके विपरीत अन्यों के मत से] यदि चेतन के वाक्यार्थीभाव [चेतन को मुख्य वाक्यार्थ मानने] में रसवदलङ्कार का विषय होता है यह मानें तो उपमादि अलङ्कारों का विषय बहुत विरल रह जायगा अथवा सर्वथा ही नहीं रहेगा । क्योंकि जहां अचेतन वस्तुवृत्त मुख्य वाक्यार्थ है वहां किसी न किसी प्रकार [विभावादि द्वारा] चेतनवस्तु के वृत्तान्त योजना होगी ही । [इस प्रकार उन सब स्थलों में चेतन वस्तु के वाक्यार्थ बन जाने पर वह सब ही रसवदलङ्कार के विषय हो जावेंगे । उपमादि के नहीं इसलिए उपमादि प्रविरल विषय अथवा निर्विषय हो जावेंगे ।] और यदि चेतनवृत्तान्त योजना होने पर भी जहां अचेतन का वाक्यार्थीभाव [प्राधान्य] है वहां रसवदलङ्कार नहीं हो सकता यह कहा जाय तो बहुत बड़े रसमय काव्य भाग का नीरसत्व कथित हो जायगा ।

जैसे—

टेढ़ी भौंहों के समान तरङ्गों को और रशना के समान क्षुब्ध विहग पंक्ति को धारण किए हुए क्रोधावेश में खिसके हुए वस्त्र के समान फेनों को खींचती हुई [यह नदी] बार-बार ठोकर खाकर जो टेढ़ी चाल से जा रही है सो जान

---

१. महतः नि० ।

यथा वा—

तन्वी मेघजलार्द्रपल्लवतया धौताधरेवाश्रुभिः,
शून्येवाभरणैः स्वकालविरहाद्विश्रान्तपुष्पोद्गमा।
चिन्तामौनमिवाश्रिता मधुकृतां शब्दैर्विना लक्ष्यते,
चण्डी मामवधूय पादपतितं जातानुतापेव सा॥

यथा वा—

तेषां गोपवधूविलाससुहृदां राधारहःसाक्षिणां,
क्षेमं भद्र कलिन्दशैलतनयातीरे लतावेश्मनाम्।
विच्छिन्ने स्मरतल्पकल्पनमृदुच्छेदोपयोगेऽधुना,
ते जाने जरठी भवन्ति विगलन्नीलत्विषः पल्लवाः॥

इत्येवमादौ विषयेऽचेतनानां वाक्यार्थीभावेऽपि चेतनवस्तुवृत्तान्त योजनाऽस्त्येव। अथ यत्र चेतनवस्तुवृत्तान्तयोजनाऽस्ति तत्र रसादि रलङ्कारः। तदेवं सत्युपमादयो निर्विषयाः प्रविरलविषयाः वा स्युः।

पड़ता है कि मेरे अनेक अपराधों को देख कर रूठी हुई वह [उर्वशी ही] नदी रूप में परिणत हो [बदल] गई है।

अथवा जैसे—

तन्वी [उर्वशी] पैरों पर पड़े हुए मुझे तिरस्कृत करके पश्चात्तापयुक्त होकर आँसुओं से गीले अधर के समान वर्षा के जल से आर्द्र पल्लव को धारण किए, ऋतुकाल न होने से पुष्पोद्गमरहित आभरण शून्य सी, भौंरों के शब्द के अभाव में चिन्ता मौन सी [लता रूप में] दिखाई देती है।

अथवा जैसे—

हे भद्र! गोपवधुओं के विलास सखा, राधा की एकान्त क्रीडाओं के साक्षी यमुना तट के लता कुञ्ज तो कुशल से हैं। अथवा [अब तो] मदनशय्या के निर्माण के लिए मृदु किसलयों के तोड़ने का प्रयोजन न रहने पर नील-कान्ति को छिटकाते हुए वे पल्लव [पुराने] रूढ़े हो जाते होंगे।

इत्यादि उदाहरणों में अचेतन [क्रमशः पहिले श्लोक में नदी, दूसरे में लता और तीसरे में लताकुञ्ज] वस्तुओं के वाक्यार्थीभाव [प्रधानता] होने पर भी [विभावादि द्वारा कथञ्चित्] चेतन वस्तु के व्यवहार की योजना है ही। और जहां चेतनवस्तु वृत्तान्त योजना है वहां रसादि अलङ्कार है। ऐसा होने पर

यस्मान्नास्त्येवासावचेतनवस्तुवृत्तान्तो यत्र चेतनवस्तुवृत्तान्तयोजना नास्त्यन्ततो विभावत्वेन। तस्मादङ्गत्वेन च रसादीनामलङ्कारता। यः पुनरङ्गी रसो भावो वा सर्वाकारमलङ्कार्यः स ध्वनेरात्मेति ॥५॥

किञ्च—

तमर्थमवलम्बन्ते येऽङ्गिनं ते गुणाः स्मृताः।
अङ्गाश्रितास्त्वलङ्कारा मन्तव्याः कटकादिवत् ॥६॥

ये तमर्थं रसादिलक्षणमङ्गिनं सन्तमवलम्बन्ते ते गुणाः शौर्यादिवत्। वाच्यवाचकलक्षणान्यङ्गानि ये [1]पुनस्तदाश्रितास्तेऽलङ्कारा मन्तव्याः कटकादिवत् ॥६॥

उपमादि अलङ्कार सर्वथा निर्विषय हो जावेंगे अथवा उनके उदाहरण बहुत ही कम मिल सकेंगे। क्योंकि ऐसा कोई अचेतन वृत्तान्त नहीं मिलेगा जहां चेतन वस्तु वृत्तान्त का संबन्ध अन्ततः विभाव रूप से [ही सही] न हो। इसलिए रसादि के अङ्ग होने पर रसवदलङ्कार होते हैं और जो अङ्गी रस या भाव सब प्रकार से अलङ्कार्य है वह ध्वनि का [आत्मा] स्वरूप है।

इस प्रकार आलोककार ने रसवदलङ्कार के विषय में परमत का निराकरण करते हुए अपने मत का उपसंहार किया। इनका भाव यह हुआ कि चेतनवस्तु के वाक्यार्थीभाव के आधार पर रसवदलङ्कार और अचेतन वस्तु के वाक्यार्थीभाव में उपमादि अलङ्कार होते हैं यह जो दूसरों का मत है वह इसलिए ठीक नहीं है क्योंकि अचेतन वस्तु के साथ चेतन वृत्तान्त का सम्बन्ध हो ही जाता है अतः सर्वत्र रसवदलङ्कार ही होगा। उपमादि का विषय बहुत कम या बिल्कुल नहीं मिलेगा। या फिर अचेतन परक काव्य को नीरस ठहराना पड़ेगा ॥५॥

गुण और अलङ्कार का भेद [सिद्धान्त पक्ष]—

और—

जो उस प्रधानभूत [रस] अङ्गी के आश्रित रहने वाले [माधुर्यादि] हैं उनको गुण कहते हैं और जो [उसके] अङ्ग [शब्द तथा अर्थ] में आश्रित रहने वाले हैं उनको कटकादि के समान अलङ्कार कहते हैं।

जो उस रसादि रूप अङ्गीभूत का अवलम्बन करते हैं [तदाश्रित रहते

---

१. पुनराश्रिता नि०।

हैं] वे शौर्य आदि के समान गुण कहाते हैं। और वाच्य तथा वाचक रूप [अर्थ तथा शब्द उस काव्य के] अङ्ग हैं, जो उन [अङ्गों] के आश्रित हैं वे कटक आदि के समान अलङ्कार समझने चाहिए।

पांचवीं कारिका की व्याख्या में रस-ध्वनि, रसवदलङ्कार तथा उपमादि अलङ्कार का विषय विभाग किया था।। छठी कारिका में गुण तथा अलङ्कारों का विषय विभाग किया है। जो साक्षात् रस के आश्रित रहने वाले माधुर्य आदि हैं उनको साक्षात् आत्मा में रहने वाले शौर्य आदि के समान गुण कहते हैं और जो उसके अङ्गभूत शब्द तथा अर्थ में रहने वाले धर्म हैं उनको कटकादि के समान अलङ्कार कहते हैं। यह गुण और अलङ्कार का भेद हुआ।

वामन मत—

भामह के काव्यलाङ्कार की वृत्ति में भट्टोद्भट का, तथा वामन का मत इस विषय में इससे भिन्न है। वामन ने तो "काव्यशोभायाः कर्तारो धर्मा गुणाः तदतिशयहेतवस्त्वलङ्काराः" लिखा है। अर्थात् काव्य के शोभाजनक धर्मों को गुण और उस शोभा के वृद्धिकारक हेतुओं को अलङ्कार कहा है। काव्यप्रकाश ने इस का खण्डन करते हुए लिखा है कि जो लोग यह लक्षण करते हैं उनके मत में "किं समस्तै गुणैः काव्यव्यवहार उत कतिपयैः"। क्या समस्त गुण मिल कर काव्यव्यवहार के प्रयोजक होते हैं अथवा कुछ ही पर्याप्त होते हैं। यदि सब गुणों की समष्टि को ही काव्यव्यवहार का प्रयोजक मानें तो गौड़ी पाञ्चाल आदि रीति जिनमें समस्त गुण नहीं रहते उनको कैसे काव्य का आत्मा मानोगे। इस आक्षेप का भाव यह है कि वामन तो रीतिसम्प्रदाय के प्रवर्तक हैं। "रीतिरात्मा काव्यस्य" यह उनका सिद्धान्त है। गौड़ी, पाञ्चाली आदि रीतियों में समस्त गुणों का समवाय तो होता नहीं फिर उनको काव्य का आत्मा कैसे मानोगे। और यदि एक-एक गुण की उपस्थिति को ही काव्यव्यवहार के लिए पर्याप्त मानों तो "अद्रावत्र प्रज्वलत्यग्निरुच्चैः, प्राज्यः प्रोद्यन्नुलसत्येष धूमः" इत्यादि में ओज आदि गुण होने के कारण उनमें भी काव्य व्यवहार क्यों नहीं होगा। मम्मट ने वामन के खण्डन में यहां जो युक्ति प्रवाह उपस्थित किया है वह कुछ शिथिल सा जान पड़ता है।

भामह मत—

भामह के विवरण में भट्टोद्भट ने तो गुण और अलङ्कार के भेद को ही नहीं माना है। उनका कहना है कि लौकिक गुण [शौर्यादि] और अलङ्कार [कटक-कुण्डलादि] में तो भेद स्पष्ट है। शौर्यादि गुण आत्मा में समवाय

तथा च—

श्रृङ्गार एव मधुरः परः प्रह्लादनो रसः ।
तन्मयं काव्यमाश्रित्य माधुर्यं प्रतितिष्ठति ॥७॥

श्रृङ्गार एव रसान्तरापेक्षया मधुरः प्रह्लादहेतुत्वात् । [1]तत्प्रकाशनपरशब्दार्थतया काव्यस्य स माधुर्यलक्षणो गुणः । श्रव्यत्वं पुनरोजसोऽपि साधारणमिति ॥७॥

सम्बन्ध से रहते हैं और कटक-कुण्डलादि अलङ्कार शरीर में संयोग सम्बन्ध से आश्रित होते हैं । इसलिए लौकिक गुण और अलङ्कारों में वृत्तिनियामक सम्बन्ध संयोग तथा समवाय के भेद से भेद हो सकता है । परन्तु ओजः प्रभृति गुण और अनुप्रासादि अलङ्कार दोनों ही समवाय सम्बन्ध से रहते हैं इसलिए [समवायवृत्त्या शौर्यादयः, संयोगवृत्त्या तु हारादयः इत्यस्तु गुणालङ्काराणां भेदः ओजः प्रभृतीनां अनुप्रासोपमादीनां चोभयेषामपि समवायवृत्त्या स्थितिरिति गड्डलिकाप्रवाहेणैवैषां भेदः] इन दोनों का भेद मानना गड्डलिकाप्रवाह [भेड़चाल] के समान ही है । परन्तु आलोक और काव्यप्रकाशादिकार ने रसनिष्ठ धर्मों को गुण और शब्दार्थ निष्ठ धर्मों को अलङ्कार मान कर दोनों का भेद किया है । अर्थात् वृत्तिनियामक सम्बन्ध के भेद से नहीं, अपितु आश्रय भेद से गुण और अलङ्कार का भेद है ।

नव्य मत—

नव्य लोगों का यह मत है कि गुणों को रसमात्र धर्म मानने में कोई दृढ़तर प्रमाण भी नहीं है और वेदान्त में प्रतिपादित निर्गुण आत्मतत्व स्थानीय रस को भी निर्गुण ही मानना चाहिए । अतएव गुणों को रसधर्म मानना उपहासास्पद ही होगा । ['अपि चात्मनो निर्गुणत्वस्य सर्वप्रमाणमौलिभूतवेदान्तैः प्रतिपादिततया आत्मभूतरसगुणत्वं माधुर्यादीनां कथमिव नोपहासास्पदम् ।' ॥६॥

इसी से,

श्रृङ्गार ही सबसे अधिक आनन्ददायक मधुर [माधुर्य युक्त] रस है । उस श्रृङ्गारमय काव्य के आश्रित ही माधुर्य गुण रहता है ।

श्रृङ्गार ही अन्य रसों की अपेक्षा अधिक प्रह्लादजनक होने से मधुर है ।

---

१. नि० तथा दी० मे प्रह्लादहेतुत्वात्प्रकाशनपरः । शब्दार्थयोः ऐसा पाठ है ।

उसको प्रकाशित करने वाले शब्दार्थ युक्त काव्य का वह माधुर्य गुण होता है। अव्यत्व तो ओज का भी साधारण धर्म है। [अर्थात् माधुर्य के समान ओज में भी अव्यत्व रहता है।]

'एवकारस्त्रिधा मतः'—

शृङ्गार एव मधुरः, इत्यादि सातवीं कारिका में 'एव' पद का प्रयोग किया गया है। इस 'एव' का प्रयोग तीन प्रकार से होता है और उन तीनों में उसके अर्थ में भेद हो जाता है। वह कभी विशेषण के साथ प्रयुक्त होता है कभी विशेष्य के साथ और कभी क्रिया के साथ। विशेष्य के साथ प्रयोग होने पर वह अन्य योग का व्यच्छेदक होता है [विशेष्यसङ्गतस्त्वेवकारो अन्ययोग-व्यच्छेदकः] जैसे 'पार्थ एव धनुर्धरः'। यहां पार्थ विशेष्य है उसके साथ प्रयुक्त एव का अर्थ अन्य-योग का व्यच्छेद करना है। अर्थात् वह विशेष्य पार्थ से अन्य में विशेषण धनुर्धर के संबन्ध का निषेध करता है। 'पार्थ एव धनुर्धरो नान्यः' यह उसका भावार्थ होता है। विशेषण के साथ प्रयुक्त एव अयोग व्यवच्छेदक होता है [विशेषण सङ्गतस्त्वेव-कारो अयोग-व्यच्वछेदकः] जैसे 'पार्थो धनुर्धर एव' यहां विशेषण धनुर्धर के साथ प्रयुक्त 'एव' विशेष्य में विशेषण के अयोग अर्थात् संबन्धाभाव का निषेध करता है और उस में धनुर्धरत्व का नियमन करता है। इसी प्रकार जब 'एव' क्रिया के साथ अन्वित होता है तब अत्यन्तायोग-व्यच्छेदक होता है। जैसे 'नीलं कमलं भवत्येव' इस वाक्य में 'भवति' क्रिया के साथ अन्वित एवकार कमल में नीलत्व के अत्यन्त असम्बन्ध का निषेध कर किसी विशेष कमल में नील के संबन्ध को नियमित करता है। इस प्रकार एव के तीन प्रकार के प्रयोग होते हैं। ['अयोगं अन्ययोगं चात्यन्तायोगमेव च। व्यवच्छिनत्ति धर्मस्य एवकारस्त्रिधा मतः।']

प्रकृत 'शृङ्गार एव मधुरः' इत्यादि कारिका में विशेष्य के साथ अन्वित एव के अन्ययोग व्यच्छेदक होने से उसका अर्थ 'शृङ्गार एव मधुरो नान्यः' यह होगा। परन्तु अगली ही कारिका में [शृङ्गारे विप्रलम्भाख्ये करुणे च प्रकर्षवत्।] करुण आदि रस में भी उसका अस्तित्व ही नहीं माना अपितु संभोग शृङ्गार की अपेक्षा विप्रलम्भ में और उससे भी अधिक करुण रस में माधुर्य का उत्कर्ष माना है। यदि 'शृङ्गार एव' का एवकार अन्ययोग व्यवच्छेदक है तो इसकी सङ्गति कसे लगेगी यह एक प्रश्न है। इस प्रश्न का उत्तर यह है कि अन्य के भीतर दो प्रकार की वस्तुएं आती हैं विशेष्य की सजातीय और विजातीय। यहां विशेष्य शृङ्गार है। उसके सजातीय अन्य रस करुणादि भी अन्य की श्रेणी में आते हैं। अन्य-व्यवच्छेदक

शृङ्गारे विप्रलम्भाख्ये करुणे च प्रकर्षवत् ।
माधुर्यमार्द्रतां याति यतस्तत्राधिकं मनः ॥८॥

विप्रलम्भशृङ्गारकरुणयोस्तु माधुर्यमेव प्रकर्षवत् । सहृदयहृदयावर्जनातिशयनिमित्तत्वादिति ॥८॥

एवकार कहीं सजातीय का व्यवच्छेदक होता है और कहीं विजातीय का व्यवच्छेद करता है । यहां यदि उसे सजातीय व्यवच्छेदक मानें तब तो वह करुण आदि में माधुर्य के योग का व्यवच्छेदक होगा और उस दशा में अगली कारिका से विरोध होगा । परन्तु यदि उसे विजातीय अन्य का व्यवच्छेदक मानें तो वह, शब्द तथा अर्थ में माधुर्य का व्यवच्छेदक होगा और इस प्रकार गुण के शब्दधर्मत्व अथवा अर्थधर्मत्व का निषेध कर के रसैकधर्मत्व का प्रतिपादक होगा । यही आलोककार का सिद्धान्त पक्ष है । इसी के द्योतन के लिए यहां शृङ्गार के साथ एव पद का प्रयोग किया गया है ।

कारिका की वृत्ति में "श्रव्यत्वं पुनरोजसोऽपि साधारणम्" लिखा है । यह पंक्ति भामह के "श्रव्यं नातिसमस्तार्थशब्दं मधुरमिष्यते" भामह २,२,३ इस वचन की आलोचना में लिखी गई है । लोचनकार ने इस की टीका में लिखा है कि इस प्रकार का श्रव्यत्व तो "यो यः शस्त्रं बिभर्ति स्वभुजगुरुमदः पाण्डवीनां चमूनां" इत्यादि ओज के उदाहरण में भी पाया जाता है अतएव यह माधुर्य का लक्षण नहीं हो सकता है ॥७॥

विप्रलम्भ शृङ्गार और करुण रस में माधुर्य [गुण का प्रयोग, विशेष रूप से] उत्कर्ष युक्त होता है क्योंकि उसमें मन अधिक आर्द्रता को प्राप्त हो जाता है ।

विप्रलम्भ शृङ्गार और करुण में तो सहृदयों के हृदयों को अतिशय आकृष्ट करने का निमित्त होने से माधुर्य [गुण] ही उत्कर्षयुक्त होता है ॥८॥

प्राचीन भामह आदि आचार्यों ने ['श्लेषः प्रसादस्समता माधुर्यं सुकुमारता । अर्थव्यक्तिरुदारत्वमोजः कान्ति समाधयः ॥] यह दश शब्द-गुण और दश अर्थ गुण मानें हैं । शब्दगुणों और अर्थगुणों के नाम तो एक ही है परन्तु उनके लक्षण दोनों जगह अलग-अलग हो जाते हैं । आलोक, लोचन, काव्यप्रकाशादि ने इन दस गुणों का अन्तर्भाव अपने तीन गुणों में कर लिया है । और इस प्रकार माधुर्य, ओज और प्रसाद केवल यह तीन गुण ही मानें हैं । उन गुणों के अन्तर्भाव प्रकार को निम्न चित्र द्वारा दिखाया जा सकता है ।

शब्द गुणों तथा अर्थ गुणों के नाम	शब्द-गुणों के लक्षण तथा उनका अन्तर्भाव		अर्थ-गुणों के लक्षण तथा उनका अन्तर्भाव	
	शब्द-गुण दशा में लक्षण	अन्तर्भाव	अर्थ-गुण दशा में लक्षण	अन्तर्भाव
१. श्लेषः	बहूनां पदानामेकपदवद्भासनम्	ओजसि	क्रमकौटिल्यानुल्वणत्वयोगरूपघटना	विचित्रतामात्रम्
२. प्रसादः	ओजो मिश्रितशैथिल्यात्मा	ओजसि	अर्थवैमल्यम्	अपुष्टार्थत्वाभावे
३. समता	मार्गाभेदस्वरूपिणी, [क्वचिद्दोषः]	यथायथम्	प्रक्रान्तप्रकृत्यादिनिर्वाहः	प्रक्रमभङ्गदोषाभावे
४. माधुर्यम्	पृथक्पदत्वम्	माधुर्ये	माधुर्यमुक्तिवैचित्र्यम्	अनवीकृत दोषाभावे
५. उदारता	विकटत्वं, पदानां नृत्यत्प्रायत्वम्	ओजसि	अग्राम्यत्वम्	ग्राम्यत्वाभावे
६. अर्थव्यक्तिः	पदानां झटित्यर्थसमर्पणम्	प्रसादे	वस्तुस्वभावस्फुटत्वम्	स्वभावोक्ति अलङ्कारे
७. सुकुमारता	अपारुष्यम्	दुःश्रवतात्यागे	अपारुष्यम्	अमङ्गलाश्लीलत्यागे
८. ओजः	बन्धवैकट्यम्	ओजसि	साभिप्रायत्वम्	अपुष्टार्थत्वाभावे
९. कान्तिः	औज्ज्वल्यम्	ग्राम्यत्वाभावे	दीप्तरसत्वम्	ध्वनिगुणीभूतव्यङ्ग्ययोः
१०. समाधिः	आरोहावरोहक्रमः	ओजसि	अर्थदृष्टिरूपः अयोनिः अन्यच्छायायोनिश्चेति द्विविधः	अर्थदृष्टिर्न गुणः

रौद्रादयो रसा दीप्त्या लक्ष्यन्ते काव्यवर्तिनः ।
तद्व्यक्तिहेतू शब्दार्थावाश्रित्यौजो व्यवस्थितम् ॥ ६ ॥

रौद्रादयो हि रसाः परां दीप्तिमुज्ज्वलतां जनयन्तीति लक्षणया त एव दीप्तिरित्युच्यते । तत्प्रकाशनपरः शब्दो दीर्घसमासरचनालंकृतं वाक्यम् ।

यथा--

चञ्चद्भुजभ्रमित-चण्डगदाभिघात-
सञ्चूर्णितोरुयुगलस्य सुयोधनस्य ।
स्त्यानापविद्ध-घन-शोणित-शोणपाणि-
रुत्तंसयिष्यति कचांस्तव देवि भीमः ॥

काव्य में विद्यमान रौद्रादि रस दीप्ति [चित्तविस्तार रूप रौद्रादि रसों में अनुभूयमान चित्तावस्था विशेष] से लक्षित होते हैं । उस दीप्ति के अभिव्यञ्जक शब्द और अर्थ के आश्रय ओज रहता है ।

रौद्रादि [आदि पद से वीर और अद्भुत] रस अत्यन्त उज्ज्वलता रूप [चित्तावस्था] दीप्ति को पैदा करते हैं इसलिये लक्षणा से वह ही दीप्ति रूप कहे जाते हैं। [ज्ञाता के हृदय की विस्तार या प्रज्वलन स्वभाव अवस्था विशेष का नाम दीप्ति है । वही मुख्य रूप से ओजः शब्द वाच्य है । उसके सम्बन्ध से तदास्वादमय रौद्रादि रस भी लक्षणा से दीप्ति शब्द से गृहीत होते हैं । और उसके प्रकाशक दीर्घसमास रचना से अलंकृत शब्द भी लक्षित लक्षणा से दीप्ति शब्द से गृहीत होते हैं । जैसे 'चञ्चद्भुज०' और उसका प्रकाशन करने वाला अर्थ भी दीप्ति शब्द से कहा जाता है ।] उसके प्रकाशक शब्द दीर्घसमास रचना से अलङ्कृत वाक्य हैं।

जैसे—

[इन] फड़कती हुई भुजाओं से घुमाई गई गदा के भीषण प्रहार से जिस की दोनों जङ्घाओं को चूर-चूर कर दिया गया है उस सुयोधन के जमे हुए [स्त्यान] गाढ़े रक्त से रंगे हुए हाथ वाला यह भीम, हे देवि ! तेरे केशों को बाँधेगा।

इस श्लोक में दीर्घसमास रचना से अलङ्कृत वाक्य उस चित्त विस्तार रूप दीप्ति का अभिव्यञ्जक है । अतएव यह ओज का उदाहरण है ।

तत्प्रकाशनपरश्चार्थोऽनपेक्षितदीर्घसमासरचनः प्रसन्नवाचकाभिधेयः ।

यथा—

यो यः शस्त्रं बिभर्ति स्वभुजगुरुमदः पाण्डवीनां चमूनां,
यो यः पाञ्चाल-गोत्रे शिशुरधिकवया गर्भशय्यां गतो वा ॥
यो यस्तत्कर्मसाक्षी चरति मयि रणे यश्च यश्च प्रतीपः,
क्रोधान्धस्तस्य तस्य स्वयमपि जगतामन्तकस्यान्तकोऽहम् ॥

इत्यादौ द्वयोरोजस्त्वम् ॥६॥

उस [ओज] का प्रकाशक अर्थ दीर्घसमास रचना से रहित प्रसाद गुण युक्त पदों से बोधित अर्थ [भी] होता है ।

जैसे—

पाण्डवों की सेना में अपने भुजबल से गर्वित जो भी शस्त्रधारी हैं, अथवा पान्चालवंश में छोटा, बड़ा अथवा गर्भस्थ जो कोई भी है, और [कर्णादि] जो जो उस कर्म [द्रोणवध] का साक्षी है [जो-जो खड़ा हुआ उस द्रोण के वध को देखता रहा है] और मेरे युद्ध करते समय जो कोई उसमें बाधा डालेगा, आज क्रोध अन्धा से हुआ मैं उसका नाश कर दूँगा फिर चाहे वह सब जगत् का अन्तक स्वयं यमराज ही क्यों न हो ।

इन दोनों उदाहरणों में [क्रमशः शब्द और अर्थ] दोनों ओज स्वरूप है ।

यह दोनों श्लोक वेणीसंहार नाटक के हैं । इनमें से पहली भीम की और दूसरी अश्वत्थामा की उक्ति है । पहिले में समास बहुल रचना है वहां शब्द ओज काअभिव्यञ्जक है और दूसरे उदाहरण में अनपेक्षित दीर्घ समास की रचना है वहाँ अर्थ ओज का अभिव्यञ्जक है । इस प्रकार शब्द और अर्थ दोनों ओज के अभिव्यञ्जक होते हैं यह प्रदर्शित किया ।

कारिका की वृत्ति में 'लक्षणया त एव दीप्तिरित्युच्यते' लिखा है । साधारणतः "विशेष्यवाचकपदसमानवचनकत्वमाख्यातस्य" यह नियम माना गया है । इसका अर्थ यह है कि आख्यात अर्थात् क्रिया पद का वचन विशेष्य वाचक पद के समान होना चाहिए । इसीलिये प्रकृति विकृति स्थल में 'वृक्षः पञ्च नौका भवति' और उभयार्थाभेदारोप-स्थल में 'एको द्वौ ज्ञायते' इत्यादि प्रयोग उपपन्न माने गये हैं । यहां त एव दीप्तिरित्युच्यते में विशेष्यवाचक तच्छब्द के 'ते' इस

समर्पकत्वं काव्यस्य यत्तु सर्वरसान् प्रति ।
स प्रसादो गुणो ज्ञेयः सर्वसाधारणक्रियः ॥१०॥

प्रसादस्तु स्वच्छता शब्दार्थयोः । स च सर्वरससाधारणो गुणः । सर्वरचनासाधारणश्च[1] व्यङ्ग्यार्थापेक्षयैव मुख्यतया व्यवस्थितो मन्तव्यः ॥१०॥

बहुवचनान्त रूप के समान आख्यात 'उच्यते' का भी बहुवचनान्त प्रयोग होना उचित था फिर एकवचन का प्रयोग कैसे साधु होगा । इसका कथञ्चित् समाधान यह करना चाहिये कि इति शब्द से उपस्थाप्यमान वाक्यार्थ ही यहां वच्-धात्वर्थनिरूपित कर्मता का आश्रय है । और उस सामान्य में संख्या विशेष की अविवक्षा से एक वचन का प्रयोग भी अभीष्ट है । यह बात महाभाष्य में वचन-विधायक [द्व्येकयोर्द्विवचनैकवचने, बहुषु बहुवचनम्] सूत्रों का 'एकवचनम्, 'द्विबह्वोर्द्विवचनैकवचने' इस प्रकार का न्यास करते हुए भाष्यकार ने सूचित की है । तदनुसार सामान्य में एकवचन का प्रयोग है ।

कारिका के रौद्रादयो पद में 'आदि' पद से 'वीराद्भुतयोरपि ग्रहणम्' यह लोचनकार ने लिखा है । अर्थात् यहां आदि पद को प्रारम्भार्थक न मान कर प्रकार अथवा सादृश्य वाचक माना है तभी रौद्र रस के सदृश वीरादि का ग्रहण किया है । अतएव उसमें वीर रस के विभावों से उत्पन्न अद्भुत रस का ही ग्रहण करना चाहिये ॥६॥

[शुष्केन्धन में अग्नि के समान अथवा स्वच्छ वस्त्र में जल के समान] काव्य का समस्त रसों के प्रति जो समर्पकत्व [बोद्धा के हृदय में झटिति व्या-पनकर्तृत्व] है, समस्त रसों में और रचनाओं में [सर्वसाधारणी क्रिया वृत्तिः, स्थितिर्यस्य सः] रहने वाला वह प्रसाद गुण समझना चाहिए ।

प्रसाद [का अर्थ] शब्द और अर्थ की स्वच्छता है । वह सब रसों का साधारण गुण है और सब रचनाओं में समान रूप से रहता है । [फिर चाहे वह रचना शब्दगत हो या अर्थगत, समस्त हो असमस्त] मुख्य रूप से व्यङ्ग्यार्थ की अपेक्षा से ही [मुख्यतया व्यङ्ग्यार्थ का ही समर्पक] स्थित होता है ।

यह गुण मुख्यतया प्रतिपत्ता के आस्वादमय होते हैं, फिर रस में उपचरित

---

१ नि०, दी० मे श्चेति पाठ है अर्थात् इति पाठ अधिक है ।

श्रुतिदुष्टादयो दोषा अनित्या ये च दर्शिताः ।
ध्वन्यात्मन्येव शृङ्गारे ते हेया इत्युदाहृताः ॥११॥

अनित्या दोषाश्च ये श्रुतिदुष्टादयः सूचितास्तेऽपि न वाच्ये अर्थमात्रे, न च व्यङ्ग्ये शृङ्गारव्यतिरेकिणि, शृङ्गारे वा ध्वनेरनात्मभूते[1]। किन्तर्हि ध्वन्यात्मन्येव शृङ्गारेऽङ्गितया व्यङ्ग्ये ते हेया इत्युदाहृताः। अन्यथा हि तेषामनित्यदोषतैव न स्यात् ॥११॥

होते हैं और फिर लक्षणा से शब्द और अर्थ में भी उनका व्यवहार होता है। साहित्यदर्पणकार ने इसी प्रसाद का लक्षण इस प्रकार किया है। 'चित्तं व्याप्नोति यः क्षिप्रं शुष्केन्धनमिवानलः। स प्रसादः समस्तेषु रसेषु रचनासु च ॥'

इस प्रकार ग्रन्थकार ने यह सिद्ध किया कि जहां रसादि का असन्दिग्ध प्राधान्य है वहां रस-ध्वनि, जहां वह किसी अन्य का अङ्ग है वहां रसवदलङ्कार और जहाँ रस अलङ्कार्य है और अन्य कोई रसान्तर अङ्गभूत नहीं है वहां उपमादि अलङ्कार होते हैं। यह इनका विषय-विभाग है। इसी प्रकार अङ्गीभूत रसादि के आश्रित धर्म गुण, और शब्द या अर्थ के आश्रित चारुत्वहेतु धर्म अलङ्कार कहलाते हैं। इसके आगे यह कहते हैं कि हमने जो रस-ध्वनि आदि का क्षेत्र निर्धारित किया है उसको मानने पर ही नित्य और अनित्य दोषों की व्यवस्था भी बन सकती है ॥१०॥

श्रुतिदुष्टादि [श्रुतिदुष्ट, अर्थदुष्ट, कल्पनादुष्ट। 'श्रुतिदुष्टार्थदुष्टत्वे कल्पनादुष्टमित्यपि। श्रुतिकष्टं तथैवाहुर्वाचां दोषं चतुर्विधम्' ॥ भामह] जो अनित्य दोष बताए गए हैं वह ध्वन्यात्मक शृङ्गार [रसध्वनिरूप प्रधानभूत शृङ्गार] में ही त्याज्य कहे गए हैं।

जो अनित्य श्रुतिदुष्टादि दोष सूचित किए गए हैं वे न वाच्यार्थमात्र में, न शृङ्गार से भिन्न व्यङ्ग्य [रसादि] में, और न ध्वनि के अनात्मभूत शृङ्गार [गुणीभूत शृङ्गार] में, अपितु प्रधानतया व्यङ्ग्य ध्वन्यात्मक शृङ्गार में ही हेय कहे गए हैं। अन्यथा उनकी अनित्यदोषता ही न बने ॥११॥

---

१. नि० में 'न वाच्यार्थमात्रे, न च व्यङ्ग्ये शृङ्गारे, शृङ्गारव्यतिरेकिणि वा ध्वनेरनात्मभावे' पाठ है। दी० में 'ध्वनेरनात्मभूते' में 'भूते' के स्थान पर 'भावे' पाठ है।

एवमयमसंलक्ष्यक्रमद्योतो[1] ध्वनेरात्मा प्रदर्शितः सामान्येन ।

तस्याङ्गानां प्रभेदा ये प्रभेदा स्वगताश्च ये ।
तेषामानन्त्यमन्योन्यसम्बन्धपरिकल्पने ॥१२॥

अङ्गितया व्यङ्ग्यो रसादिर्विवक्षितान्यपरवाच्यस्य ध्वनेरेक आत्मा य उक्तस्तस्याङ्गानां वाच्यवाचकानुपातिनामलङ्काराणां ये प्रभेदा निरवधयो, ये च स्वगतास्तस्याङ्गिनोऽर्थस्य रस-भाव-तदाभास-तत्प्रशमलक्षणा विभावानुभावव्यभिचारिप्रतिपादनसहिता अनन्ताः स्वाश्रयापेक्षया निःसीमानो विशेषास्तेषामन्योन्यसंबन्धपरिकल्पने क्रियमाणे कस्यचिदन्यतमस्याऽपि रसस्य प्रकाराः परिसंख्यातुं न शक्यन्ते किमुत सर्वेषाम् ।

तथा हि—

[2]शृङ्गारस्याङ्गिनस्तावदाद्यौ द्वौ भेदौ । सम्भोगो विप्रलम्भश्च ।

इस प्रकार यह असंलक्ष्य क्रम व्यङ्ग्य ध्वनि का स्वरूप सामान्यतः प्रदर्शित किया ।

उस [असंलक्ष्यक्रम व्यङ्ग्य रस ध्वनि] के अङ्गों [अलङ्कारादि] के जो अनेक भेद हैं और [स्वयं रसादि के] जो स्वगत भेद हैं उनका एक दूसरे के साथ सम्बन्ध [संसृष्टि सङ्करादि, प्रस्तारविधि से, विस्तारादि] कल्पना करने पर उनकी गणना अनन्त हो जायगी ।

विवक्षितान्यपरवाच्य ध्वनि का अङ्गितया [प्रधानतया] व्यङ्ग्य रसादि रूप जो एक स्वरूप [आत्मा, प्रभेद] कहा है उसके अङ्गभूत अर्थ तथा शब्द के आश्रित [उपमादि तथा अनुप्रासादि] अलङ्कारों के जो अपरिमित भेद हैं, और उस प्रधानभूत [रसादि ध्वनिरूप] अर्थ के जो स्वगत भेद रस, भाव, तदाभास, तत्प्रशम रूप विभावानुभावव्यभिचारिभाव प्रतिपादन सहित अनन्त और अपने आश्रय [स्त्री, पुरुष आदि प्रकृति के भेद से] के कारण निःसीम जो अवान्तर विशेष [भेदोपभेद] हैं उनका एक दूसरे के साथ सम्बन्ध [संसृष्टि, सङ्कर या प्रस्तारादि] कल्पना करने पर, उनमें से किसी एक भी रस के भेदों की गणना कर सकना संभव नहीं है फिर सबकी तो बात ही क्या है ।

जैसे [उदाहरण के लिए] प्रधान भूत शृङ्गार रस के, प्रारम्भ में दो

---

१ द्योत्यध्वनेः नि० । २ शृङ्गारस्यैवाङ्गिनः नि० दी० ।

सम्भोगस्य च परस्परप्रेमदर्शनसुरतविहरणादिलक्षणाः प्रकाराः । विप्र-लम्भस्याप्यभिलाषेर्ष्या-विरह-प्रवास-विप्रलम्भादयः । तेषां च प्रत्येकं विभावानुभावव्यभिचारिभेदः[1] । तेषां च देशकालाद्याश्रयावस्थाभेद[2] इति स्वगतभेदापेक्षयैकस्य[3] तस्यापरिमेयत्वम् । किं पुनरङ्गप्रभेदकल्प-नायाम्[4] । ते ह्यङ्गप्रभेदाः[5] प्रत्येकमङ्गिप्रभेदसम्बन्धपरिकल्पने क्रियमाणे सत्यानन्त्यमेवोपयान्ति ॥१२॥

दिङ्मात्रं तूच्यते येन, व्युत्पन्नानां सचेतसाम् ।
बुद्धिरासादितालोका सर्वत्रैव भविष्यति ॥१३॥

दिङ्मात्रकथनेन हि व्युत्पन्नानां सहृदयानामेकत्रापि रसभेदे सहालङ्कारैरङ्गाङ्गिभावपरिज्ञानादासादितालोका[6] बुद्धिः सर्वत्रैव भविष्यति ॥१३॥

भेद होते हैं, सम्भोग [शृङ्गार] और विप्रलम्भ [शृङ्गार]। उनमें भी सम्भोग के परस्पर प्रेम दर्शन [दर्शन सम्भाषणादि का भी उपलक्षण है] सुरत, [और उद्यान] विहारादि भेद हैं। [इसी प्रकार] विप्रलम्भ के भी अभिलाष, ईर्ष्या विरह, प्रवास और विप्रलम्भादि [शापादि निमित्तक वियोगादि भेद हैं]। उनमें से प्रत्येक [भेद] के विभाव, अनुभाव, व्यभिचारिभाव के [भेद से] भेद है। और उन [विभावादि] का भी देश, काल, आश्रय, अवस्था [आदि से] भेद हैं। इस प्रकार स्वगत भेदों के कारण उस एक [शृङ्गार] का परिमाण करना [ही] असम्भव है फिर उनके अङ्गों के भेदोपभेद कल्पना की तो बात ही क्या है। वे अङ्गों [अलङ्कारादि] के प्रभेद प्रत्येक अङ्गी [रसादि] के प्रभेदों के साथ सम्बन्ध कल्पना करने पर अनन्त ही हो जाते हैं ॥१२॥

[उसका] दिङ्मात्र [कुछ थोड़ा सा, आगे] कहते हैं। जिससे व्युत्पन्न सहृदयों की बुद्धि सर्वत्र प्रकाश प्राप्त कर सकेगी।

[इस] दिङ्मात्र कथन से अलङ्कारादि के साथ रस के एक ही भेद के अङ्गाङ्गिभाव के परिज्ञान से व्युत्पन्न सहृदयों की बुद्धि को अन्य सब स्थानों पर [स्वयं] ही प्रकाश मिल जायगा ॥१३॥

---

१. भेदाः नि० दी०। २. भेदाः नि० दी०। ३. अपेक्षयैव नि० दी०। ४. कल्पनया नि० दी०। ५. ते हि प्रभेदाः दी०। ६. सहालङ्कारैः के स्थान पर कर्तव्येऽलङ्कारे पाठ नि०, दी० में है।

तत्र,

शृङ्गारस्याङ्गिनो यत्नादेकरूपानुबन्धवान्[1] ।
सर्वेष्वेव प्रभेदेषु नानुप्रासः प्रकाशकः ॥ १४ ॥

अङ्गिनो हि शृङ्गारस्य ये, उक्ताः प्रभेदास्तेषु सर्वेष्वेकप्रकारानुबन्धितया प्रवृत्तोऽनुप्रासो न व्यञ्जकः । अङ्गिन इत्यनेनाङ्गभूतस्य शृङ्गारस्यैकरूपानुबन्ध्यनुप्रासनिबन्धने कामचारमाह ॥१४॥

ध्वन्यात्मभूते शृङ्गारे यमकादिनिबन्धनम् ।
शक्तावपि प्रमादित्वं विप्रलम्भे विशेषतः ॥ १५ ॥

ध्वनेरात्मभूतः शृङ्गारस्तात्पर्येण वाच्यवाचकाभ्यां प्रकाश्यमानस्तस्मिन् यमकादीनां यमकप्रकाराणां निबन्धनं दुष्करशब्दभङ्गश्लेषादीनां शक्तावपि प्रमादित्वम् ।

उसमें—

प्रधानभूत [अङ्गी] शृङ्गार के सभी प्रभेदों में यत्नपूर्वक समानरूप से उपनिबद्ध अनुप्रास [रस का] अभिव्यञ्जक नहीं होता ।

प्रधानभूत [अङ्गी] शृङ्गार के जो प्रभेद कहे हैं उन सब [ही] में एकाकार रूप से निरन्तर निबद्ध अनुप्रास [रस का] अभिव्यञ्जक नहीं होता । [कारिका में अङ्गिनः शृङ्गारस्य जो कहा है उसमें] अङ्गिनः इस पद से अङ्गभूत [अप्रधान, गुणीभूत] शृङ्गार में समानरूप से [निरन्तर] अनुप्रास की रचना का यथेष्ट उपयोग किया जा सकता है यह सूचित किया है ॥१४॥

शक्ति होते हुए भी, ध्वन्यात्मक शृङ्गार में और विशेष रूप से विप्रलम्भ शृङ्गार में यमकादि का निबन्धन [कवि के] प्रमादित्व [का] ही [सूचक] है।

[रसादि] ध्वनि का आत्मभूत शृङ्गार [रस] शब्द और अर्थ द्वारा तात्पर्य [तात्पर्यविषयीभूत, प्रधानतया] रूप से प्रकाशित होता है, उसमें यमकादि [यहां आदि शब्द प्रकारार्थक अर्थात् सादृश्यार्थक है] यमक सदृश दुष्कर शब्द श्लेष या सभङ्गश्लेष आदि [और मुरजबन्धादि क्लिष्ट अलङ्कारों] का शक्ति होने पर भी प्रयोग करना [कवि के] प्रमादित्व का सूचक है ।

---

१. अनुबन्धनात् नि०, दी० ।

प्रमादित्वमित्यनेन एतद्दर्श्यते काकतालीयेन कदाचित् कस्यचिदेकस्य यमकादेर्निष्पत्तावपि भूम्नालङ्कारान्तरवद्रसाङ्गत्वेन निबन्धो न कर्तव्य इति। विप्रलम्भे विशेषत इत्यनेन विप्रलम्भे सौकुमार्यातिशयः ख्याप्यते। तस्मिन् द्योत्ये यमकादेरङ्गस्य निबन्धो नियमान्नकर्तव्य इति ॥१५॥

प्रमादित्व से यह सूचित किया है कि काकतालीय न्याय से कभी किसी एक यमकादि की रचना हो जाने पर भी अन्य अलङ्कारों के समान बाहुल्येन रसाङ्ग रूप में उनकी रचना नहीं करनी चाहिए। 'विप्रलम्भे विशेषतः' इन पदों से विप्रलम्भ [शृङ्गार] में सुकुमारता का अतिशय द्योतित किया गया है। उस [विप्रलम्भ शृङ्गार] के द्योत्य होने पर यमकादि [अलङ्कारों] का प्रयोग नियमतः नहीं करना चाहिए।

आदि शब्दन्तु मेधावी चतुर्ष्वर्थेषु भाषते।
प्रकारे च व्यवस्थायां सामीप्येऽवयवे तथा ॥

यमकादि में आदि शब्द प्रकार अर्थात् सादृश्यपरक है। यमकादि का अर्थ 'यमक सदृश दुष्कर' यह है। यमक सदृश दुष्कर अलङ्कारों में मुरजबन्धादि और सभङ्ग श्लेष या शब्द श्लेष भी सम्मिलित हैं। 'श्लिष्टैः पदैरनेकार्थाभिधाने श्लेष इष्यते।' श्लिष्ट पदों से अनेक अर्थों का बोधन करना श्लेष अलङ्कार कहलाता है। 'पुनस्त्रिधा सभङ्गोऽथाभङ्गस्तदुभयात्मकः। वह सभङ्ग श्लेष, अभङ्ग श्लेष और उभयात्मक श्लेष भेद से तीन प्रकार का है। शब्द श्लेष और अर्थ श्लेष भेद से भी श्लेष के दो भेद हैं। प्राचीन आचार्य सभङ्ग श्लेष और शब्द श्लेष को तथा अभङ्ग श्लेष और अर्थ श्लेष को एक ही मानते हैं। 'पायात्स स्वयमन्धकक्षयकरस्त्वां सर्वदो माधवः।' इस पद्यांश में शिव और विष्णु दोनों की स्तुति है। सर्वदः सब कुछ देने वाले और अन्धकक्षयकरः अन्धक अर्थात् यादवों के क्षयकर विनाश हेतु अथवा क्षय माने गृह को बनाने वाले यादवों को बसाने वाले माधव कृष्ण तुम्हारी रक्षा करें। और सर्वदा उमाधवः शिव जो अन्धकासुर के मारने वाले हैं सर्वदा तुम्हारी रक्षा करें। यह दो अर्थ होते हैं।

सर्वदो माधवः पद के दोनों पक्षों में अलग-अलग पदच्छेद होते हैं। विष्णु पक्ष में सर्वदः माधवः पदच्छेद होता है और शिव पक्ष में सर्वदा उमाधवः पदच्छेद होता है। यह सभङ्ग श्लेष कहलाता है और अन्धकक्षयकरः का पदच्छेद दोनों पक्ष में एक सा रहता है। इसलिए वह अभङ्ग श्लेष कहलाता है। सभङ्ग श्लेष में भिन्न प्रयत्न से उच्चार्य, दो भिन्न-भिन्न शब्दों को जतुकाष्ठ न्याय से-जसे लकड़ी के बाणादि में लाख चिपका दी जाय-श्लेष होता है।

जतु अर्थात् लाख और काष्ठ दोनों अलग-अलग पदार्थ हैं। वह दोनों एकत्र जुड़ जाते हैं इसी प्रकार जहां दो अलग-अलग शब्द एक साथ जुड़ जाते हैं वहीं सभङ्ग श्लेष होता है और उसी को शब्द श्लेष कहते हैं। जैसे सर्वदो माधवः में। अन्धकक्षयकर का पदच्छेद या उच्चारण दोनों पक्षों में समान ही रहता है इसलिए यह दो शब्द नहीं एक ही समस्त शब्द है। उस एक ही शब्द में दो अर्थ एकवृन्तगत फलद्वयन्याय से सम्बद्ध हैं। जैसे वृक्ष के एक ही डंठल में दो फल लग जाते हैं इसी प्रकार जहां एक ही शब्द से दो अर्थ सम्बद्ध हों वहां एक वृन्तगत-फलद्वय न्याय से अर्थद्वय का श्लेष होता है यह अभङ्ग श्लेष अर्थ श्लेष होता है।

प्राचीन आचार्य सभङ्ग श्लेष को शब्द श्लेष और अभङ्ग श्लेष को अर्थ श्लेष मानते हैं। इसी लिए यहां मूल ग्रन्थ में 'यमकादीनां यमकप्रकाराणां, दुष्कर शब्दभङ्गश्लेषादीनां' यह शब्द श्लेष और सभङ्ग श्लेष को एक ही मानकर लिखा है।

नवीन लोग सभङ्ग तथा अभङ्ग दोनों को ही शब्द श्लेष मानते हैं। उनके मत में गुण, दोष तथा अलङ्कारादि में उनकी शब्द निष्ठता या अर्थनिष्ठता का निर्णायक अन्वयव्यतिरेक ही है। 'तत् सत्वे तत् सत्तां अन्वयः'। 'तदभावे तदभावो व्यतिरेकः'। जहां किसी विशेष शब्द के रहने पर ही कोई गुण, दोष या अलङ्कार रहता है और उस शब्द को बदल कर उसका पर्यायवाची दूसरा शब्द रख देने पर वह गुण, दोष या अलङ्कार नहीं रहता वहां यह समझना चाहिए कि उस गुण, दोष या अलङ्कार का सम्बन्ध विशेष रूप से उस शब्दविशेष से ही है। इसलिए शब्दनिष्ठ माना जाता है।

इसी प्रकार जहां किसी शब्द के होने पर अलङ्कारादि है और उस शब्द को बदल कर दूसरा पर्यायवाची शब्द रख देने पर भी वह अलङ्कारादि ज्यों का त्यों बना रहे तो वह गुण, दोष या अलङ्कार शब्द से नहीं बल्कि अर्थ से सम्बद्ध या अर्थनिष्ठ माना जायगा। इस कसौटी पर यदि सभङ्ग श्लेष और अभङ्ग श्लेष की परीक्षा की जाय तो अभङ्ग श्लेष भी शब्दनिष्ठ ही निकलेगा अर्थनिष्ठ नहीं। अभङ्ग श्लेष का उदाहरण 'अन्धकक्षयकरः' दिया है। इस शब्द से एक पक्ष में यादवों का नाश कराने वाला या बसाने वाला और दूसरी ओर अन्धकासुर को मारने वाला यह दो अर्थ निकलते हैं। परन्तु यदि अन्धक पद को हटा कर 'यादवक्षयकरः' आदि पद रख दिए जावें तो दो अर्थ निकलना असम्भव हो जायगा और श्लेष अलङ्कार नहीं रहेगा। इसलिए अन्वय व्यतिरेक से यहां सभङ्ग श्लेष की भांति अभङ्ग श्लेष भी शब्दनिष्ठ ही ठहरता है। इस लिए नवीनो के मत में सभङ्ग और अभङ्ग दोनों श्लेष शब्दश्लेष ही है।

अत्र युक्तिरभिधीयते :—

रसाक्षिप्ततया यस्य बन्धः शक्यक्रियो भवेत् ।
अपृथग्यत्ननिर्वर्त्यः सोऽलङ्कारो ध्वनौ मतः ॥१६॥

निष्पत्तावाश्चर्यभूतोऽपि यस्यालङ्कारस्य रसाक्षिप्ततयैव बन्धः शक्य-

---

अर्थश्लेष इन दोनों से भिन्न है और वह वहीं होता है जहां शब्द का परिवर्तन कर देने पर भी दोनों अर्थ निकलते रहते हैं। जैसे—

स्तोकेनोन्नतिमायाति स्तोकेनायात्यधोगतिम् ।
अहो सुसदृशी वृत्तिस्तुलाकोटेः खलस्य च ॥

तराजू की डण्डी और दुष्ट पुरुष की वृत्ति एक समान ही है। तनिक से तोला माशा रत्ती में नीचे झुक जाती है और तनिक में ऊपर चढ़ जाती है। यहां 'उन्नतिमायाति' आदि को बदल कर उसका पर्यायवाची 'ऊर्ध्वं प्रयाति' आदि कोई दूसरा शब्द रख दिया जाय तो भी दोनों अर्थ प्रतीत होते रहते हैं। अतएव यहां अर्थश्लेष होता है। यह अर्थश्लेष तो शृङ्गार में भी प्रयुक्त हो सकता है। बल्कि मूल ग्रन्थ में तो दुष्कर शब्द भङ्ग श्लेष का ग्रहण किया है उससे तो यह सूचित होता है कि क्लिष्ट सभङ्ग श्लेष ही वर्जित है। सरल सभङ्ग श्लेष और अभङ्ग श्लेष का प्रयोग भी शृङ्गार में वर्जित नहीं है। जैसे आगे उद्धृत होने वाले 'रक्तस्त्वं नवपल्लवैरहमपि श्लाघ्यैः प्रियायाः गुणैः। सर्वं तुल्यमशोक केवलमहं धात्रा सशोकः कृतः।' इत्यादि श्लोक में अशोक पद को एक पक्ष में रूढ़ वृक्ष विशेष का वाचक और दूसरे पक्ष में 'नास्ति शोको यस्य' इस व्युत्पत्ति से यौगिक मान कर और 'रक्तः' पद में सरल श्लेष का प्रयोग किया गया है।

'शक्तावपि प्रमादित्वं' का भाव यह है कि 'अव्युत्पत्तिकृतो दोषः शक्त्या संव्रियते कवेः' के अनुसार प्रतिभासम्पन्न कवियों से कभी-कभी अव्युत्पत्ति-मूलक दोष हो जाने पर भी उनकी प्रतिभा के प्रभाव से छिप जाता है। इसी प्रकार यमकादि का प्रयोग भी शक्ति के प्रभाव से कुछ दब सकता है परन्तु फिर भी वह कवि के प्रमादित्व का सूचक होगा ही। ऐसे रसास्वाद में विघ्नकारक यमकादि का प्रयोग न होना ही अच्छा होता है ॥१५॥

इस विषय में युक्ति [व्यापक नियम] भी कहते हैं :—

[रसादि] ध्वनि में, जिस [अलङ्कार] की रचना रस से आक्षिप्त [रस के ध्यान से विभावादि की रचना करते हुए स्वयं निष्पन्न] रूप में बिना किसी अन्य प्रयत्न के हो सके [ध्वनि में] वही अलङ्कार मान्य है।

क्रियो भवेत् सोऽस्मिन् अलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्ये ध्वनावलङ्कारो मतः। तस्यैव रसाङ्गत्वं मुख्यमित्यर्थः।

यथा—

कपोले पत्राली करतलनिरोधेन मृदिता,
निपीतो निःश्वासैरयममृतहृद्योऽधररसः।
मुहुः कण्ठे लग्नस्तरलयति बाष्पः स्तनतटीं[1]
प्रियो मन्युर्जातस्तव निरनुरोधे न तु वयम्॥

[यमकादि] निष्पत्ति [रचना] हो जाने पर आश्चर्यजनक होने पर भी [बिना प्रयत्न के इतना सुन्दर यमकादि कैसे बन गया, इस प्रकार आश्चर्य का विषय होने पर भी] जिस अलङ्कार की रचना रस से आक्षिप्त [बिना प्रयत्न के स्वयं अनायाससाध्य] रूपसे हो सके वही इस असंलक्ष्यक्रम व्यङ्ग्य [रसादि] ध्वनि में अलङ्कार माना जाता है। वही मुख्य रूप से रस का अङ्ग होता है।

इसलिए न केवल शृङ्गार या विप्रलम्भ शृङ्गार में अपितु वीर तथा अद्भुतादि रस में भी प्रयत्नपूर्वक गढ़ कर रखे गए यमकादि रसविघ्नकारी होते हैं। ग्रन्थकार ने जो केवल शृङ्गार का नाम लिया है वह इस दृष्टि से ही कहा है कि शृङ्गार या विप्रलम्भ शृङ्गार में वह रस के विघ्नकारी हैं यह बात जो विशेष रूप से सहृदय नहीं हैं वह साधारण पुरुष भी समझ सकते हैं। उनकी दृष्टि से शृङ्गार का नाम विशेष रूप से लिख दिया है। वास्तव में तो करुण आदि अन्य रसों में भी कृत्रिम यमकादि प्रतिबन्धक होते हैं इस लिए आगे सामान्य रूप से 'रसेऽङ्गत्वं तस्मादेषां न विद्यते' लिख कर सामान्य रूप से सभी रसों में उनकी रसाङ्गता का निषेध किया है।

जैसे :—

[तुम्हारे] गाल पर बनी हुई पत्राली को हाथ की रगड़ ने मल डाला, [तुम्हारे] अमृत के समान मधुर अधर रस का पान [यह उष्ण] निःश्वास कर रहे हैं, यह अश्रु बिन्दु बार-बार तुम्हारे कण्ठ का आलिङ्गन कर स्तनों को हिला रहे हैं, अयि निर्दये यही क्रोध तुम्हें [इतना] प्रिय हो गया और हम [हमारी कहीं पूंछ ही] नहीं।

---

१. तटम् नि०।

रसाङ्गत्वे च तस्य लक्षणमपृथग्यत्ननिर्वर्त्यत्वमिति[1]। यो[2] रसं बन्धुमध्यवसितस्य कवेरलङ्कारस्तां वासनामत्यूह्य यत्नान्तरमास्थितस्य निष्पद्यते स[3] न रसाङ्गमिति। यमके च प्रबन्धेन बुद्धिपूर्वकं क्रियमाणे नियमेनैव यत्नान्तरपरिग्रह आपतति शब्दविशेषान्वेषणरूपः।

अलङ्कारान्तरेष्वपि तत्तुल्यमिति चेत्, नैवम्। अलङ्कारान्तराणि हि निरूप्यमाणदुर्घटनान्यपि रससमाहितचेतसः प्रतिभावतः कवेरहम्पूर्विकया परापतन्ति। यथा कादम्बर्यां कादम्बरीदर्शनावसरे। यथा च मायारामशिरोदर्शनेन विह्वलायां सीतादेव्यां सेतौ।

युक्तञ्चैतत्। यतो रसा वाच्यविशेषैरेवाक्षेप्तव्याः। तत्प्रतिपादकैश्च शब्दैस्तत्प्रकाशिनो वाच्यविशेषा एव रूपकादयोऽलङ्काराः। तस्मान्न तेषां बहिरङ्गत्वं रसाभिव्यक्तौ। यमकदुष्करमार्गेषु तु तत् स्थितमेव।

√उस [अलङ्कार] के रसाङ्ग होने पर अपृथग्यत्ननिर्वर्त्यत्व ही उसका लक्षण है। जो अलङ्कार, रसबन्धन में तत्पर कवि की उस [रसबन्धनाध्यवसाय-वासना] वासना का अतिक्रमण करके [अलङ्कारनिष्पादनार्थ] दूसरे प्रयत्न का आश्रय लेने पर [ही] बनता है वह रस का अङ्ग नहीं है। [यदि] जान बूझ कर यमक का निरन्तर प्रयोग किया जाय तो [उसके लिए, उपयुक्त] विशेष शब्दों की खोज रूप नया प्रयत्न अवश्य ही करना पड़ता है।✓

[पूर्वपक्षी पूछता है कि यह बात आप यमक के लिए ही क्यों कहते हैं, उपयुक्त शब्दों की खोज का प्रयत्न तो अन्य अलङ्कारों में भी करना पड़ता है।] यह [बात] तो अन्य अलङ्कारों में भी समान ही है—यह कहना ठीक नहीं है। क्योंकि, दूसरे अलङ्कार रचना में कठिन दिखाई देने पर भी रस में दत्तचित प्रतिभावान् कवि के सामने होड़ लगा कर स्वयं दौड़े आते हैं। जैसे कादम्बरी [ग्रन्थ] में कादम्बरी [नायिका] के दर्शन के अवसर पर। अथवा जैसे सेतुबन्ध [काव्य] में रामचन्द्र के बनावटी [कटे हुए] सिर को देख कर सीतादेवी के विह्वल होने पर।

✓और यह [अहम्पूर्विकया परापतन] उचित भी है क्योंकि रसों की अभिव्यञ्जना वाच्यविशेष से ही होती है। और उन [वाच्य विशेष] के प्रति-

---

१. लक्षणमक्षुण्णमपृथग्यत्नें निर्वर्त्यत इति नि० दी०। २. 'यो' यह पद कवेः के बाद है दी०। नि० में यो पद है ही नहीं। ३. स नहीं है नि०।

यत्तु रसवन्ति कानिचिद्यमकादीनि दृश्यन्ते तत्र रसादीनामङ्गता, यमकादीनान्त्वङ्गितैव । रसाभासे चाङ्गत्वमप्यविरुद्धम् । अङ्गितया[1] तु व्यङ्ग्ये रसे नाङ्गत्वं[2] पृथक्प्रयत्ननिर्वर्त्यत्वाद् यमकादेः ।

अस्यैवार्थस्य संग्रहश्लोकाः :—

'रसवन्ति हि वस्तूनि सालङ्काराणि कानिचित् ।
एकेनैव प्रयत्नेन निर्वर्त्यन्ते महाकवेः ॥

पादक शब्दों से उन [रसादि] के प्रकाशक रूपकादि अलङ्कार [उन शब्दों से प्रकाशित] वाच्यविशेष ही हैं । इसलिए रस की अभिव्यक्ति में उन [रूपकादि अलङ्कारों] की बहिरङ्गता नहीं है । यमक आदि के दुष्कर [बुद्धि-पूर्वक बहुप्रयत्नसाध्य] मार्ग में तो बहिरङ्गत्व [भिन्नप्रयत्ननिष्पाद्यत्व] निश्चित ही है ।

जहां कहीं कोई-कोई यमकादि [अलङ्कार] रस सहित दिखाई देते हैं वहां यमकादि ही [अङ्गी] प्रधान हैं रसादि उनके अङ्ग हैं । [अर्थात् वहां रस ध्वनि नहीं है ।] रसाभास में [यमकादि को] अङ्ग रूप मानने में भी कोई विरोध [हानि] नहीं है । परन्तु जहां रस प्रधानतया [अङ्गितया] व्यङ्ग्य हो, वहां तो पृथक्प्रयत्नसाध्य होने से [यमकादि] अङ्ग नहीं हो सकते ।

मूल ग्रन्थ के 'निरूप्यमाणदुर्घटनानि' पद को 'निरूप्यमाणानि सन्ति दुर्घटनानि', बुद्धिपूर्वकं चिकीर्षितान्यपि कर्तुमशक्यानि' अर्थात् बुद्धिपूर्वक सोच विचार कर रचना करना चाहें तो भी जिनकी रचना न हो सके इतने कठिन, और साथ ही जब अनायास ही उनकी रचना हो जाय तो 'निरूप्यमाणे दुर्घटनानि' यह देख कर आश्चर्य हो कि यह इतना सुन्दर अलङ्कार कैसे आ गया । यह दो प्रकार के अर्थ हो सकते हैं । यह दोनों ही अर्थ प्रकृत विषय को परिपुष्ट करने वाले हैं । इसीलिए लोचनकार ने इस पद की व्याख्या करते समय दोनों अर्थ दिखाए हैं । और यहां इन दोनों अर्थों का विकल्प नहीं अपितु समुच्चय ही टीकाकार को अभीष्ट है ।

इसी [उपर्युक्त गद्यस्थ विषय] अर्थ के संग्रह [आत्मक यह निम्न] श्लोक हैं :—

कोई-कोई रसयुक्त वस्तुएं [रसवन्ति वस्तूनि] महाकवि के [रस

---

१. अङ्गिता नि०, दी० । २. पृथग्यत्न दी० ।

यमकादिनिबन्धे तु पृथग्यत्नोऽस्य जायते ।
शक्तस्यापि रसेऽङ्गत्वं तस्मादेषां न विद्यते ॥
रसाभासाङ्गभावस्तु यमकादेर्न वार्यते ।
ध्वन्यात्मभूते शृङ्गारे त्वङ्गता नोपपद्यते ॥

इदानीं ध्वन्यात्मभूतस्य शृङ्गारस्य व्यञ्जकोऽलङ्कारवर्ग आख्यायते—

ध्वन्यात्मभूते शृङ्गारे समीक्ष्य विनिवेशितः ।
रूपकादिरलङ्कारवर्ग एति यथार्थताम् ॥१७॥

अलङ्कारो हि बाह्यालङ्कारसाम्यादङ्गिनश्चारुत्वहेतुरुच्यते। वाच्यालङ्कारवर्गश्च रूपकादिर्यावानुक्तो, वक्ष्यते च कैश्चिद्, अलङ्काराणामनन्त-

---

निबन्धनानुकूल] एक ही व्यापार से सालङ्कार [भी] बन जाते हैं। [अर्थात् उनमें अलङ्कारनिष्पादनार्थ अलग व्यापार नहीं करना पड़ता]।

परन्तु यमक आदि की रचना में तो प्रतिभावान् [शक्तस्यापि] कवि को भी पृथक् प्रयत्न करना पड़ता है इसलिए वह [यमकादि] रस के अङ्ग नहीं होते।

[हां] रसाभासों में उनको अङ्ग मानने का निषेध नहीं है, [केवल] प्रधानभूत [ध्वनि रूप] शृङ्गार [आदि रसों] में ही वह अङ्ग नहीं बन सकते हैं ॥१६॥

[शृङ्गारादि रसों में हेय यमकादि वर्ग का वर्णन कर दिया अब आगे उपादेय वर्ग का निरूपण करेंगे।]

अब ध्वनि के आत्मभूत शृङ्गार के अभिव्यञ्जक अलङ्कार वर्ग का निरूपण करते हैं:—

ध्वन्यात्मक शृङ्गार में [अग्रिम कारिकाओं में प्रतिपादित पद्धति से] सोच-समझ कर [उचित रूप में] प्रयुक्त किया गया रूपकादि अलङ्कार वर्ग वास्तविक अलङ्कारता को प्राप्त होता है। [अलङ्कार्य प्रधानभूत शृङ्गारादि का चारुत्व हेतु होने से अपने अलङ्कार नाम को चरितार्थ करता है।]

बाह्य आभूषणों के समान प्रधानभूत [अङ्गी] रस के चारुत्व हेतु [रूपकादि ही] अलङ्कार कहे जाते हैं। जितने भी रूपकादि वाच्यालङ्कार प्राचीन [भामहादि] कह चुके हैं अथवा अलङ्कारों [चारुत्व हेतुओं] की अनन्तता के

त्वात्, स[1] सर्वोऽपि यदि समीक्ष्य विनिवेश्यते तदलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यस्य ध्वनेरङ्गिनः सर्वस्यैव[2] चारुत्वहेतुर्निष्पद्यते ॥१७॥

एषा चास्य विनिवेशने समीक्षा :—

विवक्षा तत्परत्वेन नाङ्गित्वेन कदाचन।
काले च ग्रहणत्यागौ नातिनिर्वहणैषिता ॥ १८ ॥

निर्व्यूढापि चाङ्गत्वे यत्नेन प्रत्यवेक्षणम्।
[3]रूपकादिरलङ्कारवर्गस्याङ्गत्वसाधनम् ॥ १९ ॥

कारण, आगे कहे जायंगे, उन सब को यदि विचारपूर्वक [काव्य में] निबद्ध किया जाय [अगली कारिकाओं में प्रदर्शित नियमों के अनुकूल प्रयुक्त किया जाय] तो वह असंलक्ष्यक्रम व्यङ्ग्य प्रधानभूत सभी ध्वनि [रसों] का चारुत्व हेतु [अलङ्कार] होते हैं ॥१७॥

इस [रूपकादि अलङ्कार] के [काव्यान्तर्गत] प्रयोग में यह समीक्षा [इन बातों का विचार करना आवश्यक] है :—

१—[रूपकादि की] विवक्षा [सदैव रस को प्रधान मानकर] रसपरत्वेन ही [वर्ण्य] हो, २—प्रधान रूप से किसी भी दशा में नहीं। ३—[उचित] समय पर [उनका] ग्रहण और ४—त्याग होना चाहिए, ५—[आदि से अन्त तक] अत्यन्त निर्वाह की इच्छा [यत्न] नहीं करना चाहिए।

६—[यदि कहीं अनायास आद्यन्त निर्वाह हो जाय तो] निर्वाह हो जाने पर भी [वह] अङ्गरूप में [ही] हो यह बात सावधानी से फिर देख लेनी चाहिए। यही [समीक्षा] रूपकादि अलङ्कार वर्ग के अङ्गत्व का साधन है।

इन कारिकाओं में प्रथम कारिका के चारों चरणों और दूसरी कारिका के पूर्वार्द्ध इन पांचों के साथ अन्तिम कारिका के उत्तरार्द्धोक्त 'रूपकादिरलङ्कारवर्गस्याङ्गत्वसाधनम्' का अन्वय होता है। फिर इन सबको मिला कर १—[पृ० १५१] "यमलङ्कारं तदङ्गतया विवक्षति २—[पृ० १५१] नाङ्गित्वेन, ३—[पृ० १५३] यमवसरे गृह्णाति, ४—[पृ० १५४] यमवसरे त्यजति, ५—[पृ० १५६] यं नात्यन्तं निर्वोढुमिच्छति, ६—[पृ० १६०] निर्व्यूढावपि यं यत्नादङ्गित्वेन प्रत्य-

---

१. स नि०, दी० में नहीं है। २. सर्व एव नि० दी०। ३. रूपकादेः नि०, दी०।

रसबन्धेष्वादृतमनाः कविर्यमलङ्कारं तदङ्गतया विवक्षति।
यथा :—

चलापाङ्गां दृष्टिं स्पृशसि बहुशो वेपथुमतीं,
रहस्याख्यायीव स्वनसि मृदु कर्णान्तिकचरः[1]।
करौ व्याधुन्वत्याः पिबसि रतिसर्वस्वमधरं,
वयं तत्त्वान्वेषान्मधुकर हतास्त्वं खलु कृती ॥

अत्र हि भ्रमरस्वभावोक्तिरलङ्कारो रसानुगुणः।

नाङ्गित्वेनेति न[2] प्राधान्येन। कदाचिद्रसादितात्पर्येण विवक्षितो-ऽपि[3] ह्यलङ्कारः कश्चिदङ्गित्वेन विवक्षितो दृश्यते।

वेक्षते स एवमुपनिबध्यमानो रसाभिव्यक्तिहेतुर्भवति" [पृ० १६८] यह बड़ा लम्बा महावाक्य है। उस महावाक्य के बीच में उदाहरणों के देने, उनकी सङ्गति लगाने, और उस सङ्गति का समर्थन आदि करने के लिए बीच का शेष ग्रन्थ है। इस विस्तृत महावाक्य का प्रारम्भ अगले वाक्य से होता है और उसकी समाप्ति आगे चल कर पृ० १६० पर होगी।

१—रस बन्ध में आदरवान् कवि जिस अलङ्कार को उस [रस] के अङ्ग रूप में कहना चाहता है। [उसका उदाहरण]

जैसे :—

[कालिदास के शकुन्तला नाटक में; वाटिकासिञ्चन में लगी हुई शकुन्तला को छिप कर देखते हुए दुष्यन्त, उसके पास मंडराते हुए भ्रमर को देख कर कहते हैं] हे मधुकर तुम इस शकुन्तला की [भय परिकम्पित] चञ्चल और तिरछी चितवन का [खूब] स्पर्श कर रहे हो, एकान्त में या रहस्य निवेदन करने वाले के समान कान के समीप जाकर गुनगुनाते हो, [उड़ाने के लिए इधर-उधर] हाथ झटकती हुई इस [तरुणी शकुन्तला] के रतिसर्वस्व अधर [अमृत] का पान कर रहे हो। हे मधुकर ! हम तो तत्वान्वेषण [अर्थात् हमारे ग्रहण करने योग्य क्षत्रिया है या ब्राह्मणी इस खोज] में ही मारे गए, और तुम कृतकृत्य हो गए।

---

१. गतः नि०। २. नि०, दी०, में 'न' पाठ नहीं है। ३. दी० मे 'अपि' नहीं है।

यथा :—

चक्राभिघातप्रसभाज्ञयैव चकार यो राहुवधूजनस्य ।
आलिङ्गनोद्दामविलासवन्ध्यं रतोत्सवं चुम्बनमात्रशेषम् ॥

अत्र हि पर्यायोक्तस्याङ्गित्वेन विवक्षा रसादितात्पर्ये सत्यपीति ।

यहां भ्रमर के स्वभाव का वर्णन रूप [स्वभावोक्ति] अलङ्कार रस के अनुरूप ही है ।

[उपर्युक्त समीक्षा प्रकार में दूसरी बात थी "नाङ्गित्वेन कदाचन" इसका अर्थ 'न प्राधान्येन' अर्थात् "प्रधान रूप से नहीं" यह है । कभी-कभी रसादि तात्पर्य से निबद्ध होने पर भी अलङ्कार अङ्गी प्रधान रूप में दिखाई देता है इसी बात को आगे कहते हैं ।]

२—नाङ्गित्वेन [का अर्थ] न प्राधान्येन, प्रधान रूप से नहीं [ऐसा] है । कभी रसादि तात्पर्य से [रसादि को प्रधान मान कर] विवक्षित होने पर भी कोई अलङ्कार प्रधान रूप से विवक्षित दिखाई देता है ।

जैसेः—

[विष्णु ने] चक्र प्रहार रूप [अपनी] अनुल्लंघनीय आज्ञा से राहु की पत्नियों के सुरतोत्सव को, [आलिङ्गनोपयोगी हस्तादि न रहने से] आलिङ्गनप्रधान विलासों से विहीन, चुम्बनमात्रावशेष कर दिया ।

यहाँ रसादि तात्पर्य होने पर भी पर्यायोक्त [अलङ्कार] प्रधानतया विवक्षित है ।

इस श्लोक में राहु के कण्ठच्छेद की घटना का प्रकारान्तर से उल्लेख करने से यहाँ पर्यायोक्त अलङ्कार है । राहु के कण्ठच्छेद की घटना पौराणिक कथा के आधार पर इस प्रकार है । समुद्र-मन्थन के समय जब समुद्र से अमृत निकला तब देवता और दैत्य दोनों उसके लिए लड़ने लगे । विष्णु ने मोहिनी रूप धारण कर अमृत-कलश को अपने हाथ में ले लिया । दैत्य उनके मोहिनी रूप पर मोहित हो गए और अमृत का ध्यान भूल गए । विष्णु ने उन सबको अलग अलग पंक्तियों में-एक ओर देवताओं को और दूसरी ओर दैत्यों को-बिठा कर देवताओं की ओर से अमृत बाँटना शुरू कर दिया । उनका आशय यह था कि पहिले देवताओं में अमृत बाँट कर वहीं उसको समाप्त कर दिया जाय । राहु नाम का दैत्य इस अभिप्राय को समझ गया और चुपके से उठ कर देवताओं की पंक्ति में

अङ्गत्वेन[1] विवक्षितमपि यमवसरे गृह्णाति नानवसरे। अवसरे गृहीतिर्यथा—

सूर्य और चन्द्रमा के बीच में बैठ गया। मोहिनी ने उसे भी अमृत पिला दिया और वह अमर होगया। परन्तु पास बैठे सूर्य और चन्द्रमा के संकेत से जब मोहिनी-रूपधारी विष्णु को यह बात मालूम हुई तो उन्होंने अपने चक्र से राहु के सिर को अलग कर दिया। उसका सिर का भाग राहु और धड़ का भाग केतु कहा जाता है। अमृत-पान कर चुकने के कारण सिर कट जाने पर भी वह मरा नहीं। तभी से सूर्य और चन्द्रमा के साथ राहु का वैर है।

इस श्लोक में चक्र प्रहार रूप आज्ञा से राहु की पत्नियों के सुरतोत्सव को आलिङ्गनप्रधान विलासों से विहीन चुम्बनमात्र शेष कर दिया इस कथन पद्धति से उसके कण्ठच्छेद का प्रकारान्तर से कथन किया है। इस लिए पर्यायोक्त अलङ्कार है।

रसादि में तात्पर्य होते हुए भी यहां पर्यायोक्त अलङ्कार का प्राधान्य है। यदि इतनी ही व्याख्या इसकी मानी जाय तो यह 'नाङ्गित्वेन कदाचन' के विपरीत होने से दोष का उदाहरण होना चाहिए। परन्तु लोचनकार ने इसकी व्याख्या प्रकारान्तर से करके यह सिद्ध किया है कि यह दोष का उदाहरण नहीं है। क्योंकि आगे ग्रन्थकार ने महात्माओं के दूषणोद्घाटन को अपना ही दोष बताया है। अतएव इस श्लोक में उन्होंने दूषणोद्घाटन नहीं किया है यह लोचनकार का कहना है। इसकी रसादिपरता सिद्ध करने के लिए लोचनकार कहते हैं कि यहाँ वासुदेव के प्रताप का ही मुख्यतः वर्णन है इसलिए प्रधान तो वही भाव है क्योंकि भावरूप होने से वह चारुत्वहेतु नहीं है, चारुत्व हेतु अलङ्कार तो पर्यायोक्त ही है। यद्यपि इस श्लोक में किसी प्रकार के दोष की आशङ्का नहीं है। फिर भी यह इस बात का एक उदाहरण है कि कहीं-कहीं पोषणीय वस्तु अलङ्कार्य को भी अङ्गभूत अलङ्कार तिरस्कृत कर देता है।

३—अङ्ग रूप से विवक्षित होने पर भी जिसको अवसर पर ग्रहण करता है, अनवसर में नहीं। अवसर पर ग्रहण [का उदाहरण]

जैसे :—

आज मदनावेश युक्त अन्य नारी के समान, [लतापक्ष में मदन नामक

---

१. अङ्गित्वेन विवक्षितमपि, नि० दी०।

उद्दामोत्कलिकां विपाण्डुररुचं प्रारब्धजृम्भां क्षणा-
दायासं श्वसनोद्गमैरविरलैरातन्वतीमात्मनः।
अद्योद्यानलतामिमां समदनां नारीमिवान्यां ध्रुवं,
पश्यन् कोपविपाटलद्युति मुखं देव्याः करिष्याम्यहम्॥

इत्यत्र उपमा[1] श्लेषस्य।

वृक्षविशेष के साथ स्थित, उस पर चढ़ी हुई] प्रबल उत्कण्ठा से युक्त, [लता-पक्ष में प्रचुर मात्रा में कलियों से लदी हुई], अतएव [नारी पक्ष में उत्कण्ठा-तिशय के कारण] पाण्डुवर्ण [और लता पक्ष में कलिका बाहुल्य के कारण ऊपर से नीचे तक श्वेतवर्ण] और उसी समय [नारी पक्ष में मदनावेश के प्रभाव से] जम्भाई लेती हुई [और लता पक्ष में विकसित होती हुई] तथा [नारी पक्ष में] लम्बी साँसों से अपने मदनावेश या हृदय के सन्ताप को प्रकट करती हुई [लता पक्ष में वायु की निरन्तर झोकों से कम्पित हुई] समदना [नारी पक्ष में काम-विकारयुक्त और लता पक्ष में मदनफल के वृक्ष के साथ अर्थात् उस पर चढ़ी हुई] इस उद्यान लता को देखते हुए निश्चय ही आज मैं रानी के मुख को क्रोध से लाल कर दूंगा। [यहां राजा उदयन ने भावी सागरिका प्रेम मूलक ईर्ष्या विप्रलम्भ को अनजाने सूचित किया।]

यहाँ उपमा श्लेष का [अवसर में ग्रहण है।]

यहां उपमा श्लेष भावी ईर्ष्या विप्रलम्भ के माग शोधक के रूप में स्थित है। उसका रस के प्रमुखीभाव दशा के पूर्ववर्ती अवसर पर ग्रहण किया गया है। इसलिए अवसर ग्रहण का उदाहरण है।

यह पद्य रत्नावली नाटिका का है। राजा की नवमालिका लता दोहद-विशेष के प्रयोग से अकाल में कुसुमित हो उठी है और रानी वासवदत्ता की नहीं। यह जान कर राजा अपने नर्म सचिव विदूषक से कह रहा है कि आज जब मैं मदनावेशयुक्त परनारी के समान इस लता को देखूंगा तो रानी वासवदत्ता का मुख ईर्ष्या से लाल हो जायगा। ईर्ष्या का मुख्य कारण तो यही है कि प्रस्तुत विशेषणों से लता काम के आवेश से युक्त परनारी के समान प्रतीत हो रही है अतः उसकी ओर देखना रानी को असह्य होगा। इस कारण से जब मैं उद्यान-लता को देखूँगा तो रानी का मुख क्रोध से आरक्तच्छवि हो जायगा।

---

१. नि०दी० में 'उपमा' पद नहीं है।

गृहीतमपि यमवसरे त्यजति तद्रसानुगुणतयालङ्कारान्तरापेक्षया । यथा :—

रक्तस्त्वं नवपल्लवैरहमपि श्लाघ्यैः प्रियाया गुणै-
स्त्वामायान्ति शिलीमुखाः स्मरधनुर्मुक्ताः सखे मामपि ।
कान्तापादतलाहतिस्तव मुदे, तद्वन्ममाप्यावयोः,
सर्वं तुल्यमशोक ! केवलमहं धात्रा सशोकः कृतः ॥

अत्र हि प्रबन्धप्रवृत्तोऽपि श्लेषो व्यतिरेकविवक्षया त्यज्यमानो रसविशेषं पुष्णाति ।

४— ग्रहण करने पर भी उस रस के अनुगुण होने से अलङ्कारान्तर की अपेक्षा से [कवि] जिसको अवसर पर छोड़ देता है । [उस अवसर त्याग रूप चतुर्थ समीक्षा प्रकार का उदाहरण] जैसे :—

[यह श्लोक भी रत्नावली नाटिका का ही है । राजा अशोक वृक्ष से कह रहे हैं] हे अशोक तुम अपने नवीन पल्लवों से रक्त [लाल हो रहे] हो, मैं भी प्रिया के गुणों से रक्त [अनुरागयुक्त] हूँ । [इस श्लोक में प्रत्येक चरण का पूर्वार्द्ध, उद्दीपन विभाव परक समझना चाहिए] तुम्हारे पास शिलीमुख [भ्रमर] आते हैं और हे मित्र ! कामदेव के धनुष से छोड़े गए शिलीमुख [बाण] मेरे ऊपर भी आते हैं । ["पादाघातादशोको विकसति, बकुलं योषितामास्यमद्यैः" की कवि प्रसिद्धि के अनुसार] कान्ता का पाद प्रहार तुम्हारे लिए आनन्ददायक है [तो तुम्हारे विकास द्वारा, अथवा कान्तापादहति रूप सुरतबन्ध विशेष द्वारा] तो वह मेरे लिये भी आनन्ददायक है । [इस प्रकार] हे अशोक [हम तुम] सब प्रकार बराबर हैं केवल [अन्तर यह है कि] विधाता ने मुझे सशोक [शोकयुक्त] कर दिया [और तुम अशोक-शोकरहित हो] ।

यहां [आदि से अन्त तक] निरन्तर विद्यमान श्लेष [अन्त में] व्यतिरेक [अलङ्कार] की विवक्षा से छोड़ देने से रस विशेष को परिपुष्ट करता है ।

आगे पृ० १५६ तक के इस लम्बे प्रकरण में प्रकृत "रक्तस्त्वम्" इत्यादि श्लोक में श्लेष और व्यतिरेक की संसृष्टि है अथवा सङ्कर इस विषय का विचार किया गया है । पूर्वपक्ष सङ्करवादियों का है और सिद्धान्त पक्ष में यहां श्लेष और व्यतिरेक की संसृष्टि मानी है । प्रकृत प्रकरण से ग्रन्थकार ने ऐसे अवसरों पर संसृष्टि और सङ्कर के भेद का स्पष्टीकरण करने का प्रयत्न किया है ।

नात्रालङ्कारद्वयसन्निपातः, किन्तर्हि, अलङ्कारान्तरमेव श्लेषव्यतिरेकलक्षणं नरसिंहवदिति चेत्, न। तस्य प्रकारान्तरेण व्यवस्थापनात्। यत्र हि श्लेषविषय एव शब्दे प्रकारान्तरेण व्यतिरेकप्रतीतिर्जायते, स तस्य विषयः। यथा :—

"स हरिर्नाम्ना देवः सहरिर्वरतुरगनिवहेन"

इत्यादौ।

अत्र ह्यन्य एव शब्दः[1] श्लेषस्य विषयोऽन्यश्च व्यतिरेकस्य। यदि चैवंविधे विषयेऽलङ्कारान्तरत्वकल्पना क्रियते[2] तत्संसृष्टेर्विषयापहार एव स्यात्।

[सङ्करवादी पूर्वपक्षी की शङ्का यह है कि] यहां दो अलङ्कार [श्लेष और व्यतिरेक] नहीं हैं [इसलिए यह कहना ठीक नहीं है कि व्यतिरेक की अपेक्षा से अन्तिम चरण में श्लेष को छोड़ दिया गया है] तब क्या है ? नरसिंह के समान [श्लेष और व्यतिरेक का एकाश्रयानुप्रवेश रूप सङ्कर] श्लेष-व्यतिरेक रूप दूसरा ही [सङ्कर] अलङ्कार है।

[संसृष्टिवादी सिद्धान्त पक्ष] यह कहना ठीक नहीं है। क्योंकि उस [एकाश्रयानुप्रवेश रूप सङ्कर] की स्थिति प्रकारान्तर से होती है। जहां श्लेष अलङ्कार के विषयभूत [श्लिष्ट] शब्द में ही प्रकारान्तर से व्यतिरेक की प्रतीति होती है वही उस [श्लेष और व्यतिरेक के एकाश्रयानुप्रवेश सङ्कर] का विषय होता है। जैसे :—

वह देव तो नाम मात्र से स हरि है और यह [राजा] श्रेष्ठ अश्व समूह के कारण सहरि है।

इत्यादि उदाहरण में [श्लेष और व्यतिरेक दोनों 'सहरि' इस एक ही पद में आश्रित हैं। इसलिए यहां तो श्लेष और व्यतिरेक का एकाश्रयानुप्रवेश सङ्कर बन जाता है।]

[परन्तु यहां 'रक्तस्त्वं' इत्यादि श्लोक में] यहां तो श्लेष के विषय अन्य [रक्त आदि] शब्द हैं और व्यतिरेक के विषय [अशोक तथा सशोक शब्द] अन्य शब्द हैं। [अतः यहां एकाश्रयानुप्रवेश सङ्कर नहीं हो सकता।]

[यद्यपि श्लेष और व्यतिरेक के विषय भिन्न हैं परन्तु वह है तो एक

---

१. शब्दश्लेषस्य नि० । २. ततः संसृष्टे दी० ।

श्लेषमुखेनैवात्र व्यतिरेकस्यात्मलाभ इति नायं संसृष्टेर्विषय इति चेत् न। व्यतिरेकस्य प्रकारान्तरेणापि दर्शनात्। यथा[1]—

नो कल्पापायवायोरदयरयदलत्क्ष्माधरस्यापि शम्या,
गाढ़ोद्गीर्णोज्ज्वलश्रीरहनि न रहिता नो तमः कज्जलेन।
प्राप्तोत्पत्तिः पतङ्गान्न पुनरुपगता मोषमुष्णत्विषो वो,
वर्तिः सैवान्यरूपा सुखयतु निखिलद्वीपदीपस्य दीप्तिः॥

अत्र हि साम्यप्रपञ्चप्रतिपादनं विनैव व्यतिरेको दर्शितः।

वाक्य के अन्तर्गत। इसलिए श्लेष और व्यतिरेक का विषय शब्द को न मान कर उस वाक्य को माना जाय तब तो उन दोनों का एक वाक्य रूप एक आश्रय में अनुप्रवेश रूप सङ्कर बन जाता है। सङ्करवादी यदि यह शङ्का करे तो] यदि ऐसे [एक वाक्य को विषय मान कर] विषय में [सङ्कर रूप] अलङ्कारान्तर [सङ्कर] की कल्पना की जाय तब फिर संसृष्टि का विषय ही कहीं नहीं रहेगा। [क्योंकि एकवाक्याश्रय की सीमा तो बहुत विस्तृत है। संसृष्टि के सभी उदाहरण इस प्रकार के सङ्कर की सीमा में आ जावेंगे। इसलिए यहां 'रक्तस्त्वं' इत्यादि में सङ्कर मानना उचित नहीं है। संसृष्टि ही माननी चाहिए।]

[सङ्करवादी फिर शङ्का करता है कि अच्छा यहां एकाश्रयानुप्रवेश सङ्कर न सही, फिर भी सङ्कर का दूसरा भेद अङ्गाङ्गिभाव सङ्कर हो सकता है। क्योंकि व्यतिरेक तो उपमागर्भ होता है। किन्हीं दो की तुलना करके ही उनमें एक का आधिक्य कहा जा सकता है और यहां अशोक वृक्ष और नायक का साम्य 'रक्तस्त्वम्' इत्यादि श्लिष्ट विशेषणों के कारण ही प्रतीत होता है। इसलिए श्लेष, व्यतिरेक का अनुग्राहक है। अतएव फिर भी यहां अङ्गाङ्गिभाव सङ्कर ही है संसृष्टि नहीं। जब एक ही सङ्करालङ्कार है तब व्यतिरेक के लिए श्लेष को छोड़ दिया गया यह 'अवसरे त्याग' का जो उदाहरण दिया है वह ठीक नहीं] श्लेष द्वारा ही यहां व्यतिरेक की सिद्धि होती है इसलिए यह संसृष्टि का विषय नहीं है। यह शङ्का करो तो—

[संसृष्टिवादी सिद्धान्त पक्ष] यह कहना ठीक नहीं है। क्योंकि व्यतिरेक [उपमा के ऊपर ही आश्रित नहीं है, उपमा कथन के बिना भी] प्रकारान्तर से [उपमा या साम्य कथन के बिना] भी देखा जाता है। जैसेः—

अखिल विश्व के प्रकाशक [दीपक] सूर्यदेव की दीप्ति, रूप वह

---

१. दी० में यथा पाठ नहीं है।

नात्र श्लेषमात्राच्चारुत्वनिष्पत्तिरस्तीति श्लेषस्य व्यतिरेकाङ्गत्वेनैव विवक्षितत्वात्[1] न स्वतोऽलङ्कारतेत्यपि[2] न वाच्यम्। यत एवंविधे विषये साम्यमात्रादपि सुप्रतिपादिताच्चारुत्वं दृश्यत एव। यथा :—

लोकोत्तर बत्ती जो निष्ठुर वेग से पर्वतों को विदलित करने वाले कल्पान्त वायु से भी बुझ नहीं सकती, जो दिन में भी अत्यन्त उज्ज्वल प्रकाश देती है, जो तमोरूप कज्जल से सर्वथा रहित है जो पतङ्ग [कीट विशेष] से बुझती नहीं बल्कि [पतङ्ग = सूर्य से] उत्पन्न होती है, वह [लोकोत्तर बत्ती] हम सब को सुखी करे।

यहां साम्य कथन के बिना ही व्यतिरेक दिखाया गया है। [अतः व्यतिरेक के लिए शाब्द उपमा की अपेक्षा न होने से 'रक्तस्त्वं' में श्लेषोपमा को व्यतिरेक का अनुग्राहक मानने की भी आवश्यकता नहीं। उस दशा में श्लेष और व्यतिरेक दोनों अलग-अलग अलङ्कारों की संसृष्टि ही माननी चाहिए]।

[सङ्करवादी पूर्वपक्षी फिर शङ्का करता है कि यद्यपि "नो कल्पापायवायो" वाले इस श्लोक में व्यतिरेकानुग्राहिणी उपमा नहीं दिखाई देती है। बिना उपमा के भी व्यतिरेक है। परन्तु "रक्तस्त्वम्" वाले उदाहरण में तो व्यतिरेक के लिए श्लेषोपमा ग्रहण की गई है। क्योंकि उसके बिना केवल श्लेष से चारुत्वप्रतीति नहीं होती इसलिए अकेले श्लेष को स्वतन्त्र अलङ्कार—चारुत्व हेतु—नहीं मान सकते। अतः श्लेषोपमानुगृहीत व्यतिरेक के ही चारुत्वहेतुत्व सम्भव होने से यहां सङ्कर ही है संसृष्टि नहीं।]

यहां ["रक्तस्त्वम्" में] केवल श्लेष मात्र से चारुत्वप्रतीति नहीं होती है इसलिए श्लेष यहां व्यतिरेक का अङ्ग [अनुग्राहक] रूप से ही विवक्षित है अतः वह स्वयं अलङ्कार नहीं है। यह शङ्का करो तो—

[संसृष्टिवादी सिद्धान्त पक्ष] यह भी नहीं कहना चाहिए क्योंकि इस प्रकार के [व्यतिरेक के] विषय में [श्लेष रहित] साम्यमात्र [उपमागर्भ व्यतिरेक] के सम्यक् प्रतिपादन से भी चारुत्व दिखाई देता है। जैसे—

[मेरे] क्रन्दन तुम्हारे गर्जन के समान हैं, [मेरे] अश्रु तुम्हारी निरन्तर बहने वाली जल धारा के समान हैं, उस [प्रियतमा] के वियोग से उत्पन्न शोकाग्नि तुम्हारी विद्युच्छटा के समान है, मेरे हृदय में [अपनी] प्रियतमा का मुख है और तुम्हारे हृदय में चन्द्रमा है इसलिए हमारी तुम्हारी वृत्ति

---

१. विवक्षितत्वम् नि०, दी०। २. अलङ्कारत्वेन नि० दी०।

आक्रन्दाः स्तनितैर्विलोचनजलान्यश्रान्तधाराम्बुभि-
स्तद्विच्छेदभुवश्च शोकशिखिनस्तुल्यास्तडिद्विभ्रमैः ।
अन्तर्मे दयितामुखं तव शशी वृत्तिः समैवावयो-
स्तत् किं मामनिशं सखे जलधर त्वं दग्धुमेवोद्यतः ॥

इत्यादौ ।[1]

[2]रसनिर्वहणैकतानहृदयो यञ्च नात्यन्तं निर्वोढुमिच्छति ।

यथा—

समान ही है [हम तुम दोनों सधर्मा मित्र हैं] हे मित्र जलधर फिर तुम रात-दिन मुझको जलाने को ही क्यों तैयार रहते हो ।

इत्यादि में ।

यहाँ श्लोक के चतुर्थ पद में बन्धुजन पीड़ाकारित्व रूप से जलधर का अपनी अपेक्षा व्यतिरेक दिखाया है और पूर्व के तीनों चरणों में अपना और जलधर का साम्य दिखाया है। परन्तु उनमें श्लेष नहीं है। इसलिए यहाँ श्लेष के बिना उपमा और व्यतिरेक, "नो कल्पापाय" में बिना उपमा के व्यतिरेक पाया जाता है अतः 'रक्तस्त्वम्' में श्लेष और व्यतिरेक को अलग-अलग अलङ्कार मान कर उनकी "मिथोऽनपेक्षतयैषां स्थितिः संसृष्टिरुच्यते" संसृष्टि मानने में कोई आपत्ति नहीं हो सकती। अतः वहाँ संसृष्टि ही है। इसलिए व्यतिरेक की अपेक्षा से तीन चरणों में निरन्तर चलने वाले श्लेष का परित्याग चतुर्थ चरण में कर देने से अवसरे त्याग रूप चतुर्थ समीक्षा प्रकार का जो उदाहरण दिया गया है वह ठीक ही है। यह सिद्धान्त पक्ष स्थित हुआ।

५—रस निबन्ध में अत्यन्त तत्पर [कवि] जिस [अलङ्कार] का अत्यन्त निर्वाह करना नहीं चाहता है। [उसका उदाहरण] जैसे—

क्रोधावेश में अपने कोमल तथा चञ्चल बाहुलता के पाश में जकड़ कर अपने केलि-भवन में ले जाकर सायंकाल को सखियों के सामने [पराङ्गनो-पभोगजन्य, नखक्षत आदि चिह्नों से] उसके दुश्चेष्टित को भली प्रकार सूचित कर, फिर कभी ऐसा न हो [क्रोध के कारण] लड़खड़ाती हुई वाणी से ऐसा

---

१. अगला रसनिर्वहणैकतानहृदयश्च यह पाठ नि० में इत्यादौ के साथ रखा है। २. इत्यादौ रसनिर्वहणैकतान हृदयश्च । योयं च नात्यन्तं निर्वोढु-मिच्छति यथाः—यह पाठ नि० में है।

कोपात् कोमललोलबाहुलतिकापाशेन बद्ध्वा दृढं,
नीत्वा वासनिकेतनं दयितया सायं सखीनां पुरः।
भूयो नैवमिति स्खलत्कलगिरा संसूच्य दुश्चेष्टितं,
धन्यो हन्यत एव निह्नुतिपरः प्रेयान् रुदत्या हसन्॥

अत्र हि रूपकमाक्षिप्तमनिर्व्यूढं परं रसपुष्टये।[1]

निर्वोढुमिष्टमपि यं यत्नादङ्गत्वेन प्रत्यवेक्षते। यथा—

श्यामास्वङ्गं चकितहरिणीप्रेक्षणे दृष्टिपातं,
गण्डच्छायां शशिनि शिखिनां बर्हभारेषु केशान्।
उत्पश्यामि प्रतनुषु नदीवीचिषु भ्रूविलासान्,
हन्तैकस्थं क्वचिदपि न ते भीरु सादृश्यमस्ति॥

इत्यादौ।

कह कर, रोती हुई प्रियतमा के द्वारा, हंसते हुए [अपने नखक्षतादि को] छिपाने वाला सौभाग्यशाली प्रिय पीटा ही जाता है। [सखियों के मना करने पर भी नायिका उसको मारती है।]

[बाहुलतिकापाशेन से] रूपक [आक्षिप्त] प्रारम्भ किया गया था परन्तु केवल [परं, अथवा अत्यन्त] रस पुष्टि के लिए उसका निर्वाह नहीं किया गया। [यह पञ्चम समीक्षा प्रकार हुआ। छठे का उदाहरण आगे देते हैं]।

६—[अन्त तक] निर्वाह इष्ट होने पर भी जिसको सावधानी से अङ्गरूप में ही देखता [निबद्ध करने का ध्यान रखता है] है। जैसेः—

हे भीरु ! मुझे तुम्हारे अङ्ग [का सादृश्य] प्रियंगु लताओं में, तुम्हारा दृष्टिपात चकित हरिणियों की चञ्चल चितवन में, तुम्हारे कपोल की कान्ति चन्द्रमा में, तुम्हारे केशपाश मयूरपिच्छ में और तुम्हारे भ्रूभङ्ग नदी की तरङ्गों में दिखाई पड़ते हैं [इसलिए मैं इधर-उधर मारा-मारा फिरता हूं।] परन्तु खेद है कि तुम्हारा सादृश्य कहीं इकट्ठा नहीं दिखाई देता [नहीं तो मैं उसी एक से सन्तोष कर लेता। तुम भीरु ही जो ठहरीं कदाचित् इसीलिए अपनी सारी विभूति को एक जगह नहीं रखा]।

इत्यादि में। [यहां तद्भावाध्यारोप रूप उत्प्रेक्षा के अनुप्राणित करने

---

१. नि०, दी० में 'परं रसपुष्टये' को अगले वाक्य में जोड़ा है।

स एवमुपनिबध्यमानोऽलङ्कारो रसाभिव्यक्तिहेतुः कवेर्भवति। उक्तप्रकारातिक्रमे तु नियमेनैव रसभङ्गहेतुः संपद्यते। लक्ष्यं च तथाविधं महाकविप्रबन्धेष्वपि[1] दृश्यते बहुशः। तत्तु सूक्तिसहस्रद्योतितात्मनां महात्मनां दोषोद्घोषणमात्मन एव दूषणं भवतीति न विभज्य दर्शितम्।

किन्तु रूपकादेरलङ्कारवर्गस्य येयं व्यञ्जकत्वे रसादिविषये[2] लक्षणदिग्दर्शिता, तामनुसरन् स्वयं चान्यल्लक्षणमुत्प्रेक्षमाणो [3]यद्यलक्ष्यक्रम प्रतिममनन्तरोक्तमेनं ध्वनेरात्मानमुपनिबध्नाति सुकविः समाहितचेतास्तदा तस्यात्मलाभो[4] भवति महीयानिति ॥१६॥

वाले सादृश्य को प्रारम्भ से उठा कर अन्त तक उसका निर्वाह किया है परन्तु वह अङ्गरूप ही रहे इस बात का पूरा ध्यान रखा गया है। इसलिए वह विप्रलम्भ शृङ्गार का पोषक ही है]।

वह [रूपकादि अलङ्कार वर्ग] इस प्रकार [उपर्युक्त अङ्गता-साधक षड्विध समीक्षा प्रकार को ध्यान में रख कर] उपनिबद्ध अलङ्कार कवि के रस को अभिव्यक्त करने का हेतु होता है। उक्त पद्धति का उल्लंघन करने से तो अवश्य ही रसभङ्ग का हेतु बन जाता है। इस प्रकार [समीक्षा नियमभङ्ग मूलक रसभङ्ग प्रदर्शक] के बहुत से उदाहरण महाकवियों के प्रबन्धों [काव्यों] में भी पाए जाते हैं। [परन्तु] सहस्रों सूक्तियों की रचना द्वारा लब्धप्रतिष्ठ उन महात्माओं के दोषों का उद्घाटन करना अपने ही लिए दोषजनक होता है इस लिए उस [महाकवियों के दोषयुक्त उदाहरण भाग] को अलग नहीं दिखाया है।

किन्तु [अन्तिम सिद्धान्त यह है कि] रूपकादि अलङ्कार वर्ग का रसादि विषयक व्यञ्जकत्व का जो यह मार्ग प्रदर्शित किया है उसका अनुसरण करते हुए, और स्वयं भी और लक्षणों का अनुसन्धान करते हुए यदि कोई सुकवि पूर्वकथित असंलक्ष्यक्रम व्यङ्ग्य सदृश ध्वनि के आत्मभूत [रसादि] को सावधानता से निबद्ध करता है तो उसे बड़ा आत्मलाभ [आत्मपद-कविपद का महालाभ—महाकवि पद का लाभ] होता है।

---

१. नि०, दी० में अपि शब्द को तथाविधमपि यहां जोड़ा है। २. लक्षणा नि०, दी०। ३. यद्यलक्ष्यक्रमपतितमनन्तरोक्तमेव नि०, दी०। ४. तदस्यात्मलाभो० नि०।

क्रमेण प्रतिभात्यात्मा योऽनुस्वानसन्निभः ।
शब्दार्थशक्तिमूलत्वात् सोऽपि द्वेधा व्यवस्थितः ॥ २० ॥

अस्य विवक्षितान्यपरवाच्यस्य ध्वनेः [1]संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यत्वाद्-नुरणनप्रख्यो य आत्मा सोऽपि शब्दशक्तिमूलोऽर्थशक्तिमूलश्चेति द्विप्रकारः ॥२०॥

इस प्रकार पृष्ठ १५० पर १६ वीं कारिका की व्याख्या में जिस लम्बे महावाक्य का उल्लेख किया था वह इस पृष्ठ पर आकर समाप्त हुआ ॥१६॥

ध्वनि के प्रारम्भ में दो भेद किए गए थे अविवक्षित वाच्य [लक्षणामूल ध्वनि] और विवक्षितान्यपरवाच्य [अभिधामूल ध्वनि]। उसके बाद अविवक्षित वाच्य [लक्षणामूल ध्वनि] के भी अर्थान्तर-संक्रमितवाच्य और अत्यन्त तिरस्कृतवाच्य दो भेद किए गए। इसके आगे विवक्षितान्यपरवाच्य [अभिधामूल ध्वनि] के भी असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य और संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य दो भेद किए जा चुके हैं। और असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य के सम्बन्ध में यहां तक पर्याप्त आलोचना की जा चुकी है। अब आगे संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य ध्वनि के भेद करेंगे।

संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य के भी प्रारम्भ में दो भेद होते हैं एक शब्दशक्त्युत्थ और दूसरा अर्थशक्त्युत्थ। प्रायः सभी आचार्यों ने इन दोनों के अतिरिक्त उभय-शक्त्युत्थ नाम से तीसरा भी संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य का भेद माना है। शब्दशक्त्युक्थ में वस्तु ध्वनि और अलङ्कार ध्वनि दो भेद, अर्थ शक्त्युक्थ के १२ भेद और उभय शक्त्युत्थ का एक भेद इस प्रकार संलक्ष्यक्रम के कुल १५ भेद और एक असंलक्ष्य-क्रम मिल कर १६ भेद विवक्षितान्यपरवाच्य [अभिधामूल] ध्वनि के और दो भेद अविवक्षितवाच्य [लक्षणामूल ध्वनि] के इस प्रकार १८ भेद होते हैं। फिर आगे इनका और विस्तार चलता है। इस समय संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य का निरूपण प्रारम्भ करते हैं।

[विवक्षितान्यपरवाच्य ध्वनि का] अनुस्वान सदृश क्रम से प्रतीत होने वाला जो [दूसरा] स्वरूप [आत्मा] है वह भी शब्दशक्ति मूल और अर्थ-शक्तिमूल होने से भी दो प्रकार का होता है।

इस विवक्षितान्यपरवाच्य ध्वनि का संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य होने से अनु-

---

१ सक्रमव्यङ्ग्यत्वात् नि० ।

ननु शब्दशक्त्या यत्रार्थान्तरं प्रकाशते स यदि ध्वनेः प्रकार उच्यते तदिदानीं श्लेषस्य विषय एवापहृतः स्यात् । नापहृत इत्याह —

आक्षिप्त एवालङ्कारः शब्दशक्त्या प्रकाशते ।
यस्मिन्ननुक्तः शब्देन शब्दशक्त्युद्भवो हि सः ॥२१॥

स्वान तुल्य जो [दूसरा] स्वरूप है, वह भी शब्दशक्तिमूल और अर्थशक्तिमूल इस प्रकार दो तरह का है ॥२०॥

घंटा बजा कर बन्द कर देने के बाद भी कुछ ध्वनि क्रमशः देर तक सुनाई देती रहती है। इसी को अनुस्वान अथवा अनुरणन कहते हैं। विवक्षितान्यपरवाच्य का दूसरा भेद संलक्ष्यक्रम है अर्थात् उसमें वाच्यार्थ से व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति का क्रम अनुस्वान के समान स्पष्ट प्रतीत होता है। वाच्यार्थ की प्रतीति के बाद अनुस्वान के समान ही वहां व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति होती है। इसी से अनुस्वानसन्निभ इस ध्वनि को संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य भी कहते हैं।

इस संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य के दो भेद किए हैं एक शब्दशक्तिमूलक और दूसरा अर्थशक्तिमूलक। शब्दशक्तिमूलक ध्वनि उसको कहेंगे जहां वाच्यार्थ की प्रतीति के बाद अनुस्वान के समान दूसरे अर्थ की प्रतीति भी बाद में हो। इस स्थिति में शङ्का यह होती है कि शब्द शक्ति से दो अर्थों की प्रतीति श्लेष अलङ्कार में भी होती है। जहां दूसरे अर्थ की प्रतीति शब्दशक्ति से होती है उसको आप श्लेष न कह कर शब्दशक्त्युत्थ संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य ध्वनि कहना चाह रहे हैं। तब फिर श्लेष का अवसर कहां रहेगा ? शङ्का का आशय यह है कि शब्दशक्तिमूल ध्वनि और श्लेष की विषय व्यवस्था कैसे होगी ? इसका समाधान यह है कि जहां वाच्यरूप में वस्तुद्वय की शब्दशक्ति से प्रतीति होती है वहां श्लेष अलङ्कार और उससे भिन्न, जहां अलङ्कार की शब्दशक्ति से प्रतीति होती है ऐसे स्थलों में ध्वनि रहेगी।

[प्रश्न] शब्दशक्ति से जहां अर्थान्तर प्रकाशित होता है यह यदि ध्वनि का भेद [माना जाय] हो तो फिर श्लेष का विषय ही लुप्त हो जायगा।

[उत्तर] नहीं लुप्त होगा, यही [बात] कहते हैं :—

जहां शब्द से अनुक्त [साक्षादसंकेतित होने पर भी] आक्षेप सामर्थ्य से ही शब्दशक्ति द्वारा अलङ्कार की प्रतीति होती है वह शब्दशक्त्युद्भव ध्वनि कहलाता है।

यस्मादलङ्कारो, न वस्तुमात्रं यस्मिन् काव्ये शब्दशक्त्या प्रकाशते स शब्दशक्त्युद्भवो ध्वनिरित्यस्माकं विवक्षितम्[1] । वस्तुद्वये च शब्दशक्त्या प्रकाशमाने[2] श्लेषः । यथा —

येन ध्वस्तमनोभवेन बलिजित्कायः पुरास्त्रीकृतो,
यश्चोद्वृत्तभुजङ्गहारवलयो, गङ्गां च योऽधारयत् ।
यस्याहुः शशिमच्छिरो हर इति स्तुत्यं च नामामराः,
पायात् स स्वयमन्धकक्षयकरस्त्वां सर्वदोमाधवः ।।

क्योंकि हमारा यह अभिप्राय है कि अलङ्कार, न कि केवल वस्तु, जहां शब्दशक्ति से [आक्षिप्त होकर] प्रकाशित होती है वहाँ शब्दशक्त्युद्भव ध्वनि है । और जहां दो वस्तु शब्दशक्ति [अभिधा] से प्रकाशित हों वहां श्लेष है । जैसे :—

['येन ध्वस्तमनोभवेन' इत्यादि श्लोक में श्लेषवश शिव और विष्णु दोनों अर्थों की प्रतीति होती है । सारे विशेषण दोनों पक्षों में लगते हैं । विष्णु पक्ष में अर्थ इस प्रकार होगा] 'येन अभवेन' जिन अजन्मा विष्णु ने 'अनः ध्वस्तं' बालपन में 'अनः' अर्थात् शकट अर्थात् बच्चों की गाड़ी अथवा शकटासुर को नष्ट कर डाला, 'पुरा' पहिले अमृत हरण के समय 'बलिजित्' बलि राजा को अथवा बलवान् दैत्यों को जीतने वाले शरीर को [मोहिनी रूप] स्त्री बना डाला, और जो मर्यादातिक्रमण करने वाले 'कालिय नाग' को मारने वाले हैं जिनमें 'रव' वेद का लय होता है अथवा, 'रवे शब्दे लयो यस्य' 'अकारो विष्णुः' अकाररूप शब्द में जिसका लय होता है, जिन्होंने 'अगं' गोवर्धन पर्वत और 'गां' वराहावतार में पृथ्वी को धारण किया । जो 'शशिनं मथ्नातीति शशिमथ् राहु, उसके शिर को काटने वाले होने से देवता लोग जिनका 'शशिमच्छिरोहर' यह प्रशंसनीय नाम लेते हैं । अन्धक अर्थात् यादवों का द्वारिका में क्षय निवास स्थान बनाने वाले अथवा मौसल पर्व में यादवों का नाश कराने वाले और सब मनोकामनाओं को पूर्ण करने वाले 'माधव' विष्णु तुम्हारी रक्षा करें ।

[शिव पक्ष में] 'ध्वस्तः मनोभवः कामो येन सः ध्वस्तमनोभवः' कामदेव का नाश करने वाले जिन शङ्कर ने 'पुरा' त्रिपुरदाह के समय 'बलिजित्कायः' विष्णु के शरीर को 'अस्त्रीकृतः' बाण बनाया, जो महाभयानक भुजङ्गों सर्पों को हार

---

१. विवक्षितः नि० दी० । २. प्रकाश्यमाने नि० ।

नन्वलङ्कान्तरप्रतिभायामपि श्लेषव्यपदेशो भवतीति दर्शितं भट्टोद्भटेन तत् पुनरपि शब्दशक्तिमूलो ध्वनिर्निरवकाश इत्याशङ्क्येदमुक्तं "आक्षिप्तः" इति। तदयमर्थः, [1]यत्र शब्दशक्त्या साक्षादलङ्कारान्तरं[2] वाच्यं सत् प्रतिभासते स सर्वः श्लेषविषयः। यत्र तु शब्दशक्त्या सामर्थ्याक्षिप्तं वाच्यव्यतिरिक्तं व्यङ्ग्यमेवालङ्कारान्तरं प्रकाशते स ध्वनेर्विषयः।

शब्दशक्त्या साक्षादलङ्कारान्तरप्रतिभा यथा—

तस्या विनापि हारेण निसर्गादेव हारिणौ।
जनयामासतुः कस्य विस्मयं न पयोधरौ॥

और वलय के रूप में धारण करते हैं, जो गङ्गा को धारण किये हुए हैं, जिनका [मस्तक] शिर शशि चन्द्रमा से युक्त है और देवता लोग जिनका प्रशंसनीय 'हर' नाम कहते हैं, अन्धकासुर का विनाश करने वाले वे 'उमाधव' पार्वती के पति [गौरीपति] शङ्कर सदैव तुम्हारी रक्षा करें।

[यहाँ दोनों अर्थ वस्तु रूप हैं और अभिधा शक्ति से प्रकाशित होने से यहाँ श्लेषालङ्कार है]

[पूर्वपक्षी की शङ्का] भट्टोद्भट ने [न केवल वस्तुद्वय की प्रतीति में अपितु] अलङ्कारान्तर की प्रतीति होने पर भी श्लेष व्यवहार [होता है यह] दिखाया है। इसलिए शब्दशक्तिमूल ध्वनि का अवसर फिर भी [कहीं] नहीं रहता।

[उत्तर] इसी आशङ्का के कारण [कारिकाकार ने] 'आक्षिप्तः' यह [पद] कहा है। इसका यह अर्थ हुआ कि जहाँ शब्द शक्ति से साक्षात् वाच्य रूप में अलङ्कारान्तर की प्रतीति होती है वह सब श्लेष का विषय है और जहाँ शब्द शक्ति के बल से आक्षिप्त वाच्यार्थ से भिन्न, व्यङ्ग्य रूप से ही दूसरे अलङ्कार की प्रतीति होती है वह ध्वनि का विषय है।

शब्द शक्ति से साक्षात् [वाच्य रूप से भी] दूसरे अलङ्कार की प्रतीति हो सकती है। जैसे—

हार के बिना भी स्वभावतः ही [मनो] हारी उसके स्तन किस [के मन] में विस्मय उत्पन्न नहीं करते।

---

१. अत्र दी०। २. अलङ्कारं नि०।

अत्र शृङ्गारव्यभिचारी विस्मयाख्यो भावः साक्षाद् विरोधालङ्कारश्च प्रतिभासते, इति विरोधच्छायानुग्राहिणः श्लेषस्यायं विषयः । न त्वनुस्वानोपमव्यङ्ग्यस्य ध्वनेः । अलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यस्य[1] तु ध्वनेर्वाच्येन श्लेषेण विरोधेन वा व्यञ्जितस्य विषय एव ।

यथा ममैव—

श्लाघ्याशेषतनुं सुदर्शनकरः सर्वाङ्गलीलाजित-[1]
त्रैलोक्यां चरणारविन्दललितेनाक्रान्तलोको हरिः ।
बिभ्राणां मुखमिन्दुरूपमखिलं चन्द्रात्मचक्षुर्दधत्
स्थाने यां स्वतनोरपश्यदधिकां सा रुक्मिणी वोऽवतात् ॥

अत्र वाच्यतयैव व्यतिरेकच्छायानुग्राही श्लेषः प्रतीयते ।

यहाँ शृङ्गार [रस] का व्यभिचारी भाव विस्मय [विस्मय शब्द से] और [अपि शब्द से] विरोधालङ्कार [दोनों] साक्षात् [वाच्य रूप में] प्रतीत होते हैं । इसलिए यह विरोध की छाया से अनुगृहीत श्लेष का विषय है, अनुस्वानसन्निभ [संलक्ष्यक्रम व्यङ्ग्य] ध्वनि का नहीं । परन्तु [श्लोक में श्लेष तथा विरोध का अङ्गाङ्गिभाव सङ्कर होने से] वाच्य, श्लेष अथवा विरोध [अलङ्कार] से अभिव्यक्त असंलक्ष्यक्रम ध्वनि का [तो यह श्लोक] विषय है ही ।

[अलङ्कारान्तर के वाच्यतया प्रतीत होने का दूसरा उदाहरण] जैसे मेरा ही :—

[सुदर्शनकरः] जिनका केवल हाथ ही सुन्दर है [अथवा सुदर्शन चक्र युक्त होने से सुदर्शनकर विष्णु] जिन्होंने केवल चरणारविन्द के सौन्दर्य से [अथवा पाद विक्षेप से] तीनों लोकों को आक्रान्त किया है और जो चन्द्र-रूप [से केवल] नेत्र को धारण करते हैं [अर्थात् जिनका केवल एक नेत्र ही चन्द्र रूप है] ऐसे विष्णु ने अखिल देहव्यापि-सौन्दर्यशालिनी, सर्वाङ्ग सौन्दर्य से त्रैलोक्य विजय करने वाली और चन्द्रसदृश सम्पूर्ण मुख को धारण करने वाली जिन [रुक्मिणी देवी] को उचित रूप से ही अपने शरीर से उत्कृष्ट देखा वह रुक्मिणी देवी तुम सबकी रक्षा करें ।

यहाँ व्यतिरेक की छाया को परिपुष्ट करने वाला श्लेष ['स्वतनोरपश्यदधिकां' इस पद से] ही वाच्य रूप से प्रतीत होता है ।

---

१. व्यङ्ग्यप्रतिभासस्य नि०, दी० । १. जीत नि० ।

यथा च :—

भ्रमिमरतिमलसहृदयतां प्रलयं मूर्छां तमः शरीरसादम्।
मरणं च जलदभुजगजं प्रसह्य कुरुते विषं वियोगिनीनाम्॥

यथा वा :—

चमहिअमाणसकञ्चणपङ्कअणिम्महिअपरिमला जस्स।
अखँडिअदाणपसारा बाहुप्पलिहा व्विअ गइन्दा॥

*खण्डितमानसकाञ्चनपङ्कजनिर्मथितपरिमला यस्य।
अखण्डितदानप्रसरा बाहुपरिघा इव गजेन्द्राः॥* इति छाया।

अत्र रूपकच्छायानुग्राही श्लेषो वाच्यतयैवावभासते।

[अलङ्कारान्तर वाच्यतया प्रतीत होने का इसी प्रकार का तीसरा उदाहरण] और जैसे—

मेघरूप सर्प से उत्पन्न विष [विष शब्द के जल और हालाहल दोनों वाच्यार्थ होते हैं] वियोगिनी को चक्कर, बेचैनी, अलसहृदयत्व, ज्ञान और चेष्टा का अभाव ['प्रलयः सुखदुःखाभ्यां चेष्टाज्ञाननिराकृतिः'], मूर्च्छा, तम, शरीरसाद और मरण बलात् उत्पन्न कर देता है।

यहां विष शब्द के जल तथा ज़हर दोनों वाच्यार्थ होते हैं। वैसे प्रकरणादि द्वारा नियंत्रित हो जाने पर तो अभिधा शक्ति एक ही अर्थ का बोधन करती परन्तु यहां भुजग शब्द भी दिया हुआ है इसलिए अभिधा शक्ति केवल जल रूप अर्थ को बोधन करके विश्रान्त न होकर दोनों ही अर्थों को बोधन करती है। इसलिए नवीन मतानुसार यहां शब्दश्लेष और प्राचीन मतानुसार अभङ्गश्लेश-अर्थश्लेष—है। नवीन मतानुसार 'भ्रमिमरति' आदि पदों में 'स्तोकेनोन्नति मायाति, आदि के समान अर्थश्लेष है। और 'जलदभुजग' में रूपक है। इस प्रकार रूपक और रूपकछायानुग्राही श्लेष दोनों वाच्यतया प्रतीत होते हैं। यह भी श्लेष का ही स्थल है। शब्दशक्तिमूल ध्वनि का नहीं।

अथवा जैसे :—

निराश शत्रुओं के मन रूप स्वर्ण कमलों के निर्मथन के कारण यशः सौरभ को फैलाने वाले और निरन्तर दान में लगे हुए जिसके बाहु दण्ड ही मानसरोवर के स्वर्णकमलों को तोड़ने से सुगन्धयुक्त और अनवरत मद प्रवाहित करने वाले हाथी के समान हैं।

यहाँ [इन दोनों उदाहरणों] रूपकच्छायानुग्राही श्लेष वाच्य रूप से ही प्रतीत होता है।

यहां गजेन्द्र शब्द के कारण 'निर्मथित' 'परिमल' और 'दान' शब्द क्रमशः तोड़ना, सौरभ, और मद रस रूप अर्थ को प्रतिपादन करके भी फैलाने, प्रतापसौरभ अथवा यशः परिमल और दान [स्वस्वत्वनिवृत्तिपूर्वकं परस्वत्वोत्पादनं दानम्] अर्थ को भी बोधित करते हैं। इस प्रकार यहां रूपकच्छायानुग्राही श्लेष वाच्यतया ही प्रतीत होता है। अतः यह सब श्लेष के विषय हैं शब्दशक्तिमूल ध्वनि के नहीं।

इस इक्कीसवीं कारिका "आक्षिप्त एवालङ्कारः शब्दशक्त्यावभासते। यस्मिन्ननुक्तः शब्देन शब्दशक्त्युद्भवो हि सः।" में शब्द शक्तिमूलध्वनि का विषय निर्धारित किया है। जहां अलङ्कार वाच्य न हो अपितु आक्षिप्त-शब्द सामर्थ्य से व्यङ्ग्य हो वहां शब्दशक्तिमूल ध्वनि का विषय है। यह उसका तात्पर्य है। और जहां वस्तुद्वय या अलङ्कारान्तर वाच्य हों वहां श्लेष का विषय होता है। इस प्रकार यहां तक कारिकागत 'आक्षिप्त' शब्द के व्यवच्छेद्य का प्रदर्शन किया। जहां अलङ्कारान्तर आक्षिप्त हो—व्यङ्ग्य हो—वहीं शब्दशक्तिमूल [अलङ्कार] ध्वनि होगा। जहां वाच्य होगा, वहां नहीं। इसी प्रकार के उदाहरण 'येन ध्वस्त०' से लेकर 'खण्डित मान०' तक दिए हैं। इनमें से पहिले 'येन ध्वस्तमनो०' में वस्तुद्वय वाच्य हैं और शेष उदाहरणों में अलङ्कारान्तर वाच्य प्रतीत होते हैं इसलिए यह सब शब्दशक्तिमूल ध्वनि के उदाहरण न होकर श्लेष के उदाहरण हैं। आगे कारिकागत 'एव' शब्द का व्यवच्छेद्य दिखलाएंगे।

सभी भाषाओं में बहुत से शब्द अनेकार्थक होते हैं परन्तु वह अधिकांश स्थलों पर प्रकरणादिवश एक ही अर्थ को बोधन कराते हैं अनेक अर्थों को नहीं। इसका कारण उनका प्रकरण आदि द्वारा एक अर्थ में नियन्त्रण हो जाना ही है। हमारे यहां अनेकार्थक शब्द के एकार्थ में नियन्त्रण के विशेष हेतु माने गए हैं। उन हेतुओं का संग्रह करने वाली निम्नाङ्कित कारिकाएँ वस्तुतः भर्तृहरि के वाक्यपदीय नामक व्याकरण ग्रन्थ की हैं परन्तु आलङ्कारिकों ने वैयाकरणों के ध्वनि शब्द के समान इन कारिकाओं को भी अपना लिया है। इसी से साहित्य के सभी मुख्य ग्रन्थों में उनका उल्लेख मिलता है। कारिकाएँ निम्न प्रकार हैं :—

"संयोगो विप्रयोगश्च साहचर्यं विरोधिता।
अर्थः प्रकरणं लिङ्गं शब्दस्यान्यस्य सन्निधिः॥

स चाक्षिप्तोऽलङ्कारो यत्र पुनः शब्दान्तरेणाभिहितस्वरूपस्तत्र न [1]शब्दशक्त्युद्भवानुरणनरूपव्यङ्ग्यध्वनिव्यवहारः। [2]तत्र वक्रोक्त्यादि-वाच्यालङ्कारव्यवहार एव । यथा—

सामर्थ्यमौचिती देशः कालो व्यक्तिः स्वरादयः।
शब्दार्थस्यानवच्छेदे विशेषस्मृतिहेतवः ॥"

शब्दार्थ का निश्चय न होने की दशा में अर्थात् अनेकार्थ शब्द प्रयोग की अवस्था में उसका विशेषतया एक अर्थ विशेष में नियमन करने के हेतु संयोग, विप्रयोग, साहचर्य, विरोध, अर्थ, प्रकरण, लिङ्ग, शब्दान्तर का सन्निधान, सामर्थ्य, औचित्य, देश, काल, व्यक्ति और स्वर आदि होते हैं।

जहां अनेकार्थक शब्द का प्रयोग तो हो परन्तु उसके एकार्थ में नियन्त्रण करने वाले इन कारणों में से प्रकरणादि रूप कोई कारण उपस्थित न हो वहां शब्द के दोनों अर्थ वाच्य होते हैं। जैसे 'येन ध्वस्तमनोभवेन०' श्लोक में एकार्थ नियामक हेतु न होने से दोनों अर्थ वाच्यतया प्रतीत होते हैं। इसलिए स्पष्ट ही श्लेष का विषय माना जाता है, शब्दशक्तिमूल ध्वनि का नहीं। क्योंकि वहां अर्थ आक्षिप्त नहीं है वाच्य है।

इसके अतिरिक्त जहां द्वितीय अर्थ को अभिधा से बोधन कराने के लिए कोई साधक प्रमाण उपस्थित है वहां द्वितीयार्थ की प्रतीति अभिधा से ही होती है। इस प्रकार के चार उदाहरण 'तस्या विनापि हारेण०' 'श्लाघ्याशेषतनु०; 'भ्रमि-मरतिं०' और 'खण्डित मानस०' ऊपर दिए गए हैं। इनमें अपि शब्दों के प्रयोग बल से 'हारिणौ' आदि शब्द 'हारयुक्तौ' और 'मनोहरौ' दोनों अर्थों को अभि-धया बोधन करते हैं। इसलिए इन सब उदाहरणों में श्लेषालङ्कार है। शब्दशक्ति-मूल ध्वनि नहीं। इसके अतिरिक्त जहां अभिधा का नियामक हेतु होने पर भी प्रबल बाधक हेतु के कारण वह अकिञ्चित्कर हो जाता है वहां भी शब्दशक्तिमूल ध्वनि नहीं होती। यही बात आगे सोदाहरण लिखते हैं।

['स चाक्षिप्तो' में च शब्द अपि के अर्थ में भिन्न क्रम है अतः आक्षिप्तः के बाद अपि अर्थ में प्रयुक्त होने से आक्षिप्तोऽपि] आक्षिप्त होने पर भी अर्थात् आक्षिप्ततया प्रतीत होने पर भी, [प्रबलतर बाधक हेतु के कारण एकार्थ नियामक हेतु के अकिञ्चित्कर हो जाने से] जहां वह अलङ्कार दूसरे शब्द से

---

१ न नहीं है नि०, दी०। २ (नैव, किन्तु) दी० में अधिक है।

यथा—

दृष्टया केशव गोपरागहृतया किञ्चिन्न दृष्टं मया,
तेनैव स्खलितास्मि नाथ पतितां किन्नाम नालम्बसे।
एकस्त्वं विषमेषु खिन्नमनसां सर्वाबलानां गति-
र्गोप्यैवं गदितः सलेशमवताद् गोष्ठे हरिर्वश्चिरम्॥

एवञ्जातीयकः सर्व एव भवतु कामं वाच्यश्लेषस्य विषयः।

अभिहित रूप हो जाता है वहां शब्द शक्त्युद्भव संलक्ष्यक्रम ध्वनि का व्यवहार नहीं होता वहां वक्रोक्ति आदि वाच्यालङ्कार का ही व्यवहार होता है। जैसे—

हे केशव [कृष्ण] गौओं की [उड़ाई] धूलि से दृष्टि हरण हो जाने से मैं [रास्ते की विषमता आदि] कुछ नहीं देख सकी, इसी से [ठोकर खाकर] गिर पड़ी हूं। हे नाथ गिरी हुई [मुझ] को [उठाने के लिए आप अपने हाथ से] पकड़ते क्यों नहीं हैं। [हाथ का सहारा देकर उठाने में क्यों सङ्कोच करते हैं।] विषम [ऊबड़-खाबड़ रास्ते] स्थलों में घबड़ा जाने वाले [न चल सकने वाले बाल-वृद्ध-वनितादि] निर्बल जनों के [अत्यन्त शक्ति-शाली] केवल आप ही एक मात्र सहारा हो सकते हैं। गोष्ठ [गोशाला] में द्व्यर्थक शब्दों में गोपी द्वारा [अथवा सलेशं ससूचनं। अल्पीभवनं हि सूचनमेव] इस प्रकार कहे गए कृष्ण तुम्हारी रक्षा करें।

[सलेशं पद की सामर्थ्य से दूसरा अर्थ इस प्रकार प्रतीत होता है] इस पद्य में 'केशवगोपरागहृतया' की व्याख्या दो प्रकार से होती है एक तरह तो केशव और गोप दोनों सम्बोधन पद हैं। गोप का अर्थ रक्षक, स्वामी है। हे स्वामिन् केशव आपके अनुराग में अन्धी होकर मैंने कुछ नहीं देखा-भाला। अथवा [केशवगः यः उपरागः केशवगोपरागः तेन हृतया मुग्धया] हे केशव स्वामिन् आपके अनुराग से अन्धी होकर मैं ने कुछ देखा भाला नहीं। सोचा-विचारा नहीं [इसलिए] अपने पतिव्रत धर्म से भ्रष्ट [पतित] होगई हूँ। हे नाथ [अब आप मेरे प्रति] पतिभाव क्यों ग्रहण नहीं करते [मेरे साथ पति-वद् व्यवहार, सम्भोगादि क्यों नहीं करते।] क्योंकि काम [वासना] से सन्तप्त मन वाली [विषमेषुः पंचबाणः कामः] समस्त अबलाओं [गोपियों] की एकमात्र आप ही गति [ईर्ष्यादि रहित तृप्तिसाधन] हो। इस प्रकार गोशाला में गोपी द्वारा लेश पूर्वक कहे गए कृष्ण तुम्हारी रक्षा करें।

इस प्रकार के सब उदाहरण भले ही वाच्य श्लेष के विषय हों।

यत्र तु सामर्थ्याक्षिप्तं सदलङ्कारान्तरं शब्दशक्त्या प्रकाशते स सर्व एव ध्वनेर्विषयः । यथा—

"अत्रान्तरे कुसुमसमययुगमुपसंहरन्नजृम्भत ग्रीष्माभिधानः फुल्लमल्लिकाधवलाट्टहासो महाकालः ।"

यथा च—

उन्नतः प्रोल्लसद्धारः कालागुरुमलीमसः ।
पयोधरभरस्तन्व्याः कं न चक्रेऽभिलाषिणम् ॥

यहां यदि सलेशं पद का प्रयोग न होता तो केशवगोपरागहृतया, पतितां आदि शब्दों के अनेकार्थ संभव होने पर भी प्रकरणादि वश एकार्थ में नियन्त्रण हो जाने से वह एक ही अर्थ को बोधन करते । परन्तु सलेशं पद की उपस्थिति ने प्रकरणादि की एकार्थ नियामक सामर्थ्य को कुण्ठित कर दिया है जिससे अभिधा प्रतिप्रसूत सी होकर दोनों अर्थों को वाच्यतया बोधित करती है । इसलिए यह शब्दशक्तिमूल ध्वनि का नहीं अपितु श्लेष का ही विषय है ।

इस प्रकार यहां तक श्लेष का विषय दिखाया । परन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि पृष्ठ १६५ पर भट्टोद्भट का उल्लेख करते हुए 'पुनरपि शब्दशक्तिमूलो ध्वनिर्निरवकाशः' यह जो आशङ्का की थी वह ठीक ही हो । वस्तुतः उनसे भिन्न शब्दशक्तिमूल ध्वनि का विषय भी है । यह आगे दिखाते हैं ।

जहाँ शब्द शक्ति से सामर्थ्याक्षिप्त होकर अलङ्कारान्तर प्रतीत होता है वह सब ध्वनि का विषय है । जैसे :—

इसी समय पुष्पसमृद्धि युग [अर्थात् वसन्त के चैत्रवैशाख युगल मास] का उपसंहार करता हुआ, खिली हुई मल्लिकाओं [जुही] के, अट्टालिकाओं को धवलित करने वाले हास [विकास] से परिपूर्ण, [दूसरा अर्थ] प्रलय काल में कृतयुग आदि का संहार करते हुए और खिली हुई जुही के समान धवल अट्टहास करते हुए महाकाल शिव के समान, ग्रीष्म नामक महाकाल प्रकट हुआ ।

और जैसे :—

काले अगर के समान कृष्ण वर्ण, विद्युद्धारा अथवा जल-धारा से सुशोभित, [उस वर्षा ऋतु के उमड़ते हुए] मेघ समूह ने [दूसरा अर्थ] काले अगरु [के लेप] से कृष्ण वर्ण, हारों से अलङ्कृत [उस कामिनी के] उन्नत

उरोजों के समान किस [पथिक या किस युवक] को [उस कामिनी अथवा अपनी दयिता के मिलन के लिए] उत्कण्ठित नहीं कर दिया ।

इस श्लोक का उपलब्ध पाठ 'पयोधरभरस्तन्व्याः कं न चक्रेऽभिलाषिणम्' है । उसके अनुसार एक पक्ष में तो तन्वी के स्तन युग ने किस को [उसकी प्राप्ति के लिए] उत्कण्ठित नहीं कर दिया । यह सीधा अर्थ लग जाता है । पयोधर और तन्वी का सम्बन्ध विवक्षित है । परन्तु दूसरे वर्षा वर्णन वाले अर्थ में किस पथिक को तन्वी का अभिलाषी नहीं बनाया इस प्रकार का अर्थ करने से ही सङ्गति होगी । लोचन की बालप्रिया टीकाकार ने 'तन्व्याः' की जगह 'तस्याः' पाठ माना है । उस सर्वनाम 'तस्याः' का सम्बन्ध दोनों पक्षों में पयोधर के साथ ही रहता है । उस प्रावृट् वर्षा के मेघ और उस कामिनी के उरोज यह अर्थ दोनों पक्षों में लग जाता है ।

इन दोनों गद्य और पद्यात्मक उदाहरणों में द्वितीयार्थ की प्रतीति शब्द-शक्ति से वाच्य न होकर सामर्थ्याक्षिप्त रूप में व्यञ्जना द्वारा होती है इसलिए शब्द-शक्तिमूल ध्वनि का विषय है ।

इस स्थल पर 'शब्दशक्त्या' और 'सामर्थ्याक्षिप्तं' दोनों शब्दों का प्रयोग हुआ है । शक्ति और सामर्थ्य शब्द समानार्थक होने से उन दोनों शब्दों के प्रयोग का प्रयोजन या भेद प्रायः समझ में नहीं आता । इसलिए उसको यों समझना चाहिए कि सामर्थ्य शब्द का अर्थ यहां सादृश्यादि होता है । अर्थात् दूसरे अर्थ की प्रतीति शब्दशक्ति से सादृश्य आदि के द्वारा होती है । इस द्वितीयार्थ प्रतीति के विषय में मुख्यतः तीन प्रकार के मतभेद पाए जाते हैं ।

पहिला मत यह है कि महाकाल आदि शब्दों की शिव अर्थ में अभिधा शक्ति ज्ञाता को पूर्व से गृहीत है । महाकाल शब्द शिव रूप अर्थ में रूढ है । और दूसरा 'महान् दीर्घ दुरतिवह काल' यह ग्रीष्म पक्ष में अन्वित होने वाला अर्थ यौगिक अर्थ है । साधारणतः "योगाद्रूढिर्बलीयसी" इस न्याय के अनुसार यौगिकार्थ की अपेक्षा रूढ अर्थ मुख्यार्थ होता है । पहिले गद्यात्मक उदाहरण में ऋतु वर्णन प्रकृत होने से ग्रीष्म विषयक अर्थ प्रकृत अर्थ है । परन्तु वहां महाकाल शब्द का रूढ अर्थ प्रकरण में अन्वित नहीं होता इस लिए उस साधारण नियम का उल्लंघन करके यौगिक अर्थ लिया जाता है । परन्तु श्रोता को उस शब्द का शिव अर्थ में संकेत-ग्रह है । इसलिए प्रकरणवश अभिधा शक्ति का एकार्थ में नियन्त्रण हो जाने पर गृहीत संकेत पद से सादृश्यादि सामर्थ्यवश ध्वनन व्यापार द्वारा अप्राकरणिक शिव-रूप अर्थ की भी प्रतीति होती है । इस प्रकार द्वितीयार्थ के बोधन के संकेतग्रह

मूलक और ध्वनन व्यापार मूलक होने से उसको शब्दशक्तिमूल ध्वनि कहते हैं। इसमें 'शब्दशक्तिमूल' शब्द उसके अभिधा सहकृत और 'ध्वनि' शब्द उसके व्यञ्जना व्यापार का बोधक है। अतः उसके नामकरण में दोनों शब्दों का प्रयोग विरुद्ध नहीं है।

दूसरा मत "शाब्दी हि आकांक्षा शब्देनैव पूर्यते" सिद्धांत के अनुसार मीमांसक कुमारिल भट्ट के 'शब्दाध्याहारवाद' पर आश्रित है। इसके अनुसार जहां जितने भी अर्थ प्रतीत होते हैं वह सब शब्द से अभिधा द्वारा ही बोधित होते हैं। उस वाक्य में शब्द चाहे एक ही सुनाई देता हो परन्तु अर्थबोध के समय प्रत्येक अर्थ के बोधन के लिए अलग-अलग शब्द अध्याहार द्वारा उपस्थित किए जाते हैं। यह अनेक शब्दों की उपस्थिति भी कहीं एकार्थ में नियंत्रण न होने पर अभिधा द्वारा और कहीं एकार्थ में नियंत्रण हो जाने पर ध्वनन या व्यञ्जना द्वारा होती है। जैसे श्लेष के शब्दश्लेष और अर्थ श्लेष दो भेद माने गए हैं। प्राचीन आचार्यों ने 'सर्वदोमाधवः' [पृष्ठ १६४ देखो] आदि सभङ्ग श्लेष को शब्द श्लेष माना है। इसमें दोनों अर्थों को बोधन करने वाले शब्द अलग-अलग ही हैं। एक पक्ष में 'सर्वदः माधवः' शब्द हैं और दूसरे में 'सर्वदा उमाधवः' शब्द हैं। यह दोनों अर्थबोधक शब्द विद्यमान ही हैं इसलिए दोनों अभिधा शक्ति से अपने-अपने अर्थ को बोधन करा देते हैं। दूसरे अभङ्ग अर्थात् अर्थश्लेष में यद्यपि 'अन्धकक्षयकरः' यह एक ही शब्द सुनाई देता है परन्तु अर्थबोध के समय समानानुपूर्वीक इसी शब्द की "प्रत्यर्थं शब्दाः भिद्यन्ते" इस न्याय के अनुसार दुबारा कल्पना की जाती है और वह कल्पित हुआ दूसरा शब्द अभिधा द्वारा द्वितीयार्थ का बोधन करता है।

प्राचीन विद्वद्गोष्ठी में प्रहेलिकाओं के रूप में वैदग्ध्यप्रदर्शक प्रश्नोत्तर का एक विशेष प्रकार पाया जाता है। इस सम्बन्ध का विशिष्ट ग्रन्थ विदग्धमुखमण्डन है। इस प्रश्नोत्तर प्रकार के अनुसार 'कः इतो धावति' और 'किंगुणविशिष्टश्च इतो धावति' कौन इधर दौड़ रहा है और किस गुण से युक्त इधर दौड़ रहा है यह दो प्रश्न हैं। इन दोनों प्रश्नों का एक उत्तर 'श्वेतो धावति' है। पहिले प्रश्न 'कः इतो धावति' के उत्तर में उसके 'श्वा इतो धावति' यह दो खण्ड किए जाते हैं और द्वितीय प्रश्न 'किंगुणविशिष्ट इतो धावति' के उत्तर में 'श्वेतो धावति' यह एक पद रहता है। इस प्रकार दो अर्थ बोध करने के लिए दो बार शब्द की कल्पना की जाती है। इन अर्थश्लेष और प्रश्नोत्तरादि के प्रसङ्गों में

यथा वा :—

दत्तानन्दाः प्रजानां समुचितसमयाकृष्टसृष्टैः पयोभिः,
पूर्वाह्णे विप्रकीर्णा दिशि दिशि विरमत्यह्नि संहारभाजः ।
दीप्तांशोर्दीर्घदुःखप्रभवभवभयोदन्वदुत्तारनावो,
गावो वः पावनानां परमपरिमितां प्रीतिमुत्पादयन्तु ॥

द्वितीय शब्द की उपस्थिति एकार्थ में निबंत्रण न होने से अभिधा द्वारा ही होती है इसलिए यह सब वाच्य श्लेषालङ्कार के उदाहरण होते हैं।

परन्तु 'कुसुमसमययुगमुपसंहरन्' इत्यादि उदाहरणों में प्रकरणादिवश अभिधा के नियंत्रित हो जाने से द्वितीय बार पद की उपस्थिति अभिधा से न होकर ध्वनन व्यापार से होती है और ध्वनन व्यापार से उपस्थित होने के बाद शब्द अभिधा शक्ति से द्वितीयार्थ का बोधन करता है। इस प्रकार यद्यपि द्वितीयार्थ की प्रतीति अभिधा से ही होती है परन्तु उस शब्द की उपस्थिति ध्वनन या व्यञ्जना व्यापार द्वारा होने से इसको शब्दशक्तिमूल ध्वनि ही कहा जाता है।

तृतीय मत के अनुसार प्रथम प्राकरणिक अर्थ अभिधा से उपस्थित हो जाता है उसके बाद प्रकरणादि वश अभिधा का एकार्थ में नियन्त्रण होने पर भी जो अर्थ सामर्थ्य, सादृश्यादि है उसके कारण अभिधा शक्ति प्रतिप्रसूत पुनरुज्जीवित सी हो जाती है। इस प्रकार द्वितीयार्थ अभिधा शक्ति से ही बोधित होता है। द्वितीयार्थ के बोधन हो जाने के बाद उस अप्राकरणिक अर्थ की प्राकरणिक अर्थ के साथ अत्यन्त असंबद्धार्थकता न हो जाय इसलिए उन दोनों अर्थों के उपमानोपमेय भाव आदि की कल्पना की जाती है। यहां यह कल्पना व्यञ्जना वृत्ति का विषय होती है। इसलिए वहां उपमालङ्कार व्यङ्ग्य कहलाता है। प्रकृत 'कुसुमयुगसमयमुपसंहरन्' वाले उदाहरण में रूपक के व्यञ्जना वृत्ति का विषय होने से रूपकालङ्कार व्यङ्ग्य है। इसीलिए इसको शब्दशक्तिमूल ध्वनि कहते हैं।

आगे शब्दशक्तिमूल ध्वनि के और उदाहरण देते हैं।

अथवा जैसे—

समुचित समय [सूर्यकिरण पक्ष में ग्रीष्म ऋतु और गाय पक्ष में दोहन-पूर्वकाल] पर आकृष्ट [समुद्रादि से वाष्परूप में आकृष्ट पक्षान्तर में अयन में चढ़ाए हुए] और प्रदत्त जल तथा दुग्धों से प्रजा को आनन्द देने वाली, प्रातः

एषूदाहरणेषु शब्दशक्त्या प्रकाशमाने सत्यप्राकरणिकेऽर्थान्तरे, वाक्यस्यासम्बद्धार्थाभिधायित्वं मा प्रसांक्षीदित्यप्राकरणिकप्राकरणिकार्थयोरुपमानोपमेयभावः कल्पयितव्यः। सामर्थ्यादित्यर्थाक्षिप्तोऽयं श्लेषो न शब्दोपारूढ इति विभिन्न एव श्लेषादनुस्वानोपमव्यङ्ग्यस्य ध्वनेर्विषयः।

काल [सूर्योदय के कारण पक्षान्तर में चरने जाने के कारण] चारों दिशाओं में फैल जाने वाली और सूर्यास्त के समय [सूर्यास्त के कारण पक्षान्तर में चर कर लौट आने के कारण] एकत्रित हो जाने वाली, दीर्घकालव्यापी दुःख के कारणभूत भवसागर को पार करने के लिए नौकारूप विश्व के पवित्रपदार्थों में सर्वोत्कृष्ट गौओं के समान सूर्यदेव की किरणें तुम्हें अनन्त सुख प्रदान करें।

इन [१ कुसुमसमययुगमुपसंहरन् २ उन्नतः प्रोल्लसद्धारः ३ दत्तानन्दाः इन तीनों] उदाहरणों में शब्द शक्ति से अप्राकरणिक दूसरे अर्थ के प्रकाशित होने पर वाक्य की असंबद्धार्थबोधकता न हो जाय इसलिए प्राकरणिक और अप्राकरणिक अर्थों का उपमानोपमेयभाव कल्पना करना चाहिए। इस प्रकार शब्दसामर्थ्य [सादृश्यादि] वश श्लेष आक्षिप्त रूप में उपस्थित होता है न कि शब्दनिष्ठ रूप में। इसलिए [इन उदाहरणों में] श्लेष से अनुस्वानसन्निभ संलक्ष्यक्रम व्यङ्ग्य का विषय अलग ही है।

इसका अभिप्राय यह हुआ कि १ अत्रान्तरे २ उन्नतः तथा ३ दत्तानन्दाः इन तीनों उदाहरणों में प्रकरणवश अभिधा का एकार्थ में नियंत्रण हो जाने से प्रस्तुत अर्थ की प्रतीति अभिधा से हो जाने के बाद शब्द शक्ति अर्थात् अभिधामूला व्यञ्जना से अप्राकरणिक दूसरे अर्थ की प्रतीति होती है। इन वाच्य और व्यङ्ग्य, प्रस्तुत और अप्रस्तुत अर्थों में यदि किसी प्रकार का सम्बन्ध न हो तो वाक्य में अनन्वितार्थबोधकत्व दोष हो जायगा। इसलिए उनका उपमानोपमेयभाव सम्बन्ध कल्पना अर्थात् व्यञ्जना गम्य मानना होता है। इस प्रकार वाच्यार्थ प्रस्तुत होने से उपमेय और व्यङ्ग्यार्थ अप्रस्तुत होने से उपमान रूप में प्रतीत होता है। इस प्रकार द्वितीय अर्थ वाच्य न होने से शब्दोपारूढ न होने से यह श्लेष का विषय नहीं है अपितु शब्दशक्तिमूल [अलङ्कार] ध्वनि का विषय है। इस प्रकार श्लेष और ध्वनि का विषय विभाग स्पष्ट हो जाता है। 'उपमानोपमेयभावः कल्पयितव्यः' से यह सूचित किया है कि अलङ्कार ध्वनि में सर्वत्र व्यतिरेचन निह्नव आदि 'व्यापार' ही आस्वाद प्रतीति के प्रधान विश्रान्तिस्थान होते हैं, उपमेयादि नहीं।

अन्येऽपि चालङ्काराः शब्दशक्तिमूलानुस्वानरूपव्यङ्ग्यध्वनौ सम्भवन्त्येव । तथाहि विरोधोऽपि शब्दशक्तिमूलानुस्वानरूपो दृश्यते । यथा स्थाण्वीश्वराख्यजनपदवर्णने भट्टबाणस्य—

"यत्र च [1]मातङ्गगामिन्यः शीलवत्यश्च, गौर्यो विभवरताश्च, श्यामाः पद्मरागिण्यश्च, धवलद्विजशुचिवदना मदिरामोदश्वसनाश्च[2] प्रमदाः ।"

शब्दशक्तिमूल संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य ध्वनि में [पूर्वोक्त उपमा के अतिरिक्त] और भी अलङ्कार हो ही सकते हैं । इसी से शब्दशक्तिमूल संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य विरोध [अलङ्कार] भी दिखाई देता है । जैसे थानेश्वर नामक नगर के वर्णन [प्रसङ्ग] में बाण भट्ट का :—

जहां गजगामिनी और शीलवती [दूसरे पक्ष में मातङ्ग का अर्थ चाण्डाल, मातङ्गगामिनी अर्थात् चाण्डाल से भोग करने वाली और शीलवती यह विरोध प्रतीत होता है जो गजगामिनी अर्थ करने से नहीं रहता]। गौरवर्ण और वैभव निमग्न [दूसरे पक्ष में गौरी पार्वती और भव-शिव, विभव शिव-भिन्न से रमण करने वाली यह विरोध हुआ जो प्रथम अर्थ करने पर नहीं रहता । 'श्यामा यौवन मध्यस्था'] तरुणी और पद्मराग मणियों [के अलङ्कारों] से युक्त [पक्षान्तर में श्यामवर्ण और कमल के समान रागयुक्त यह विरोध हुआ जो प्रथम अर्थ करने पर नहीं रहता । निर्मल ब्राह्मण के समान पवित्र मुख वाली और मदिरागन्ध युक्त श्वास वाली यह विरोध] शुभ्र दन्तयुक्त स्वच्छ मुख वाली [अर्थ करने से परिहृत हो जाता है] स्त्रियां हैं ।

आलोककार ने हर्ष चरित का यह उद्धरण पूरा नहीं दिया है । अन्तिम 'प्रमदाः' पद के पूर्व चार पंक्तियां इसी प्रकार के विशेषणों की और भी हैं । परन्तु इतने ही अंश से उदाहरण पूरा बन जाता है इसलिए ग्रन्थकार ने शेष भाग को छोड़ दिया है । निर्णयसागरीय संस्करण ने उस परित्यक्त भाग को भी कोष्ठक के भीतर देकर मूल ग्रन्थ के साथ ही छाप दिया है । परन्तु वह वस्तुतः

---

१ मत्तमातङ्ग नि०, दी० । २ 'चन्द्रकान्तवपुषः शिरीषकोमलाङ्ग्यश्च, अभुजङ्गगम्याः कञ्चुकिन्यश्च, पृथुकलत्रश्रियो दरिद्रमध्यकलिताश्च, लावण्यवत्यो मधुरभाषिण्यश्च, अप्रमत्ताः प्रसन्नोज्ज्वलरागाश्च, अकौतुकाः प्रौढाश्च' इतना पाठ प्रमदाः के पूर्व और है । नि०, दी० ।

अत्र हि वाच्यो विरोधस्तच्छायानुग्राही वा श्लेषोऽयमिति न शक्यं वक्तुम्[1]। साक्षाच्छब्देन विरोधालङ्कारस्याप्रकाशितत्वात्। यत्र हि साक्षाच्छब्दावेदितो विरोधालङ्कारस्तत्र हि श्लिष्टोक्तौ वाच्यालङ्कारस्य विरोधस्य श्लेषस्य वा विषयत्वम्। यथा तत्रैव[2]—

मूल ग्रन्थ का पाठ नहीं है। मूल ग्रन्थ में इतना ही अंश उदाहरण रूप में उद्धृत हुआ है।

इस प्रकार यहां श्लेषानुप्राणित विरोधाभास की प्रतीति होने पर भी विरोधाभास के वाचक अपि शब्द के अभाव के कारण विरोधाभास को वाच्य नहीं कहा जा सकता है। इसी प्रकार प्रस्तुत और अप्रस्तुत दोनों अर्थों के वाच्य न होकर अप्रस्तुत अर्थ की प्रतीति अभिधामूला व्यञ्जना से होने के कारण श्लेष को वाच्य नहीं कहा जा सकता है, अपितु व्यङ्ग्य ही है। अतएव यह अभिधामूल अलङ्कार ध्वनि का उदाहरण है।

जिस श्लेष युक्त वाक्य में विरोध साक्षात् शब्द से बोधित होता है वहीं वाच्य विरोधाभास अलङ्कार अथवा श्लेषालङ्कार वाच्य का विषय होता है। अपि शब्द अथवा विरोध शब्द ही विरोध के वाचक शब्द हैं। अगले 'समवाय इव विरोधिनां पदार्थानाम्' इत्यादि उदाहरण में विरोध शब्द होने से विरोधालङ्कार वाच्य है और उसका उपकारी श्लेष भी उसके अनुरोध से वाच्य माना जाता है।

यहां प्रश्न यह होता है कि अपि शब्द और विरोध शब्द को तो आप विरोध का वाचक शब्द मानते ही हैं परन्तु उनके अतिरिक्त पुनः पुनः प्रयुक्त समुच्चयार्थक च शब्द भी विरोध का वाचक शब्द मानना चाहिए। 'मत्तमातङ्गगामिन्यः शीलवत्यश्च, गौर्यो विभवरताश्च' इत्यादि उदाहरणों में और 'सन्निहितबालान्धकारा भास्वन्मूर्तिश्च' इत्यादि उदाहरणों में चकार का पुनः-पुनः प्रयोग होने से विरोधालङ्कार को वाच्य ही मानना चाहिए, व्यङ्ग्य नहीं। इसलिए यहां भी 'भास्वन्मूर्तिश्च' के समान 'शीलवत्यश्च' आदि में विरोधालङ्कार को वाच्य ही मानना चाहिए इस अरुचि को मन में रख कर अपना बनाया दूसरा उदाहरण भी प्रस्तुत करते हैं।

यहां विरोधालङ्कार अथवा विरोधच्छायानुग्राही श्लेष वाच्य है यह नहीं कह सकते हैं क्योंकि साक्षात् शब्द से विरोधालङ्कार प्रकाशित नहीं हुआ है।

---

१. वदितुम् दी०। २. तत्रैव के स्थान पर हर्षचरिते नि०, दी०।

'समवाय इव विरोधिनां पदार्थानाम्। तथाहि, सन्निहितबालान्धकारापि भास्वन्मूर्तिः[1] ।' इत्यादौ।

यथा वा ममैव—

सर्वैकशरणमक्षयं, अधीशमीशं धियां, हरिं कृष्णम्।
चतुरात्मानं निष्क्रियं, अरिमथनं नमत चक्रधरम्॥

अत्र हि शब्दशक्तिमूलानुस्वानरूपो विरोधः स्फुटमेव प्रतीयते।

जहां विरोधालङ्कार शब्द से साक्षात् बोधित होता है उस श्लिष्ट वाक्य में ही विरोध अथवा श्लेष [तन्मूलक सन्देह सङ्कर] के वाच्यालङ्कारत्व का विषय हो सकता है। [वहीं विरोध अथवा श्लेष में वाच्यालङ्कारत्व कहा जा सकता है] जैसे वहीं, [हर्षचरित के उसी प्रसङ्ग में]—

विरोधी पदार्थों के समुदाय के समान [थे]। जैसे, [बाल अप्रौढ़ रूप अन्धकार से युक्त सूर्य की मूर्ति यह विरोध हुआ, पक्षान्तर में] अन्धकार [रूप] कृष्णकेशों से युक्त भी देदीप्यमान मूर्ति थे।

अथवा जैसे मेरा ही—

सब के एकमात्र शरण, आश्रयस्थान और अविनाशी [पक्षान्तर में शरण और क्षय दोनों शब्द का अर्थ गृह होता है। इस दशा में सबके गृह और अक्षय अगृह यह विरोध आता है जो प्रथम अर्थ में नहीं रहता।] अधीशं ईशं धियां जो सबके प्रभु और बुद्धि के स्वामी हैं [पक्षान्तर में ईशं धियां बुद्धि के स्वामी और अधीशं जो धीश बुद्धि के स्वामी नहीं हैं यह विरोध आता है जो प्रथम अर्थ से परिहृत होता है] विष्णु [स्वरूप] कृष्ण [पक्षान्तर में हरित और कृष्ण वर्ण का विरोध प्राप्त होता है उसका परिहार प्रथम अर्थ से होता है] सर्वज्ञस्वरूप निष्क्रिय [पक्षान्तर में पराक्रम युक्त और निष्क्रिय] अरियों के नाश करने वाले चक्रधारी [विष्णु, पक्षान्तर में चक्र के अवयव अरों के नाश करने वाला चक्रधर कैसे होगा यह विरोध प्रथम अर्थ से दूर होता है] को नमस्कार करो।

इन [गद्य पद्यात्मक दोनों उदाहरणों] में विरोधालङ्कार शब्द शक्ति मूल संलक्ष्यक्रम व्यङ्ग्य ध्वनि के रूप में स्पष्ट प्रतीत होता है।

---

१. च अधिक है नि० दी०।

एवंविधो व्यतिरेकोऽपि दृश्यते । यथा ममैव—

खं येऽत्युज्ज्वलयन्ति लूनतमसो ये वा नखोद्भासिनः,
ये पुष्णन्ति सरोरुहश्रियमपि क्षिप्ताब्जभासश्च ये ।
ये मूर्धस्ववभासिनः क्षितिभृतां ये चामराणां शिरां-
स्युत्क्रामन्त्युभयेऽपि ते दिनपतेः पादाः श्रिये सन्तु वः ॥

एवमन्येऽपि शब्दशक्तिमूलानुस्वानरूपव्यङ्ग्यध्वनिप्रकाराः सन्ति ते सहृदयैस्स्वयमनुसर्तव्याः । इह तु ग्रन्थविस्तरभयान्न तत्प्रपञ्चः कृतः ॥२१॥

इस प्रकार का [शब्दशक्तिमूल संलक्ष्यक्रम व्यङ्ग्य ध्वनि रूप] व्यतिरेकालङ्कार भी पाया जाता है । जैसे, मेरा ही [बनाया निम्न श्लोक इसका उदाहरण है] :—

[इसमें सूर्य के प्रसिद्ध किरण रूप पाद और विग्रहवद्देवता पक्ष के अनुसार देहधारी सूर्य के चरण रूप पाद इन दोनों प्रकार के पादों की स्तुति की गई है और उनमें व्यतिरेकालङ्कार व्यङ्ग्य है । शब्दार्थ इस प्रकार होगा] ।

[सूर्यदेव के] अन्धकार का नाश करने वाले [जो किरण रूप पाद] आकाश को प्रकाशमान करते हैं और जो [चरण रूप पाद] नखों से सुशोभित [तथा आकाश को उद्भासित न करने वाले] हैं, जो [सूर्यकिरण रूप में] कमलों को श्री को भी पुष्ट करते हैं और [चरण रूप से] कमलों की शोभा को तिरस्कृत करते हैं, जो [पर्वतों के शिखर पर शोभित होते हैं अथवा] क्षितिभृतां राजाओं के शिरों पर अवभासित होते हैं और [प्रणाम काल में] देवताओं के शिरों का भी अतिक्रमण करते हैं, सूर्यदेव के वह दोनों [प्रकार के] पाद [किरण और चरण रूप] तुम सब के लिए कल्याणकर हों ।

इस प्रकार शब्दशक्तिमूल संलक्ष्यक्रम व्यङ्ग्य ध्वनि के और भी [अलङ्कार तथा वस्तु रूप] प्रकार होते हैं । सहृदय उनका स्वयं अनुसन्धान कर लें । ग्रन्थ विस्तार के भय से हमने यहां उनका प्रतिपादन नहीं किया है ।

ग्रन्थकार ने इस श्लोक में नखोद्भासी, कमल कान्ति को तिरस्कृत करने वाले और राजाओं के मस्तक पर शोभित होने वाले चरणों की अपेक्षा आकाश को प्रकाशित करने वाले कमलों को विकसित करने वाले और देवताओं के शिरों का अतिक्रमण करने वाले किरण रूप पदों का आधिक्य होने से व्यतिरेक अलङ्कार माना है । परन्तु वह सर्वैकशरणं आदि पहिले श्लोक के समान विरोधालङ्कार का उदाहरण भी हो सकता है ।

अर्थशक्त्युद्भवस्त्वन्यो यत्रार्थः सः [1]प्रकाशते ।
यस्तात्पर्येण वस्त्वन्यद् व्यनक्त्युक्तिं विना स्वतः ॥२२॥

यत्रार्थः स्वसामर्थ्यादर्थान्तरमभिव्यनक्ति शब्दव्यापारं विनैव सोऽर्थशक्त्युद्भवो नामानुस्वानोपमव्यङ्ग्यो ध्वनिः ।

विवक्षितान्यपर वाच्य [अभिधामूल] ध्वनि के असंलक्ष्यक्रम व्यङ्ग्य और संलक्ष्यक्रम व्यङ्ग्य दो भेद किए थे । संलक्ष्यक्रम व्यङ्ग्य के फिर शब्दशक्त्युत्थ, अर्थशक्त्युत्थ और उभयशक्त्युत्थ तीन भेद किए गये हैं । इन में से शब्दशक्त्युत्थ ध्वनि का बहुत विस्तारपूर्वक विचार यहां किया गया है । इसीलिए इस २१ वीं कारिका की इतनी लम्बी व्याख्या हो गई है कि पाठक ऊबने लगता है । परन्तु फिर भी ग्रन्थकार ने इस सारे विवेचन में वस्तु ध्वनि का कहीं नाम नहीं लिया है । बार-बार घुमा-फिरा कर अलङ्कार ध्वनि का ही विस्तार किया है । अलङ्कार ध्वनि के स्पष्टीकरण के लिए जो इतना अधिक प्रयत्न ग्रन्थकार ने किया है वह संभवतः उसके विवादास्पद स्वरूप और महत्त्व को ध्यान में रख कर किया है । वस्तुध्वनि के अधिक स्पष्ट और विवाद रहित होने के कारण ही उसका विवेचन नहीं किया है । उत्तरवर्ती आचार्यों ने अपने शब्दशक्तिमूलध्वनि के विवेचन में वस्तुध्वनि की भी सोदाहरण विवेचना कर इस कमी को पूरा कर दिया है ॥२१॥

शब्दशक्त्युत्थ के बाद अर्थशक्त्युत्थ संलक्ष्यक्रम व्यङ्ग्य का वर्णन क्रमप्राप्त है । नवीन आचार्यों ने उसके स्वतःसम्भवी, कविप्रौढ़ोक्तिसिद्ध और तन्निबद्ध वक्तृ-प्रौढ़ोक्तिसिद्ध यह तीन भेद और उनमें से प्रत्येक के वस्तु से वस्तु, वस्तु से अलङ्कार, अलङ्कार से वस्तु, और अलङ्कार से अलङ्कार व्यङ्ग्य यह चार, कुल मिला कर बारह भेद किए हैं । आलोककार ने भी यह भेद किए हैं परन्तु उतने स्पष्ट नहीं हुए हैं ।

संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य ध्वनि के प्रथम शब्दशक्त्युत्थ भेद के सविस्तर निरूपण के बाद उसके दूसरे भेद अर्थशक्त्युत्थ संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य का निरूपण करते हैं ।

अर्थशक्त्युद्भव [नामक संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य ध्वनि का] दूसरा भेद [वह] है जहां ऐसा अर्थ [अभिधा से] प्रतीत होता है जो शब्दव्यापार के बिना

---

१ संप्रकाशते नि० दी० ।

यथा—

एवं वादिनि देवर्षौ पार्श्वे पितुरधोमुखी ।
लीलाकमलपत्राणि गणयामास पार्वती ॥

अत्र हि लीलाकमलपत्रगणनमुपसर्जनीकृतस्वरूपं शब्दव्यापारं विनैवार्थान्तरं व्यभिचारिभावलक्षणं प्रकाशयति ।

[ध्वनन व्यापार से] स्वतः ही तात्पर्यविषयीभूत रूप से अर्थान्तर को अभिव्यक्त करे । [यहां तात्पर्य शब्द पदार्थसंसर्ग रूप बाक्यार्थ बोध में उपक्षीण तात्पर्याख्या शक्ति का नहीं, ध्वनन व्यापार का ग्राहक समझना चाहिए ।]

जहां अर्थ [वाच्यार्थ] शब्दव्यापार के बिना अपने [ध्वनन] सामर्थ्य से अर्थान्तर को अभिव्यक्त करता है वह अर्थशक्त्युद्भव संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य नामक ध्वनि है ।

जैसे :—

देवर्षि [सप्तर्षि मण्डल] के ऐसा कहने [शिव के साथ पार्वती के विवाह की चर्चा और शिव की सहमति प्रकट करने] पर पिता [पर्वतराज हिमालय] के पास बैठी हुई पार्वती मुंह नीचा करके लीला कमल की पंखुडियां गिनने लगी ।

यहां लीला-कमल-पत्रों की गणना [रूप पार्वती का व्यापार] स्वयं गुणीभूत रूप होकर शब्दव्यापार के बिना ही [लोचनकार के मत में लज्जा और विश्वनाथ के मत से अवहित्था रूप] व्यभिचारिभावरूप अर्थान्तर को अभिव्यक्त [प्रकट] करती है ।

लोचनकार ने इसे लज्जारूप व्यभिचारिभाव का अभिव्यञ्जक माना है परन्तु साहित्यदर्पणकार ने अवहित्था के उदाहरण में इस श्लोक को उद्धृत किया है । अवहित्था का लक्षण इस प्रकार किया गया है—"भयगौरवलज्जादेर्हर्षाद्याकारगुप्तिरवहित्था । व्यापारान्तरासक्ति अन्यथाभाषण विलोकनादिकरी ।" भय, गौरव, लज्जा आदि के कारण व्यापारान्तर, अन्यथा भाषण या अन्यथा विलोकनादि जनक आकार गोपन का नाम अवहित्था है । इस अवहित्था में भी लज्जा का समावेश रहता है और भय, गौरव, लज्जा आदि आकारगुप्ति के हेतुओं में से यहां लज्जा ही हेतु है इसलिए विश्वनाथ और लोचनकार के मत में तात्विक भेद न होने से विरोध की शङ्का नहीं करनी चाहिए ।

न चायमलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यस्यैव ध्वनेर्विषयः । यतो यत्र साक्षाच्छब्दनिवेदितेभ्यो विभावानुभावव्यभिचारिभ्यो रसादीनां प्रतीतिः स तस्य केवलस्य मार्गः । यथा कुमारसम्भवे मधुप्रसङ्गे वसन्तपुष्पाभरणं वहन्त्या देव्या आगमनादिवर्णनं मनोभवशरसन्धानपर्यन्तं शम्भोश्च परिवृत्तधैर्यस्य चेष्टाविशेषवर्णनादि साक्षाच्छब्दनिवेदितम् ।

इह तु सामर्थ्याक्षिप्तव्यभिचारिमुखेन रसप्रतीतिः । तस्मादयमन्यो ध्वनेः प्रकारः ।

यह असंलक्ष्य क्रम व्यङ्ग्य [रसादि] ध्वनि का ही उदाहरण [भी] नहीं है । क्योंकि जहां साक्षात् शब्द से वर्णित विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भावों से रसादि की प्रतीति होती है वहीं केवल असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य ध्वनि का मार्ग है ।

[पहिले यह लिख आए हैं कि व्यभिचारिभावों का वाचक-शब्दों से कथन उचित नहीं है और यहां उनके साक्षात् शब्द निवेदित होने से ही रसादि प्रतीत होतेहैं यह कह रहे हैं यह दोनों बातें परस्पर विरुद्ध हैं । ऐसी शङ्का उत्पन्न हो तो उसका समाधान यह है कि वाच्यार्थप्रतीति से अव्यवहित व्यभिचारिभाव की प्रतीति होनी चाहिए यही यहां साक्षात् शब्द-निवेदितत्व से अभिप्रेत है । व्यभिचारिभाव का वाच्यत्व इष्ट नहीं है ।]

जैसे कुमारसंभव के वसन्त वर्णन प्रसङ्ग में वसन्ती पुष्पों के आभूषणों से अलंकृत देवी पार्वती [१—आलम्बन विभाव] के आगमन से लेकर [आलम्बन-विभाव] कामदेव के शरसन्धान पर्यन्त [अनुभाववर्णन] और धैर्य च्युत शिव की चेष्टाविशेषवर्णनादि [व्यभिचारिभाव] साक्षात् शब्द निवेदित है । [अतः वहां असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य रसध्वनि है ।]

कुमारसम्भव के प्रकृत श्लोक निम्न प्रकार हैं :—

१—निर्वाणभूयिष्ठमथास्य वीर्यं, सन्धुक्षयन्तीव वपुर्गुणेन ।
अनुप्रयाता वनदेवताभिरदृश्यत स्थावरराजकन्या ॥

२—प्रतिगृहीतुं प्रणयिप्रियत्वात्, त्रिलोचनस्तामुपचक्रमे च ।
सम्मोहनं नाम च पुष्पधन्वा, धनुष्यमोघं समधत्त सायकम् ॥

३—हरस्तु किञ्चित् परिवृत्तधैर्यश्चन्द्रोदयारम्भ इवाम्बुराशिः ।
उमामुखे बिम्बफलाधरोष्टे, व्यापारयामास विलोचनानि ॥

यत्र च शब्दव्यापारसहायोऽर्थोऽर्थान्तरस्य व्यञ्जकत्वेनोपादीयते स नास्य ध्वनेर्विषयः ।

यथा—

संकेतकालमनसं विटं ज्ञात्वा विदग्धया ।
हसन्नेत्रार्पिताकूतं लीलापद्मं निमीलितम् ॥

अत्र लीलाकमलनिमीलनस्य व्यञ्जकत्वमुक्त्यैव निवेदितम् ॥२२॥

यहां [एवंवादिनि देवर्षौ० में] तो [लीलाकमल के पत्रों की गणना द्वारा] सामर्थ्य से आक्षिप्त [लज्जा रूप] व्यभिचारिभाव द्वारा रस की प्रतीति होती है । इसलिए [रसध्वनि रूप असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य भेद से भिन्न अर्थशक्त्युद्भव संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य रूप] यह दूसरा ही ध्वनि का प्रकार है ।

[इससे यह सूचित किया कि यद्यपि रसादि सदा व्यङ्ग्य ही होते हैं वाच्य नहीं परन्तु उनका असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य होना अनिवार्य नहीं है । वह कभी संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य अर्थशक्त्युद्भवध्वनि के द्वारा भी प्रतीत हो सकते हैं । परन्तु उत्तरवर्ती आचार्य रसादि ध्वनि को असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य ही मानते हैं । संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य के जितने भेद उन्होंने किए हैं उन सबके उदाहरण वस्तुध्वनि या अलङ्कारध्वनि में से ही दिए हैं ।]

जहां शब्द व्यापार की सहायता से अर्थ, दूसरे अर्थ को अभिव्यक्त करता है वह इस [अर्थशक्त्युद्भव संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य] ध्वनि का विषय नहीं होता ।

जैसे :—

[नायक के शृङ्गार सहायक] विट [संभोगहीनसंपद् विटस्तु धूर्तः कलैकदेशज्ञः । वेशोपचारकुशलो मधुरोऽथ बहुमतो गोष्ठ्याम् ॥] की संकेत काल [नायक-नायिका के मिलन समय] कि जिज्ञासा को समझकर चतुरा [नायिका] ने नेत्रों से [अपना] अभिप्राय व्यक्त करते हुए हंसते हुए [अपने हाथ के] लीलाकमल को बन्द कर दिया ।

यहां लीलाकमल निमीलन [की संकेतकाल, सूर्यास्त के समय हम मिलेंगे इस अर्थ] की व्यञ्जकता ['नेत्रार्पिताकूतं' पद ने] शब्द द्वारा ही सूचित कर दी । [इसलिए अर्थशक्त्युद्भव ध्वनि का उदाहरण नहीं है ।] ॥२२॥

तथा च—

शब्दार्थशक्त्याक्षिप्तो[1]ऽपि व्यङ्ग्योऽर्थः कविना पुनः ।
यत्राविष्क्रियते स्वोक्त्या सान्यैवालंकृतिर्ध्वनेः ॥२३॥

शब्दशक्त्या, अर्थशक्त्या, शब्दार्थशक्त्या वाक्षिप्तोऽपि व्यङ्ग्योऽर्थः कविना पुनर्यत्र स्वोक्त्या प्रकाशीक्रियते सोऽस्मादनुस्वानोपमव्यङ्ग्याद् ध्वनेरन्य एवालङ्कारः । अलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यस्य वा ध्वनेः सति सम्भवे स तादृगन्योऽलङ्कारः ।

और इसी से [कहा भी है कि] :—

शब्दशक्ति, अर्थशक्ति, अथवा शब्द, अर्थ उभय शक्ति से आक्षिप्त [व्यङ्ग्य] होने पर भी जहाँ व्यङ्ग्य अर्थ को कवि पुनः अपने वचन द्वारा प्रकट कर देता है वह ध्वनि से भिन्न अन्य ही [गुणीभूत व्यङ्ग्य] अलङ्कार है ।

शब्दशक्ति, अर्थशक्ति अथवा शब्दार्थोभय शक्ति से आक्षिप्त होने पर भी व्यङ्ग्य अर्थ को जहाँ कवि फिर अपनी उक्ति से [भी] प्रकाशित कर देता है वह इस अनुस्वानोपम [संलक्ष्यक्रम व्यङ्ग्य] ध्वनि से अलग ही [गुणीभूत व्यङ्ग्य] अलङ्कार होता है । अथवा असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य ध्वनि का यदि कोई इस प्रकार का उदाहरण मिल सके तो [वाच्यालङ्कार से भिन्न] वह उस प्रकार का [विशेष चमत्कार जनक] अन्य ही अलङ्कार होता है ।

इस कारिका से पूर्व संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य ध्वनि के शब्दशक्त्युद्भव और अर्थशक्त्युद्भव व्यङ्ग्य दो भेद किए थे । परन्तु इस कारिका में उभयशक्त्युद्भव तृतीय भेद भी सूचित किया है । 'शब्दश्च अर्थश्च इति शब्दार्थौ' इतने विग्रह से शब्दशक्त्युत्थ तथा अर्थशक्त्युद्भव और फिर शब्दार्थौ च शब्दार्थौ चेत्येकशेषः इस प्रकार द्वन्द्व समास में एकशेष करके शब्दार्थौ पद से ही उभयशक्त्युत्थ रूप तृतीय भेद का भी प्रतिपादन किया है ।

'सान्यैवालंकृतिर्ध्वनेः' की व्याख्या भी वृत्तिकार ने दो प्रकार से की है । एक पक्ष में 'ध्वनेः' पद को पञ्चम्यन्त और संलक्ष्यक्रम का बोधक मानकर 'सोऽस्मादनुस्वानोपमव्यङ्ग्याद् ध्वनेरन्य एवालङ्कारः' यह व्याख्या की है और दूसरे पक्ष में 'ध्वनेः' को असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य ध्वनि का बोधक और षष्ठ्यन्त पद मानकर

---

[1] वाक्षिप्तः नि० दी० ।

तत्र शब्दशक्त्या यथा—

वत्से मा गा विषादं, श्वसनमुरुजवं सन्त्यजोर्ध्वप्रवृत्तम् ,
कम्पः को वा गुरुस्ते, भवतु[1] बलभिदा जृम्भितेनात्र याहि ।
प्रत्याख्यानं सुराणामिति भयशमनच्छद्मना कारयित्वा ,
यस्मै लक्ष्मीमदाद् वः स दहतु दुरितं मन्थमूढां पयोधिः ॥

असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यस्य वा ध्वनेः सति संभवे स तादृगन्योऽलङ्कारः' यह व्याख्या की है ।

मम्मट, विश्वनाथादि नवीन आचार्यों ने इसी प्रकार को गुणीभूत व्यङ्ग्य का वाच्यसिद्ध्यङ्ग भेद माना है । जहाँ व्यङ्ग्य अर्थ वाच्यसिद्धि का अङ्ग बन जाय अर्थात् उसके बिना श्लोक का वाच्यार्थ ही उपपन्न न हो, उसे वाच्यसिद्ध्यङ्ग नामक गुणीभूत व्यङ्ग्य कहा है । उसके उदाहरण इसी प्रकार के दिए गए हैं ।

उसमें शब्द शक्ति से [आक्षिप्त, शब्दशक्त्युद्भव का उदाहरण] जैसे—

[समुद्र-मन्थन वेला में स्वभावतः सुकुमारी होने के कारण समुद्र की भीषण तरंगो को देख कर भयभीत] मन्थन से भीत लक्ष्मी को [उसके पिता] समुद्र ने भय दूर करने के बहाने [यह कह कर कि] बेटी घबड़ाओ नहीं [व्यङ्ग्यार्थ 'विषमत्तीति विषादः' विष को भक्षण करने वाले भयानक शिव के पास मत जाना] तीव्रगति से चलने वाली लम्बी उसासों को बन्द करो [व्यङ्ग्यार्थ तीव्रगति वाले भयङ्कर वायु और ऊर्ध्वजलन स्वभाव वाले भयङ्कर अग्निदेव की बात छोड़ो] यह इतना कांप क्यों रही हो और शक्ति को नष्ट करने वाली इन जंभाइयों को बरा बन्द करो [व्यङ्ग्यार्थ 'कं जलं पातीति कम्पः वरुणः, कः प्रजापतिः ब्रह्मा कम्प अर्थात्] वरुणदेव और प्रजापति ब्रह्मा तो तुम्हारे गुरु, पितृ-सदृश है "जृम्भितेन-बलभिदा भवतु ऐश्वर्यमदमत्त" इन्द्र देव को भी छोड़ो इस प्रकार भय शमन करने के बहाने अन्य सब देवताओं [के साथ विवाह] का प्रत्याख्यान [निषेध] करा कर और यहाँ [विष्णु के पास] जाओ ऐसा कह कर जिन [विष्णु] को [अपनी पुत्री] लक्ष्मी को [वधू रूप में] प्रदान किया वह [विष्णु] तुम्हारे दुःखों को दूर करें ।

---

१. किमिह दी० ।

अर्थशक्त्या यथा—

अम्बा शेतेऽत्र वृद्धा, परिणतवयसामग्रणीरत्रतातः,
निःशेषागारकर्मश्रमशिथिलतनुः, कुम्भदासी तथात्र ।
अस्मिन् पापाहमेका कतिपयदिवसप्रोषितप्राणनाथा,
पान्थायेत्थं तरुण्या कथितमवसरव्याहृतिव्याजपूर्वम् ॥

उभयशक्त्या यथा, 'दृष्ट्या केशव गोपरागहृतया' इत्यादौ ॥२३॥

यहां देवताओं के प्रत्याख्यान का बोधक अर्थ व्यङ्ग्य होता परन्तु 'भयशमन-छद्मना' में छद्म शब्द द्वारा कवि ने उसकी व्यङ्ग्यता को वाच्य बना दिया इसी से कामिनीकुचकलशवत् गोपनकृत चारुत्व न रहने से यह संलक्ष्यक्रम व्यङ्ग्य ध्वनि का उदाहरण नहीं है । 'कारयित्वा में णिच् प्रत्यय समर्थन का सूचक है, अप्रवृत्त प्रवर्तन का नहीं । अर्थात् देवताओं का प्रत्याख्यान करने की प्रेरणा पिता ने नहीं की अपितु लक्ष्मी द्वारा किए गए प्रत्याख्यान का समर्थन मात्र किया । यही णिच का तात्पर्य है । 'हृक्रोरन्यतरस्याम्' सूत्र से लक्ष्मी की कर्म संज्ञा हुई है ।

अर्थ शक्ति से [आक्षिप्त, अर्थशक्त्युद्भव व्यङ्ग्य जहां शब्द से कथित कर दिया है उसका उदाहरण] जैसे—

बूढ़ी माता जी यहां सोती हैं और वृद्धों के अग्रगण्य पिता जी यहां । सारे घर का काम करने से अत्यन्त थकी हुई दासी यहां सोती है । मैं अभागिनी जिस के पति कुछ दिन से परदेश चले गये हैं इस [कमरे] में अकेली पड़ी रहती हूँ । इस प्रकार तरुणी ने अवसर बताने के लिए बहाने से पथिक को यह [सबके सोने का स्थान और व्यवस्था आदि का पूर्वोक्त विवरण] कहा ।

यहां तरुणी की संभोगेच्छा और अनिर्बन्ध यथेष्ट संभोग के अवसर की सूचना रूप जो व्यङ्ग्य है उसको कवि ने 'अवसरव्याहृतिव्याजपूर्व' से अपने शब्द में ही कह दिया इसलिए यह संलक्ष्यक्रम अथवा असंलक्ष्यक्रम व्यङ्ग्य ध्वनि का उदाहरण नहीं रहा उनसे भिन्न ही, नवीनमत में वाच्य सिद्धयङ्ग नामक गुणी-भूत व्यङ्ग्य है ।

[इसी प्रकार] उभय शक्ति से [आक्षिप्त उभयशक्त्युत्थ व्यङ्ग्य जहां शब्द से कथित कर दिया गया है उसका उदाहरण] जैसे 'दृष्ट्या केशव गोपराग हृतया' इत्यादि [पूर्व उद्धृत तथा व्याख्यात श्लोक] में ।

'दृष्ट्या केशवगोपराग' इत्यादि उभयशक्त्युद्भव व्यङ्ग्य ध्वनि में उभय शक्त्यु-

प्रौढ़ोक्तिमात्रनिष्पन्नशरीरः सम्भवी स्वतः ।
अर्थोऽपि द्विविधो ज्ञेयो वस्तुनोऽन्यस्य दीपकः ॥ २४ ॥

त्थता का समन्वय लोचनकार ने इस प्रकार किया है कि गोपरागादि पदों में श्लेष होने से उस अंश में शब्दशक्त्युत्थता और प्रकरणवशात् अर्थशक्त्युत्थता आने से यह उभय शक्त्युद्भव का उदाहरण होता है। परन्तु नवीन आचार्य ऐसे स्थलों पर उभयशक्त्युत्थता का समन्वय शब्दपरिवृत्तिसहत्व तथा शब्दपरिवृत्ति असहत्व के आधार पर करते हैं। उनके मत से यहां 'केशव गोपराग हृतया' में 'केशव गोपराग' शब्दों के रहने पर ही ध्वनि की सत्ता रहती है और यदि उनको बदल कर राग के पर्याय वाचक स्नेहादि शब्द रख दें तो ध्वनि की सत्ता नहीं रह सकती इसलिये शब्दपरिवृत्यसह होने के कारण यह ध्वनि शब्दशक्त्युत्थ है। परन्तु आगे 'स्खलितास्मि' इत्यादि में शब्द का परिवर्तन करके 'पतितास्मि' आदि रख देने पर भी व्यङ्ग्य में कोई बाधा नहीं पड़ती इसलिए उस अंश के परिवृत्तिसह होने से अर्थशक्त्युत्थ व्यङ्ग्य होता है। अतः एक अंश में शब्दशक्त्युत्थ और दूसरे अंश में अर्थ शक्त्युत्थ होने से यह उभय शक्त्युत्थ का उदाहरण है। इस प्रकार शब्द परिवर्तन को सहन न कर सकने वाले गुण अलङ्कार ध्वनि आदि को शब्दनिष्ठ, तथा शब्दपरिवर्तन को सहन करने वाले को अर्थ निष्ठ मान कर शब्द परिवृत्ति, असहत्व और शब्दपरिवृत्तिसहत्व के आधार पर ही नवीन आचार्य शब्दनिष्ठता या अर्थनिष्ठता का निर्णय करते हैं ॥२३॥

इस प्रकार संलक्ष्यक्रम व्यङ्ग्य ध्वनि के शब्दशक्त्युत्थ, अर्थशक्त्युत्थ और उभयशक्त्युत्थ तीन भेद प्रदर्शित किये। उनमें से शब्दशक्त्युत्थ का सविस्तार विवेचन हो चुका। इस समय अर्थशक्त्युद्भव का विवेचन चल रहा है। इसी बीच में प्रसङ्गतः उभयशक्त्युद्भव का प्रदर्शन भी कर दिया है। अब अर्थशक्त्युद्भव के स्वतःसम्भवी, कवि प्रौढ़ोक्तिसिद्ध और कविनिबद्धप्रौढ़ोक्तिवक्तृकृतसिद्ध-इन तीन भेदों का निरूपण करते हैं।

अन्य वस्तु [अलङ्कार या वस्तु] का अभिव्यञ्जक अर्थ भी स्वतःसम्भवी तथा प्रौढ़ोक्ति मात्र सिद्ध [इसमें कविप्रौढ़ोक्ति सिद्ध तथा कविनिबद्ध वक्तृप्रौढ़ोक्तिसिद्ध यह दो भेद सम्मिलित हैं] इस प्रकार से दो प्रकार का [वास्तव में तीन प्रकार का] होता है।

यह तीन प्रकार के व्यञ्जक अर्थ, वस्तु तथा अलङ्कार भेद से दो प्रकार

अर्थशक्त्युद्भवानुरणनरूपव्यङ्ग्ये ध्वनौ यो व्यञ्जकोऽर्थ उक्तस्तस्यापि द्वौ प्रकारौ, कवेः कविनिबद्धस्य वा वक्तुः प्रौढ़ोक्तिमात्रनिष्पन्नशरीर एकः स्वतःसम्भवी च द्वितीयः।

कविप्रौढ़ोक्तिमात्रनिष्पन्नशरीरो यथा—

सज्जेहि सुरहिमासो ण दाव अप्पेइ जुअइजणलक्खमुहे ।
अहिणवसहआरमुहे णवपल्लवपत्तले अणङ्गस्स शरे ॥

[सज्जयति सुरभिमासो न तावदर्पयति युवतिजनलक्ष्यमुखान् ।
अभिनवसहकारमुखान् नवपल्लवपत्रलाननङ्गस्य शरान् ॥]

इतिच्छाया ॥

के होकर ६ व्यञ्जक अर्थ और उसी प्रकार ६ व्यङ्ग्यार्थ कुल मिला कर अर्थ-शक्त्युद्भव के बारह भेद हो जाते हैं। इन बारह भेदों का वर्णन नवीन आचार्यों ने स्पष्ट रूप से किया है।

अर्थशक्त्युद्भव रूप संलक्ष्यक्रम व्यङ्ग्य ध्वनि में जो व्यञ्जक अर्थ कहा है उसके भी दो भेद होते हैं। एक [तो] कवि या कविनिबद्धवक्ता की प्रौढोक्तिमात्र से सिद्ध और दूसरा स्वतःसम्भवी।

कवि प्रौढ़ोक्तिमात्रसिद्ध [का उदाहरण] जैसे—

[कामदेव का सखा] वसन्त मास युवतिजनों को लक्ष्य बनाने [बिद्ध करने] वाले मुखों [अग्रभाग फलभाग] से युक्त नवपल्लवों से पत्र [बाण के पिछले भाग में लगे पंखों से] युक्त, सहकार प्रभृति कामदेव के बाणों का निर्माण करता है [परन्तु] अभी [प्रहारार्थ उसको] देता नहीं है।

यहाँ वसन्त बाण बनाने वाला है कामदेव उनका प्रयोग करने वाला धन्वी या योद्धा है आम्र मञ्जरी आदि बाण हैं और युवतियां उनका लक्ष्य हैं इत्यादि अर्थ, कविप्रौढ़ोक्ति मात्र से सिद्ध है। लोक में इस प्रकार का न कोई धानुष्क दीखता है न उसके बाण। इसी से कविप्रोढ़ोक्तिमात्रसिद्ध वस्तु से मदनोन्मथन का प्रारम्भ और उत्तरोत्तर उसका बिजृम्भण रूप वस्तु व्यङ्ग्य है। इस प्रकार यह कविप्रौढ़ोक्तिसिद्ध वस्तु से वस्तु व्यङ्ग्य का उदाहरण है।

कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्तिमात्रनिष्पन्नशरीरो यथोदाहृतमेव[1]—"शिखरिणि' इत्यादि[2] । यथा वा[3]—

साअरविइण्णजोव्वणहत्थालम्बं समुण्णमन्तेहिम् ।
अब्भुट्ठाणं विअ मम्महस्स दिण्णं तुह थणेहिम् ॥

[*सादरवितीर्णयौवनहस्तावलम्बं समुन्नमद्भ्याम् ।*
अभ्युत्थानमिव मन्मथस्य दत्तं तव स्तनाभ्याम् ॥
इतिच्छाया ॥]

स्वतःसम्भवी य औचित्येन बहिरपि सम्भाव्यमानसद्भावो न केवलं भणितिवशेनैवाभिनिष्पन्न शरीरः । यथोदाहृतम्—'एवंवादिनि' इत्यादि ।

कविनिबद्ध वक्तृप्रौढ़ोक्ति का उदाहरण जैसा कि पहले लिख चुके हैं शिखरिणि इत्यादि [श्लोक] है ।

उसमें जो चमत्कारजनक व्यङ्ग्य अर्थ है उसकी प्रतीति कविनिबद्ध साभिलाष तरुण रूप वक्ता की विशेषता से ही होती है । अन्यथा उसी बात को केवल कवि के शब्द में अधर के सामान बिम्बफल को तोता काट.रहा है इस रूप में कह दिया जाय तो उसमें कोई भी चमत्कार नहीं आता है । इसीलिए सहृदय पुरुष कवि-प्रौढ़ोक्तिसिद्ध से कविनिबद्धवक्तृ प्रौढ़ोक्ति सिद्ध को अधिक चमत्कार-जनक मानते हैं और उसकी गणना कविप्रौढ़ोक्तिसिद्ध से अलग करते हैं । कवि में स्वतः रागाद्याविष्टता नहीं होती परन्तु कविनिबद्ध में रागाद्याविष्टता होती है । इसी से उसका वचन अधिक चमत्कारकजनक होता है ।

आदरपूर्वक [आगे बढ़ कर] सहारा देते हुए यौवन के सहारे उठने वाले तुम्हारे स्तन [उठ कर] कामदेव को [स्वागत में] अभ्युत्थान सा प्रदान कर रहे हैं ।

[कवि और कवि निबद्ध की कल्पना के लोक से] बाहर भी उचित रूप से जिनके अस्तित्व की सम्भावना हो, केवल [कवि या कविनिबद्ध की] उक्ति मात्र से ही सिद्ध न होता हो [उस अर्थ को] स्वतःसम्भवी [कहते] हैं । जैसे [१८१ पृष्ठ पर] 'एवंवादिनि देवर्षौ' इत्यादि उदाहरण दे चुके हैं ।

---

१ उदाहृतमेव यह पाठ नि० दी० में नहीं है । २ इत्यादौ नि० । ३दीधिति ने यथा वा और उसके आगे उद्धृत उदाहरण नहीं दिया है ।

यथा वा—

सिहिपिञ्छकण्णपूरा जाश्रा वाहस्स गव्विरी भमइ ।
मुत्ताफलरइअपसाहणाणं मज्झे सवत्तीणम् ॥

[*शिखिपिच्छकर्णपूरा जाया व्याधस्य गर्विणी भ्रमति ।*
मुक्ताफलरचितप्रसाधनानां मध्ये सपत्नीनाम् ॥ इतिच्छाया ॥२४॥

अर्थशक्तेरलङ्कारो यत्राप्यन्यः प्रतीयते ।
अनुस्वानोपमव्यङ्ग्यः स प्रकारोऽपरो ध्वनेः ॥ २५ ॥

वाच्यालङ्कारव्यतिरिक्तो यत्रान्योऽलङ्कारोऽर्थसामर्थ्यात् प्रतीयमानोऽवभासते सोऽर्थशक्त्युद्भवो नामानुस्वानरूपव्यङ्ग्योऽन्यो ध्वनिः ॥२५॥

अथवा जैसे—

[केवल] मोर पंख का कर्णपूर पहिने हुए व्याध की [नवीन] पत्नी मुक्ताफलों के आभूषणों से अलंकृत सपत्नियों के बीच अभिमान से फूली हुई फिरती है ।

यहां श्लोकोक्त वस्तु केवल कविकल्पनासिद्ध नहीं है, अपितु वास्तव में लोक में भी उसका अस्तित्व सम्भव है, अतएव वह स्वतःसम्भवी है । गर्व का कारण यह है कि जब सपत्नियों के दिन थे तब तो व्याध हाथी आदि मार कर लाता था जिससे मुक्ताभूषण बनते थे । परन्तु मेरे पास से तो निकलने का अवकाश ही नहीं मिलता है । यह सौभाग्यातिशय व्यङ्ग्य है । इस प्रकार स्वतःसम्भवी के 'एवंवादिनि०' तथा शिखिपिच्छ० दो, कविनिबद्धवक्तृप्रौढ़ोक्ति सिद्ध के 'शिखरिणी०' और 'सादर०' दो तथा कवि प्रौढ़ोक्ति सिद्ध का एक 'सज्जयति०' ये कुल पाँच उदाहरण दिए । इन सब में वस्तु से वस्तु व्यङ्ग्य है आगे अलङ्कार से अलङ्कार व्यङ्ग्य का निरूपण करते हैं ॥२४॥

जहां अर्थ शक्ति से [वाच्यालङ्कार से भिन्न] दूसरा अलङ्कार प्रतीयमान होता है वह ध्वनि [काव्य] का दूसरा संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य [नामक] भेद है ।

जहां वाच्य अलङ्कार से भिन्न दूसरा अलङ्कार अर्थसामर्थ्य से व्यङ्ग्यरूप से प्रतीत होता है वह संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य रूप अर्थशक्त्युद्भव ध्वनि [का अलङ्कार से अलङ्कार व्यङ्ग्य रूप दूसरा भेद] अन्य है ॥२५॥

[शब्द शक्ति से तो श्लेषादि अलङ्कारान्तर की प्रतीति हो सकती है । परन्तु अर्थशक्ति से अलङ्कारान्तर की प्रतीति नहीं हो सकती है यह मानकर]

तस्य प्रविरलविषयत्वमाशङ्क्येदमुच्यते —

रूपकादिरलङ्कारवर्गो यो वाच्यतां श्रितः ।
स सर्वो गम्यमानत्वं बिभ्रद् भूम्ना प्रदर्शितः ॥ २६ ॥

अन्यत्र वाच्यत्वेन प्रसिद्धो यो रूपकादिरलङ्कारः सोऽन्यत्र प्रतीयमानतया बाहुल्येन प्रदर्शितस्तत्र भवद्भिर्भट्टोद्भटादिभिः । तथा च सन्देहादिषूपमारूपकातिशयोक्तीनां प्रकाशमानत्वं प्रदर्शितमित्यलङ्कारान्तरस्यालङ्कारान्तरे व्यङ्ग्यत्वं न यत्नप्रतिपाद्यम् ॥॥२६

इयत् पुनरुच्यत एव—

अलङ्कारान्तरस्यापि प्रतीतौ यत्र भासते ।
तत्परत्वं न वाच्यस्य नासौ मार्गो ध्वनेर्मतः ॥ २७ ॥

उस [अर्थशक्ति मूल अलङ्कार से अलङ्कार व्यङ्ग्य ध्वनि] का विषय बहुत ही कम होगा ऐसी आशङ्का से [ही आगे] यह कहते हैं कि—

[साधारणतः] वाच्यरूप से प्रतीत होने वाला जो रूपक आदि अलङ्कार समूह है वह [दूसरे स्थलों पर, दूसरे उदाहरणों में] सब गम्यमान रूप में [भट्टोद्भटादि ने] प्रचुर मात्रा में दिखाया है ।

अन्य उदाहरणों में वाच्यरूप से प्रसिद्ध जो रूपकादि अलङ्कार समूह है वह अन्य स्थलों पर प्रतीयमान रूप से भट्टोद्भटादि ने बहुत [विस्तार से] दिखाया है । इसी से सन्देहादि [अलङ्कारों] में रूपक, उपमा, अतिशयोक्ति आदि [अलङ्कारान्तरों] का प्रतीयमानत्व [व्यङ्गयत्व] दिखाया है । इसलिये अलङ्कार का अलङ्कारान्तर में व्यङ्गयत्व [अलकार से अलङ्कार व्यङ्गय] हो सकता है इसका प्रतिपादन प्रयत्न साध्य [कठिन] नहीं है ॥२६॥

[फिर भी केवल] इतनी बात [विशेष रूप से] कहते ही हैं कि—

[एक वाच्य अलङ्कार से दूसरे] अलङ्कारान्तर की प्रतीति होने पर भी जहां वाच्य [अलङ्कार] तत्पर नहीं [प्रतीयमान अलङ्कार को प्रधानतया बोधित नहीं करता] है [हमारे मत में] वह ध्वनि का विषब नहीं माना जाता ।

[दीपक आदि] दूसरे अलङ्कारों में संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य [उपमादि] दूसरे अलङ्कार की प्रतीति होने पर भी जहां वाच्य [दीपक आदि अलङ्कार] की

[1]अलङ्कारान्तरेषु त्वनुरणनरूपालङ्कारप्रतीतौ सत्यामपि यत्र वाच्यस्य व्यङ्ग्यप्रतिपादनौन्मुख्येन चारुत्वं न प्रकाशते नासौ ध्वनेर्मार्गः। तथा च दीपकालङ्कारे[2] उपमाया गम्यमानत्वेऽपि तत्परत्वेन चारुत्वस्याव्यवस्थानान्न ध्वनिव्यपदेशः।

यथा[3] —

चन्दमऊएहि णिसा णलिनी कमलेहि कुसुमगुच्छेहि लआ।
हंसेहि सरअसोहा कव्वकहा सज्जनेहि करइ गरुइ ॥
[*चन्द्रमयूखैर्निशा, नलिनी कमलैः, कुसुमगुच्छैर्लता।*
हंसैश्शारदशोभा, काव्यकथा सज्जनैः क्रियते गुर्वी ॥
इतिच्छाया ॥]

इत्यादिषूपमागर्भत्वेऽपि सति वाच्यालङ्कारमुखेनैव चारुत्वं व्यवतिष्ठते न व्यङ्ग्यालङ्कारतात्पर्येण। तस्मात्तत्र वाच्यालङ्कारमुखेनैव काव्यव्यपदेशो न्याय्यः।

व्यङ्ग्य [उपमादि] प्रतिपादन प्रवणता से ही चारुत्व की प्रतीति नहीं होती हैं वह ध्वनि का मार्ग नहीं है। इसी से दीपकादि अलङ्कार में उपमा के गम्यमान होने पर भी उस उपमा] के प्राधान्य से चारुत्व की व्यवस्था न होने से [वहां उपमालङ्कार में] ध्वनि व्यवहार नहीं होता है।

जैसे—

चन्द्रमा की किरणों से रात्रि, कमल पुष्पों से नलिनी, पुष्प स्तबकों से लता हंसों से शरद् के सौन्दर्य और सज्जनों से काव्यकथा की गौरव-वृद्धि होती है।

इत्यादि [दीपक अलङ्कार के उदाहरण] में [गुरुकरण रूप एकधर्माभिसम्बन्ध सादृश्य के कारण] उपमा के मध्यपतित होने पर भी वाच्य [दीपक] अलङ्कार के कारण ही चारुत्व स्थित होता है व्यङ्ग्य [उपमा] अलङ्कार के तात्पर्य [प्राधान्य] से नहीं। इसलिए यहां वाच्य [दीपक] अलङ्कार के द्वारा ही काव्य व्यवहार करना उचित है।

---

१ अलङ्कारान्तरस्य रूपकादेरलङ्कारप्रतीतौ नि०, दी०। २ दीपकादावलङ्कारे नि० दी०। ३ तथा दी०।

यत्र तु व्यङ्ग्यपरत्वेनैव वाच्यस्य व्यवस्थानं तत्र व्यङ्ग्यमुखेनैव व्यपदेशो युक्तः। यथा—

प्राप्तश्रीरेष कस्मात् पुनरपि मयि तं मन्थखेदं विदध्या-
न्निद्रामप्यस्य पूर्वामनलसमनसो नैव सम्भावयामि।
सेतुं बध्नाति भूयः किमिति च सकलद्वीपनाथानुयात-
स्त्वय्यायाते वितर्कानिति दधत इवाभाति कम्पः पयोधेः॥

और जहां वाच्य [अलङ्कार] की स्थिति व्यङ्ग्य [अलङ्कार] परतया ही हो वहां व्यङ्ग्य [अलङ्कार] के अनुसार ही व्यवहार [नामकरण] करना उचित है। जैसे :—

यहां से आगे व्यङ्ग्य अलङ्कार के अनुसार नामकरण अर्थात् व्यवहार होना चाहिये इसको स्पष्ट करने के लिए अलङ्कारध्वनि के १३ उदाहरणों को देकर विस्तारपूर्वक इस विषय की विवेचना की है। ऐसे अलङ्कारध्वनि के प्रसङ्ग में जहां वाच्य अलङ्कार व्यङ्ग्य अलङ्कार को व्यक्त करता है वहां अलङ्कार से अलङ्कार व्यङ्ग्य होता है। कहीं-कही वाच्य अलङ्कार रहता तो है परन्तु वह व्यञ्जक नहीं होता और कहीं वाच्यालङ्कार होता ही नहीं। इन दोनों स्थितियों में अलङ्कार से भिन्न, वस्तुमात्र अभिव्यञ्जक होता है। अतएव उन उदाहरणों में वस्तु से अलङ्कार व्यङ्ग्य माना जाता है। आगे दिये गये अलङ्कार ध्वनि के तेरह उदाहरणों में दोनों प्रकार के उदाहरण हैं। फिर उस व्यञ्जक सामग्री में स्वतःसम्भवी, कविप्रौढ़ोक्तिसिद्ध और कविनिबद्ध वक्तृप्रौढ़ोक्तिसिद्ध का भी भेद होता है। आलोककार ने उदाहरणों का समन्वय करते समय इन भेदों का समन्वय नहीं किया है। परन्तु फिर भी समन्वय करते समय उनका ध्यान रखना अच्छा ही होगा। इसी आधार पर नवीन आचार्यों ने अर्थशक्त्युद्भव के १२ भेद किये हैं।

इसको [तो पहिले ही] लक्ष्मी प्राप्त है फिर यह मुझे वह पूर्वानुभूत मन्थन [जन्य] दुःख क्यों देगा। [इस समय] आलस्यरहित मन के कारण इसकी पहिले जैसी [दीर्घकालीन] निद्रा की भी कोई संभावना नहीं जान पड़ती। सारे द्वीपों के राजा [तो] इसके अनुचर हो रहे हैं फिर यह दुबारा सेतुबन्धन क्यों करेगा। हे राजन् तुम्हारे [समुद्र तटपर] आने से मानो इस प्रकार के सन्देहों के धारण करने से ही समुद्र कांप रहा है।

यहां समुद्र के स्वाभाविक या चन्द्रोदयादिनिमित्तक जल-चाञ्चल्य रूप

यथा वा ममैव—

लावण्यकान्तिपरिपूरितदिङ्मुखेऽस्मिन्
स्मेरेऽधुना तव मुखे तरलायताक्षि ।
क्षोभं यदेति न मनागपि तेन मन्ये
सुव्यक्तमेव जलराशिरयं पयोधिः ॥

कम्प में, विशाल सेना समेत समुद्र तट पर आये हुए राजा को देखकर मथन या सेतुबन्धादि सन्देह निमित्तक भयोद्भूत वेपथु रूप कम्पतया उत्प्रेक्षा की गई है। इसलिये यहां सन्देह और उत्प्रेक्षा का अङ्गाङ्गिभाव सङ्करालङ्कार [कविप्रौढोक्ति-सिद्ध] वाच्यालङ्कार है उससे राजा की वासुदेवरूपता अर्थात् राजा में वासुदेव का आरोप मूलक रूपक अलङ्कार व्यङ्ग्य है । इस प्रकार यह कविप्रौढोक्तिसिद्ध अलङ्कार से अलङ्कार व्यङ्ग्य का उदाहरण है ।

यहां यह शङ्का हो सकती है कि वासुदेव की अपेक्षा राजा में प्राप्त-श्रीकत्व, अनलसमनस्कत्व, और द्वीपनाथानुगतत्व आदि धर्मों का आधिक्य प्रतीत होने से वासुदेवाभेद रूप रूपकालङ्कार नहीं अपितु व्यतिरेकालङ्कार व्यङ्ग्य हो सकता है। परन्तु यह व्यतिरेक वास्तव नहीं है। वासुदेव का जो स्वरूप वर्तमान मे प्रसिद्ध है उसमें उनके साथ भी प्राप्तश्री आदि यह सब धर्म विद्यमान ही हैं अतः व्यतिरेक के अवास्तव होने से, और अभेदारोप में कोई बाधक न होने से यहां रूपक ध्वनि ही है। व्यतिरेकालङ्कार व्यङ्ग्य नहीं है।

अथवा जैसे मेरा ही :—

[प्रसन्नता के कारण चञ्चलता और विकास से युक्त अतएव] हे चञ्चल और दीर्घनेत्रधारिणी [प्रिये] अब [कोपकालुष्य के बाद प्रसादोन्मुख मुख के] लावण्य [संस्थान-सौष्ठव] और कान्ति से दिग्दिगन्तर को [पूर्णिमा के चन्द्र के समान] परिपूर्ण कर देने वाले तुम्हारे मुख के मन्द मुसकान युक्त होने [स्मेरे] पर भी इस [समुद्र] में तनिक भी चञ्चलता दिखाई नहीं पड़ती है इससे यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि यह पयोधि [निरा] जलराशि [जाड्य पुंज तथा जलसमूह मात्र] है।

यदि यह जड़ नहीं सहृदय होता तो पूर्णचन्द्र सदृश तुम्हारे मुख को देखकर उसमें मदनविकार रूप क्षोभ और समुद्र में यदि चन्द्रमा और तुम्हारे मुख के सौन्दर्यगत तारतम्य को समझने की बुद्धि होती तो उसमें चन्द्र से भी अधिक सुन्दर तुम्हारे मुख को देखकर जल चाञ्चल्य रूप क्षोभ अवश्य होता।

इत्येवंविधे विषयेऽनुरणनरूप[1]रूपकाश्रयेण काव्यचारुत्वव्यवस्थानाद् रूपकध्वनिरिति व्यपदेशो न्याय्यः ।

उपमाध्वनिर्यथा—

वीराण रमइ घुसिणरुणम्मि ण तदा पिआथणुच्छङ्गे ।
दिट्ठी रिउगअकुम्भत्थलम्मि जह बहलसिन्दूरे ॥
[वीराणां रमते घुसृणारुणे न तथा प्रियास्तनोत्सङ्गे ।
दृष्टी रिपुगजकुम्भस्थले यथा बहलसिन्दूरे ॥
[इतिच्छाया]

यथा वा ममैव विषमबाणलीलायामसुरपराक्रमणे[2]कामदेवस्य :—

यह कवि निबद्ध नायक की उक्ति है । जड़राशि में श्लेषालङ्कार वाच्य है उससे नायिका के मुख पर पूर्णिमा चन्द्र का आरोप रूप रूपकालङ्कार व्यङ्ग्य है । इसलिये यह कविनिबद्ध वक्तृप्रौढ़ोक्ति सिद्ध अलङ्कार से अलङ्कारव्यङ्ग्य का उदाहरण है ।

इस प्रकार के उदाहरणों [विषय] में संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य रूपक के आश्रय से ही काव्य का चारुत्व व्यवस्थित होता है इसलिये [यहां] रूपक ध्वनि व्यवहार [नामकरण] ही उचित है ।

उपमाध्वनि [के उदाहरण] जैसे :—

वीरों की दृष्टि प्रियतमा के कुंकुमरञ्जित उरोजों में उतनी नहीं रमती जितनी सिन्दूर से पुते हुए शत्रु के हाथियों के कुम्भस्थलों में [रमती है ।]

यहां पर वीरदृष्टि के प्रिया के स्तनोत्सङ्ग में रमण की अपेक्षा रिपुगजों के कुम्भस्थल रमण करने में अतिशय प्रतिपादन से स्वतःसंभवी व्यतिरेकालङ्कार से गजकुम्भस्थल में [गजकुम्भस्थलानुयोगिक] प्रिया के कुचों के [प्रियाकुचकुड्मलप्रतियोगिक] सादृश्यरूप उपमा व्यङ्ग्य है । उसके कारण उन कुम्भस्थलों के मर्दन में वीरों को अधिक आनन्द आता है । इस प्रकार व्यङ्ग्य उपमामूलक वीरतातिशय के चमत्कारजनक होने से यह स्वतःसंभवी अलङ्कार से अलङ्कारव्यङ्ग्य उपमाध्वनि का उदाहरण है ।

अथवा जैसे विषमबाणलीला [नामक स्वरचित काव्य] में [त्रैलोक्य

---

१. अनुरणनरूपकाश्रयेण नि०, दी० ।   २. पराक्रमे दी० ।

तं ताण सिरिसहोअररअणाहरणम्मि हिअअमक्करसम् ।
बिम्बाहरे पिआणं णिवेसिअं कुसुमबाणेन ॥

तत्तेषां श्रीसहोदररत्नाहरणे हृदयमेकरसम् ।
बिम्बाधरे प्रियाणां निवेशितं कुसुमबाणेन ॥ [इतिच्छाया]

विजयी] कामदेव के असुरविषयक पराक्रम के वर्णन [के प्रसङ्ग] में मेरा ही [बनाया निम्न श्लोक उपमाध्वनि का दूसरा उदाहरण] है ।

लक्ष्मी के सहोदर [अत्यन्त उत्कृष्ट] रत्न के आहरण में तत्पर उन [असुरों] के उस [सदैव युद्धोद्यत] हृदय को कामदेव ने प्रियाओं के अधर-बिम्ब [के रसास्वाद] में तत्पर कर दिया ।

यहां अतिशयोक्ति अलङ्कार वाच्य है और उससे प्रिया का अधरबिम्ब सकलरत्नसाररूप कौस्तुभमणि के समान है यह उपमालङ्कार व्यङ्ग्य है । अतः कवि प्रौढ़ोक्तिसिद्ध अलङ्कार से अलङ्कार व्यङ्ग्य का उदाहरण है ।

काव्यप्रकाशकार ने पर्याय अलङ्कार के उदाहरण रूप में इस श्लोक को उद्धृत किया है । और उसके टीकाकारों ने इसका अर्थ भी अन्य प्रकार से किया है । 'श्रीसहोदररत्नाहरणे' के स्थान पर उन्होंने 'श्रीसहोदररत्नाभरणे' यह छायानुवाद किया है परन्तु मूल प्राकृत श्लोक में 'रअणाहरणम्मि' यही पाठ रखा है । इस प्राकृत पाठ का छायानुवाद तो रत्नाहरणे ही हो सकता है 'रत्नाभरणे' नहीं । इसलिये काव्यप्रकाश के टीकाकारों का छायानुवाद ठीक नहीं है । इसीलिये उसके आधार पर जो व्याख्या उन्होंने की है वह भी ठीक प्रतीत नहीं होती । उन्होंने श्लोक का अर्थ इस प्रकार लगाया है कि श्रीसहोदर रत्न अर्थात् कौस्तुभमणि जिनका आभरण है ऐसे विष्णु में एकरस एकाग्र दैत्यों का मन, मोहिनी रूपधारिणी प्रिया के अधर बिम्ब के पान में कामदेव ने प्रवृत्त कर दिया । यह अर्थ भी ठीक नहीं है । मूल में 'प्रियाणां' यह स्पष्ट ही बहुवचन है उससे एक मोहिनी के साथ उसकी सङ्गति नहीं हो सकती है । वह स्पष्ट ही उनकी अपनी प्रियाओं का बोधक है । मोहिनी का नहीं । फिर विष्णु में असुरों के हृदय की एकाग्रता, एकरसता भी असङ्गत है । टीकाकारों ने यह सब अनर्थ पर्यायोक्त का लक्षण समन्वित करने के लिये किया है । असुरों का हृदय पहिले विष्णु में एक-रस था कामदेव ने उसको प्रियाओं के अधरबिम्ब में लगा दिया ! इस प्रकार 'एकं क्रमेण अनेकगं क्रियते' इस पर्याय अलङ्कार के लक्षण का समन्वय करने का

आक्षेपध्वनिर्यथा—

स वक्तुमखिलान् शक्तो हयग्रीवाश्रितान् गुणान्।
योऽम्बुकुम्भैः परिच्छेदं ज्ञातुं शक्तो महोदधेः॥

अत्रातिशयोक्त्या हयग्रीवगुणानामवर्णनीयताप्रतिपादनरूपस्यासाधारणतद्विशेषप्रकाशनपरस्य आक्षेपस्य[1] प्रकाशनम्।

अर्थान्तरन्यासध्वनिः शब्दशक्तिमूलानुरणनरूपव्यङ्ग्योऽर्थशक्तिमूलानुरणरूपव्यङ्ग्यश्च सम्भवति। तत्राद्यस्योदाहरणम्—

दैव्वाएत्तम्मि फले किं कीरइ एत्तिअं पुणा भणिमो।
कङ्किल्लपल्लवाः पल्लवाणँ अण्णाण ण सरिच्छा॥

दैवायत्ते फले किं क्रियतामेतावत् पुनर्भणामः।
रक्ताशोकपल्लवाः पल्लवानामन्येषां न सदृशाः॥

[इतिच्छाया]

प्रयत्न उन्होंने किया है। परन्तु उनका और स्वयं काव्यप्रकाशकार मम्मटाचार्य का यह प्रयत्न लोचनकार और इस पद्य के निर्माता स्वयं ध्वन्यालोककार–जिन्होंने इसे उपमाध्वनि का उदाहरण माना है—के अभिप्राय के विरुद्ध है। लोचनकार की प्रामाणिक व्याख्या सामने रहते हुए भी इन लोगों ने अपने दृष्टिकोण से इस प्रकार का भिन्न अर्थ किया है।

आक्षेप ध्वनि [का उदाहरण] जैसे—

जो पानी के घड़ों से [नाप कर] समुद्र के परिमाण को जान सकता है वही हयग्रीव के समस्त गुणों के वर्णन करने में समर्थ हो सकता है।

यहां अतिशयोक्ति [वाच्यालङ्कार] से हयग्रीव के समस्त गुणों की अवर्णनीयता प्रतिपादन रूप [गुणों की] असाधारण विशेषता प्रकाशन परक आक्षेप अलङ्कार व्यङ्ग्य है [अतः यह कविप्रौढ़ोक्तिसिद्ध अलङ्कार से अलङ्कार व्यङ्ग्य आक्षेपध्वनि का उदाहरण है।]

अर्थान्तरन्यास ध्वनि शब्दशक्तिमूल संलक्ष्यक्रम व्यङ्ग्य और अर्थशक्तिमूल संलक्ष्यक्रम व्यङ्ग्य [दोनों तरह का] हो सकता है। उनमें से प्रथम [शब्दशक्तिमूल संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य ध्वनि] का उदाहरण [निम्न है]:—

---

१. तद्विशेषप्रतिपादनपरस्य दी०।

पदप्रकाशश्चायं ध्वनिरिति वाक्यस्यार्थान्तरतात्पर्येऽपि सति न विरोधः ।

द्वितीयस्योदाहरणं यथा :—

हिअअट्ठाविअमण्णुं अवरुण्णमुहं हि मं पसाअन्त ।
अवरद्धस्स वि ण हु दे पहुजाणअ रोसिउं सक्कम ॥

फल, भाग्य के आधीन है [इसमें हम] क्या करें । [कुछ भी नहीं कर सकते हैं] फिर भी इतना [तो] कहते हैं कि रक्ताशोक [वृक्ष] के पल्लव अन्य पल्लवों के समान नहीं होते ।

यह ध्वनि पद प्रकाश्य भी होता है इसलिए वाक्य का अर्थान्तर [अप्रस्तुतप्रशंसा] में तात्पर्य होने पर भी [अर्थान्तरन्यास के पदप्रकाश्य होने से] कोई विरोध नहीं होता है ।

यहां अर्थान्तरन्यास और अप्रस्तुत प्रशंसा दो अलङ्कार व्यङ्गय हो सकते हैं । सामान्य और विशेष के समर्थ्य-समर्थक भाव होने से अर्थान्तरन्यास और गम्य गमक भाव होने से अप्रस्तुतप्रशंसा होती है ।

"सामान्यं वा विशेषेण विशेषस्तेन वा यदि ।
समर्थ्यते......सोऽर्थान्तरन्यासः"
"क्वचिद् विशेषः सामान्यात् सामान्यं वा विशेषतः ।
अप्रस्तुतात् प्रस्तुतं चेद् गम्यते पञ्चधा ततः ।
अप्रस्तुप्रशंसा स्यात् "

यह अर्थान्तरन्यास तथा अप्रस्तुतप्रशंसा के लक्षण हैं ।

अप्रस्तुत रक्ताशोक वृक्ष के वृत्तान्त से लोकोत्तर प्रयत्न करने पर भी विफल होने वाले किसी व्यक्ति की प्रशंसा रूप प्रस्तुत की प्रतीति होने से अप्रस्तुतप्रशंसा अलङ्कार होता है । परन्तु फल शब्द से भाग्यवश होने वाली विफलता का समर्थक पहिले ही प्राप्त हो जाता है । इसलिए यहां फल रूप शब्द की शक्ति से सामान्य से विशेष समर्थन रूप अर्थान्तरन्यास अलङ्कार व्यङ्गय होता है और उसकी पद से प्रथम प्रतीति हो जाने से यह अर्थान्तरन्यास ध्वनि का ही उदाहरण है, वाक्यगम्य अप्रस्तुतप्रशंसा ध्वनि का नहीं । ध्वनि के जितने भेद किये गये हैं वे पदप्रकाश्य और वाक्यप्रकाश्य होते हैं यह आगे प्रतिपादन किया जायगा—यहां अर्थान्तरन्यास ध्वनि पदप्रकाश्य और अप्रस्तुतप्रशंसा वाक्यप्रकाश्य है इसलिए उनमें कोई विरोध नहीं है ।

हृदयस्थापितमन्युमपरोषमुखीमपि मां प्रसादयन् ।
अपराद्धस्यापि न खलु ते बहुज्ञ रोषितुं शक्यम् ॥
[इतिच्छाया]

अत्र हि वाच्यविशेषेण सापराधस्यापि बहुज्ञस्य कोपः कर्तुमशक्य इति समर्थकं [1]सामान्यमन्वितमन्यत्तात्पर्येण प्रकाशते ।

व्यतिरेकध्वनिरप्युभयरूपः संभवति । तत्राद्यस्योदाहरणं प्राक् प्रदर्शितमेव । द्वितीयस्योदाहरणं यथा :—

जाएज्ज वणुद्देसे खुज्ज च्चिअ पाअबो [2]गडिअवत्तो ।
मा माणुसम्मि लोए ताएक्करसो दरिद्दो अ ॥

[जायेय वनोद्देशे कुब्ज एव पादपो गलितपत्रः ।
मा मानुषे लोके त्यागैकरसो दरिद्रश्च ॥ [इतिच्छाया]

अत्र हि त्यागैकरस्य दरिद्रस्य जन्मानभिनन्दनं त्रुटितपत्रकुब्जपादपजन्माभिनन्दनं च साक्षाच्छब्दवाच्यम् । तथाविधादपि पादपात्

दूसरे [अर्थशक्तिमूल संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य] का उदाहरण—

हृदय में क्रोध भरा होने पर भी मुख पर उसका [क्रोध का] भाव प्रकट न करने वाली मुझ को भी तुम मना रहे हो इसलिये [प्रकट भाव से अधिक हृदयस्थित भाव को भी जानने वाले] हे बहुज्ञ, तुम्हारे अपराधी होने पर भी तुमसे रूठा नहीं जा सकता ।

यहां वाच्यार्थ विशेष से, बहुज्ञ के सापराध होने पर भी [उस पर] क्रोध करना संभव नहीं है यह समर्थक, अर्थ सामान्य तात्पर्य से सम्बद्ध अन्य विशेष को अभिव्यक्त करता है [अतः अर्थान्तरन्यास ध्वनि है]

व्यतिरेक ध्वनि भी [शब्दशक्त्युत्थ और अर्थशक्त्युत्थ] दोनों प्रकार का हो सकता है । उनमें से प्रथम [शब्दशक्त्युत्थ] का उदाहरण [खं येऽत्युज्ज्वलयन्ति० इत्यादि] पहिले दिखा ही चुके हैं । दूसरे [अर्थशक्त्युत्थ का] उदाहरण जैसे—

[एकान्त निर्जन] वन में पत्र रहित कुबड़ा वृक्ष बन कर भले ही पैदा हो जाऊं परन्तु दान की रुचि युक्त और दरिद्र होकर मनुष्य लोक में पैदा न होऊं ।

---

१. अर्थसामान्यं नि०, दी० ।　२. घड़िअवत्तो = घटितपत्रः नि० दी०

तादृशस्य पुंस उपमानोपमेयत्वप्रतीतिपूर्वकं शोच्यतायामाधिक्यं तात्पर्येण प्रकाशयति ।

उत्प्रेक्षाध्वनिर्यथा—

चन्दनासक्तभुजगनिःश्वासानिलमूर्छितः ।
मूर्छयत्येष पथिकान् मधौ मलयमारुतः ॥

अत्र हि मधौ मलयमारुतस्य पथिकमूर्छाकारित्वं मन्मथोन्माथदायित्वेनैव । तत्तु चन्दनासक्तभुजगनिश्वासानिलमूर्छिततत्वेनोप्रेक्षितमित्युत्प्रेक्षा साक्षादनुक्तापि वाक्यार्थसामर्थ्यादनुरणनरूपा लक्ष्यते । न चैवंविधे विषये इवादिशब्दप्रयोगमन्तरेणासंबद्धतैवेति[1] शक्यते[2] वक्तुम् । गमकत्वादन्यत्रापि तदप्रयोगे तदर्थावगतिदर्शनात् । यथा—

यहां दान की रुचि वाले दरिद्र [पुरुष] के जन्म की निन्दा और पत्र-विहीन कुब्ज वृक्ष के जन्म का अभिनन्दन शब्दों से साक्षात् वाच्य है । और वह [वाच्य] उस प्रकार के वृक्ष से भी उस प्रकार के पुरुष की शोचनीयता के आधिक्य को वाक्य से उपमानोपमेयभाव [सादृश्य] प्रतीतिपूर्वक तात्पर्य रूप से व्यञ्जना द्वारा प्रकाशित करता है । अतएव यहां अर्थशक्तिमूल व्यतिरेक ध्वनि है । [यहां वाच्य कोई अलङ्कार नहीं है अतएव स्वतःसंभवी वस्तु से व्यतिरेकालङ्कार ध्वनि व्यङ्ग्य है ।

उत्प्रेक्षा ध्वनि [का उदाहरण] जैसे —

चन्दन [वृक्ष] में लिपटे हुए सर्पों के निश्वास वायु से [मूर्छित] वृद्धिङ्गत यह मलयानिल वसन्त ऋतु में पथिकों को मूर्च्छित करता है ।

यहां, वसन्त ऋतु में कामोद्दीपन द्वारा पीड़ाकारी होने से ही मलयानिल पथिकों को मूर्छाकारी होता है । परन्तु यह वह [मूर्छाकारित्व] चन्दन में लिपटे हुए सांपों के निश्वास वायु से मूर्छित—वृद्धिङ्गत—होने के कारण उत्प्रेक्षित किया गया है । [विषाक्त वायु के मिल जाने से मलयानिल मूर्छाकारी होता है । अथवा पथिकों में से एक की मूर्छा अन्यों की भी धैर्यच्युति द्वारा उनके मूर्छा का कारण बन सकती है] इस प्रकार उत्प्रेक्षा साक्षात् [उत्प्रेक्षावाचक इवादि शब्दों से] कथित न, होने पर भी वाक्यार्थ सामर्थ्य से संलक्ष्यक्रम व्यङ्ग्य रूप में प्रतीत होती है । [इस लिए यहां कवि प्रौढ़ोक्ति-

---

१. असंबद्धैव नि० दी० । २. शक्यम् नि० दी० ।

ईसा कलुसस्स वि तुह मुहस्स ण एस पुण्णिमाचन्दो ।
अज्ज सरिसत्तणं पाविऊण अङ्ग बिश्र ण माइ ॥

ईर्ष्याकलुषस्यापि तव मुखस्य नन्वेष पूर्णिमाचन्द्रः ।
अद्य सदृशत्वं प्राप्य अङ्ग एव न माति ॥ [इतिच्छाया]

यथा वा :—

त्रासाकुलः परिपतन् परितो निकेतान्,
पुम्भिर्न कैश्चिदपि धन्विभिरन्वबन्धि ।
तस्थौ तथापि न मृगः क्वचिदङ्गनाभि—
राकर्णपूर्णनयनेषुहतेक्षणश्रीः ॥

सिद्ध वस्तु से 'उत्प्रेक्षालङ्कार ध्वनि व्यङ्ग्य है ।] इस प्रकार के उदाहरणों [विषय] में [उत्प्रेक्षावाचक] इव आदि शब्दों के प्रयोग के बिना [उत्प्रेक्षा] आदि का सम्बन्ध नहीं हो सकता यह नहीं कहा जा सकता है । बोद्धा की प्रतिभा के सहयोग से चन्दनासक्त इत्यादि विशेषण के [उत्प्रेक्षा] बोधक होने से अन्य उदाहरणों में भी उन [इवादि] के प्रयोग के बिना भी उस [उत्प्रेक्षा रूप अर्थ] की प्रतीति देखी जाती है । जैसे —

आज यह पूर्णिमा चन्द्र तुम्हारे ईर्ष्या से मलिन मुख की भी समानता पाकर मानों अपने शरीर में समाता ही नहीं है ।

यहां पूर्णिमा चन्द्र का सब दिशाओं को प्रकाश से भर देना जो एक स्वाभाविक कार्य है वह मुखसादृश्यप्राप्तिहेतुकत्वेन उत्प्रेक्षित है । यहां प्राकृत श्लोक में 'विश्र' पाठ है । उसका छायानुवाद एव किया गया है । वैसे उसका इव अनुवाद भी हो सकता है परन्तु यहां इस श्लोक को इसी बात के सिद्ध करने के लिए तो उदाहरण रूप में प्रस्तुत किया गया है कि यहां इव शब्द का प्रयोग न होने पर भी उत्प्रेक्षा है । 'विश्र' के 'एव' अनुवाद करने से अर्थ की सङ्गति अधिक बलवती हो जाती है । फिर भी कोई यही कहे कि हम तो विश्र का अनुवाद इव ही करेंगे इसलिए यह उदाहरण नहीं बन सकता है । उसके सन्तोष के लिए ग्रन्थकार इसी प्रकार का दूसरा उदाहरण भी देते हैं :—

भय से व्याकुल, घरों के चारों ओर घूमते हुए इस हिरण का किन्ही धनुर्धारी पुरुषों ने पीछा नहीं किया फिर भी स्त्रियों के कानों तक फैले हुए नयनों के बाणों से अपनी [अपनी सर्वस्वभूत] नयनश्री के नष्ट कर दिए जाने के कारण ही मानों कहीं ठहर नहीं सका ।

शब्दार्थव्यवहारे च प्रसिद्धिरेव प्रमाणम् ।

श्लेषध्वनिर्यथा—

रम्या इति प्राप्तवतीः पताकाः राग[1] विविक्ता इति वर्धयन्तीः ।
यस्यामसेवन्त नमद्वलीकाः समं वधूभिर्वलभीर्युवानः ॥

अत्र वधूभिः सह वलभीरसेवन्तेति वाक्यार्थप्रतीतेरनन्तरं वध्व इव लभ्य इति श्लेषप्रतीतिरशब्दाप्यर्थसामर्थ्यान्मुख्यत्वेन वर्तते[2] ।

शब्द और अर्थ के व्यवहार में [सहृदयानुभव रूप] प्रसिद्धि ही [अर्थप्रतीति में] प्रमाण है ।

यहां भी इव शब्द के अभाव में हेतूत्प्रेक्षा प्रतीत होती है । इसलिए इवादि शब्द के अभाव में असंबद्धार्थकता नहीं कही जा सकती । यहां फिर यह शङ्का की जा सकती है कि 'चन्दनासक्त०' इत्यादि श्लोक में इव शब्द के अभाव में उत्प्रेक्षा की असंबद्धार्थकता की जो शङ्का हमने की थी उसका खण्डन करने के लिए आपने यह उदाहरण दिया । परन्तु यह उदाहरण भी तो उसी प्रकार का है इसलिए यहां असंबद्धार्थकता नहीं है इसमें ही क्या विनिगमक होगा । इस शङ्का के समाधान के लिए ग्रन्थकार ने 'शब्दार्थव्यवहारे च प्रसिद्धिरेव प्रमाणम्' यह पंक्ति लिखी है । इसका अभिप्राय यह है यहां इवादि के अभाव में भी सहृदय लोग उत्प्रेक्षा का अनुभव करते हैं । अतएव शब्दार्थ-व्यवहार में प्रसिद्धि अर्थात् सहृदयों का अनुभव ही प्रमाण है । उस अनुभव से वहां इवादि के अभाव में भी प्रतीति होने से असंबद्धार्थकता नहीं हो सकती ।

श्लेषध्वनि [का उदाहरण] जैसे—

जिस [नगरी] में नवयुवकगण अपनी सुन्दरता के लिए प्रसिद्ध [अमुक सुन्दर है इस प्रकार की प्रसिद्धि को प्राप्त] एकान्त अथवा शुद्ध उज्ज्वल [वेष-भूषादि] होने से अनुराग को बढ़ाने वाली, त्रिवलीयुक्त [अपनी] वधुओं के साथ, रमणीयता के कारण पताकाओं से अलंकृत, एकान्त होने से कामोद्दीपक और झुके हुए छज्जों से युक्त अपने कूटागारों [गुप्त निजी कमरों] का सेवन करते थे ।

यहां वधुओं के साथ [वलभियों] कूटागारों का सेवन करते थे इस

---

१. कामम् नि० । २. विवर्तते नि० दी० ।

यथासंख्यध्वनिर्यथा —

अंकुरितः पल्लवितः कोरकितः पुष्पितश्च सहकारः।
अंकुरितः पल्लवितः कोरकितः पुष्पितश्च हृदि मदनः॥

अत्र हि यथोद्देशमनूद्देशे यच्चारुत्वमनुरणनरूपं मदनविशेषणभूताकुंरितादिशब्दगतं तन्मदनसहकारयोस्तुल्ययोगितासमुच्चयलक्षणाद् वाच्यादतिरिच्यमानमालक्ष्यते।

एवमन्येऽप्यलङ्कारा यथायोगं योजनीयाः।

एवमलङ्कारध्वनिमार्गं व्युत्पाद्य तस्य प्रयोजनवत्तां स्थापयितुमिदमुच्यते :—

वाक्यार्थ प्रतीति के बाद वधुओं के समान कूटागार इस श्लेष की प्रतीति भी अर्थसामर्थ्य से मुख्य रूप में होती है। [अतः यहां स्वतःसंभवी वस्तु से अलङ्कार व्यङ्ग्य रूप श्लेष ध्वनि है।]

यथासंख्य [अलङ्कार] ध्वनि [का उदाहरण] जैसे :—

आम के वृक्ष में जैसे पहिले [पत्तों के] अंकुर निकले फिर वह पल्लव बन गए फिर बौर की कली आई और वह खिल गई इसी क्रम से [उसी के साथ साथ] हृदय में कामदेव अंकुरित, पल्लवित, मुकुलित और विकसित हुआ।

यहां [यथा उद्देश] प्रथम वाक्यपठित क्रम के अनुसार अंकुरित आदि शब्दों का उसी क्रम से [अनूद्देश] दुबारा कहने से मदन विशेषण रूप अंकुरितादि शब्दों में जो संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य चारुत्व प्रतीत होता है वह कामदेव और आम्र वृक्ष के तुल्ययोगिता या समुच्चय लक्षण वाच्य चारुत्व से उत्कृष्ट दिखाई देता है। [अतएव यहां स्वतःसंभवी अलङ्कार से अलङ्कार व्यङ्ग्य यथासंख्य अलङ्कार ध्वनि स्पष्ट है।]

इस प्रकार अन्य [ध्वनि रूप] अलङ्कार भी यथोचित रूप से [स्वयं] समझ लेने चाहिएं।

इस प्रकार अलङ्कार ध्वनि के मार्ग का [विस्तारपूर्वक] प्रतिपादन कर के [अब] उस [व्युत्पादन] की सार्थकता सिद्ध करने के लिए यह कहते हैं —

[कटक-कुण्डलस्थानीय] जिन अलङ्कारों की वाच्यावस्था में शरीर-

शरीरीकरणं येषां वाच्यत्वे न व्यवस्थितम् ।
तेऽलङ्काराः परां छायां यान्ति ध्वन्यङ्गतां गताः ॥२८॥

ध्वन्यङ्गता चोभाभ्यां प्रकाराभ्यां, व्यञ्जकत्वेन व्यङ्ग्यत्वेन च । तत्रेह प्रकरणाद् व्यङ्ग्यत्वेनेत्यवगन्तव्यम् । व्यङ्ग्यत्वेऽप्यलङ्काराणां प्राधान्यविवक्षायामेव सत्यां ध्वनावन्तःपातः । इतरथा तु गुणीभूतव्यङ्ग्यत्वं प्रतिपादयिष्यते ।

अङ्गित्वेन व्यङ्ग्यतायामपि अलङ्काराणां द्वयी गतिः । कदाचिद् वस्तुमात्रेण व्यज्यन्ते कदाचिदलङ्कारेण । तत्र :—

व्यज्यन्ते वस्तुमात्रेण यदालंकृतयस्तदा ।
ध्रुवं ध्वन्यङ्गता तासां,

रूपता प्राप्ति [भी] निश्चित नहीं है व्यङ्ग्यरूपता को प्राप्त कर वह अलङ्कार [न केवल साधारण शरीर को अपितु] परं चारुत्व को प्राप्त हो जाते हैं ।

[अथवा 'वाच्यत्वेन' को एक पद मान कर दूसरा अर्थ] वाच्य रूप से जिन अलङ्कारों का [अशरीरभूत कटक-कुण्डलस्थानीय अलङ्कारों का शरीरतापादन रूप [शरीरीकरण सुकवियों के लिए अयत्न संपाद्य होने से] सुनिश्चित है । वह अलङ्कार व्यङ्ग्यरूपता को प्राप्त कर अत्यन्त [काव्य] सौन्दर्य को प्राप्त हो जाते हैं ।

[अलङ्कारों की] ध्वन्यङ्गता व्यञ्जक रूप और व्यङ्ग्य रूप दोनों प्रकार से हो सकती है । उनमें से, यहां प्रकरणवश व्यङ्ग्यतया ही [ध्वन्यङ्गता] समझनी चाहिए । अलङ्कारों के व्यङ्ग्य होने पर भी [व्यङ्ग्य की] प्राधान्य विवक्षा होने पर ही ध्वनि में अन्तर्भाव हो सकता है नहीं तो [व्यङ्ग्य होने पर अप्रधान होने की दशा में उस व्यङ्ग्य का] गुणीभूत व्यङ्ग्यत्व ही प्रतिपादन [आगे] किया जायगा ।

अलङ्कारों के प्रधान रूप से व्यङ्ग्य होने में भी दो प्रकार हैं । कभी वस्तु मात्र से व्यक्त होते हैं और कभी अलङ्कार से । उनमें से —

जब अलङ्कार वस्तुमात्र से व्यङ्ग्य होते हैं तब उनकी ध्वन्यङ्गता [प्राधान्य] निश्चित है ।

अत्र हेतु :—

काव्यवृत्तेस्तदाश्रयात्[1] ॥२६॥

यस्मात् तत्र तथाविधव्यङ्ग्यालङ्कारपरत्वेन काव्यं प्रवृत्तम् । अन्यथा तु तद्वाक्यमात्रमेव स्यात् ।

तासामेवालंकृतीनाम्—

अलङ्कारान्तरव्यङ्ग्यभावे,

पुनः—

ध्वन्यङ्गता भवेत् ।

चारुत्वोत्कर्षतो व्यङ्ग्यप्राधान्यं यदि लक्ष्यते ॥३०॥

उक्तं ह्येतत्, चारुत्वोत्कर्षनिबन्धना वाच्यव्यङ्ग्ययोः प्राधान्यविवक्षा इति । वस्तुमात्रव्यङ्ग्यत्वे चालङ्काराणामनन्तरोपदर्शितेभ्य एवोदाहरणेभ्यो विषय उन्नेयः । तदेवमर्थमात्रेणालङ्कारविशेषरूपेण वार्थेन, अर्थान्तरस्यालङ्कारस्य वा प्रकाशने चारुत्वोत्कर्षनिबन्धने सति प्राधान्येऽर्थशक्त्युद्भवानुरणनरूपव्यङ्ग्यो ध्वनिरवगन्तव्यः ।

इसका कारण [यह है कि]—

[वहां] काव्य का व्यापार ही उस [अलङ्कार] के आश्रित है ।

क्योंकि वहां उस प्रकार के व्यङ्ग्यालङ्कार के बोधन के लिये ही काव्य प्रवृत्त हुआ है । अन्यथा तो वह [वस्तुमात्रप्रतिपादक चमत्कारशून्य] केवल वाक्यमात्र रह जायगा । [काव्य ही नहीं रहेगा ।]

उन्हीं अलङ्कारों की—

दूसरे अलङ्कारों से व्यङ्ग्य होने पर,

फिर—

[व्यङ्ग्य अलङ्कार] ध्वनिरूपता [ध्वन्यङ्गता] होती है ।

यदि चारुत्व के उत्कर्ष से व्यङ्ग्य का प्राधान्य प्रतीत होता है तो ।

यह कह चुके हैं कि वाच्य और व्यङ्ग्य के प्राधान्य की विवक्षा [उनके] चारुत्व के उत्कर्ष के कारण ही होती है । वस्तुमात्र से व्यङ्ग्य अलङ्कारों [उदाहरण अलग नहीं दिखाए हैं इसलिए उन] का विषय पूर्व प्रदर्शित उदाहरणों

---

१. काव्यवृत्तिस्तदाश्रया बालप्रिया सं० ।

एवं ध्वनेः प्रभेदान् प्रतिपाद्य तदाभासविवेकं कर्तुमुच्यते—

यत्र प्रतीयमानोऽर्थः प्रम्लिष्टत्वेन भासते ।
वाच्यस्याङ्गतया वापि नास्यासौ गोचरो ध्वनेः ॥३१॥

द्विविधोऽपि प्रतीयमानः स्फुटोऽस्फुटश्च । तत्र य एव स्फुटः शब्दशक्त्यार्थशक्त्या वा प्रकाशते स एव ध्वनेर्मार्गो नेतरः, स्फुटोऽपि योऽभिधेयस्याङ्गत्वेन प्रतीयमानोऽवभासते सोऽस्यानुरणनरूपव्यङ्ग्यस्य ध्वनेरगोचरः । यथा—

में से ही समझ लेना चाहिए। [हमने 'आलोक दीपिका' व्याख्या में यथास्थान वस्तुव्यङ्ग्य अलङ्कारों को प्रदर्शित कर दिया है।] इस प्रकार वस्तु मात्र से अथवा अलङ्कारविशेष रूप अर्थ से दूसरे वस्तुमात्र अथवा अलङ्कार के प्रकाशन में चारुत्वोत्कर्ष के कारण प्राधान्य होने पर अर्थशक्त्युद्भव रूप संलक्ष्यक्रम व्यङ्ग्य ध्वनि समझना चाहिए ।

यहां यह स्पष्ट कर दिया है कि वस्तु और अलङ्कार दोनों व्यङ्ग्य और दोनों व्यञ्जक हो सकते हैं। इसलिए १. वस्तु से वस्तु व्यङ्ग्य, २. वस्तु से अलङ्कार व्यङ्ग्य, ३. अलङ्कार से वस्तु व्यङ्ग्य और ४. अलङ्कार से अलङ्कार व्यङ्ग्य ये चार भेद हो जाते हैं। पहिले स्वतःसम्भवी, कविप्रौढ़ोक्तिसिद्ध और कविनिबद्धप्रौढ़ोक्तिसिद्ध ये तीन भेद अर्थशक्त्युद्भव ध्वनि के किये थे। उन तीनों में से प्रत्येक भेद के १. वस्तु से वस्तु, २ वस्तु से अलङ्कार, ३. अलङ्कार से वस्तु ४. अलङ्कार से अलङ्कार व्यङ्ग्य ये चार भेद होकर [३×४=१२] कुल बारह भेद अर्थशक्त्युद्भव ध्वनि के हो जाते हैं। इसके अतिरिक्त शब्दशक्त्युत्थ के वस्तु तथा अलङ्कार रूप दो भेद, उभयशक्त्युत्थ का एक, और असंलक्ष्यक्रम व्यङ्ग्य एक, इस प्रकार (१२+२+१+१=१६) कुल सोलह भेद विवक्षितान्यपरवाच्य ध्वनि के हो जाते हैं। और दो भेद अविवक्षितवाच्य ध्वनि के अर्थान्तर संक्रमित वाच्य और अत्यन्त तिरस्कृत वाच्य किये थे। उनको मिलाकर ध्वनि के कुल १६+२=१८ अठारह भेद यहां तक हुए।

इस प्रकार ध्वनि के प्रभेदों का प्रतिपादन करके उस [ध्वनि] के आभास [ध्वन्याभास गुणीभूत व्यङ्ग्य] को समझाने [पृथग् ज्ञान, भेदज्ञान कराने] के लिए कहते हैं।

जहां प्रतीयमान अर्थ अस्फुट [प्रम्लिष्ट] रूप से प्रतीत होता है अथवा वाच्य का अङ्ग बन जाता है वह इस ध्वनि का विषय नहीं होता।

कमलाअरा ण मलिआ हंसा उड्डाविआ ण अ पिउच्छा ।
केण वि गामतड़ाए अब्भं उत्ताणअं फलिहम् ॥
[*कमलाकरा न मलिना हंसा उड्डायिता न च पितृष्वसः ।*
केनापि ग्रामतड़ागे, अभ्रमुत्तानितं क्षिप्तम् ॥
[*इतिच्छाया*]

अत्र हि प्रतीयमानस्य मुग्धवध्वा जलधरप्रतिबिम्बदर्शनस्य वाच्याङ्गत्वमेव ।

एवंविधे विषयेऽन्यत्रापि यत्र व्यङ्ग्यापेक्षया वाच्यस्य चारुत्वोत्कर्षप्रतीत्या प्राधान्यमवसीयते, तत्र व्यङ्ग्यस्याङ्गत्वेन प्रतीतेर्ध्वनेरविषयत्वम् । यथा :—

वाणीरकुडङ्गोड्डीणसउणिकोलाहलं सुणन्तीए ।
घरकम्मवावडाए बहुए सीअन्ति अङ्गाइं ॥
वानीरकुञ्जोड्डीनशकुनिकुलकोलाहलं शृण्वन्त्याः ।
गृहकर्मव्यापृताया वध्वाः सीदन्त्यङ्गानि ॥ [*इतिच्छाया*]

[अविवक्षित वाच्य या लक्षणामूल और विवक्षितान्यपर वाच्य या अभिधामूल ध्वनि] दोनों ही प्रकार का व्यङ्ग्य अर्थ स्फुट और अस्फुट [दो प्रकार का] होता है । उनमें से शब्दशक्ति अथवा अर्थशक्ति से जो स्फुट रूप से प्रतीत होता है वही ध्वनि का विषय है । दूसरा [अस्फुट रूप से प्रतीत होने वाला ध्वनि का विषय] नहीं [अपितु ध्वन्याभास] होता है । स्फुट [व्यङ्ग्य] में भी जो वाच्य के अङ्ग रूप में प्रतीत होता है वह इस संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य ध्वनि का विषय नहीं होता । जैसे—

अरी बुआ [पितृष्वसः] जी ! [देखो तो] न तालाब ही मैला हुआ और न हंस ही उड़े । [फिर भी] इस गांव के तालाब में किसी ने बादल को उलटा करके [कितनी सफाई से] रख दिया है ।

यहां भोली भाली [ग्राम] वधू का मेघ प्रतिबिम्ब दर्शन रूप व्यङ्ग्य वाच्य का अङ्ग ही [बना हुआ गुणीभूत व्यङ्ग्य] है ।

इस प्रकार के उदाहरणों में और जगह भी जहां चारुत्वोत्कर्ष के कारण व्यङ्ग्य की अपेक्षा वाच्य का प्राधान्य फलित होता है वहां व्यङ्ग्य की अङ्ग [अप्रधान] रूप में प्रतीति होने के कारण [वह] ध्वनि का विषय नहीं होता । [अपितु वाच्यसिद्ध्यङ्ग नामक गुणीभूत व्यङ्ग्य का भेद होता है ।] जैसे—

एवंविधो हि विषयः प्रायेण गुणीभूतव्यङ्ग्यस्योदाहरणत्वेन निर्देक्ष्यते ।

यत्र तु प्रकरणादिप्रतिपत्त्या निर्धारितविशेषो वाच्योऽर्थः पुनः प्रतीयमानाङ्गत्वेनैवाभासते सोऽस्यैवानुरणनरूपव्यङ्ग्यस्य ध्वनेर्मार्गः । यथा :—

उच्चिणसु पडिअ कुसुमं मा धुण सेहालिअं हालिअसुह्ने ।
अह दे विसमविरावो ससुरेण सुओ बलअसद्दो ॥

उच्चिनु पतितं कुसुमं मा धुनीहि शेफालिकां हालिकस्नुषे ।
एष ते विषमविरावः श्वशुरेण श्रुतो वलयशब्दः ।
[इतिच्छाया]

[अपने प्रणयी से मिलने का स्थान और समय नियत करके भी समय पर नियत स्थान पर न पहुंच सकने वाली नायिका के] वेतस लता-कुञ्ज के उड़ते हुए पक्षियों के कोलाहल को सुन कर घर के काम में लगी हुई बहू के अङ्ग शिथिल हुए जाते हैं ।

काव्य प्रकाशकार तथा साहित्यदर्पणकार ने इस श्लोक को गुणीभूत व्यङ्ग्य के असुन्दर व्यङ्ग्य नामक भेद का उदाहरण दिया है । यहां दत्त संकेत पुरुष लता गृह में पहुंच गया यह व्यङ्ग्य अर्थ है परन्तु उसकी अपेक्षा 'वध्वाः सीदन्त्यङ्गानि' यह वाच्यार्थ ही अधिक चमत्कारजनक प्रतीत होता है । अतएव यह ध्वनि का विषय नहीं, अपितु ध्वन्याभास अर्थात् असुन्दर व्यङ्ग्य रूप गुणीभूत व्यङ्ग्य का उदाहरण है ।

इस प्रकार का विषय प्रायः गुणीभूत व्यङ्ग्य के उदाहरणों में दिखाया जायगा ।

जहां प्रकरण आदि की प्रतीति से विशेष अर्थ का निर्धारण करके वाच्यार्थ फिर प्रतीयमान अर्थ के अङ्ग रूप से भासता है वह इसी संलक्ष्यक्रम व्यङ्ग्य ध्वनि का विषय होता है । जैसे—

हे कृषक [की पुत्र] वधू ! [नीचे] गिरे हुए फूलों को ही बीन, शेफालिका [हरसिंगार की डाल] को मत हिला । जोर से बोलने वाले तेरे कङ्कण की आवाज़ श्वसुर जी ने सुन ली है ।

अत्र ह्यविनयपतिना सह रममाणा सखी बहिःश्रुतवलयकलकलया सख्या प्रतिबोध्यते। एतदपेक्षणीयं वाच्यार्थप्रतिपत्तये। प्रतिपन्ने च वाच्येऽर्थे[1] तस्याविनयप्रच्छादनतात्पर्येणाभिधीयमानत्वात् पुनर्व्यङ्ग्याङ्गत्वमेवेत्यस्मिन्ननुरणरूपव्यङ्ग्यध्वनावन्तर्भावः।

एवं विवक्षितवाच्यस्य ध्वनेस्तदाभासविवेके प्रस्तुते सत्यविवक्षितवाच्यस्यापि तं कर्तुमाह :—

अव्युत्पत्तेरशक्तेर्वा निबन्धो यः स्खलद्गतेः।
शब्दस्य स च न ज्ञेयः सूरिभिर्विषयो ध्वनेः ॥३२॥

स्खलद्गतेरुपचरितस्य शब्दस्य अव्युत्पत्तेरशक्तेर्वा निबन्धो यः स च न ध्वनेर्विषयः।

यहां किसी जार [अविनयपति] के साथ संभोग [और वह भी पुरुषायित रूप] करती हुई सखी को बाहर से उसके वलय की आवाज़ सुन कर सखी सावधान करती है। यह [व्यङ्ग्यार्थ] वाच्यार्थ की प्रतीति के लिए अपेक्षित है। [उस] वाच्यार्थ को प्रतीति हो जाने पर उस [वाच्यार्थ] के [सखी के परपुरुषोपभोग रूप] अविनय को छिपाने के अभिप्राय से ही कथित होने से फिर [अविनय प्रच्छादन रूप] व्यङ्ग्य का अङ्ग ही हो जाता है अतएव यह संलक्ष्यक्रम व्यङ्ग्य ध्वनि में ही अन्तर्भूत होता है।

इस प्रकार विवक्षितवाच्य ध्वनि के ध्वन्याभास [गुणीभूतत्व] विवेक के प्रसङ्ग में [उसके निरूपण के बाद] अविवक्षित वाच्य ध्वनि की भी आभासता [गुणीभूतत्व] विवेचन करने के लिए कहते हैं—

प्रतिभा या शक्ति के अभाव में जो लाक्षणिक या गौण [स्खलद्गति —बाधित विषय—] शब्द का प्रयोग हो उसको भी विद्वानों को ध्वनि का विषय नहीं समझना चाहिए।

स्खलद्गति अर्थात् गौण शब्द का प्रतिभा या शक्ति के अभाव में जो प्रयोग है वह भी ध्वनि का विषय नहीं होता।

---

१. नि० में अर्थे पाठ नहीं है।

यत[१] :—

सर्वेष्वेव प्रभेदेषु स्फुटत्वेनावभासनम् ।
यद् व्यङ्ग्यस्याङ्गिभूतस्य तत्पूर्णं ध्वनिलक्षणम् ॥३३॥

तच्चोदाहृतविषयमेव ।

इति श्री राजानकानन्दवर्धनाचार्यविरचिते ध्वन्यालोके
द्वितीय उद्योतः ।

●

क्योंकि—

[ध्वनि के] सभी भेदों में प्रधानभूत ध्वनि की जो स्फुट रूप से प्रतीति होती है वही ध्वनि का पूर्ण लक्षण है ।

उसके विषय में उदाहरण दे ही चुके हैं ।

—०—

श्री राजानक आनन्दवर्धनाचार्य विरचित ध्वन्यालोक में
द्वितीय उद्योत समाप्त ।

—०—

इति श्रीमदाचार्यविश्वेश्वरसिद्धान्तशिरोमणिविरचितायां
'आलोकदीपिकाख्यायां' हिन्दीव्याख्यायां
द्वितीय उद्योतः समाप्तः ।



---

१. यतश्च नि०-दी० ॥

तृतीय उद्योतः

एवं व्यङ्ग्यमुखेनैव ध्वनेः प्रदर्शिते सप्रभेदे स्वरूपे पुनर्व्यञ्जक-मुखेनैतत्[1] प्रकाश्यते :—

अविवक्षितवाच्यस्य पदवाक्यप्रकाशता ।
तदन्यस्यानुरणनरूपव्यङ्ग्यस्य च ध्वनेः ॥१॥

इस प्रकार [गत उद्योत में] व्यङ्ग्य द्वारा ही [व्यङ्ग्य की दृष्टि से] भेदों सहित ध्वनि का स्वरूप निरूपण करने के बाद व्यञ्जक द्वारा [व्यञ्जक की दृष्टि से यहाँ] फिर [उसके भेदों का] निरूपण करते हैं :—

अविवक्षित वाच्य [लक्षणा मूल ध्वनि] और उससे भिन्न [विवक्षिता-न्यपरवाच्य अभिधामूल ध्वनि के भेद] संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य ध्वनि [अर्थात् ध्वनि के १८ भेदों में से एक, असंलक्ष्यक्रम को छोड़ कर शेष १७ भेद] पद और वाक्य से प्रकाश्य [होने से दो अथवा १७ × २ = ३४ प्रकार का] होता है।

द्वितीय उद्योत में 'आलोकदीपिका' टीका के पृष्ठ २०६ पर अविवक्षितवाच्य अर्थात् लक्षणामूल ध्वनि के १. अर्थान्तरसंक्रमित वाच्य तथा २. अत्यन्त तिरस्कृत वाच्य यह दो भेद और विवक्षितान्यपरवाच्य अर्थात् अभिधा मूल ध्वनि का असंलक्ष्यक्रम व्यङ्ग्य एक + संलक्ष्य क्रम व्यङ्ग्य के शब्दशक्त्युत्थ २. भेद + अर्थ शक्त्युत्थ के १२ भेद + उभय शक्त्युत्थ का १ भेद, इस प्रकार २ अविवक्षित वाच्य + [१ + २ + १२ + १] १६ विवक्षित वाच्य कुल मिलाकर ध्वनि के १८] भेदों की गणना करा चुके हैं। इस तृतीय उद्योत में उन भेदों का और अधिक विचार करेंगे। उसमें से एक उभय शक्त्युत्थ को छोड़कर शेष सत्रह के पदव्यङ्ग्यता और वाक्यव्यङ्ग्यता भेद से दो प्रकार के भेद और होते हैं। अतएव ध्वनि के कुल जो १७ × २ = ३४ भेद बन जाते हैं। उनमें से विवक्षितान्यपरवाच्य के अर्थ-शक्त्युद्भव के जो बारह भेद कहे हैं वह प्रबन्ध व्यङ्ग्य भी होते हैं। उनकी प्रबन्ध व्यङ्ग्यता के बारह भेद और मिला कर ३४ + १२ = ४६ और एक

---

१. तत्, नि०, दी०।

१—अविवक्षितवाच्यस्यात्यन्ततिरस्कृतवाच्ये प्रभेदे[1] पदप्रकाशता यथा महर्षेर्व्यासस्य : —

'सप्तैताः समिधः श्रियः ।'

यथा वा कालिदासस्य —

'कः सन्नद्धे विरहविधुरां त्वय्युपेक्षेत जायाम् ।'

यथा वा[2] —

'किमिव हि मधुराणां मण्डनं नाकृतीनाम् ।'

एतेषूदाहरणेषु 'समिध' इति 'सन्नद्ध' इति 'मधुराणामिति' च पदानि व्यञ्जकत्वाभिप्रायेणैव कृतानि ।

उभयशक्त्युत्थ जो केवल वाक्यमात्र व्यङ्ग्य हो सकता है उसको मिलाकर ४६+१=४७, और असंलक्ष्य क्रम व्यङ्ग्य के १. पदांश, २. वर्ण, ३. रचना, और ४. प्रबन्धगत, ४ भेद और मिला कर ध्वनि के कुल ४७+४=५१ भेद शुद्ध होते हैं। इस प्रकार ध्वनि के इक्यावन भेदों की गणना की गई है। इस उद्योत में उन्हीं पिछले भेदों के प्रकारान्तर से पद और वाक्य व्यङ्ग्यत्व भेद से भेद प्रदर्शित करते हैं। गत उद्योत में जो ध्वनि विभाग किया गया था वह व्यङ्ग्य की दृष्टि से किया गया था यहां पद-वाक्य-व्यङ्ग्यत्व के भेद से जो विभाग इस उद्योत में किया जा रहा है वह व्यञ्जक भेद की दृष्टि से किया गया विभाग है। इस प्रकार गत उद्योत के साथ इस उद्योत के विषय का समन्वय करते हुए ग्रन्थकार ने नवीन उद्योत का प्रारम्भ किया है।

१—अविवक्षित वाच्य [लक्षणामूल ध्वनि] के अत्यन्त तिरस्कृत याच्य [नामक] भेद में पदव्यङ्ग्य [का उदाहरण] जैसे — महर्षि व्यास का — 'सप्तैताः समिधः श्रियः' । यह सात लक्ष्मी की समिधाएं हैं।

अथवा जैसे—कालिदास का :—

'कः सन्नद्धे विरहविधुरां त्वय्युपेक्षेत जायाम्' ।

अथवा :—

'किमिव मधुराणां मण्डनं नाकृतीनाम् ।'

'मधुराकृति के जनन को कौन विभूषण नाहि'

---

१. स्वप्रभेद नि० । २. तस्यैव नि०, दी० में अधिक हैं ।

इन उदाहरणों में 'समिधः' 'सन्नद्धे' और 'मधुराणाम्' पद व्यञ्जकत्व के अभिप्राय से ही [प्रयुक्त] किए गए हैं।

महर्षि व्यास का पूरा श्लोक निम्न प्रकार है—

धृतिः क्षमा दया शौचं कारुण्यं वागनिष्ठुरा।
मित्राणां चानभिद्रोहः सप्तैताः समिधः श्रियः॥

इस श्लोक में आए 'सप्तैताः समिधः श्रियः' इस चरण में 'समिधः' शब्द अत्यन्त तिरस्कृत वाच्य है। 'समिधः' शब्द मुख्यतः यज्ञ की समिधाओं के लिए प्रयुक्त होता है। ये समिधाएं यज्ञीय अग्नि को बढ़ाने वाली—प्रज्वलित करने वाली होती हैं। 'तन्त्वा समिद्भिरङ्गिरो घृतेन वर्धयामसि' इत्यादि मंत्र प्रतिपादित वर्धन साधर्म्य से यहाँ 'समिधः' शब्द लक्ष्मी की अन्यानपेक्ष वृद्धिहेतुता को बोधित करता है। अतएव अत्यन्त तिरस्कृत वाच्य ध्वनि का उदाहरण होता है।

"कः सन्नद्धे विरहविधुरां त्वय्युपेक्षेत जायाम्" यह दूसरा उदाहरण कालिदास के मेघदूत से लिया लिया गया है। पूरा श्लोक इस प्रकार है :—

त्वामारूढं पवनपदवीमुद्गृहीतालकान्ताः,
प्रेक्षिष्यन्ते पथिकवनिताः प्रत्ययादाश्वसन्त्यः।
कः सन्नद्धे विरहविधुरां त्वय्युपेक्षेत जायां,
न स्यादन्योऽप्यहमिव जनो यः पराधीनवृत्तिः॥

अर्थात्, हे मेघ वायु मार्ग से जाते हुए तुमको पथिकों की प्रोषितभर्तृका स्त्रियां वालों को हाथ से थाम कर, अब उनके पति आते होंगे इस विश्वास से धैर्य धारण करती हुई देखेंगी। क्योंकि मेरे समान पराधीन [शापग्रस्त यक्ष] को छोड़कर तुम्हारे [मेघ के] आ जाने पर अपनी विरहपीड़िता पत्नी की कौन उपेक्षा करेगा।

इस श्लोक में 'सन्नद्ध' शब्द अत्यन्त तिरस्कृत वाच्य ध्वनि का उदाहरण है। सन्नद्ध शब्द णह् बन्धने धातु से बना है। उसका मुख्यार्थ कमर कसे हुए, कवचादि धारण किए हुए होता है। यहाँ उसका यह मुख्यार्थ अन्वित नहीं होता है अतएव यहाँ अपने मुख्यार्थ को छोड़ कर वह उद्यतत्व का बोधन करता है इस प्रकार अत्यन्त तिरस्कृत वाच्य है।

तीसरा उदाहरण भी कालिदास के ही शकुन्तला नाटक से लिया गया है। पूरा श्लोक निम्न प्रकार है :

२—तस्यैवार्थान्तरसंक्रमितवाच्ये यथा :—

'रामेण प्रियजीवितेन तु कृतं प्रेम्णः प्रिये नोचितम् ।'

अत्र रामेण इत्येतत् पदं साहसैकरसत्वादिव्यङ्ग्याभिसंक्रमितवाच्यं व्यञ्जकम् ।

सरसिजमनुविद्धं शैवलेनापि रम्यं,
मलिनमपि हिमांशो र्लक्ष्म लक्ष्मीं तनोति ।
इयमधिकमनोज्ञा वल्कलेनापि तन्वी,
किमिव हि मधुराणां मण्डनं नाकृतीनाम् ॥

कमल का फूल सिवार में लिपटा होने पर भी सुन्दर लगता है । चन्द्रमा का काला कलङ्क भी उसकी शोभा बढ़ाता ही है । यह तन्वी शकुन्तला इस वल्कल वस्त्र को धारण किए हुए होने पर भी और अधिक सुन्दरी दीख पड़ती है । मधुर आकृति वालों के लिए कौन-सी वस्तु आभूषण नहीं है ।

इस श्लोक में मधुर रस का वाचक मधुर शब्द अपने उस अर्थ को छोड़कर सुन्दर अर्थ का बोधक होने से अत्यन्त तिरस्कृत वाच्य ध्वनि का उदाहरण है ।

२—उसी [अविवक्षित वाच्य लक्षणा मूल ध्वनि] के अर्थान्तरसंक्रमित वाच्य [नामक भेद के उदाहरण] में जैसे :—

हे प्रिये वैदेहि ! अपने जीवन के लोभी राम ने प्रेम के अनुरूप [कार्य] नहीं किया ।

इस [श्लोक] में 'राम' यह पद साहसैकरसत्व [सत्यसन्धत्व] आदि व्यङ्ग्य [विशिष्ट राम रूप अर्थान्तर में] संक्रमित वाच्य [रूप से अर्थान्तर संक्रमित वाच्य] व्यञ्जक है ।

पूरा श्लोक इस प्रकार है :—

प्रत्याख्यानरुषः कृतं समुचितं, क्रूरेण ते रक्षसा;
सोढं तच्च तथा त्वया कुलजनो, धत्ते यथोच्चैः शिरः ।
व्यर्थं सम्प्रति बिभ्रता धनुरिदं, त्वद्व्यापदः साक्षिणा;
रामेण प्रियजीवतेन तु कृतं, प्रेम्णः प्रिये नोचितम् ॥

क्रूर राक्षस रावण ने तुम्हारे अस्वीकार करने पर उस निषेधजन्य क्रोध के अनुरूप ही तुम्हारे साथ व्यवहार किया । और तुमने भी उसके क्रूर व्यवहार को इस प्रकार वीरतापूर्वक सहन किया कि आज भी कुलवधुएं उसके कारण अपना

यथा वा :—

एमेअ जणो तिस्सा देउ कवोलोपमाइ ससिविम्बम् ।
परमत्थविआरे उण चन्दो चन्दो विअ वराओ ॥

एवमेव जनस्तस्या ददाति कपोलोपमायां शशिबिम्बम् ।
परमार्थविचारे पुनश्चन्द्रश्चन्द्र इव वराकः ॥ [इतिच्छाया]

अत्र द्वितीयश्चन्द्रशब्दोऽर्थान्तरसंकमितवाच्यः ।

३—अविवक्षितवाच्यस्यात्यन्ततिरस्कृतवाच्ये प्रभेदे वाक्य-प्रकाशता यथा—

या निशा सर्वभूतानां, तस्यां जागर्ति संयमी ।
यस्यां जाग्रति भूतानि, सा निशा पश्यतो मुनेः ॥

अनेन वाक्येन निशार्थो न च[1] जागरणार्थः कश्चिद् विवक्षितः । किं तर्हि ? तत्वज्ञानावहितत्वं अतत्वपराङ्मुखत्वं च मुनेः प्रतिपाद्यत इति तिरस्कृतवाच्यस्यास्य व्यञ्जकत्वम् ।

सिर ऊंचा उठाए हैं । इस प्रकार तुम दोनों ने अपने-अपने अनुरूप कार्य किया परन्तु तुम्हारी विपत्ति के साक्षी बन कर भी आज व्यर्थ ही इस धनुष को धारण करने वाले—अपने जीवन के लोभी इस राम ने हे प्रिये वैदेहि अपने प्रेम के योग्य कार्य नहीं किया ।

अथवा जैसे :—

उसके गालों की उपमा में लोग [उपमान रूप में] चन्द्रबिम्ब को यों ही रख देते हैं । वास्तविक विचार करने पर तो विचारा 'चन्द्रमा' चन्द्रमा ही है ।

यहाँ दूसरा चन्द्र शब्द [क्षयित्व, विलासशून्यत्व, मलिनत्वादि विशिष्ट चन्द्र अर्थ में] अर्थान्तर संक्रमित वाच्य है ।

३—अविवक्षित वाच्य [लक्षणा मूल ध्वनि] के अत्यन्त तिरस्कृत वाच्य भेद में वाक्यप्रकाशता [का उदाहरण] जैसे :—

जो अन्य सब प्राणियों की रात्रि है उसमें संयमी [तत्त्वज्ञानी जितेन्द्रिय पुरुष] जागता [रहता] है । और जहां सब प्राणी जागते हैं वह तत्त्वज्ञानी मुनिकी रात्रि है ।

---

१. (न) निशार्थो न (वा) जागरणार्थः दी० । न जागरणार्थः नि० ।

४—तस्यैवार्थान्तरसंक्रमितवाच्यस्य वाक्यप्रकाशता यथा —

विसमइओ[1] काण वि काण वि बालेइ अमिअणिम्माओ[2] ।
काण वि विसामिअमओ काण वि अविसामओ कालो ॥

[*विषमयितः[3] केषामपि प्रयात्यमृतनिर्माणः[4] ।*
केषामपि विषामृतमयः केषामप्यविषामृतः कालः ॥ [*इतिच्छाया*]

अत्र हि वाक्ये 'विषामृत' शब्दाभ्यां दुःखसुखरूपसंक्रमित-वाच्याभ्यां व्यवहार इत्यर्थान्तरसंक्रमितवाच्यस्य व्यञ्जकत्वम् ।

इस वाक्य से निशा [पद] और जागरण [बोधक 'जागर्ति' तथा 'जाग्रति' शब्द का वह] कोई अर्थ [मुख्यार्थ] विवक्षित नहीं है । तो [फिर] क्या [विवक्षित] है । [तत्वज्ञानी] मुनि की तत्वज्ञाननिष्ठता और अतत्व-पराङ्मुखता प्रतिपादित है । इसलिए अत्यन्त तिरस्कृत वाच्य [निशा तथा जागर्ति, जाग्रति आदि अनेक शब्द रूप वाक्य] की ही व्यञ्जकता है ।

४—उसी [अविवक्षित वाच्य ध्वनि अर्थात् लक्षणामूल ध्वनि] के अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य [भेद] की पद प्रकाशता [का उदाहरण] जैसे :—

किन्हीं का समय विषमय [दुःखमय] किन्हीं का अमृत रूप [सुखमय] किन्हीं का विष और अमृतमय [सुख-दुःख मिश्रित] और किन्हीं का न विष और न अमृतमय [सुख-दुःख रहित] व्यतीत होता है ।

इस वाक्य में विष और अमृत शब्द दुःख और सुख रूप अर्थान्तर-संक्रमितवाच्य [रूप में] व्यवहार में आए हैं । इसलिए अर्थान्तरसंक्रमित वाच्य [अनेक पद रूप वाक्य] का ही व्यञ्जकत्व है ।

'या निशा०' और 'केषामपि०' इन दोनों श्लोकों में अनेक पदों के व्यञ्जक होने से वे वाक्यगत व्यञ्जकत्व के उदाहरण हैं । विषमयितः 'विषमयतां प्राप्तः' विषमयित शब्द का अर्थ विषरूपता को प्राप्त है । इस श्लोक में काल की चार अवस्थाएं प्रतिपादित की हैं । एक विष रूप, दूसरी अमृतरूप, तीसरी उभयात्मक अर्थात् विषामृतरूप और चौथी अनुभयात्मक अविषामृतरूप । पापी और अतिविवेकियों के लिए काल विष रूप अर्थात् दुःखमय, किन्हीं पुण्यात्माओं

---

१. विसमइओ च्चिअ नि० । २. अमिअमओ नि० । ३. विषमय इव नि० । ४ अमृतमयः नि० ।

१—विवक्षिताभिधेयस्यानुरणनरूपव्यङ्ग्यस्य शब्दशक्त्युद्भवे प्रभेदे पदप्रकाशता यथा—

प्रातुं धनैरर्थिजनस्य वाञ्छां, दैवेन सृष्टो यदि नाम नास्मि।
पथि प्रसन्नाम्बुधरस्तड़ागः, कूपोऽथवा किन्न जड़ः कृतोऽहम्॥

अत्र हि 'जड़' इति पदं निर्विण्णेन वक्त्रात्मसमानाधिकरणतया प्रयुक्तमनुरणनरूपतया कूपसमानाधिकरणतां स्वशक्त्या प्रतिपद्यते।

अथवा अत्यन्त अविवेकियों के लिए अमृतमय अर्थात् सुख रूप, किन्हीं मिश्र कर्म और विवेकाविवेक रूप मिश्र ज्ञान वालों के लिए उभयात्मक सुख-दुःखरूप और किन्हीं अत्यन्त मूढ़ अथवा योग भूमिका को प्राप्त लोगों के लिए अनुभयात्मक अर्थात् सुख-दुःख से रहित है। प्रत्येक अवस्था के साथ उत्तमता और निकृष्टता की चरम सीमा संबद्ध है। अत्यन्त पापी के लिए पापों के फल रूप दुःख भोग के कारण काल दुःखमय है और अत्यन्त विवेकी भी पूर्ण वैराग्ययुक्त होने से काल को दुःख रूप मानता है। यहां विष और अमृत शब्द दुःख सुखमयता को बोधन करते हैं इसलिए अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य के उदाहरण हैं।

अविवक्षितवाच्य अर्थात् लक्षणामूल ध्वनि के अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य और अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य रूप दोनों भेदों के पदप्रकाशता तथा वाक्यप्रकाशता भेद से कुल चार भेद हुए। उन चारों के उदाहरण देकर अब विवक्षितवाच्य अर्थात् अभिधामूल ध्वनि के संलक्ष्यक्रम भेद के १५ अवान्तर भेदों में से कुछ उदाहरण आगे देते हैं:—

१—विवक्षितान्यपरवाच्य [अर्थात् अभिधामूल ध्वनि] के [अन्तर्गत] संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य के शब्द शक्त्युद्भव [नामक] भेद में पदप्रकाशता [का उदाहरण] जैसे :—

यदि दैव ने मुझे धनों से याचक जनों की इच्छा पूर्ण करने योग्य नहीं बनाया तो स्वच्छ जल से परिपूर्ण रास्ते का तालाब या जड़ [परदुःखानभिज्ञ, किस को किस वस्तु की आवश्यकता है इसके समझने की शक्ति से रहित अतएव जड़ और शीतल अर्थात् निर्वेद-सन्तापादिरहित] कुंआ क्यों न बना दिया।

यहां खिन्न [हुए] वक्ता ने जड़ शब्द का प्रयोग [आत्मसमानाधिरणतया, अर्थात् अपने को बोध करने वाले अहम् पद के साथ जड़ोऽहम् इस रूप में समान विभक्ति, समान वचन में] अपने लिए किया था परन्तु संलक्ष्यक्रम रूप

२—तस्यैव वाक्यप्रकाशता यथा हर्षचरिते सिंहनादवाक्येषु—

'वृत्तेऽस्मिन् महाप्रलये धरणीधारणायाधुना त्वं शेषः ।'

एतद्धि वाक्यमनुरणनरूपमर्थान्तरं शब्दशक्त्या स्फुटमेव प्रकाशयति ।

से [स्वशक्ति—शब्द शक्ति—अभिधामूल व्यञ्जना—] द्वारा वह [कूपसमानाधिकरण] कूप का विशेषण बन जाता है ।

वृत्तिकार का आशय यह है कि वक्ता ने जड़ शब्द को 'जड़ोऽहम्' इस प्रकार अपने को बोध कराने वाले अहम् पद के साथ समानाधिकरण-समान विभक्ति, समान वचन में प्रयुक्त किया था । समानविभक्त्यन्त-समानाधिकरण-पदों का परस्पर अभेद सम्बन्ध से ही अन्वय होता हैक्यों कि "निपातातिरिक्तस्य नामार्थद्वयस्य अभेदातिरिक्तसंबन्धेनान्वयोऽव्युत्पन्नः" इस सिद्धान्त के अनुसार विशेष्य-विशेषण का अभेदान्वय ही होता है । जैसे 'नीलं उत्पलम्' इन दोनों प्रातिपदिकार्थों का अभेद संबन्ध से अन्वय होकर 'नीलाभिन्नं उत्पलं' 'नीलगुणवदभिन्नमुत्पलम्' इस प्रकार का शब्द-बोध होता है । इसी प्रकार यहां जडः पद का अहम् और कूपः के साथ अभेदान्वय होगा । दरिद्रता के कारण याचक जनों की इच्छापूर्ति में असमर्थ अत एव खिन्न हुए वक्ता ने, मुझको जड़ अर्थात् याचकों की आवश्यकता समझने में असमर्थ अतएव इस निर्वेद-सन्ताप से रहित इस अर्थ में जड़ शब्द अपने लिए प्रयुक्त किया था परन्तु शब्द शक्ति [अभिधा-मूल व्यञ्जना] से वह 'जड़' पद कुआं का विशेषण बन जाता है । और जड़ अर्थात् शीतल जल से युक्त, अतएव तृषित पथिकों के हित साधक, परोपकार समर्थ, इस अर्थ को व्यक्त करता है ।

२. उसी [विवक्षितान्यपरवाच्य अर्थात् अभिधामूल ध्वनि के अन्तर्गत संलक्ष्यक्रम व्यङ्ग्य के शब्दशक्त्युत्थ भेद] की वाक्य प्रकाशता [का उदाहरण] जैसे [बाणभट्टकृत] हर्षचरित [के षष्ठ उच्छ्वास] में [सेनापति] सिंहनाद के वाक्यों में :—

इस [अर्थात् तुम्हारे पिता प्रभाकरवर्धन और ज्येष्ठ भ्राता राज्यवर्धन की मृत्युरूप] महाप्रलय के होजाने पर पृथिवी [अर्थात् राज्य भार] को धारण करने के लिए अब तुम शेष [शेषनाग] हो ।

यह वाक्य [इस महाप्रलय के हो जाने पर पृथिवी के धारण करने के लिए अकेले शेषनाग के समान] संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य [शेषनाग रूप] अर्थान्तर को स्वशक्ति से स्पष्ट ही प्रकाशित करता है !

३—अस्यैव कविप्रौढ़ोक्तिमात्रनिष्पन्नशरीरस्यार्थशक्त्युद्भवे प्रभेदे पदप्रकाशता यथा हरिविजये —

चूअंकुरावअंसं [1]छणमप्पसरमहग्घणमणहरसुरामोअम।
असमप्पिअं पि गहिअं कुसुमसरेण महुमासलच्छिमुहम्॥

चूतांकुरावतंसं [2]क्षणप्रसरमहार्घमनोहरसुरामोदम्।
असमर्पितमपि गृहीतं कुसुमशरेण मधुमासलक्ष्मीमुखम्॥
[इतिच्छाया]

अत्र ह्यसमर्पितमपि कुसुमशरेण मधुमासलक्ष्म्या मुखं गृहीतमित्यसमर्पितमपीत्येतदवस्थामिधायि पदमर्थशक्त्या-कुसुमशरस्य बलात्कारं प्रकाशयति।

विवक्षित वाच्य अर्थात् अभिधामूल ध्वनि के १. शब्द शक्त्युत्थ, २. अर्थ-शक्त्युत्थ और ३. उभय शक्त्युत्थ ये तीन भेद किए थे। उनमें शब्दशक्त्युत्थ प्रथम भेद के पदप्रकाशता और वाक्यप्रकाशता के दो उदाहरण ऊपर दिखा दिए हैं। अब दूसरे अर्थशक्त्युद्भव भेद के उदाहरण दिखावेंगे। इस अर्थ-शक्त्युद्भव ध्वनि के भी १. स्वतःसम्भवी, २. कवि प्रौढ़ोक्ति सिद्ध और ३. कविनिबद्ध प्रौढोक्तिसिद्ध ये तीन भेद होते हैं इनमें से कविनिबद्धप्रौढ़ोक्तिसिद्ध को कविप्रौढ़ोक्तिसिद्ध में अन्तर्भूत मानकर उसके अलग उदाहरण नहीं दिए हैं। आगे कविप्रौढ़ोक्तिसिद्ध की पदप्रकाशता और वाक्यप्रकाशता के उदाहरण देते हैं :—

१. इसी [विवक्षितान्यपरवाच्य अर्थात् अभिधामूल ध्वनि] के कवि-प्रौढ़ोक्तिमात्रसिद्ध अर्थशक्त्युद्भव भेद में पदप्रकाशता [का उदाहरण] जैसे [प्रवरसेन कृत प्राकृत रूपक] हरिविजय में :—

आम्रमञ्जरियों से विभूषित, क्षण [अर्थात् वसन्तोत्सव] के प्रसार से अत्यन्त मनोहर, सुर [अर्थात् कामदेव] के चमत्कार से युक्त, [पक्षान्तर में बहुमूल्य सुन्दर सुरा की सुगन्धि से युक्त] वासन्ती लक्ष्मी के मुख [प्रारम्भ] को कामदेव ने बिना दिए हुए भी [बलात्कार ज़बरदस्ती से] पकड़ लिया।

यहां कामदेव ने बिना दिए हुए भी वसन्तलक्ष्मी का मुख पकड़ लिया इसमें बिना दिए हुए भी इस [नवोढ़ा नायिका की] अवस्था

---

१. छणपसरमहं घणमहुरामोअम् नि०। २. महद्घनमधुरामोदम् नि०, दी०।

४—अत्रैव प्रभेदे वाक्यप्रकाशता यथोदाहृतं प्राक्—
"सज्जेहि सुरहिमासो" इत्यादि ।

अत्र सज्जयति सुरभिमासो न तावदर्पयत्यनङ्गाय शरानित्ययं वाक्यार्थः कविप्रौढोक्तिमात्रनिष्पन्नशरीरो [1]मन्मथोन्माथकदनावस्थां वसन्तसमयस्य सूचयति ।

५—स्वतःसंभविशरीरार्थशक्त्युद्भवप्रभेदे पदप्रकाशता यथा—

वाणिअअ हत्थिदन्ता कुत्तो अह्माण बाघकित्ती अ ।
जाव लुलिआलअमुही घरम्मि परिसक्कए सुह्णा ॥
[*वणिजक हस्तिदन्ताः कुतोऽस्माकं व्याघ्रकृत्तयश्च ।*
यावल्लुलितालकमुखी गृहे परिष्वङ्क्ते स्नुषा ॥ [*इतिच्छाया*]

का सूचक शब्द, अर्थशक्ति से कामदेव के [हठ कामुक व्यवहार रूप] बलात्कार को प्रकाशित करता है [इसलिए यह कविप्रौढोक्तिसिद्ध वस्तु से वस्तु व्यङ्ग्य अर्थशक्त्युद्भव ध्वनि का उदाहरण है] ।

२. इसी [विवक्षितान्यपरवाच्य अर्थात् अभिधामूल ध्वनि के अर्थशक्त्युद्भव संलक्ष्यक्रम व्यङ्ग्य] भेद में वाक्यप्रकाशता [का उदाहरण] जैसे "सज्जयति सुरभिमासो" इत्यादि पहिले उदाहरण दे चुके हैं ।

यहां वसन्त मास [चैत्र मास] बाणों को बनाता है परन्तु कामदेव को दे नहीं रहा है यह कविप्रौढोक्तिमात्र सिद्ध वाक्यार्थ वसन्त समय की कामोद्दीपनातिशयजन्य [विरहिजनों की] दुरवस्था को सूचित करता है ।

आगे विवक्षितवाच्य अर्थात् अभिधामूल ध्वनि के अर्थशक्त्युद्भव भेद के अन्तर्गत स्वतःसम्भवी भेद के पदप्रकाशता और वाक्यप्रकाशता के दो उदाहरण देते हैं ।

५. [विवक्षितान्यपरवाच्य अर्थात् अभिधामूल ध्वनि के] स्वतःसंभवी अर्थशक्त्युद्भव भेद में पदप्रकाशता [का उदाहरण] जैसे :—

हे वणिक् जब तक चञ्चल अलकों [लटों] से युक्त मुख वाली पुत्रवधू घर में घूमती है तब तक हमारे यहां हाथीदांत और व्याघ्रचर्म कहां से आए ।

---

१. मन्मथोन्मादकतापादनावस्थानम् नि०. दी० ।

अत्र 'लुलितालकमुखी' इत्येतत् पदं व्याधवध्वाः स्वतःसम्भावित-शरीरार्थशक्त्या सुरतक्रीडासक्तिं [1]सूचयत्तदीयस्य भर्तुः सततसम्भोग-क्षामतां प्रकाशयति ।

६—तस्यैव वाक्यप्रकाशता यथा —

सिहि पिञ्छकण्णऊरा बहुआ वाहस्स गव्विरी भमइ ।
मुक्ताफलरइअपसाहणाणं मज्झे सवत्तीणम् ॥

[*शिखिपिच्छकर्णपूरा भार्या व्याधस्य गर्विणी भ्रमति ।*
मुक्ताफलरचितप्रसाधनानां मध्ये सपत्नीनाम् ॥ [इतिच्छाया]

अनेनापि वाक्येन व्याधवध्वाः शिखिपिच्छकर्णपूराया नवपरिणीतायाः कस्याश्चित् सौभाग्यातिशयः प्रकाश्यते ।

[2]तत्सम्भोगैकरतो मयूरमात्रमारणसमर्थः पतिर्जात इत्यर्थप्रकाशनात् तदन्यासां चिरपरिणीतानां मुक्ताफलरचितप्रसाधनानां दौर्भाग्यातिशयः ख्याप्यते ।

तत्संभोगकाले स एव व्याधः करिवरवधव्यापारसमर्थ आसी-दित्यर्थप्रकाशनात् ।

यहां 'लुलितालकमुखी' यह पद स्वतःसंभवी अर्थशक्ति से व्याध वधू [पुत्रवधू] की सुरत की क्रीडासक्ति को सूचित करता हुआ उसके पति [व्याधपुत्र] की निरन्तर संभोग से उत्पन्न दुर्बलता को प्रकाशित करता है ।

६—इसी [संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य के अर्थशक्त्युद्भव स्वतः संभवी वस्तु से वस्तु व्यङ्ग्य] की वाक्यप्रकाशता [का उदाहरण] जैसे :—

[केवल] मोरपंख का कर्णपूर पहिने हुए व्याध की [नवपरिणीता] पत्नी, मुक्ताफलों के आभूषणों से अलंकृत सपत्नियों के बीच अभिमान से फूली हुई फिरती है ।

इस वाक्य से मोरपंख का कर्णपूर धारण किये हुए नवपरिणीता किसी व्याध पत्नी का सौभाग्यातिशय सूचित होता है । केवल [रातदिन-हर समय] उसके साथ संभोग में रत उसका पति [अब] केवल मयूरमात्र के मारने में समर्थ रह गया है । इस अर्थ के प्रकाशन से । पहिले की ब्याही हुई मोतियों के आभूषणों से सजी अन्य पत्नियों के सम्भोग काल में तो

---

१. सूचयंस्तदीयस्य नि० दी० वा० । २. नि०, दी० में यह अनुच्छेद नहीं है ।

ननु ध्वनिः काव्यविशेष इत्युक्तं तत्कथं तस्य पदप्रकाशता? काव्यविशेषो हि विशिष्टार्थप्रतिपत्तिहेतुः शब्दसन्दर्भविशेषः। तद्भावश्च पदप्रकाशत्वे नोपपद्यते। पदानां स्मारकत्वेनावाचकत्वात्।

उच्यते। स्यादेष दोषो यदि वाचकत्वं प्रयोजकं[1] ध्वनिव्यवहारे स्यात्। न त्वेवम्। तस्य व्यञ्जकत्वेन व्यवस्थानात्।

वही व्याध बड़े-बड़े हाथियों के मारने में समर्थ था इस अर्थ के प्रकाशन से उनका दौर्भाग्यातिशय प्रकाशित होता है।

इस तृतीय उद्योत की प्रथम करिका में अविवक्षित वाच्य, और विवक्षित वाच्य में संलक्ष्यक्रम व्यङ्ग्य नामक भेद के अन्तर्गत, पदप्रकाश और वाक्य-प्रकाश रूप से दो भेद किये थे और तदनुसार अविवाक्षतवाच्य के अर्थान्तर संक्रमितवाच्य तथा अत्यन्त तिरस्कृत वाच्य दोनों भेदों के, और विवक्षित वाच्य के शब्दशक्त्युत्थ भेद के, तथा अर्थशक्त्युत्थ के कविप्रौढोक्तिसिद्ध तथा स्वतः सम्भवी भेदों के उदाहरण दिखा चुके हैं। अब व्यञ्जक मुख से किये गए पदप्रकाश्य और वाक्यप्रकाश्य इन दो भेदों के विषय में पूर्वपक्ष की यह शङ्का है कि ध्वनि की वाक्यप्रकाशता तो ठीक है परन्तु ध्वनि को पदप्रकाश नहीं माना जा सकता क्योंकि ध्वनि तो काव्यविशेष का नाम है। जैसा प्रथम उद्योत की "यत्रार्थः शब्दो वा तमर्थमुपसर्जनीकृतस्वार्थौ। व्यंक्तः काव्यविशेषः स ध्वनिरिति सूरिभिः कथितः ॥१-१३।' में कहा गया है। इसका समाधान करने के लिए पूर्व पक्ष उठाते हैं:—

[प्रश्न 'काव्यविशेषः स ध्वनिः' इत्यादि कारिकांश में] काव्य विशेष को ध्वनि कहा है तो वह [काव्यविशेष रूप ध्वनि] पद प्रकाश्य कैसे हो सकता है। [वाच्य और व्यङ्ग्य रूप] विशिष्ट अर्थ की प्रतीति के हेतु-भूत शब्दसमुदाय को काव्य कहते हैं। [ध्वनि के] पदप्रकाशत्व [पक्ष] में [विशिष्टार्थप्रतिपत्तिहेतु शब्दार्थसन्दर्भत्व रूप] काव्यत्व नहीं बन सकता। क्योंकि पदों के स्मारक होने से उनमें वाचकत्व नहीं रहता। [पद केवल पदार्थस्मृति के हेतु हो सकते हैं। इसलिए यह पदार्थसंसर्ग रूप वाक्यार्थ के वाचक नहीं होते हैं। तब ध्वनि काव्य में पदप्रकाशत्व कैसे रहेगा।]

[उत्तर] कहते हैं। आपका कहा दोष [पदों के अवाचक होने से

---

१ प्रयोजकं न नि०।

किञ्च काव्यानां शरीरिणामिव संस्थानविशेषावच्छिन्नसमुदायसाध्यापि चारुत्वप्रतीतिरन्वयव्यतिरेकाभ्यां भागेषु कल्प्यत इति पदानामपि व्यञ्जकत्वमुखेन व्यवस्थितो ध्वनिव्यवहारो न विरोधी[1]।

अनिष्टस्य श्रुतिर्यद्वदापादयति दुष्टताम्।
श्रुतिदुष्टादिषु व्यक्तं तद्वदिष्टस्मृतिर्गुणम्॥
पदानां स्मारकत्वेऽपि पदमात्रावभासिनः।
तेन ध्वनेः प्रभेदेषु सर्वेष्वेवास्ति रम्यता॥
विच्छित्तिशोभिनैकेन भूषणेनेव कामिनी।
पदद्योत्येन सुकवेर्ध्वनिना भाति भारती॥

इति परिकरश्लोकाः—

ध्वनि में पदप्रकाशता की अनुपपत्ति] तब आता यदि वाचकत्व को ध्वनि-व्यवहार का प्रयोजक माना जाय। परन्तु ऐसा तो है नहीं। ध्वनि व्यवहार तो व्यञ्जकत्व से व्यवस्थित होता है।

तात्पर्य यह है कि यदि वाचकत्व के कारण ध्वनि व्यवहार होता तब तो यह कहा जा सकता था कि पदों के वाचक न होने से ध्वनि, पदप्रकाश नहीं हो सकता। परन्तु ध्वनि व्यवहार का नियामक तो वाचकत्व नहीं व्यञ्जकत्व है। इसलिए पद भले ही स्मारक मात्र रहे, वाचक न हों तो भी वह ध्वनि के व्यञ्जक तो हो ही सकते हैं। इसलिए आपका दोष ठीक नहीं है। यह यथार्थ उत्तर नहीं अपितु प्रतिबन्दी उत्तर है। लोचनकार ने इसे छलोत्तर कहा है। अतः दूसरा यथार्थ उत्तर देते हैं।

इसके अतिरिक्त जैसे शरीरधारियों [नायक-नायिकादि] में सौन्दर्य की प्रतीति अवयवसङ्घटनाविशेष रूप समुदायसाध्य होने पर भी अन्वय-व्यतिरेक से [मुखादि रूप] अवयवों में मानी जाती है। इसी प्रकार व्यञ्जकत्व मुख से पदों में ध्वनि व्यवहार की व्यवस्था मानने में [कोई] विरोध नहीं है।

जैसे [पाणि पल्लवपेलवः इत्यादि उदाहरणों में पेलव आदि शब्दों के असभ्यार्थ के वाचक न होने पर भी व्यञ्जकमात्र होने से] श्रुतिदुष्टादि [दोष स्थलों] में अनिष्ट अर्थ के श्रवणमात्र [अनिष्ट अर्थ की सूचनामात्र]

---

१. विरोधि नि०, बालप्रिया।

यस्त्वलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यो ध्वनिर्वर्णपदादिषु ।
वाक्ये सङ्घटनायां च स प्रबन्धेऽपि दीप्यते ॥ २ ॥

तत्र वर्णानामनर्थकत्वाद् द्योतकत्वमसम्भवि[1] इत्याशंक्येद-मुच्यते ।

से [काव्य में] दुष्टता आजाती है। इसी प्रकार [ध्वनि स्थल में] पदों से इष्टार्थ की स्मृति भी गुण [ध्वनि व्यवहार प्रवर्तक] हो सकती है।

इसलिए पदों के स्मारक होने पर भी एक पदमात्र से प्रतीत होने वाले ध्वनि के सभी प्रभेदों में रम्यता रह सकती है।

[और] विशेष शोभाशाली एक [ही अङ्ग में धारण किए हुए] आभूषण से भी जैसे कामिनी शोभित होती है इसी प्रकार पदमात्र से द्योतित होने वाले ध्वनि से भी सुकवि की भारती शोभित होती है।

यह परिकर [कारिकोक्त अर्थ से अतिरिक्त अर्थ को प्रतिपादन करने वाले] श्लोक हैं।

अविवक्षित वाच्य ध्वनि के दोनों अवान्तर भेदों के और उसके बाद विवक्षितवाच्य ध्वनि के संलक्ष्यक्रम व्यङ्ग्य के अवान्तर भेदों के व्यञ्जक मुख से पदप्रकाश और वाक्यप्रकाश दोनों भेद सोदाहरण प्रदर्शित कर दिए । अब विवक्षित वाच्य ध्वनि के दूसरे भेद असंलक्ष्यक्रम व्यङ्ग्य के १ वर्ण पदादि, २. वाक्य ३. सङ्घटना और ४. प्रबन्धाश्रित चार भेद दिखाते हैं। यहाँ वर्णपदादिषु को एक ही भेद माना है। वैसे प्रकृति प्रत्यय आदि भेद से यह अनेक भेद हो सकते हैं। परन्तु सम्प्रदाय के अनुसार इन पदपदांश की गणना एक ही भेद में की जाती है। अतः असंलक्ष्यक्रम व्यङ्ग्य के चार भेद ही परिगणित होते हैं। इस उद्योत के प्रारम्भ में ध्वनि के ५१ भेदों की गणना कराते हुए हमने इन चारों को दिखा दिया था। मूल कारिकाकार इन चारों भेदों को दिखाते हैं।

और जो असंलक्ष्यक्रम व्यङ्ग्य [नामक विवक्षितान्यपर वाच्य अभिधा-मूल ध्वनि का भेद] यह १. वर्णपदादि, २. वाक्य ३. सङ्घटना और ४. प्रबन्ध में भी प्रकाशित होता है।

उनमें से वर्णों के अनर्थक होने से उनका ध्वनि द्योतकत्व असम्भव है इस आशङ्का से [सम्भव है कोई ऐसी आशङ्का करे इसलिए] यह कहते हैं:—

---

१. न सम्भवति दी०

शषौ सरेफसंयोगौ ढकारश्चापि भूयसा।
विरोधिनः स्युः शृङ्गारे तेन वर्णा रसच्युतः ॥ ३॥
त एव तु निवेश्यन्ते बीभत्सादौ रसे यदा।
तदा तं दीपयन्त्येव ते न वर्णा रसच्युतः ॥ ४ ॥

श्लोकद्वयेनान्वयव्यतिरेकाभ्यां वर्णानां द्योतकत्वं दर्शितं भवति।

पदे चालक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यस्य द्योतनं[1] यथा :—

रेफ के संयोग से युक्त श, ष और ढकार का बहुलप्रयोग रसच्युत [रसापकर्षक] होने से शृङ्गार रस में विरोधी होते हैं। [अथवा लोचन में ते न को दो पद और रसश्च्युतः पाठ मान कर, वे वर्ण रस को प्रवाहित करने वाले नहीं होते, यह व्याख्या भी की है।]

और जब वे ही वर्ण बीभत्सादि रस में प्रयुक्त किये जाते हैं तो उस रस को दीप्त करते ही हैं। वे वर्ण रस हीन नहीं होते। [अथवा तेन को एक पद और रसश्च्युतः पाठ मान कर, इसलिए वह वर्ण रस के क्षरण करने वाले प्रवाहित करने वाले होते हैं, यह व्याख्या भी लोचन की है।]

यहां इन दोनों श्लोकों से पदों की द्योतकता अन्वय व्यतिरेक से प्रदर्शित की है।

इन दो श्लोकों में अन्वय-व्यतिरेक से वर्णों की द्योतकता सिद्ध है। अन्वयव्यतिरेक में साधारणतः पहिले अन्वय और पीछे व्यतिरेक का प्रदर्शन होता है परन्तु यहां प्रथम श्लोक में व्यतिरेक और दूसरे में अन्वय का प्रदर्शन किया गया है। इसलिए वृत्तिकार ने श्लोकाभ्यां न कह कर श्लोकद्वयेन कहा है। इसका अभिप्राय यह हुआ कि यहां अन्वय-व्यतिरेक का यथासख्य अन्वय न करके यथायोग्य अन्वय करना चाहिए। कारिका में 'वर्णपदादिषु' यह निमित्त सप्तमी वर्णादि की सहकारिता द्योतन के लिए दी की है। 'वर्णैरेव रसाभिव्यक्तिः' ऐसा नहीं कहा है। रसाभिव्यक्ति में वर्ण तो केवल सहकारिमात्र है। मुख्य कारण तो विभावादि हैं।

पद में असंलक्ष्यक्रम व्यङ्ग्य के द्योतन का उदाहरण] जैसे :—

[वत्सराज उदयन अपनी पत्नी वासवदत्ता के आग में जल कर मर जाने

१. द्योतकत्वं नि० दी०।

उत्कम्पिनी भयपरिस्खलितांशुकान्ता,
ते लोचने प्रतिदिशं विधुरे क्षिपन्ती ।
क्रूरेण दारुणतया सहसैव दग्धा,
धूमान्धितेन दहनेन न वीक्षिताऽसि ॥

अत्र हि 'ते' इत्येतत् पदं रसमयत्वेन स्फुटमेवावभासते सहृदयानाम् ।

का समाचार सुनकर विलाप कर रहे हैं, उसी प्रसङ्ग में से यह श्लोक है । राजा कह रहे हैं] :—

[आग के डर से] कांपती हुई, भय से विगलितवसना, उन [कातर] नेत्रों को [रक्षा की आशा में] सब दिशाओं में फेंकती हुई, तुझको, अत्यन्त निष्ठुर एवं धूमान्ध अग्नि ने [एक बार] देखा भी नहीं और निर्दयतापूर्वक एकदम जला ही डाला ।

यहां 'ते' यह पद सहृदयों को स्पष्ट ही रसमय प्रतीत होता है ।

यहां 'उत्कम्पिनी' पद से वासवदत्ता के भयानुभावों का उत्प्रेक्षण है । 'ते' पद उसके नेत्रों के स्वसंवेद्य, अनिर्वचनीय, विभ्रमैकायतनत्वादि अनन्त गुणगण की स्मृति का द्योतक होने से रसाभिव्यक्ति का असाधारण निमित्त हो रहा है । और उसका स्मर्यमाण सौन्दर्य इस समय अतिशय शोकावेश में विभावरूपता को प्राप्त हो रहा है । इस प्रकार 'ते' पद के विशेष रूप से रसाभिव्यञ्जक होने से यहां शोक रूप स्थायी भाव वाला करुण रस प्रधानतया इस 'ते' पद से अभिव्यक्त हो रहा है । रस प्रतीति यद्यपि मुख्यतः विभावादि से ही होती है परन्तु वे विभावादि जब किसी विशेष शब्द से असाधारण रूप से प्रतीत होते हैं तब वह पदद्योत्य ध्वनि कहलाता है ।

निर्णयसागरीय संस्करण में, इसके बाद यह श्लोक भी पाया जाता है :—

झगिति कनकचित्रे तत्र दृष्टे कुरङ्गे,
रभसविकसितास्ते दृष्टिपाताः प्रियायाः ।
पवनविलुलितानामुत्पलानां पलाश—
प्रकरमिव किरन्तः स्मर्यमाणा दहन्ति ॥

उस विचित्र कनकमृग को वहां देखते ही वेग से खिल उठने वाले

पदावयवेन द्योतनं यथा :—

व्रीडायोगान्नतवदनया सन्निधाने गुरूणां,
बद्धोत्कम्पं कुचकलशयोर्मन्युमन्तर्निगृह्य ।
तिष्ठेत्युक्तं किमिव न तया यत् समुत्सृज्य वाष्पं,
मय्यासक्तश्चकितहरिणीहारिनेत्रत्रिभागः ॥

इत्यत्र 'त्रिभाग' शब्दः ।

वाक्यरूपश्चालक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यो ध्वनिः शुद्धोऽलङ्कारसङ्कीर्णश्चेति द्विधा मतः । तत्र शुद्धस्योदाहरणं यथा रामाभ्युदये, "कृतककुपितैः" इत्यादि श्लोकः ।

और पवनविकम्पित उत्पलों के पत्र समूह से चारों ओर बिखेरते हुए प्रिया [सीता] के वे दृष्टिपात याद आकर आज जलाते हैं ।

यहां भी 'ते' शब्द अलक्ष्यक्रम व्यङ्ग्य का द्योतक है । लोचनकार ने इस श्लोक पर कोई टिप्पणी नहीं की है । अतः यह मूलपाठ नहीं जान पड़ता इसी से हमने मूल पाठ में उसको स्थान नहीं दिया है ।

पद के अवयव से [असंलक्ष्यक्रम व्यङ्ग्य ध्वनि के] द्योतन [का उदाहरण] जैसे :—

गुरुजनों [सास श्वसुर आदि] के समीप होने के कारण लज्जा से सिर झुकाए, कुचकलशों को विकम्पित करने वाले मन्यु [दुःखावेग] को हृदय में [ही] दबाकर [भी] आंसू टपकाते हुए चकित हरिणी [के दृष्टिपात] के समान हृदयाकर्षक नेत्र त्रिभाग [से जो कटाक्ष] जो मुझ पर फेंका सो क्या उसने 'तिष्ठ' –ठहरो-मत जाओ–, यह नहीं कहा ।

यहां त्रिभाग शब्द । [गुरुजनों की उपेक्षा करके भी जैसे-तैसे अभिलाष, मन्यु, दैन्य, गर्वादि से मन्थर जो मेरी ओर देखा था उसके स्मरण से, प्रवास-विप्रलम्भ का उद्दीपन मुख्यतः त्रिभाग शब्द के सहयोग से होता है । अतः अब यह लम्बे समस्त पद के अवयव रूप त्रिभाग पद से द्योत्य पदावयवद्योत्य असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य का उदाहरण है]

वाक्यरूप असंलक्ष्यक्रम व्यङ्ग्य ध्वनि शुद्ध और अलङ्कारसङ्कीर्ण दो प्रकार का होता है । इनमें शुद्ध का उदाहरण जैसे रामाभ्युदय में "कृतक कुपितैः" इत्यादि श्लोक ।

एतद्धि वाक्यं परस्परानुरागं परिपोषप्राप्तं प्रदर्शयत् सर्वत एव परं रसतत्त्वं प्रकाशयति ।

अलङ्कारान्तरसङ्कीर्णो यथा, "स्मरनवनदीपूरेणोढा" इत्यादि श्लोकः ।

पूर्ण श्लोक इस प्रकार है :—

कृतककुपितैर्वाष्पाम्भोभिः सदैन्यविलोकितैः,
वनमपि गता यस्य प्रीत्या धृतापि तथाऽम्बया ।
नवजलधरश्यामाः पश्यन् दिशो भवतीं विना,
कठिनहृदयो जीवत्येव प्रिये स तव प्रियः ॥ [रामाभ्युदये]

माता [कौशल्या] के उस प्रकार रोकने पर भी जिस [राम] के प्रेम के कारण तुम [सीता] ने वन जाने का कष्ट भी उठाया। हे प्रिये ! तुम्हारा वह कठोरहृदय प्रिय [राम] अभिनव जलधरों से श्यामवर्ण दिङ्मण्डल को बनावटी क्रोधयुक्त, अश्रुपूर्ण और दीन नेत्रों से देखता हुआ जी ही रहा है ।

दीधितिकार ने प्रथम चरण के विशेषणों को 'वनमपि गता' के साथ जोड़ा है । अर्थात् बनावटी क्रोध आदि हेतुओं से वन को भी गई—यह अर्थ किया है ।

यह वाक्य परिपुष्टि को प्राप्त [सीता और राम के] परस्परानुराग को प्रदर्शित करता हुआ सब ओर [सब शब्दों से, सम्पूर्ण वाक्य रूप] से ही रसतत्व को अभिव्यक्त करता है ।

अलङ्कारान्तर से सङ्कीर्ण [मिश्रित वाक्य प्रकाश असंलक्ष्यक्रम व्यङ्ग्य ध्वनि का उदाहरण] जैसे :—'स्मरनवनदीपूरेणोढाः' इत्यादि श्लोक ।

पूरा श्लोक इस प्रकार है :—

स्मरनवनदीपूरेणोढाः पुनर्गुरुसेतुभिः,
यदपि विधृतास्तिष्ठन्त्याराद‌पूर्णमनोरथाः ।
तदपि लिखितप्रख्यैरङ्गैः परस्परमुन्मुखाः,
नयननलिनीनालानीतं पिबन्ति रसं प्रियाः ॥ [अमरुकशतक १०४]

'काम' रूप अभिनव नदी की बाढ़ में बहते हुए [परन्तु गुरु अर्थात् माता पिता, सास श्वसुर आदि गुरुजन और पक्षान्तर में विशाल] गुरुजन रूप विशाल बांधों से रोके गए अपूर्णकाम प्रिय [प्रिया और प्रिय] यद्यपि दूर-दूर [अलग-अलग या पास-पास । 'आराद् दूरसमीपयोः' आरात् पद दूर और समीप

अत्र हि रूपकेण यथोक्तव्यञ्जकलक्षणानुगतेन प्रसाधितो रसः सुतरामभिव्यज्यते ॥४॥

अलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यः सङ्घटनायां[1] भासते ध्वनिरित्युक्तं, तत्र सङ्घटनास्वरूपमेव तावन्निरूप्यते :—

असमासा, समासेन मध्यमेन च भूषिता ।
तथा दीर्घसमासेति त्रिधा सङ्घटनोदिता ॥ ५ ॥

कैश्चित् ॥५॥

दोनों अर्थों का बोधक होता है ।] बैठे रहते हैं परन्तु चित्रलिखित सदृश [निश्चल] अङ्गों से [उपलक्षणे तृतीया] एक दूसरे को निहारते हुए नेत्ररूप कमलनाल द्वारा लाए गए [खींचे जाते हुए] रस का पान करते हैं ।

यहां व्यञ्जक [अलङ्कार] के यथोक्त [दूसरे उद्योत की १८ वीं कारिका में कहे हुए 'विवक्षातत्परत्वे०, नाति निर्वहणैषिता' इत्यादि] लक्षणों से युक्त, [अनिर्व्यूढ़] रूपक [अलङ्कार] से अलंकृत [विभावादि के अलंकृत होने से रस को भी अलंकृत कहा है] रस भली प्रकार अभिव्यक्त होता है ।

[यहां 'स्मरनवनदी' से रूपक प्रारम्भ हुआ और 'नयननलिनी-नालानीतं पिबन्ति रसं' से समाप्त । परन्तु बीच में नायकयुगल पर हंसादि का आरोप न होने से रूपक अनिर्व्यूढ रहा] ॥४॥

असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य ध्वनि सङ्घटना में [भी] अभिव्यक्त होता है यह [इसी उद्योत की दूसरी कारिका में] कह चुके हैं । उसमें सङ्घटना के स्वरूप का ही सबसे पहिले निरूपण करते हैं :—

१. [सर्वथा] समास रहित, २. मध्यम [श्रेणी के, छोटे-छोटे] समासों से अलंकृत, और ३. दीर्घसमासयुक्त [होने से] सङ्घटना तीन प्रकार की मानी है ।

[वामन, उद्भट आदि] कुछ [विद्वानों] ने ।

'रीति-सम्प्रदाय' साहित्य का एक विशेष सम्प्रदाय है । इस सम्प्रदाय के मुख्य प्रतिष्ठापक 'वामन' हैं । उन्होंने अपने 'काव्यालङ्कार सूत्र' में 'रीति' को काव्य का आत्मा माना है । 'रीतिरात्मा काव्यस्य' का० अ० २,६ ।

---

१. सङ्घटनाया नि० ।

यह उनका प्रसिद्ध सूत्र है। 'रीति' का लक्षण 'विशिष्टपदरचना रीतिः'। का० अ० २,७ और विशेष का अर्थ 'विशेषो गुणात्मा।' का०अ० २,८ किया है। अर्थात् विशिष्ट पद रचना का नाम 'रीति' है। पदरचना का वैशिष्ट्य उसकी गुणात्मकता है। इस प्रकार गुणात्मक पदरचना का नाम 'रीति' है। यह 'रीति' का लक्षण हुआ।

'सा त्रिधा, वैदर्भी, गौडीया, पाञ्चाली चेति।' का० अ० २, ९। यह रीति तीन प्रकार की मानी गई है—१. वैदर्भी, २. गौडी और ३. पाञ्चली। 'विदर्भादिषु दृष्टत्वात् तत्समाख्या'। का० अ० २, १० विदर्भादि प्रदेशों के कवियों में विशेष रूप से प्रचलित होने के कारण उनके वैदर्भी आदि देशसंज्ञामूलक नाम रख दिए गए हैं। उनमें से 'समग्रगुणा वैदर्भी' का० अ० २,११। ओजः प्रसादादि समग्र गुणों से युक्त रचना को वैदर्भी रीति कहते हैं। 'ओजः कान्तिमती गौड़ी।' का० अ० २,१२। ओज और कान्ति गुणों से युक्त रीति गौड़ी कही जाती है। इसमें माधुर्य और सौकुमार्य का अभाव रहता है, समासबहुल उग्र पदों का प्रयोग होता है। 'माधुर्यसौकुमार्योपपन्ना पाञ्चाली।' का० अ० २,१३। माधुर्य और सौकुमार्य से युक्त रीति पाञ्चाली कहलाती है। 'सापि समासाभावे शुद्धा वैदर्भी'। जिसमें सर्वथा समास का अभाव हो उसे विशेष रूप से शुद्धा वैदर्भी कहते हैं। इस प्रकार वामन ने रीतियों का विवेचन किया है।

वामन से पूर्व इस 'रीति' शब्द का प्रयोग नहीं मिलता है। दण्डी ने इसी को 'मार्ग' नाम से व्यवहृत किया है परन्तु अधिक प्रचलित न होने से उसका लक्षण नहीं किया है। और दण्डी के पूर्ववर्ती साहित्यशास्त्र के आद्य आचार्य भामह ने तो न 'मार्ग' अथवा 'रीति' शब्द का उल्लेख ही किया है और न कोई लक्षण आदि। इस प्रकार 'रीति-सम्प्रदाय' के आदि प्रतिष्ठापक 'वामन' ही ठहरते हैं। रचना की विशेष पद्धति का नाम 'रीति' है। दण्डी उसको 'मार्ग' नाम से कहते हैं। आधुनिक हिन्दी में उसको 'शैली' कहते हैं। 'आनन्दवर्धनाचार्य' ने उसी को 'सङ्घटना' नाम से निर्दिष्ट किया है। 'वामन' ने तीन रीतियां मानी थीं। आनन्दवर्धनाचार्य ने भी १. 'असमासा' से वैदर्भी, २. 'समासेन मध्यमेन च भूषिता' से पाञ्चाली, और ३. 'दीर्घसमासा' से गौड़ी का निरूपण करते हुए तीन ही सङ्घटनाप्रकार या रीतियां मानी हैं। 'राजशेखर' ने यद्यपि 'कर्पूरमञ्जरी' की नान्दी में 'मागधी रीति' का भी उल्लेख किया है परन्तु वैसे तीन ही रीतियां मानीं हैं। फिर भी चौथी मागधी रीति के निर्देश से उस के माने जाने की प्रवृत्ति परिलक्षित होती है। 'भोजराज' ने उन चार में एक 'अवन्तिका रीति' का नाम और जोड़ दिया और इस प्रकार पांच रीतियां

तां केवलमनूद्येदमुच्यते :—

गुणानाश्रित्य तिष्ठन्ती, माधुर्यादीन्, व्यनक्ति सा ।
रसान्'[1],

मानी हैं। यों हर देश की रीति में कुछ वैलक्षण्य हो सकता है। उस दृष्टि से विभाग करें तो अनन्त विभाग होते जावेंगे। इसलिए अधिकांश आचार्यों ने मुख्य तीन ही रीतियां मानी हैं और तीन ही का निर्देश आनन्दवर्धनाचार्य ने भी किया है।

यद्यपि आनन्दवर्धनाचार्य रीति-सम्प्रदाय के मानने वाले नहीं हैं। अपितु वे 'ध्वनि सम्प्रदाय' के संस्थापक हैं। वह 'रीति' को नहीं अपितु ध्वनि को काव्य की आत्मा मानते हैं। फिर भी उन्होंने रीतियों का विवेचन बड़े विस्तार के साथ किया है। 'रीति' का रस से घनिष्ठ संबन्ध रहता है इस तथ्य का विवेचन आनन्दवर्धन ने ही सब से पहिले किया है। प्रकृत प्रसङ्ग में 'सङ्घटनास्वरूपमेव तावन्निरूप्यते' से संघटना अथवा 'रीति' के विवेचन के आरम्भ करने की प्रतिज्ञा कर, बहुत विस्तारपूर्वक उसकी विवेचना प्रारम्भ करते हैं ॥५॥

उस [पूर्ववर्ती वामन आदि प्रतिपादित रीति अथवा सङ्घटना] का केवल अनुवाद करके यह कहते हैं :—

माधुर्यादि गुणों को आश्रय करके स्थित हुई वह [सङ्घटना] रसों को अभिव्यक्त करती है।

'गुणानाश्रित्य' कारिका के इन शब्दों से सङ्घटना और गुणों का सम्बन्ध प्रतीत होता है। इस सम्बन्ध के विषय में तीन विकल्प हो सकते हैं। वामन ने 'विशिष्टपदरचना रीतिः' और 'विशेषो गुणात्मा' लिखा है। इससे 'विशिष्ट पदरचना' रूप रीति का गुणात्मकत्व अर्थात् गुणों से अभेद 'वामन' को अभिप्रेत प्रतीत होता है। इसलिए पहिला पक्ष, गुण और रीति का 'अभेद' पक्ष बनता है। इस पक्ष में कारिका के 'गुणानाश्रित्य' आदि भाग की व्याख्या इस प्रकार होगी 'गुणान्', आत्मभूतान् माधुर्यादीन् गुणान्, आश्रित्य तिष्ठन्ती सङ्घटना रसादीन् व्यनक्ति। अर्थात् अपने स्वरूपभूत माधुर्यादि गुणों

---

१. नि० सा० संस्करण में 'रसान्' की जगह 'रसः' पाठ है और पूरी कारिका एक साथ छपी है।

[1]सा सङ्घटना रसादीन् व्यनक्ति गुणानाश्रित्य तिष्ठन्तीति । अत्र च विकल्प्यं, गुणानां सङ्घटनायाश्चैक्यं व्यतिरेको वा । व्यतिरेकेऽपि द्वयी गतिः । गुणाश्रया सङ्घटना, सङ्घटनाश्रया वा गुणा इति ।

के आश्रित स्थित सङ्घटना रसों को व्यक्त करती है । इस पक्ष में गुण और सङ्घटना के अभिन्न होने पर भी आश्रितत्व व्यवहार 'इह बने तिलका' आदि के समान गौण है ।

दूसरे पक्ष में गुण और रीति भिन्न-भिन्न मानी गई हैं । इन भिन्नता-वादियों में भी दो विकल्प हो जाते हैं । एक 'सङ्घटनाश्रया गुणाः' अर्थात् सङ्घटना के आश्रित गुण रहते हैं और दूसरा 'गुणाश्रया वा सङ्घटना' सङ्घटना गुणों के आश्रित रहती है । इन दोनों भेदों में से 'सङ्घटनाश्रया गुणाः' यह पक्ष भट्टोद्भट आदि का है । उन्होंने गुणों को सङ्घटना का धर्म माना है । धर्म सदा धर्मी के आश्रित रहता है इसलिए गुण सङ्घटना के आश्रित रहते हैं । अर्थात् गुण आधेय और सङ्घटना आधार रूप है । इस पक्ष में 'गुणानाश्रित्य तिष्ठन्ती' इस कारिका की 'आधेयभूतान् गुणान्, आश्रित्य' अर्थात् आधेय रूप गुणों के आश्रय से सहयोग से सङ्घटना रसादि को व्यक्त करती है—इस प्रकार व्याख्या होगी ।

तीसरा पक्ष 'गुणाश्रया सङ्घटना' अर्थात् 'सङ्घटना गुणों के आश्रित रहती है' यह सिद्धान्त पक्ष है । यही आनन्दवर्धनाचार्य का अभिमत पक्ष है । इसमें 'गुणानाश्रित्य तिष्ठन्ती' अर्थात् आधारभूत गुणों के आश्रित स्थित होने वाली सङ्घटना रसादि को व्यक्त करती है । इस प्रकार यद्यपि अन्तिम पक्ष ही आलोक-कार का अभिमत पक्ष है फिर भी उन्होंने तीनों पक्षों में कारिका की सङ्गति लगाने और तीनों मतों के अनुसार सङ्घटना का रसाभिव्यक्ति के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध दिखाने का यत्न किया है । यही ऊपर की मूल पंक्तियों का सारांश है । उनका शब्दानुवाद इस प्रकार है :—

वह सङ्घटना गुणों के आश्रित होकर रसादि को अभिव्यक्त करती है । यहां [इस प्रकार] विकल्प करने चाहियें । गुणों का और सङ्घटना का ऐक्य [अभेद] है अथवा भेद [व्यतिरेक] । व्यतिरेक [भेद पक्ष] में भी दो मार्ग हैं । गुणाश्रित सङ्घटना [है] अथवा 'सङ्घटनाश्रित गुण' [हैं] ।

---

१. 'सा' नि० तथा दी० में नहीं है ।

तत्रैक्यपक्षे सङ्घटनाश्रयगुणपक्षे च गुणानात्मभूतान्, आधेयभूतान् वाश्रित्य तिष्ठन्ती सङ्घटना रसादीन् व्यनक्तीत्ययमर्थः। यदा तु नानात्वपक्षे[1] गुणाश्रयसङ्घटनापक्षः[2], तदा गुणानाश्रित्य तिष्ठन्ती गुणपरतन्त्रस्वभावा न तु गुणरूपैवेत्यर्थः।

किं पुनरेवं विकल्पनस्य प्रयोजनमिति ?

अभिधीयते। यदि गुणाः सङ्घटना चेत्येकं तत्त्वं, सङ्घटनाश्रया वा गुणाः, तदा सङ्घटनाया इव [3]गुणानामनियतविषयत्वप्रसङ्गः। गुणानां हि माधुर्यप्रसादप्रकर्षः करुणविप्रलम्भशृङ्गारविषय एव। रौद्राद्भुतादिविषयमोजः। माधुर्यप्रसादौ रसभावतदाभासविषयावेव। इति विषयनियमो व्यवस्थितः। सङ्घटनायास्तु स विघटते। तथाहि शृङ्गारेऽपि दीर्घसमासा दृश्यते[4], रौद्रादिष्वसमासा[5] चेति।

इनमें से [गुण और सङ्घटना के] १ 'अभेद पक्ष' में और २ 'सङ्घटनाश्रित गुण पक्ष' [इन दो पक्षों] में आत्मभूत ['अभेद पक्ष' में] अथवा आधेयभूत ['सङ्घटनाश्रित गुण पक्ष' में] गुणों के आश्रय से स्थित होती हुई सङ्घटना रसादि को व्यक्त करती है—यह अर्थ होता है। जब [गुण और सङ्घटना के] 'भेद पक्ष' में 'गुणाश्रित सङ्घटना पक्ष' [सिद्धान्तपक्ष] लें तब गुणों के आश्रित स्थित [अर्थात्] गुणों के अधीन स्वभाव-वाली-गुणस्वरूप ही नहीं—[सङ्घटना रसों को अभिव्यक्त करती है] यह अर्थ होगा।

[प्रश्न] इस प्रकार विकल्प करने का क्या प्रयोजन है ?

[उत्तर] बताते हैं। यदि गुण और सङ्घटना एक तत्त्व हैं [इनका अभेद है यह मानें तो] अथवा सङ्घटना के आश्रित गुण रहते हैं [यह पक्ष मानें] तो सङ्घटना के समान गुणों का भी अनियत विषयत्व हो जायगा। गुणों का [विषय नियत है 'विषयनियमो व्यवस्थितः' इन आगे के शब्दों से अन्वय है] तो विषय नियम निश्चित है। जैसे, करुण और विप्रलम्भ शृङ्गार में ही माधुर्य और प्रसाद का प्रकर्ष [होता है] ओज, रौद्र और अद्भुत विषय में [ही प्रधानतः रहता है] माधुर्य और प्रसाद, रस, भाव और तदाभास विषयक ही होते हैं। [इस प्रकार गुणों का विषय-नियम

---

१. यदा तु नानात्वपक्षो नि० दी०। २. गुणाश्रयः संघटनापक्षश्च नि०। गुणाश्रयसंघटनापक्षश्च दी०। ३. गुणानामप्यनियतविषयत्वप्रसंगः दी०। ४. दृश्यन्ते नि० दी०। ५. असमासाश्चेति नि० दी०।

तत्र शृङ्गारे दीर्घसमासा यथा,—'मन्दारकुसुमरेणुपिञ्जरितालका' इति ।

यथा वा—

अनवरतनयनजललवनिपतनपरिमुषितपत्रलेखं[1] ते ।
करतलनिषण्णमबले वदनमिदं कं न तापयति ॥

इत्यादौ ।

तथा रौद्रादिष्वप्यसमासा दृश्यते[2] । यथा—'यो यः शस्त्रं विभर्ति स्वभुजगुरुमदः' इत्यादौ ।

बना हुआ है । परन्तु] सङ्घटना में वह बिगड़ जाता है । क्योंकि शृङ्गार में भी दीर्घसमासा [रचना –सङ्घटना–] पाई जाती है और रौद्रादि रसों में भी समास रहित [रचना पाई जाती है ।]

उनमें से शृङ्गार में दीर्घसमास वाली [रचना सङ्घटना का उदाहरण] जैसे–'मन्दारकुसुमरेणुपिञ्जरितालका' यह पद । [यह उदाहरण शृङ्गार में दीर्घ-समास वाली रचना का दिया है । परन्तु पूर्ण प्रकरण सामने न होने से यहां शृङ्गार की कोई प्रतीति नहीं होती । इसलिए यह उदाहरण ठीक नहीं है यदि कोई ऐसी आशङ्का करे तो उसके सन्तोष के लिए दूसरा उदाहरण देते हैं ।]

अथवा जैसे—

हे अबले, निरन्तर अश्रु बिन्दुओं के गिरने से मिटी हुई पत्रावली वाला और हथेली पर रखा हुआ [दुःख का अभिव्यञ्जक] तुम्हारा मुख किस को सन्तप्त नहीं करता । इत्यादि में ।

और रौद्रादि में भी समासरहित [रचना सङ्घटना] पाई जाती है । जैसे—'यो यः शस्त्रं विभर्ति स्वभुजगुरुमदः, इत्यादि [पूर्व उदाहृत श्लोक] में [समास रहित सङ्घटना है ।]

यदि गुणों को सङ्घटना से अभिन्न या सङ्घटना पर आश्रित माने तो जैसे असमास और दीर्घसमास रचना की विषय- व्यवस्था नहीं पाई जाती है इसी प्रकार गुणों को भी विषय नियम से रहित मानना होगा । परन्तु गुणों का विषय नियम व्यवस्थित है ।

---

१. पत्रलेखान्तम् नि० दी० । २. दृश्यन्ते दी०।

तस्मान्न सङ्घटनास्वरूपाः, न च सङ्घटनाश्रया गुणाः[1] ।

ननु यदि सङ्घटना गुणानां नाश्रयस्तत् [2]किमालम्बना एते परिकल्प्यन्ताम्[3] ।

उच्यते । प्रतिपादितमेवैषामालम्बनम् ।

'तमर्थमवलम्बन्ते येऽङ्गिनं ते गुणाः स्मृताः ।
अङ्गाश्रितास्त्वलङ्कारा मन्तव्याः कटकादिवत् ॥'

इसलिए गुण न तो सङ्घटनारूप हैं और न तो सङ्घटनाश्रित हैं ।

[प्रश्न] यदि सङ्घटना गुणों का आश्रय नहीं है तो फिर इन [गुणों] को किसके आश्रित मानेंगे ?

[उत्तर] इनका आश्रय [द्वितीय उद्योत की छठी कारिका में] बता ही चुके हैं । [वह कारिका नीचे फिर उद्धृत कर दी है । जैसे]

जो उस प्रधानभूत [रस] का अवलम्बन करते हैं [रस के आश्रय रहते हैं] वह गुण कहलाते हैं । और जो उसके अङ्ग [शब्द तथा अर्थ] के आश्रित रहते हैं वे कटक कुण्डल आदि के समान अलङ्कार कहलाते हैं ।

प्रश्न कर्ता का आशय यह है कि शब्द अर्थ और सङ्घटना यह तीन ही गुणों के आश्रय हो सकते हैं । उनमें से शब्द या अर्थ को गुणों का आश्रय मानने से तो वह शब्दालङ्कार अथवा अर्थालङ्कार रूप ही हो जावेंगे । अर्थात् अलङ्कारों से भिन्न उनका अस्तित्व नहीं रहेगा । गुणों का अलङ्कारों से अलग अस्तित्व बनाने के लिए एक ही प्रकार है कि उनको सङ्घटना रूप अथवा सङ्घटनाश्रित माना जाय । यदि आप उसका भी खण्डन करते हैं तो फिर गुणों का आश्रय और क्या होगा ।

इसके उत्तर का आशय यह है कि गुणों का आश्रय मुख्यतः रस है जैसा कि दूसरे उद्योत की छठी कारिका में कहा जा चुका है । और गौण रूप से उनको शब्द तथा अर्थ का धर्म भी कह सकते हैं । गौण रूप से शब्द तथा अर्थ का धर्म मानने पर भी शब्दालङ्कार और अर्थालङ्कार से उनका अभेद नहीं होगा, क्योंकि अनुप्रासादि अलङ्कार अर्थापेक्षा रहित शब्द धर्म है, अर्थात् अनुप्रासादि में अर्थ विचार की आवश्यकता नहीं होती । और गुण, व्यङ्ग्यार्थावभासक वाच्यसापेक्ष शब्द धर्म है । अर्थात् गुणों की स्थिति के लिए व्यङ्ग्यार्थ के विचार की आवश्यकता होती है ।

---

१. नि० तथा दी० में इस 'गुणाः' पद को तस्मान्न के बाद रखा है । २. तर्हि दी० । ३. परिकल्प्यन्ते नि० ।

अथवा भवन्तु शब्दाश्रया एव गुणाः। न चैषामनुप्रासादितुल्यत्वम्[1]। यस्मादनुप्रासादयो ऽनपेक्षितार्थशब्दधर्मा[2] एव प्रतिपादिताः[3]। गुणास्तु व्यङ्ग्यविशेषावभासिवाच्यप्रतिपादनसमर्थशब्दधर्मा एव[4]। शब्दधर्मत्वं चैषामन्याश्रयत्वेऽपि शरीराश्रयत्वमिव शौर्यादीनाम्।

ननु यदि शब्दाश्रया गुणास्तत् सङ्घटनारूपत्वं तदाश्रयत्वं वा तेषां प्राप्तमेव। न ह्यसङ्घटिताः शब्दा अर्थविशेषप्रतिपाद्यरसाद्याश्रितानां[5] गुणानामवाचकत्वादाश्रया भवन्ति।

नैवम्। वर्णपदव्यङ्ग्यत्वस्य रसादीनां प्रतिपादितत्वात्।

अथवा [उपचार से] गुण शब्दाश्रित ही [कहे जा सकते] हैं। [फिर भी] वह अनुप्रासादि [शब्दालङ्कार] के समान नहीं [समझे जा सकते] हैं। क्योंकि अनुप्रासादि, अर्थ निरपेक्ष शब्दमात्र के धर्म ही बताये गए हैं। और गुण तो [शृङ्गारादि रस रूप] व्यङ्ग्यविशेष के अभिव्यञ्जक, वाच्यार्थ के प्रतिपादन में समर्थ शब्द [अर्थसापेक्ष शब्द] के धर्म कहे गए हैं। इन [गुणों] की शब्दधर्मता [वस्तुतः] अन्य [अर्थात् आत्मा का] का धर्म होते हुए भी शौर्यादि गुणों के शरीराश्रित धर्म [मानने] के समान [केवल औपचारिक, गौण व्यवहार] है।

[प्रश्न] यदि [आप उपचार से ही सही] गुण शब्दाश्रय हैं [ऐसा मान लेते हैं] तो उनका सङ्घठनारूपत्व अथवा सङ्घटनाश्रितत्व [स्वयं] ही सिद्ध [प्राप्त] हो जाता है। क्योंकि सङ्घटना रहित शब्द अवाचक होने से अर्थविशेष [शृङ्गारादि रस के अभिव्यञ्जन में समर्थ वाच्य] से अभिव्यक्त रसादि के आश्रित रहने वाले गुणों के आश्रय नहीं हो सकते हैं।

[उत्तर] यह बात मत कहो। क्योंकि [इसी उद्योत की दूसरी कारिका में अवाचक] रसादि की वर्ण पदादि [से भी] व्यङ्ग्यता का प्रतिपादन कर चुके हैं।

पूर्व पक्ष का आशय यह था कि जब उपचार से भी गुणों को शब्द

---

१. इसके बाद शंकनीयम् पाठ दी० में अधिक है। २. अनपेक्षितार्थविस्तारा, शब्दधर्मा एव नि० दी। ३ नि० दी० में प्रतिपादिता, नहीं है। ४: गुणास्तु व्यंग्य विशेषावभासिवाच्यप्रतिपादनसमर्थशब्दधर्मा एव' नि०. में नहीं है। ५. अर्थविशेषं प्रतिपाद्य रसाद्याश्रितानां नि० दी०।

का धर्म माना जाय तो उसका अर्थ यह होगा कि शृङ्गारादि रसाभिव्यञ्जक वाच्य-प्रतिपादन सामर्थ्य ही शब्द का माधुर्य है। तब यह वाच्य प्रतिपादन सामर्थ्य तो प्रकृति प्रत्यय के योग से सङ्घटित शब्द में ही रह सकती है। इसलिए गुणों को जैसे उपचार से शब्द धर्म मानते हो वैसे ही उनको सङ्घटनाधर्म भी स्वयं ही माना जा सकता है। क्योंकि असङ्घटित पद तो वाचक नहीं होते। और बिना वाचक के रसादि की प्रतीति नहीं हो सकती है।

उत्तर पक्ष का आशय यह है कि अवाचक वर्ण और पदादि से भी रस प्रतीति हो सकती है। इसलिए उसको सङ्घटना धर्म मानने की आवश्यकता नहीं है। हां लक्षणा या गौणी वृत्ति से गुणों को शब्द धर्म तो कहा जा सकता है।

गुणों और सङ्घटना के सम्बन्ध में तीन विकल्प किए थे। उनमें से गुण और सङ्घटना अभिन्न है यह प्रथम विकल्प, 'विशिष्टपदरचना रीतिः' 'विशेषो गुणात्मा' कहने वाले 'वामन' का मत है। और दूसरा पक्ष, गुण और सङ्घटना अलग-अलग हैं परन्तु गुण सङ्घटना में रहने वाले-सङ्घटनाश्रित-धर्म है यह भट्टोद्भट का मत है। इन दोनों पक्षों का खण्डन कर यहां तक यह स्थापित किया जा चुका है कि गुण न सङ्घटना रूप है और न सङ्घटना में रहने वाले धर्म हैं। अपितु वह मुख्यतः रस के धर्म हैं। परन्तु कभी-कभी 'आकार एवास्य शूरः' आदि व्यवहार में आत्मा के शौर्यादि धर्म का जैसे शरीराश्रितत्व भी उपचार से मान लिया जाता है इसी प्रकार गुण मुख्यतः रसनिष्ठ धर्म है परन्तु उपचार से रसाभिव्यञ्जक वाच्य- प्रतिपादनसमर्थ शब्द के धर्म भी माने जा सकते हैं।

इस पर गुणों को सङ्घटनाश्रित धर्म मानने वाले भट्टोद्भटादि का कहना यह है कि जब उपचार से गुणों को शब्द धर्म मान लेते हो तो फिर सङ्घटना धर्म तो वे स्वयं सिद्ध हो जाते हैं। क्योंकि आपके मतानुसार शृङ्गाररसाभि-व्यञ्जक वाच्यप्रतिपादनक्षमता ही शब्द का माधुर्य है। इसलिए रसाभिव्यक्ति के लिए अर्थ की अपेक्षा है। और यह वाचकत्व, सङ्घटित शब्द रूप वाक्य में ही होता है। अकेले वर्णों या पदों में नहीं। क्योंकि केवल वर्ण तो अनर्थक हैं। और केवल पद स्मारक मात्र हैं, वाचक नहीं। इसलिए वाचकत्व केवल सङ्घटित शब्दों अर्थात् वाक्य में ही रह सकता है। और जहां वाचकत्व रह सकता है वहीं उपचार से माधुर्यादि गुणों की स्थिति हो सकती है। इसलिए वाचकत्व के सङ्घटित शब्द रूप वाक्य-निष्ठ होने से माधुर्यादि गुण भी उपचार से सङ्घटना धर्म ही हुए। इसलिए सङ्घटनाश्रित गुणवाद का सर्वथा खण्डन नहीं किया जा सकता है। यह 'भट्टोद्भट' के मत का सार है।

अभ्युपगते वा वाक्यव्यङ्ग्यत्वे रसादीनां न नियता काचित् सङ्घटना तेषामाश्रयत्वं प्रतिपद्यते इत्यनियतसङ्घटनाः शब्दा एव गुणानां व्यङ्ग्यविशेषानुगता आश्रयाः ।

इस मत के अनुसार 'भट्टोद्भट' भी पदों को अवाचक केवल स्मारक-मात्र मानते हैं। इस स्मारकत्ववाद की चर्चा इसी उद्योत में हो चुकी है। परन्तु वहां भी पदों के 'स्मारकत्व' और 'वाचकत्व' पक्ष के निर्णय को ग्रन्थकार ने टाल दिया था। अब वही प्रश्न यहां फिर उपस्थित हो जाता है। परन्तु यहां भी ग्रन्थकार ने उसका निर्णय करने का प्रयत्न नहीं किया है। इसका अभिप्राय यह है कि पदों का वाचकत्व है, या द्योतकत्व, अथवा स्मारकत्व, यह एक अलग प्रश्न है। उसके निर्णय को छोड़ कर भी गुणों के रसधर्मत्व, और उपचार से शब्दधर्मत्व के निश्चय किये जा सकते हैं। अतएव उस लम्बे और गौण प्रश्न को यहां भी छोड़ दिया है।

अब रह जाता है 'भट्टोद्भट' के सङ्घटनाश्रय गुणवाद के औचित्य या अनौचित्य के निर्णय का प्रश्न। उसके विषय में ग्रन्थकार यह कहते हैं कि यदि "'दुर्जनतोष न्याय' से 'भट्टोद्भट' के अनुसार शब्दों के स्मारत्व, और केवल वाक्य के वाचकत्व, को भी मान लिया जाय तो भी नियत सङ्घटना वाले सभी शब्द अर्थात् वाक्य, अर्थ के वाचक हो सकते हैं। परन्तु असमासा रचना से शृङ्गार के समान ओज के आश्रय रौद्रादि की भी अभिव्यक्ति हो सकती है और समासबहुल या दीर्घसमासा सङ्घटना से रौद्रादि के समान शृङ्गार की भी अभिव्यक्ति हो सकती है। इसलिए शृङ्गारादि की अभिव्यक्ति के लिए किसी नियत सङ्घटना का नियम न होने से माधुर्यादि गुणों को नियत सङ्घटनाश्रित धर्म नहीं माना जा सकता है। इसी बात को आगे कहते हैं—

[दुर्जन तोष न्याय से] यदि रस को वाक्यव्यङ्ग्य ही मान लिया जाय [अर्थात् वर्ण पदादि को रसाभिव्यञ्जक न माना जाय] तो भी कोई नियत सङ्घटना [जैसे असमासा या दीर्घसमासा आदि] उन [रसों] का आश्रय नहीं होती इसलिए व्यङ्ग्य विशेष से अनुगत [शृङ्गारादि] अनियत-सङ्घटना वाले शब्द ही गुणों के आश्रय हैं। [अर्थात् गुण सङ्घटना धर्म नहीं हैं।]

[प्रश्न—अनियत सङ्घटना वाले शब्द ही गुणों के आश्रय होते हैं] यह बात यदि आप माधुर्य के विषय में कहें तो कह सकते हैं परन्तु ओज

ननु माधुर्ये यदि नामैवमुच्यते तदुच्यताम् । ओजसः पुनः कथमनियतसङ्घटनशब्दाश्रयत्वम् । न ह्यसमासा सङ्घटना कदाचिदोजस आश्रयतां प्रतिपद्यते ।

उच्यते । यदि न प्रसिद्धिमात्रग्रहदूषितं चेतस्तदत्रापि न न[1] ब्रूमः । ओजसः कथमसमासा सङ्घटना नाश्रयः । यतो रौद्रादीन् हि प्रकाशयतः काव्यस्य दीप्तिरोज इति प्राक् प्रतिपादितम् । तच्चौजो यद्यसमासायामपि सङ्घटनायां स्यात्, तत्को दोषो भवेत् । न चाचारुत्वं सहृदयहृदयसंवेद्यमस्ति । तस्मादनियतसङ्घटनशब्दाश्रयत्वे गुणानां न काचित् क्षतिः । तेषां तु चक्षुरादीनामिव यथास्वं विषयनियमितस्य स्वरूपस्य न कदाचिद् व्यभिचारः । तस्मादन्ये गुणाः, अन्या च सङ्घटना । न च सङ्घटनाश्रिता गुणाः, इत्येकं दर्शनम् ।

तो अनियत सङ्घटनाश्रित कैसे हो सकता है । क्योंकि [ओज की प्रकाशक तो दीर्घसमासा सङ्घटना नियत ही है] असमासा [अर्थात् समास रहित] सङ्घटना कभी ओज का आश्रय नहीं हो सकती ।

[उत्तर] कहते हैं यदि केवल प्रसिद्धिमात्र के आग्रह से [आपका] मन दूषित न हो तो वहां भी हम [ओज की प्रतीति असमासा रचना से] नहीं [होती यह] नहीं कह सकते हैं [अर्थात् केवल प्रसिद्धि की बात छोड़ कर विचारें तो असमासा रचना से भी ओज की प्रतीति होती ही है ।] असमासा रचना ओज का आश्रय क्यों नहीं होती [अर्थात् अवश्य होती है] क्योंकि रौद्रादि रसों को प्रकाशित करने वाली काव्य की दीप्ति का नाम ही तो ओज है । यह बात पहिले कह चुके हैं । और वह दीप्ति रूप ओज यदि समास रहित रचना में भी रहे तो क्या दोष है । [अर्थात् कोई दोष नहीं है । उस समास रहित रचना से ओजः प्रकाशन में] किसी प्रकार का अचारुत्व सहृदय हृदय के अनुभव में नहीं आता । इसलिए गुणों को अनियत सङ्घटना वाले शब्दों का धर्म यदि [उपचार से] मान लिया जाय तो कोई हानि नहीं है । और चक्षुरादि इन्द्रियों के समान उनके अपने अपने विषयनियमित स्वरूप का कभी व्यभिचार नहीं होता । इसलिए गुण अलग है, सङ्घटना अलग है और गुण सङ्घटना के

---

१. नि० दी० में केवल एक ही न है ।

अथवा सङ्घटनारूपा एव गुणाः । यत्तूक्तम् 'सङ्घटनावद् गुणानामप्यनियतविषयत्वं प्राप्नोति लक्ष्ये व्यभिचारदर्शनात्' इति । तत्राप्येतदुच्यते—यत्र लक्ष्ये परिकल्पितविषयव्यभिचारस्तद् विरूपमेवास्तु ।

कथमचारुत्वं तादृशे[1] विषये सहृदयानां [2]नावभातीति चेत् ? कविशक्तितिरोहितत्वात् । द्विविधो हि दोषः, कवेरव्युत्पत्तिकृतो, अशक्तिकृतश्च । तत्राव्युत्पत्तिकृतो दोषः शक्तितिरस्कृतत्वात् कदाचिन्नलक्ष्यते । यस्त्वशक्तिकृतो दोषः स झटिति प्रतीयते । परिकरश्लोकश्चात्र :—

आश्रित नहीं रहते यह एक सिद्धान्त है । [यह स्वाभिमत सिद्धान्त पक्ष का उपसंहार किया ।]

अथवा [वामन मतानुसारी प्रथम पक्ष में] सङ्घटना रूप ही गुण हैं । [अर्थात् इस गुणों को सङ्घटना रूप मानने वाले वामन मत में भी कोई हानि नहीं है । इस पक्ष में जो दोष दिया था उसका समाधान करते हैं] और जो यह कहा था कि लक्ष्य [अर्थात् 'यो यः शस्त्रं' तथा 'अनवरतनयनजललव०' आदि उदाहरणों] में [सङ्घटना नियम का] व्यभिचार पाए जाने से सङ्घटना के समान गुणों में भी अनियतविषयत्व प्राप्त होगा । उसका भी समाधान यह है कि जिस उदाहरण में [सङ्घटना के] परिकल्पित विषय नियम का व्यभिचार पाया जाय उस [की सङ्घटना] को [विरूप] दूषित ही मानना चाहिए ।

[प्रश्न—यदि 'यो यः शस्त्रं बिभर्ति' इत्यादि की सङ्घटना दूषित है तो] उस प्रकार के विषयों में सहृदयों को अचारुत्व की प्रतीति क्यों नहीं होती ? [यह शङ्का हो तो]

[उत्तर] कवि की प्रतिभा [शक्ति के बल] से दब जाने से [तिरोहित हो जाने से वह अचारुत्व प्रतीत नहीं होता ।] दो प्रकार के दोष [काव्य में] हो सकते हैं—१. [कवि की] अव्युत्पत्तिकृत और २. [कवि की] अशक्तिकृत । [कवि की नवनवोन्मेषशालिनी-वर्णनीय वस्तु के नए-नए ढंग से वर्णन कर सकने की प्रतिभा को शक्ति कहते हैं । और उसके उपयुक्त समस्त वस्तुओं के पौर्वापर्य

---

१. तादृशविषये नि०, दी० । २. प्रतिभाति नि०, (न) प्रतिभाति, दी० । ३. यथौचित्यत्यागः नि०, दी० ।

'अव्युत्पत्तिकृतो दोषः शक्त्या संव्रियते कवेः ।
यस्त्वशक्तिकृतस्तस्य[1] स झटित्यवभासते ॥

तथाहि—महाकवीनामप्युत्तमदेवताविषयप्रसिद्धसम्भोगशृङ्गार-निबन्धनाद्यनौचित्यं शक्तितिरस्कृतत्वात्[2] ग्राम्यत्वेन न प्रतिभासते । यथा कुमारसम्भवे देवीसम्भोगवर्णनम् । एवमादौ च विषये [3]यथौचित्या-त्यागस्तथा दर्शितमेवाग्रे ।

के विवेचन कौशल को व्युत्पत्ति कहते हैं । इन्हीं शक्ति या व्युत्पत्ति की न्यूनता से काव्य में दोष आ सकते हैं] उनमें से अव्युत्पत्तिकृत दोष शक्ति [प्रतिभा के प्रवाह] से दब जाने के कारण कभी-कभी अनुभव नहीं होता । परन्तु जो अशक्तिकृत दोष है वह तुरन्त प्रतीत हो जाता है । इस विषय में परिकर श्लोक भी है :—

अव्युत्पत्ति के कारण होने वाला दोष कवि की शक्ति के बल से छिप जाता है । परन्तु कवि की अशक्ति के कारण जो दोष होता है वह तुरन्त प्रतीत हो जाता है ।

जैसे कि [कालिदास आदि] महाकवियों के उत्तम देवता विषयक प्रसिद्ध सम्भोग शृङ्गारादि के वर्णन [माता पिता के सम्भोग वर्णन के समान अत्यन्त अनुचित होते हुए भी] का अनौचित्य भी शक्ति से दब जाने के कारण ग्राम्यरूप से प्रतीत नहीं होता । जैसे कुमारसम्भव में देवी [पार्वती] के सम्भोग का वर्णन ।

इस प्रकार के उदाहरणों में औचित्य के अत्याग का [उपपादन] कैसे किया जाय यह आगे [इसी उद्योत में १० से १४ कारिका तक] दिखलाया ही है ।

यहां कवि कालिदास ने प्रतिभा बल से शिव और पार्वती के सम्भोग शृङ्गार का वर्णन इस सुन्दरता से किया है कि पाठक का हृदय उसके रसास्वाद में ही मग्न हो जाता है और उसके औचित्य-अनौचित्य के विचार का अवसर ही नहीं पाता है । जैसे मल्लयुद्ध या खेल आदि की किसी प्रतिद्वन्दिता में साधुवाद के स्थान पर आशीर्वाद के योग्य किसी छोटे व्यक्ति के कौशल को देखकर प्रेक्षक के

---

१. यस्त्वशक्तिकृतेस्तस्य नि० । २. शक्तितिरस्कृतं नि० । ३. यथौचित्य-त्यागः नि० ।

शक्तितिरस्कृतत्वं चान्वयव्यतिरेकाभ्यामवसीयते। तथाहि शक्तिरहितेन कविना एवंविधे विषये शृङ्गार उपनिबध्यमानः स्फुटमेव दोषत्वेन प्रतिभासते।

नन्वस्मिन् पक्षे 'यो यः शस्त्रं बिभर्ति' इत्यादौ किमचारुत्वम्? अप्रतीयमानमेवारोपयामः।

मुँह से हठात् साधुवाद निकल पड़ता है और उसका अनौचित्य प्रतीत नहीं होता। इसी प्रकार कवि की प्रतिभावश सहृदय उस शृङ्गार में इतना तन्मय हो जाता है कि उसे औचित्य-अनौचित्य की मीमांसा का अवसर नहीं मिलता। यही शक्ति बल से दोष का तिरस्कृत हो जाना अथवा दब जाना है।

यहां वृत्तिकार लिख रहे हैं 'दर्शितमेवाग्रे' अर्थात् आगे दिखाया जायगा परन्तु भूतार्थक क्त प्रत्यय का प्रयोग कर रहे हैं। इसकी सङ्गति इस प्रकार लगानी चाहिये कि वृत्ति के पूर्व कारिकाओं का निर्माण हो चुका था। इसी आशय से वृत्ति में 'दर्शितम्' इस पद से भूत काल का निर्देश किया है।

[अव्युत्पत्तिकृत दोष का] शक्तितिरस्कृतत्व अन्वय व्यतिरेक से सिद्ध होता है। क्योंकि शक्तिरहित कवि यदि ऐसे [उत्तम देवतादि के] विषय में शृङ्गार का वर्णन करे तो [माता-पिता के सम्भोगवर्णन के समान] स्पष्ट ही दोष रूप से प्रतीत होता है। [और महाकवि कालिदास जैसे प्रतिभावान् का किया हुआ पार्वती का सम्भोगवर्णन दोष रूप में प्रतीत नहीं होता अतः अन्वय-व्यतिरेक से दोष का शक्तितिरस्कृतत्व सिद्ध होता है।]

[प्रश्न—गुणों को सङ्घटनारूप मानने में, विषय नियम का अतिक्रमण करने वाली सङ्घटना को दूषित सङ्घटना ठहराने का जो मत आपने स्थिर किया है उसके अनुसार] इस पक्ष में 'यो यः शस्त्रं बिभर्ति' इस उदाहरण में क्या अचारुत्व है।

[उत्तर—वास्तव में कोई अचारुत्व अनुभव में नहीं आता फिर भी] अविद्यमान अचारुत्व का आरोप करते हैं।

अविद्यमान अप्रतीयमान अचारुत्व के भी आरोप करने का भाव यह है कि सङ्घटना और गुण को अभिन्न मानने वाले वामन के पक्ष में 'यो यः शस्त्रं बिभर्ति' इत्यादि उदाहरणों में रौद्रादि रस में भी समास रहित अतएव ओजोविहीन रचना के पाए जाने के कारण सङ्घटना के विषयनियम की अनुपपत्ति आती है और उसके कारण 'माधुर्यप्रसादप्रकर्षः करुणविप्रलम्भशृङ्गारविषय एव।

तस्माद् गुणव्यतिरिक्तत्वे गुणरूपत्वे च सङ्घटनाया अन्यः कश्चिन्नियमहेतुर्वक्तव्यः । इत्युच्यते :—

'तन्नियमे हेतुरौचित्यं वक्तृवाच्ययोः ॥६॥

तत्र वक्ता, कविः, कविनिबद्धो वा[2] । कविनिबद्धश्चापि रसभाव-

रौद्राद्भुतादिविषयमोजः ।' इत्यादि गुणों का जो निर्धारित विषय है वह भी अव्यवस्थित होने लगता है तब गुणों के विषयनियम की रक्षा के लिए इस प्रकार के उदाहरणों को दोषग्रस्त मानना ही अच्छा है । इस प्रकार के अपवाद-स्थलों के हट जाने से गुण और सङ्घटना दोनों का विषयनियम व्यवस्थित हो सकता है। गुण और सङ्घटना दोनों के विषयनियम को व्यवस्थित करने का यह एक प्रकार है ।

इस प्रकार में व्यवस्था का नियामक रस तत्व को माना है । फिर भी इस प्रकार में, 'यो यः शस्त्रं बिभर्ति' इत्यादि कुछ उदाहरणों को दोष की प्रतीति न होने पर भी दूषित मानना पड़ता है । वह कुछ अच्छी रुचिकर बात नहीं है । इसीलिए ग्रन्थकार विषयनियम के व्यवस्थापक अन्य तत्वों की चर्चा आगे कर रहे हैं जिससे उन नियामक तत्वों की दृष्टि से गुण और सङ्घटना को एक माना जाय या अलग प्रत्येक दशा में विषयनियम का उपपादन किया जा सके । इसी दृष्टि से रसातिरिक्त नियामक तत्वों की चर्चा प्रारम्भ करते हैं ।

इसलिए [सङ्घटना के गुणव्यतिरिक्त मानने पर सङ्घटना नियामक कोई हेतु ही न होने और सङ्घटना रूप मानने में रस को ठीक तरह से नियामक नहीं माना जा सकता है क्योंकि 'यो यः' इत्यादि में उसका व्यभिचार दिखाया जा चुका है । अतएव] गुणव्यतिरिक्तत्व और गुणरूपत्व [दोनों ही पक्षों] में सङ्घटना के नियमनार्थ कोई और ही हेतु बताना चाहिए । इसलिए कहते हैं :—

उस [सङ्घटना] के नियमन का हेतु वक्ता तथा वाच्य का औचित्य [ही] है ।

उनमें से वक्ता, कवि या कविनिबद्ध [दो प्रकार का] हो सकता है ।

---

१. नि० में इस कारिका भाग को यहां वृत्ति रूप में छापा है और पहिले कारिका एक साथ रखी है । २. कश्चित् नि० दी० में अधिक है ।

रहितो रसभावसमन्वितो वा। रसोऽपि कथानायकाश्रयस्तद्विपक्षाश्रयो वा। कथानायकश्च धीरोदात्तादिभेदभिन्नः पूर्वस्तदनन्तरो वेति विकल्पाः।

वाच्यं च, ध्वन्यात्मरसाङ्गं रसाभासाङ्गं वा, अभिनेयार्थमनभिनेयार्थं वा, उत्तमप्रकृत्याश्रयं तदितराश्रयं वेति बहुप्रकारम्।

और कविनिबद्ध [वक्ता] भी रसभाव [आदि] रहित अथवा रसभाव [आदि] युक्त [दो प्रकार का] हो सकता है। [उसमें] रस भी कथानायकनिष्ठ अथवा उसके विरोधी [प्रतिनायक] निष्ठ [दो प्रकार का] हो सकता है। कथानायक भी धीरोदात्तादि [धर्मयुद्धवीरप्रधानो धीरोदात्तः। वीररौद्रप्रधानो धीरोद्धतः। वीरश्रृङ्गारप्रधानो धीरललितः। दानधर्मवीरशान्तप्रधानो धीरप्रशान्तः। इति चत्वारो नायकाः क्रमेण सात्वती, आरभटी, कैशिकी, भारतीलक्षणवृत्तिप्रधानाः।—दशरूपक टीका] भेद से भिन्न, मुख्य नायक अथवा उसके बाद का [उपनायक पीठमर्द] हो सकता है। इस प्रकार [वक्ता के अनेक] विकल्प हैं।

वाच्य [अर्थ भी] ध्वनिरूप [प्रधान] रस का अङ्ग [अभिव्यञ्जक] अथवा रसाभास का अङ्ग [अभिव्यञ्जक], अभिनेयार्थ, या अनभिनेयार्थ, उत्तम प्रकृति में आश्रित, अथवा उससे भिन्न [मध्यम, अधम] प्रकृति में आश्रित इस तरह नाना प्रकार का हो सकता है।

अभिनेयार्थ और अनभिनेयार्थ ये दोनों वाच्य के भेद हैं, अतएव यहां उसके विशेषण हैं। साधारणतः बहुव्रीहि समास 'अभिनेयः अर्थो यस्य सोऽभिनेयार्थः' के अनुसार अर्थ करने से 'यस्य' पद तो वाच्य का ही परामर्शक होगा। उस दशा में वाच्य और अर्थ दोनों के एक होजाने से 'राहो शिरः' इत्यादि प्रयोग के समान व्यपदेशिवद्भाव की कल्पना करनी होगी। अतएव इसकी व्याख्या 'अभिनेयो वागाङ्गसत्वाहार्यैः आभिमुख्येन साक्षात्कारप्रायं नेयो अर्थो व्यङ्ग्यरूपो ध्वनिस्वभावो यस्य तदभिनेयार्थं वाच्यं' इस प्रकार करनी चाहिए। इसका भाव यह हुआ कि वाचिक, आङ्गिक, सात्विक और आहार्य-आरोपित चेष्टादि द्वारा आभिमुख्य अर्थात् साक्षात्कार रूपता को जिसका व्यङ्ग्य या ध्वनिरूप अर्थ नेय हो उस वाच्य को अभिनेयार्थ वाच्य कहना चाहिए। इस प्रकार सङ्घटना के नियामक वक्ता तथा वाच्य के अनेक भेद प्रदर्शित कर अब उनके औचित्य से सङ्घटना के नियम का निरूपण करते हैं।

तत्र यदा कविरपगतरसभावो वक्ता तदा रचनायाः कामचारः। यदा हि कविनिबद्धो वक्ता रसभावरहितस्तदा स एव। यदा तु कविः कविनिबद्धो वा वक्ता रसभावसमन्वितो, रसश्च प्रधानाश्रितत्वाद्[1] ध्वन्यात्मभूतस्तदा[2] नियमेनैव तत्रासमासमध्यसमासे एव सङ्घटने। करुणविप्रलम्भश्रृङ्गारयोस्त्वसमासैव सङ्घटना।

कथमिति चेत्, उच्यते। रसो यदा प्राधान्येन प्रतिपाद्यस्तदा तत्प्रतीतौ व्यवधायका विरोधिनश्च सर्वात्मनैव परिहार्याः। एवं च दीर्घसमासा सङ्घटना, समासानामनेकप्रकारसम्भावनया, कदाचिद् रसप्रतीतिं व्यवदधातीति तस्यां नात्यन्तमभिनिवेशः शोभते। विशेषतोऽभिनेयार्थे काव्ये। ततोऽन्यत्र च विशेषतः करुणविप्रलम्भ-श्रृङ्गारयोः। तयोर्हि सुकुमारतरत्वात् स्वल्पायामप्यस्वच्छतायां शब्दार्थयोः प्रतीतिर्मन्थरीभवति।

उन [अनेकविध-वक्ताओं] में से जब रसभावरहित कवि [शुद्ध कवि] वक्ता हो तब रचना की स्वतन्त्रता है। और जब रसभावरहित कविनिबद्ध वक्ता हो तब भी वही [कामचार] स्वतन्त्रता है। जब कि कवि अथवा कविनिबद्ध रसभाव समन्वित वक्ता हो और रस भी प्रधानाश्रित होने से ध्वन्यात्मभूत हो तब वहां नियम से ही असमास अथवा मध्यम समास वाली रचना ही करनी चाहिए। करुण और विप्रलम्भ श्रृङ्गार में तो समास रहित ही सङ्घटना होनी चाहिए।

क्यों ? यदि यह प्रश्न हो तो उत्तर यह है कि जब रस प्रधानरूप से प्रतिपाद्य है तब उसकी प्रतीति में विघ्न डालने वाले और उसके विरोधियों का पूर्ण रूप से परिहार ही करना चाहिये। इस प्रकार [एक समस्त पद में] अनेक प्रकार के समास [विग्रह] की सम्भावना होने से दीर्घसमास वाली रचना रसप्रतीति में कदाचित् बाधक हो इसलिए उस [दीर्घसमास रचना] के विषय में अत्यन्त आग्रह अच्छा नहीं है। विशेष रूप से अभिनेयार्थक काव्य में। [क्योंकि दीर्घसमास वाले पदों को अलग किए बिना उनका अभिनय ठीक तरह से नहीं हो सकता है। और न काकु से द्योत्य अर्थ, और बीच-बीच में प्रसादार्थक हास्य गान आदि की सङ्गति ही ठीक होती है इसलिए अभिनेय

---

१. प्रधानभूतत्वाद् नि० दी०। २. तदापि नि० दी०।

रसान्तरे पुनः प्रतिपाद्ये रौद्रादौ मध्यमसमासापि सङ्घटना कदाचिद् धीरोद्धतनायकसंबन्धव्यापाराश्रयेण, दीर्घसमासापि वा तदाक्षेपाविनाभाविरसोचितवाच्यापेक्षया न विगुणा भवतीति सापि नात्यन्तं परिहार्या।

सर्वासु च सङ्घटनासु प्रसादाख्यो गुणो व्यापी। स हि सर्वरससाधारणः सर्वसङ्घटनासाधारणश्चेत्युक्तम्। प्रसादातिक्रमे ह्यसमासापि सङ्घटना करुणविप्रलम्भशृङ्गारौ न व्यनक्ति। तदपरित्यागे च मध्यमसमासापि न न[1] प्रकाशयति। तस्मात् सर्वत्र प्रसादोऽनुसर्तव्यः।

व्यङ्ग्य काव्य में भी दीर्घसमासा रचना ठीक नहीं होती] और उससे भिन्न विशेषतः करुण तथा विप्रलम्भ शृङ्गार में [दीर्घसमास रचना उचित नहीं है। क्योंकि] उनके अत्यन्त सुकुमार [रस] होने से शब्द और अर्थ की तनिक सी भी अस्पष्टता होने पर [रस की] प्रतीति शिथिल हो जाती है।

और रौद्रादि दूसरे रसों के प्रतिपादन में तो धीरोद्धत नायक के सम्बन्ध या व्यापारादि के सहारे मध्यमसमासा सङ्घटना अथवा दीर्घसमासा रचना भी उस [दीर्घसमासा रचना] के बिना प्रतीत न हो सकने वाले किन्तु रसोचित वाच्यार्थ प्रतीति की आवश्यकतावश [इस पद का समास इस प्रकार करना चाहिए, 'तस्याः दीर्घसमाससङ्घटनायाः य आक्षेपः, तेन विना यो न भवति व्यङ्ग्याभिव्यञ्जकः, तादृशो रसोचितो रसव्यञ्जकतयोपादीयमानो वाच्यस्तस्य यासावपेक्षा दीर्घसमाससङ्घटनां प्रति सा अवैगुण्ये हेतुः।'] प्रतिकूल नहीं होती है इसलिए उसका भी अत्यन्त त्याग नहीं कर देना चाहिए।

प्रसाद नामक गुण सब सङ्घटनाओं में व्यापक है। वह समस्त रसों और समस्त रचनाओं में समान रूप से रहने वाला साधारण गुण है यह [प्रथम उद्योत की ११ वीं कारिका में] कहा जा चुका है। [वह कथन मात्र कदाचित् पर्याप्त न समझा जाय इसलिए अन्वय-व्यतिरेक से भी प्रसाद गुण की सर्वरस और सर्वसङ्घटना साधारणता सिद्ध करते हैं] प्रसाद के बिना समास रहित रचना भी करुण तथा विप्रलम्भ शृङ्गार को अभिव्यक्त नहीं करती है [यह व्यतिरेक हुआ। 'तदभावे तदभावो व्यतिरेकः'] और उस [प्रसाद गुण] के होने पर मध्यमसमास वाली रचना भी [करुण या विप्रलम्भ शृङ्गार को] नहीं

---

१. नि० दी० में न न पाठ नहीं है।

अतएव च 'यो यः शस्त्रं बिभर्ति' इत्यादौ यद्योजसः स्थितिर्नेष्यते तत् प्रसादाख्य एव गुणो, न माधुर्यम्। न चाचारुत्वम्। अभिप्रेतरस-प्रकाशनात्।

तस्माद् गुणाव्यतिरिक्तत्वे गुणव्यतिरिक्तत्वे वा सङ्घटनाया यथोक्तादौचित्याद् विषयनियमोऽस्तीति तस्या अपि रसव्यञ्जकत्वम्। तस्याश्च रसाभिव्यक्तिनिमित्तभूताया योऽयमनन्तरोक्तो नियमहेतुः स एव गुणानां नियतो विषय इति गुणाश्रयेण व्यवस्थानमप्यविरुद्धम् ॥६॥

प्रकाशित करती है यह बात नहीं है। [अर्थात् प्रकाशित करती ही है यह अन्वय हुआ।] इसलिए प्रसाद का सर्वत्र [सब रसों और सब रचनाओं में] अनुसरण करना चाहिए।

इसलिए 'यो यः शस्त्रं बिभर्ति' इत्यादि [उदाहरण] में [दीर्घ-समासा रचना न होने के कारण] यदि ओज गुण की स्थिति अभिमत नहीं है तो [उसमें] प्रसाद गुण ही है माधुर्य नहीं। और [सर्वरस साधारण उस प्रसाद गुण के होने से] किसी प्रकार का अचारुत्व नहीं होता है। क्योंकि [प्रसाद गुण से भी] अभिप्रेत [रौद्र] रस की अभिव्यक्ति हो सकती है।

इसलिए [सङ्घटना को] गुणों से अभिन्न मानें या भिन्न [दोनों अवस्थाओं में] उक्त [वक्ता तथा वाच्य के] औचित्य से सङ्घटना का विषय नियम [बन ही जाता] है इसलिए वह भी रस की अभिव्यञ्जक होती है। रस की अभिव्यक्ति में हेतुभूत उस [सङ्घटना] का नियामक जो यह [वक्ता और वाच्य का औचित्य रूप] हेतु अभी [ऊपर] कहा है वही गुणों का नियत विषय है। इसलिए [सङ्घटना की] गुणाश्रय रूप में व्यवस्था में भी विरोध नहीं है।

इस प्रकार यदि गुण और सङ्घटना एक रूप अर्थात् अभिन्न हैं तो गुणों का जो विषय नियम है वही सङ्घटना का भी विषय नियम होगा इसलिए वामनोक्त अभेद पक्ष में कोई दोष नहीं है। इसी प्रकार गुणाधीन सङ्घटना पक्ष अर्थात् स्वाभिमत सिद्धान्त पक्ष में भी गुणों के नियामक हेतु ही सङ्घटना नियामक होंगे अतएव वह भी निर्दुष्ट पक्ष है। अब रहा तीसरा भट्टोद्भट का सङ्घटनाश्रित गुण पक्ष उसमें भी वक्ता वाच्य का औचित्य सङ्घटना का नियामक बन सकता है इसलिए इस पक्ष की सङ्गति भी लग सकती है। इस प्रकार इस कारिका के

विषयाश्रयमप्यन्यदौचित्यं तां नियच्छति ।
काव्यप्रभेदाश्रयतः स्थिता भेदवती हि सा ॥ ७ ॥

वक्तृवाच्यगतौचित्ये सत्यपि[1] विषयाश्रयमन्यदौचित्यं सङ्घटनां नियच्छति । यतः काव्यस्य प्रभेदा मुक्तकं[2] संस्कृतप्राकृतापभ्रंशनिबद्धं, सन्दानितक-विशेषक-कलापक-कुलकानि[3], पर्यायबन्धः, परिकथा, खण्ड-कथासकलकथे[4], सर्गबन्धो, अभिनेयार्थं, आख्यायिकाकथे,[5] इत्येवमादयः । तदाश्रयेणापि सङ्घटना विशेषवती भवति ।

प्रारम्भ में उठाए गए तीनों विकल्पों की सङ्गति हो जाने से सङ्घटना की रसाभिव्यञ्जकता भी बन जाती है ॥६॥

[वक्ता तथा वाच्य के औचित्य के अतिरिक्त] विषयाश्रित औचित्य [अर्थात् काव्य-वाक्य की समुदाय रूप में स्थिति आदि, जैसे सेना रूप समुदाय के अन्तर्गत कापुरुष भी उस सैनिक मर्यादा का पालन करता हुआ उचित रूप में स्थित रहता है इसी प्रकार सन्दानितक आदि आगे कहे गए समुदायात्मक काव्य-वाक्य का औचित्य उसका नियामक होता है] भी उस [सङ्घटना] का नियंत्रण करता है । काव्य के [मुक्तक आदि] भेदों से भी उस [सङ्घटना] का भेद हो जाता है ।

वक्ता तथा वाच्य गत औचित्य के [सङ्घटना नियामक] होने पर भी दूसरा विषयाश्रित औचित्य भी उस सङ्घटना का नियंत्रण करता है । क्योंकि काव्य के संस्कृत प्राकृत अपभ्रंश में निबद्ध मुक्तक [स्वयं में परिपूर्ण स्फुट श्लोक जैसे अमरुक शतक, गाथा सप्तशती, आर्यासप्तशती आदि के श्लोक], सन्दानितक [दो श्लोकों में क्रिया का अन्वय होने वाले युग्म], विशेषक [तीन श्लोकों में क्रिया समाप्त होने वाले], कलापक [चार का एक साथ अन्वय होने वाले श्लोक], कुलक [पांच या पांच से अधिक एक साथ अन्वित होने वाले

---

१. सत्यपि पाठ दी० में नहीं है ।

२. मुक्तकं श्लोक एवैकश्चमत्कारक्षमः सताम् ।

३. द्वाभ्यान्तु युग्मकं ज्ञेयं, त्रिभिः श्लोकैर्विशेषकम् ॥
चतुर्भिस्तु कलापं स्यात्, पञ्चभिः कुलकं मतम् ॥
—आग्नेय पुराण ।

४. सकलकथाखण्डकथा नि०दी० । ५. आख्यायिका कथेत्येवमादयः । नि०,दी० ।

तत्र मुक्तकेषु रसबन्धाभिनिवेशिनः कवेस्तदाश्रयमौचित्यम् । तच्च दर्शितमेव । अन्यत्र कामचारः । मुक्तकेषु[1] प्रबन्धेष्विव रसबन्धाभिनिवेशिनः कवयो दृश्यन्ते । यथा ह्यमरुकस्य कवेर्मुक्तकाः शृङ्गाररसस्यन्दिनः प्रबन्धायमानाः प्रसिद्धा एव । सन्दानितकादिषु तु विकटनिबन्धनौचित्यान्मध्यमसमासादीर्घसमासे एव सङ्घटने । प्रबन्धाश्रयेषु यथोक्तप्रबन्धौचित्यमेवानुसर्तव्यम् ।

श्लोक]। पर्याय बन्ध [वसन्तादि एक विषय का वर्णन करने वाला प्रकरण पर्यायबन्ध कहलाता है], परिकथा [धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष इन पुरुषार्थ चतुष्टय में से किसी एक के सम्बन्ध में बहुत सी कथाओं का संग्रह परिकथा कहलाता है], खण्डकथा [किसी बड़ी कथा के एक देश का वर्णन करने वाली कथा], सकल कथा [फल पर्यन्त सम्पूर्ण इतिवृत्त की कथा सकल कथा कहाती है]। खण्डकथा और सम्पूर्ण कथा, दोनों का प्राकृत में अधिक प्रयोग होने से द्विवचनान्त द्वन्दसमास का रूप दिया है], सर्गबन्ध [महाकाव्य], अभिनेयार्थ [नाटक, प्रकरण, भाण, प्रहसन, डिम, व्यायोग, समवकार, वीथी, अङ्क आदि दशविध रूपक], आख्यायिका [उच्छ्वासादि भागों में निबद्ध वक्ता प्रतिवक्ता आदि युक्त कथा आख्यायिका और उससे रहित कथा, कथा कहलाती है] और कथा आदि अनेक प्रकार [काव्य के] हैं। इन के आश्रय से भी सङ्घटना [रचना] में भेद हो जाता है।

उनमें से मुक्तकों में रसनिबन्धन में आग्रहवान् कवि के लिए [जो] रसाश्रित औचित्य [नियामक और] है उसे दिखा ही चुके हैं । अन्यत्र रसाभिनिवेशरहित काव्य में कवि चाहे जैसी रचना करें] कामचार [स्वतंत्रता] है । प्रबन्ध [काव्यों] के समान मुक्तकों में भी रस का अभिनिवेश करने वाले कवि पाए जाते हैं । जैसे अमरुक कवि के शृङ्गार रस को प्रवाहित करने वाले प्रबन्ध काव्य सदृश [विभावादि परिपूर्ण] मुक्तक प्रसिद्ध ही हैं । [हम भी पृष्ठ २२८ पर उद्धृत कर चुके हैं] सन्दानितक आदि में तो विकट बन्ध के उचित होने से मध्यमसमासा और दीर्घसमासा सङ्घटना ही [होती] है । प्रबन्ध [काव्य में] आश्रितों [सन्दानितक से कुलक पर्यन्त भेदों] में प्रबन्ध [काव्य] के यथोक्त [पूर्व वर्णित वक्ता और वाच्यादिगत] औचित्य का ही अनुसरण करना चाहिए ।

---

१. हि नि० दी० में अधिक है ।

पर्यायबन्धे पुनरसमासामध्यमसमासे एव सङ्घटने । कदाचिदर्थौचित्याश्रयेण दीर्घसमासायामपि सङ्घटनायां, परुषा ग्राम्या च वृत्तिः

यहां प्रबन्ध काव्य के अन्तर्गत मुक्तक भी समझ लेने चाहिएं। श्रव्य काव्य के प्रबन्धकाव्य और मुक्तक और प्रबन्धकाव्य के महाकाव्य तथा खण्डकाव्य भेद किए जाते हैं। इनमें से प्रबन्धकाव्य और मुक्तक भेद तो बन्ध या रचना के आधार पर किये गए हैं और महाकाव्य तथा खण्डकाव्य भेद विषय के आधार पर हैं। प्रबन्ध और मुक्तक के रचना के आधार पर भेद किये जाने का आशय यह है कि मुक्तक का प्रत्येक श्लोक परिपूर्ण स्वतंत्र होता है। अमरुक-शतक का प्रत्येक पद्य स्वयं में परिपूर्ण है। बिहारी के दोहे भी स्वयं में परिपूर्ण हैं। गाथासप्तशती और आर्या सप्तशती के पद्य भी स्वतः परिपूर्ण है। यह सब मुक्तक काव्य है। प्रबन्ध काव्य के पद्य मुक्तक पद्यों की भांति स्वतंत्र नहीं हैं। उनका पूर्वापर सम्बन्ध होता है। उस पूर्वापर संबन्ध के बिना जाने उनके रस की अनुभूति नहीं हो सकती। यह प्रबन्ध और मुक्तक काव्यों का भेद हुआ। अब रह जाते हैं महाकाव्य और खण्डकाव्य। ये दोनों पूर्वोक्त प्रबन्ध काव्य के अन्तर्गत हैं और उनका परस्पर भेद विषय की व्यापकता के आधार पर किया जाता है। जो जीवन के किसी एक भाग का निरूपण करे वह खण्डकाव्य कहलाता है। 'खण्डकाव्यं भवेत् काव्यस्यैकदेशानुसारि च'। सा० द० ३,१३६। और महाकाव्य एक व्यक्ति अथवा एक वंशादि के समस्त जीवन चित्र को प्रस्तुत करने वाला, शास्त्रीय मर्यादा के अनुसार भिन्न-भिन्न पद्यों में निर्मित, कम से कम आठ सर्गों से अधिक, शृङ्गार, वीर अथवा शान्त रस में से एक रस को प्रधान बनाकर, संध्या, सूर्य, रजनी, चन्द्रमा, प्रभात, मध्याह्न आदि के प्रकृतिवर्णनों से युक्त काव्य-महाकाव्य कहलाता है। खण्डकाव्य और महाकाव्य दोनों प्रबन्धकाव्य के अन्तर्गत हैं। मुक्तक उनसे अलग स्वतंत्र स्वतः परिपूर्ण काव्य है। लोचनकार ने यहां प्रबन्धकाव्यों के भीतर भी 'त्वामालिख्य प्रणयकुपितां धातुरागैः शिलायाम्'। उत्तर मेघ ४२ को मुक्तक माना है। 'पूर्वापरनिरपेक्षेणापि हि येन रसचर्वणा क्रियते तन्मुक्तकम्'।

पर्यायबन्ध [वसन्तवर्णनादिरेकवर्णनीयोद्देशेन प्रवृत्तः पर्यायबन्धः। वसन्तादि किसी एक ही विषय के वर्णन के उद्देश्य से प्रवृत्त काव्य विशेष को पर्यायबन्ध कहते हैं। इस पर्यायबन्ध नामक काव्य भेद] में [साधारणतः] असामासा तथा मध्यसमासा सङ्घटना ही होनी चाहिए। [परन्तु] कभी अर्थ के औचित्य के कारण दीर्घसमासा सङ्घटना होने पर भी परुषा और ग्राम्या वृत्ति को बचाना ही चाहिए। परिकथा [एकं धर्मादिपुरुषार्थमुद्दिश्य प्रकार-

परिहर्तव्या। परिकथायां कामचारः । तत्रेतिवृत्तमात्रोपन्यासेन नात्यन्तं रससंबन्धाभिनिवेशात्। खण्डकथासकलकथयोस्तु[1] प्राकृतप्रसिद्धयोः कुलकादिनिबन्धनभूयस्त्वाद् दीर्घसमासायामपि न विरोधः । वृत्त्यौचित्यन्तु यथारसमनुसर्तव्यम्।

वैचित्र्येणानन्तवृत्तान्तवर्णनप्रकारा परिकथा । धर्म अर्थ आदि किसी एक पुरुषार्थ को लेकर अनेक प्रकार से बहुत सी कथाओं का वर्णन परिकथा कहलाता है। उस परिकथा नामक काव्यभेद] में कामचार [स्वतंत्रता] है। क्योंकि उसमें केवल कथांश [इतिवृत्त आख्यानवस्तु] का वर्णन [मुख्य] होने से रसबन्ध का विशेष आग्रह नहीं होता । प्राकृत [भाषा] में कुलकादि ['तत् ऊर्ध्वं कुलकं स्मृतम्' चार से अधिक श्लोकों का अन्वय एक साथ होने पर कुलक कहाता है] का बहुल प्रयोग होने से दीर्घसमासा सङ्घटना में भी विरोध नहीं है। [परन्तु] वृत्तियों का रस के अनुसार औचित्य अवश्य अनुसरण करना चाहिए।

इस प्रसङ्ग में वृत्ति शब्द का प्रयोग किया गया है। अलङ्कार शास्त्र में वृत्ति नाम से अनेक काव्यतत्वों का उल्लेख मिलता है। १. शब्द की अभिधा, लक्षणा तात्पर्या और व्यञ्जना शक्तियों को भी वृत्ति नाम से कहा जाता है। २ 'वर्तन्ते अनुप्रासभेदा आसु इति वृत्तयः' इस विग्रह के अनुसार अनुप्रास प्रकारों को भी वृत्ति कहा जाता है। भट्टोद्भट ने इन्हीं अनुप्रास प्रकारों को परुषा, उपनागरिका और ग्राम्या तीन वृत्तियों के रूप में माना है और उनके लक्षण इस प्रकार किए हैं:—

शषाभ्यां रेफसंयोगैष्टवर्गेण च योजिता।
परुषा नाम वृत्तिः स्यात् ह्लह्वह्याद्यैश्च संयुता॥
सरूपसंयोगयुतां मूर्ध्नि वर्गान्तयोगिभिः।
स्पर्शैर्युतां च मन्यन्ते उपनागरिकां बुधाः॥
शेषैर्वर्णैर्यथायोगं कथितां कोमलाख्यया।
ग्राम्यां वृत्तिं प्रशंसन्ति काव्येष्वादृतबुद्धयः॥

—उद्भट का० १, ५, ३, ७।

नाट्य-शास्त्र आदि में नाट्योपयोगी कैशिकी आदि चार प्रकार की वृत्तियों का निरूपण किया गया है।

१. नि० दी० में तु नहीं है।

तद् [नायक] व्यापारात्मिका वृत्तिश्चतुर्धा तत्र कैशिकी ।
गीतनृत्यविलासाद्यैर्मृदुः शृङ्गारचेष्टितैः ॥
दशरूपक २, ४७

'विशोका सात्वती सत्वशौर्यत्यागदयार्जवैः' ।
'एभिरङ्गैश्चतुर्धेयं सात्वती, आरभटी पुनः ॥
मायेन्द्रजालसंग्रामक्रोधोद्भ्रान्तादिचेष्टितैः' । द० २, ५६ ।
'भारती संस्कृतप्रायो वाग्व्यापारो नटाश्रयः' ॥ द० ३, ५ ।
शृङ्गारे कैशिकी, वीरे सात्वत्यारभटी पुनः ।
रसे रौद्रे च बीभत्से, वृत्तिः सर्वत्र भारती ॥ दश० २, ६२ ।

इस प्रकार साहित्य शास्त्र का 'वृत्ति' शब्द अनेकार्थ में परिभाषित होने से बड़ा सन्देहजनक है । उसकी यह सन्देहजनकता रीति और सङ्घटना शब्दों के साथ मिल कर और भी अधिक बढ़ जाती है । प्रकृत प्रसङ्ग में आनन्दवर्धनाचार्य ने जो 'वृत्ति' शब्द का प्रयोग किया है वह 'भट्टोद्भट' की परुषा, उपनागरिका और ग्राम्या जिसका दूसरा नाम कोमला भी है, के लिए ही किया है यह तो स्पष्ट है । परन्तु यहां उसका सङ्घटना के साथ सबन्ध निरूपित होने से वृत्ति, सङ्घटना और रीति इन तीनों के भेद का प्रश्न सामने आ जाता है । आलोककार ने यहां पर्यायबन्ध में दीर्घसमासा रचना होने पर भी ग्राम्या वृत्ति का व्यवहार वर्जित बताया है । इस वर्णन से ऐसा प्रतीत होता है कि रचना को वर्ण और पद की दृष्टि से दो भागों में विभक्त किया जा सकता है । पदों की दृष्टि से रचना के असमासा, मध्यसमासा और दीर्घसमासा बे तीन भेद किये जा सकते हैं । आलोककार ने इन्हीं तीनों भेदों को सङ्घटना शब्द से कहा है । परन्तु वर्णों के प्रयोग की दृष्टि से रचना के परुषा, उपनागरिका और ग्राम्या या कोमला यह तीन विभाग भट्टोद्भट आदि ने किये हैं और उनको 'वृत्ति' कहा है । इसका अर्थ यह हुआ कि पदस्थिति प्रधान रचना के लिए सङ्घटना शब्द, तथा वर्णस्थिति प्रधान रचना के लिए वृत्ति शब्द का प्रयोग किया गया है । वामन ने रचना प्रकार के प्रसङ्ग में रीति शब्द का प्रयोग किया है । उन्होंने अपनी रीतियों का संबन्ध माधुर्य आदि गुणों से जोड़ा है । गुणों की अभिव्यक्ति में पद और वर्ण दोनों की विशेष उपयोगिता है । अतएव वामन की रीति में सङ्घटना तथा वृत्ति दोनों का अन्तर्भाव हो जाता है । इसलिए वामन के बाद जो रीतियों का विवेचन किया गया है उसमें रीतियों के प्रत्येक भेद में रचना का एक वर्णगत और एक पदगत भेद स्पष्ट रूप से जुड़ा हुआ है । जैसे रुद्रट ने रीतियों के लक्षण इस प्रकार किए हैं :—

सर्गबन्धे तु रसतात्पर्ये[1] यथारसमौचित्यं, अन्यथा तु कामचारः। द्वयोरपि मार्गयोः सर्गबन्धविधायिनां दर्शनाद् रसतात्पर्यं साधीयः। अभिनेयार्थे तु सर्वथा रसबन्धेऽभिनिवेशः कार्यः। आख्यायिकाकथयोस्तु गद्यनिबन्धनबाहुल्याद्, गद्ये च [2]छन्दोबन्धभिन्नप्रस्थानत्वादिह नियमहेतुरकृतपूर्वोऽपि मनाक् क्रियते ॥ ७॥

असमस्तैकसमस्ता युक्ता दशभिर्गुणैश्च वैदर्भी।
वर्गद्वितीयबहुला स्वल्पप्राणाक्षरा च सुविधेया॥

इसमें 'असमस्तैकसमस्ता' पद आनन्दवर्धन की सङ्घटना के प्रथम भेद असमासा का ग्राहक है और यह रचना के पदगत वैशिष्ट्य से संबन्ध रखता है। इस वैदर्भी का दूसरा भाग 'वर्गद्वितीयबहुला' स्वल्पप्राणाक्षरा है। यह भट्टोद्भट की वृत्ति का स्थानीय प्रतीत होता है। रचना के इन दोनों भागों का सम्बन्ध गुणों के स्वरूप से है। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि वृत्ति और सङ्घटना ये दोनों रीति के अङ्ग हैं और उन दोनों की समष्टि का नाम रीति है।

सर्गबन्ध [महाकाव्य] में रसप्रधान होने पर रस के अनुसार औचित्य होना चाहिए अन्यथा [केवल इतिवृत्तप्रधान महाकाव्य, जैसे भट्ट जयन्त का कादम्बरी कथासार, होने पर] तो कामचार [स्वतंत्रता] है। [रसप्रधान और इतिवृत्तमात्र प्रधान] दोनों प्रकार के महाकाव्य निर्माता देखे जाते हैं [उनमें से] रसप्रधान [महाकाव्य] श्रेष्ठ है। अभिनेयार्थ [नाटकादि] में तो सर्वथा रसयोजना पर पूर्ण बल देना चाहिए। आख्यायिका और कथा में तो गद्यरचना को [ही] प्रधानता रहने और गद्य में छन्दोबद्ध रचना से भिन्न मार्ग होने से उसके विषय में कोई नियामक हेतु इसके पूर्व निर्मित न होने पर भी कुछ थोड़ा सा [निर्देश] करते हैं।

'द्वयोरपि मार्गयोः' की व्याख्या कुछ लोगों ने 'संस्कृत प्राकृतयोर्द्वयोः' की है। उनके अनुसार दो मार्ग से तात्पर्य संस्कृत तथा प्राकृत महाकाव्यों से है। परन्तु वास्तव में यह व्याख्या उचित नहीं है क्योंकि उनमें से 'रसतात्पर्यं साधीयः' रस प्रधान को श्रेष्ठ ठहराया गया है। इसकी सङ्गति तो तभी ठीक लगती है जब 'द्वयोः' से रस प्रधान और इतिवृत्तमात्र प्रधान इन दो भेदों का ग्रहण किया जाय। उन दोनों में तुलनात्मक दृष्टि से रसप्रधान महाकाव्य निःसन्देह अधिक

---

१. रसतात्पर्येण वि०। २. च्छन्दोबन्ध नि०।

एतद् यथोक्तमौचित्यमेव तस्या नियामकम् ।
सर्वत्र गद्यबन्धेऽपि [1]छन्दोनियमवर्जिते ॥ ८ ॥

यदेतदौचित्यं वक्तृवाच्यगतं सङ्घटनाया नियामकमुक्तमेतदेव गद्ये छन्दोनियमवर्जितेऽपि विषयापेक्षं नियमहेतुः । तथाह्यत्रापि यदा कविः कविनिबद्धो वा वक्ता रसभावरहितस्तदा कामचारः । रसभावसमन्विते तु वक्तरि पूर्वोक्तमेवानुसर्तव्यम् । तत्रापि च[2] विषयौचित्यमेव । आख्यायिकायान्तु भूम्ना मध्यसमासादीर्घसमासे एव सङ्घटने । गद्यस्य विकटबन्धाश्रयेण[3] छायावत्त्वात् । तत्र च तस्य प्रकृष्यमाणत्वात् । कथायान्तु विकटबन्धप्राचुर्येऽपि गद्यस्य रसबन्धोक्तमौचित्यमनुसर्तव्यम् ॥ ८ ॥

रसबन्धोक्तमौचित्यं भाति सर्वत्र संश्रिता ।
रचना विषयापेक्षं तत्तु किञ्चिद् विभेदवत् ॥९॥

श्रेष्ठ है । इसलिए 'द्वयोः मार्गयोः' का 'संस्कृतप्राकृतमार्गयोः' यह अर्थ करना ठीक नहीं है ॥ ७ ॥

यह पूर्ववर्णित औचित्य ही, छन्द के नियम से रहित गद्य रचना में भी सर्वत्र उस [सङ्घटना] का नियामक होता है ।

सङ्घटना का नियामक वक्तृगत और वाच्यगत जो यह औचित्य बताया है, छन्दोनियम रहित गद्य में भी विषयगत [औचित्य] सहित वही नियामक हेतु होता है । इसलिए जब यहां [गद्य में] भी कवि या कविनिबद्ध वक्ता रसभाव रहित होता है तब स्वतन्त्रता [कामचार] है । और वक्ता के रसभाव युक्त होने पर तो पूर्वोक्त [नियमों] का ही पालन करना चाहिए। उसमें भी विषयगत औचित्य होता ही है। आख्यायिका में तो अधिकतर मध्यसमासा और दीर्घसमासा सङ्घटना ही होती है क्योंकि कठिन रचना से गद्य में सौन्दर्य आजाता है । और उस [विकटबन्ध] में रचनासौन्दर्य का प्रकर्ष [विशेषता] होने से । कथा में गद्य की कठिन [विकट] रचना का बाहुल्य होने पर भी रसबन्ध सम्बन्धी औचित्य का पालन करना ही चाहिए ॥ ८ ॥

रसबन्ध में उक्त [नियमनार्थ प्रतिपादित] औचित्य का आश्रय

---

१. छन्दोनियम नि० । २. वा नि० । ३. निबन्धाश्रयेण च्छाया नि० ।

अथवा पद्यवद् गद्यबन्धेऽपि रसबन्धोक्तमौचित्यं सर्वत्र संश्रिता रचना भाति[1] तत्तु विषयापेक्षं किञ्चिद् विशेषवद् भवति । न तु सर्वाकारम् । तथाहि गद्यबन्धेऽपि अतिदीर्घसमासा रचना न विप्रलम्भ-शृङ्गारकरुणयोराख्यायिकायामपि शोभते । नाटकादावप्यसमासैव सङ्घटना । रौद्रवीरादिवर्णने विषयापेक्षं त्वौचित्यं प्रमाणतोऽपकृष्यते प्रकृष्यते च । तथा ह्याख्यायिकायां नात्यन्तमसमासा स्वविषयेऽपि, नाटकादौ नातिदीर्घसमासा चेति सङ्घटनाया दिगनुसर्तव्या ॥६॥

करने वाली रचना सर्वत्र [गद्यपद्य दोनों में] शोभित होती है। विषयगत [औचित्य] की दृष्टि से उसमें कुछ [थोड़ा] भेद हो जाता है।

अथवा पद्य [रचना] के समान गद्य में भी रसबन्धोक्त औचित्य का सर्वत्र आश्रय लेने वाली रचना शोभित होती है । वह [औचित्य] विषय [गत औचित्य] की दृष्टि से कुछ विशेष होजाता है [परन्तु] सर्वथा नहीं। उदाहरणार्थ गद्य रचना में भी करुण और विप्रलम्भ शृङ्गार में आख्यायिका तक में भी अत्यन्त दीर्घ समास वाली रचना अच्छी नहीं लगती। नाटकादि में भी असमासा सङ्घटना ही होनी चाहिए। [नाटकादि में] रौद्र, वीर आदि के वर्णन में विषय की अपेक्षा करने वाला औचित्य प्रमाण [रसबन्धोक्त औचित्य रूप प्रमाण] के बल से घट बढ़ जाता है। जैसे आख्यायिका में स्वविषय [करुण विप्रलम्भ शृङ्गार] में भी अत्यन्त समासहीन, और नाटक आदि में [स्वविषय रौद्र वीरादि में] भी अत्यन्त दीर्घसमासा रचना नहीं होनी चाहिए । सङ्घटना के इसी मार्ग का [सर्वत्र] अनुसरण करना चाहिए ॥६॥

निर्णयसागरीय तथा दीधितिटीका वाले संस्करण में इसके बाद निम्न-लिखित एक श्लोक भी मिलता है । परन्तु लोचनकार ने उसकी व्याख्या नहीं की है अतएव उसकी प्रामाणिकता सन्दिग्ध होने से बालप्रिया युक्त वाराणसीय संस्करण में उसको मूल पाठ में नहीं रखा है । इसीलिए हमने भी उसे मूल पाठ में स्थान नहीं दिया है । फिर भी अन्य संस्करणों में पाया जाता है अतएव यहां उसकी व्याख्या कर देते हैं।

इति काव्यार्थविवेको योऽयं चेतश्चमत्कृतिविधायी ।
सूरिभिरनुसृतसारैरस्मदुपज्ञो न विस्मार्यः ॥ इति ।

---

१. भवति बालप्रिया।

इदानीमलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यो ध्वनिः प्रबन्धात्मा रामायणमहाभारतादौ प्रकाशमानः प्रसिद्ध एव । तस्य तु यथा प्रकाशनं तत् प्रतिपाद्यते :—

विभाव-भावा-नुभाव-सञ्चार्यौचित्य-चारुणः ।
विधिः कथाशरीरस्य वृत्तस्योत्प्रेक्षितस्य वा ॥१०॥

इस प्रकार चित्त को चमत्कृत करने वाला, और हम [श्री आनन्दवर्धनाचार्य] जिसके आद्य प्रवर्तक हैं ऐसा जो यह काव्यार्थ का विवेक है, सार तत्व का अनुसरण करने वाले विद्वानों द्वारा उसको भुलाया नहीं जाना चाहिए । इति ।

यह श्लोक स्वयं और उसके अन्त में प्रयुक्त इति शब्द वस्तुतः ग्रन्थ समाप्ति के अवसर पर अधिक उपयुक्त होते हैं । यहां भी यद्यपि एक अवान्तर प्रकरण की समाप्ति हो रही है परन्तु फिर भी यह स्थान उनके लिए उपयुक्त नहीं है । सम्भवतः इसीलिए लोचनकार ने इसे अप्रामाणिक मान कर उसकी व्याख्या नहीं की है ॥ ६ ॥

प्रबन्धान्तर्गत रसाभिव्यक्ति के लिए निम्न ६ बातों का ध्यान रखना आवश्यक है । सब से पहिले, एक सुन्दर मूल कथा का निर्धारण । दूसरे, उस कथा का रसानुकूल संस्करण । तीसरे, कथा विस्तार में अपेक्षित सन्धि तथा सन्ध्यङ्ग की रचना । चौथे, (अ) बीच में यथास्थान रस का उद्दीपन प्रशमन और (ब) प्रबन्ध में प्रधान रस का आदि से अन्त तक अनुसन्धान अर्थात् अविस्मरण । पाञ्चवें, उचित मात्रा में ही और उचित स्थानों पर ही अलङ्कारों का सन्निवेश । इन्हीं अङ्गों का वर्णन इन १० से १४ तक की पांच कारिकाओं में किया है और उन्हीं का वृत्तिकार ने आगे बहुत विस्तार से विवेचन किया है

अब, असंलक्ष्यक्रम व्यङ्ग्य (रसादि) ध्वनि जो रामायण, महाभारत आदि में प्रबन्धगत रूप से प्रकाशित होता हुआ प्रसिद्ध ही है । उसका जिस प्रकार प्रकाशन [होना चाहिए] वह [प्रकार] कहते हैं :—

१. विभाव, [स्थायी] भाव, अनुभाव और सञ्चारीभाव के औचित्य से सुन्दर, [वृत्त-पूर्व घटित-अर्थात्] ऐतिहासिक अथवा [उत्प्रेक्षित अर्थात्] कल्पित कथा शरीर का निर्माण ।

इतिवृत्तवशायातां त्यक्त्वाऽननुगुणां स्थितिम् ।
उत्प्रेक्ष्याप्यन्तराभीष्ट-रसोचित-कथोन्नयः ॥११॥
सन्धिसन्ध्यङ्गघटनं　रसाभिव्यक्त्यपेक्षया ।
न तु केवलया शास्त्र-स्थितिसंपादनेच्छया ॥१२॥
उद्दीपनप्रशमने　यथावसरमन्तरा ।
रसस्यारब्धविश्रान्तेरनुसन्धानमङ्गिनः ॥१३॥
अलंकृतीनां शक्तावप्यानुरूप्येण योजनम् ।
प्रबन्धस्य रसादीनां व्यञ्जकत्वे निबन्धनम् ॥१४॥

प्रबन्धोऽपि रसादीनां व्यञ्जक इत्युक्तं तस्य व्यञ्जकत्वे निबन्धनम् ।

प्रथमं तावत्, विभावभावानुभावसञ्चार्यौचित्यचारुणः कथाशरीरस्य विधिः । यथायथं प्रतिपिपादयिषितरसभावाद्यपेक्षया य उचितो विभावो भावोऽनुभावः सञ्चारी वा तदौचित्यचारुणः कथाशरीरस्य विधिर्व्यञ्जकत्वे निबन्धनमेकम् ।

---

२. ऐतिहासिक क्रम से प्राप्त होने पर भी रस के प्रतिकूल स्थिति [कथांशादि] को छोड़ कर, बीच में अभीष्ट रस के अनुकूल नवीन कल्पना करके भी कथा का संस्करण ॥११॥

३. केवल शास्त्रीय विधान के परिपालन की इच्छा से नहीं; अपितु [शुद्ध] रसाभिव्यक्ति की दृष्टि से सन्धि और सन्ध्यङ्गों की रचना ॥१२॥

४. यथावसर [रसों के] उद्दीपन तथा प्रशमन [की योजना] और विश्रान्त होते हुए प्रधान रस का अनुसन्धान [स्मरण रखना] ॥१३॥

५. [अलङ्कारों के यथेच्छ प्रयोग की पूर्ण] शक्ति होने पर भी [रस के] अनुरूप ही [परिमित मात्रा में] अलङ्कारों की योजना ।

[यह पांच] प्रबन्धगत रस के अभिव्यञ्जक हेतु हैं ।

१—प्रबन्ध [काव्य] भी रसादि का व्यन्जक होता है यह [इसी उद्योत की दूसरी कारिका में] कहा है । उसके व्यन्जकत्व के हेतु [निम्न-लिखित पांच हैं] ।

सब से पहिले विभाव, [स्थायी] भाव, अनुभाव और सञ्चारी भाव

तत्र विभावौचित्यं तावत् प्रसिद्धम् । भावौचित्यं तु प्रकृत्यौचित्यात् । प्रकृतिर्हि, उत्तममध्यमाधमभावेन दिव्यमानुषादिभावेन च विभेदिनी । तां यथायथमनुसृत्यासङ्कीर्णः स्थायीभाव उपनिबध्यमान औचित्यभाग्[1] भवति । अन्यथा तु केवलमानुषाश्रयेण दिव्यस्य, केवलदिव्याश्रयेण वा[2] केवलमानुषस्य, उत्साहादय उपनिबध्यमाना अनुचिता भवन्ति[3] । तथा च केवलमानुषस्य राजादेर्वर्णने सप्तार्णवलङ्घनादिलक्षणा व्यापारा उपनिबध्यमानाः सौष्ठवभृतोऽपि नीरसा एव नियमेन भवन्ति[3] । तत्र त्वनौचित्यमेव हेतुः ।

के औचित्य से सुन्दर कथाशरीर का निर्माण [है] । उचित प्रकार से प्रतिपादनाभिमत रस भाव आदि की दृष्टि से जो उचित विभाव, [स्थायी] भाव, अनुभाव, या सञ्चारीभाव उनके औचित्य से सुन्दर कथाशरीर का निर्माण [रस का] अभिव्यञ्जक पहिला कारण है ।

उनमें से विभाव का औचित्य तो [लोक तथा भरत नाट्यशास्त्र आदि में] प्रसिद्ध ही है । [स्थायी] भाव का औचित्य प्रकृति के औचित्य से होता है । प्रकृति उत्तम, मध्यम, अधम और दिव्य तथा मानुष भेद से भिन्न प्रकार की होती है । उसको यथोचित रूप से अनुसरण करते हुए असङ्कीर्ण [बिना मिलावट के, शुद्ध] रूप से उपनिबद्ध स्थायी भाव औचित्य युक्त माना जाता है । नहीं तो केवल मानुष [प्रकृति] के आश्रय, दिव्य [प्रकृति] के [उत्साहादि], अथवा केवल दिव्य [प्रकृति] के आश्रय से उपनिबध्यमान केवल मानुष के उत्साहादि [स्थायीभाव] अनुचित होते हैं । इसलिए केवल मानुष [प्रकृति] राजा आदि के वर्णन में, सात समुद्र पार करने आदि के उत्साह के वर्णन सुन्दर होने पर भी निश्चित रूप से नीरस ही [प्रतीत] होते हैं । इसका कारण अनौचित्य ही है ।

यहां 'व्यापारा उपनिबध्यमाना' में व्यापार शब्द से व्यापारोचित उत्साह का ग्रहण करना चाहिए । क्योंकि यहां स्थायीभाव के औचित्य की चर्चा हो रही है, अनुभाव के औचित्य की नहीं । व्यापार तो अनुभाव में आ सकता है स्थायीभाव में नहीं । अतएव व्यापार शब्द व्यापारोचित स्थायीभाव उत्साह का ही ग्राहक है ।

---

१. वान् नि०, दी० । २. मानुषस्य नि०, दी० । ३. भान्ति नि०, दी० ।

ननु नागलोकगमनादयः सातवाहनप्रभृतीनां श्रूयन्ते, तद्लोकसामान्यप्रभावातिशयवर्णने[1] किमनौचित्यं सर्वोर्वीभरणक्षमाणां क्षमाभुजामिति ।

नैतदस्ति । न वयं ब्रूमो यत् प्रभावातिशयवर्णनमनुचितं राज्ञाम् । किन्तु केवलमानुषाश्रयेण योत्पाद्यवस्तुकथा क्रियते तस्यां दिव्यमौचित्यं न योजनीयम् । दिव्यमानुष्यायान्तु[2] कथायामुभयौचित्ययोजनमविरुद्धमेव । यथा पाण्डवादिकथायाम् । सातवाहनादिषु तु येषु यावदपदानं[3] श्रूयते तेषु तावन्मात्रमनुगम्यमानमनुगुणत्वेन प्रतिभासते । व्यतिरिक्तं तु तेषामेवोपनिबध्यमानमनुचितम् ।

तदयमत्र परमार्थ :—

'अनौचित्यादृते नान्यद् रसभङ्गस्य कारणम् ।
प्रसिद्धौचित्यबन्धस्तु रसस्योपनिषत् परा ॥'

[प्रश्न] सातवाहन आदि राजाओं के नागलोक गमन आदि का वर्णन मिलता है तो समस्त पृथिवी के धारण में समर्थ राजाओं के अलौकिक प्रभावातिशय के वर्णन में क्या अनौचित्य है ?

[उत्तर] यह बात नहीं है । हम यह नहीं कहते कि राजाओं के प्रभावातिशय का वर्णन करना अनुचित है । किन्तु केवल मानुष [प्रकृति] के आधार पर जो कथा कल्पित की जाय उसमें दिव्य [प्रकृति] के औचित्य को नहीं जोड़ना चाहिए । दिव्य और मानुष [उभय प्रकृतिक] कथा में त दोनों प्रकार के औचित्यों का वर्णन अविरुद्ध है । जैसे पाण्डु आदि की कथा में । सातवाहन [की कथा] आदि में तो जिन [के विषय] में जितना पूर्व वृत्तान्त [दिव्य प्रकृति सम्बन्धी] सुना जाता है उन [कथाओं] में केवल उतने [अंश] का अनुसरण तो उचित प्रतीत होता है [परन्तु] उनका ही उससे अधिक का वर्णन अनुचित है । ['यावदपदानं श्रूयते' इस मूल में 'अपदानं' शब्द आया है । अमरकोष में उसका अर्थ ''अपदानं कर्मवृत्तम्'' अर्थात् प्राचीन प्रशस्त चरित किया है ।]

इसलिए इस सब का सारांश यह हुआ कि—

---

१. प्रभावादतिशयवर्णने, नि०, दी० । २. दिव्यमानुषायाम् नि० दी० । ३. 'अपदानं कर्मवृत्तम्,' अमरकोष ।

अतएव च भरते [1]प्रख्यातवस्तुविषयत्वं प्रख्यातोदात्तनायकत्वं च नाटकस्यावश्यकर्त्तव्यतयोपन्यस्तम् । तेन हि नायकौचित्यानौचित्यविषये कविर्न व्यामुह्यति[2] । यस्तूत्पाद्यवस्तु नाटकादि कुर्यात्, तस्याप्रसिद्धानुचितनायकस्वभाववर्णने महान् प्रमादः ।

ननु यद्युत्साहादिभाववर्णने कथञ्चिद् दिव्यमानुष्याद्यौचित्यपरीक्षा क्रियते तत् क्रियताम् । रत्यादौ तु किन्तया प्रयोजनम् । रतिर्हि भारतवर्षोचितेनैव व्यवहारेण दिव्यानामपि वर्णनीयेति स्थितिः ।

नैवम् । तत्रौचित्यातिक्रमेण सुतरां दोषः । तथा ह्यधमप्रकृत्यौचित्येनोत्तमप्रकृतेः शृङ्गारोपनिबन्धने का भवेन्नोपहास्यता ।

[3]त्रिविधं प्रकृत्यौचित्यं भारते वर्षेऽप्यस्ति शृङ्गारविषयम् ।

अनौचित्य के अतिरिक्त रस भङ्ग का और कोई कारण नहीं है और प्रसिद्ध औचित्य का अनुसरण ही रस का परम रहस्य है ।

इसीलिए भरत [के नाट्यशास्त्र] में नाटक में प्रख्यात वस्तु [कथा] को विषय और प्रख्यात उदात्त नायक का रखना अनिवार्य [अवश्य कर्तव्य] प्रतिपादित किया है । इससे नायक के औचित्य-अनौचित्य के विषय में कवि भ्रम में नहीं पड़ता । और जो कल्पित कथा के आधार पर नाटकादि का निर्माण करता है उससे अप्रसिद्ध और अनुचित नायक स्वभावादि वर्णन में बड़ी भूल हो सकती है ।

[प्रश्न] उत्साह आदि [स्थायी] भावों के वर्णन में यदि दिव्य, मानुष्य आदि [प्रकृति] के औचित्य की परीक्षा करते हैं तो करें परन्तु रत्यादि [स्थायीभाव के वर्णन] में उस [परीक्षा] से क्या लाभ ? रति तो भारतवर्षोचित व्यवहार से ही [दिव्यों] देवताओं की भी वर्णन करनी चाहिये यह [भरत के नाट्यशास्त्र २०, १०१ का] सिद्धान्त है ।

[उत्तर] यह बात नहीं है । वहां [रतिविषय में] भी औचित्य का उलङ्घन करने में दोष ही है । क्योंकि उत्तमप्रकृति [के नायक-नायिका] के अधमप्रकृति के उचित शृङ्गारादि के वर्णन में कौन सी उपहास्यता नहीं होगी ?

---

१. प्रबन्धप्रख्यात नि० दी० । २. विमुह्यति नि० दी० ।
३. विविधं नि० ।

यत्तु[1] दिव्यमौचित्यं तत्[2] तत्रानुपकारकमेवेति चेत्[3] ?
न वयं दिव्यमौचित्यं शृङ्गारविषयमन्यत्किञ्चिद् ब्रूमः ।
किं तर्हि ?

भारतवर्षविषये यथोत्तमनायकेषु राजादिषु शृङ्गारोपनिबन्धस्तथा दिव्याश्रयोऽपि शोभते। न च राजादिषु प्रसिद्धग्राम्यशृङ्गारोपनिबन्धनं प्रसिद्धं नाटकादौ, तथैव देवेषु तत परिहर्तव्यम् ।

नाटकादेरभिनेयार्थत्वादभिनयस्य[3] च [4]सम्भोगशृङ्गारविषयस्यासभ्यत्वात् तत्र परिहार इति चेत् ?

न। यद्यभिनयस्यैवंविषयस्यासभ्यता[5] तत् काव्यस्यैव विषयस्य सा

[प्रश्नकर्ता] भारतवर्ष में भी तीन प्रकार का श्रृङ्गारविषयक प्रकृति का औचित्य पाया जाता है। [उनसे भिन्न] जो [कोई और] दिव्य औचित्य है वह उस [रसाभिव्यक्ति] में अनुपकारक ही है। [क्योंकि उस दिव्य रति आदि विषयक संस्कार न होने से प्रेक्षक को उससे रसानुभूति नहीं होगी।]

[उत्तर] हम श्रृङ्गार विषयक दिव्य औचित्य [भारतवर्षोचित औचित्य से] अलग कुछ और नहीं बताते हैं।

[प्रश्न] तो फिर ? [आप क्या कहते हैं]

[उत्तर] भारतवर्ष [के] विषय में उत्तम नायक राजा आदि में जिस प्रकार के श्रृङ्गार का वर्णन होता है वह दिव्य [नायक आदि] आश्रित भी शोभित होता है। [और जैसे] राजा आदि [उत्तम नायकादि] में प्रसिद्ध ग्राम्य श्रृङ्गार का वर्णन नाटकादि में प्रचलित नहीं है उसी प्रकार देवों में भी उसको बचाना चाहिये। [यह हमारे कहने का अभिप्राय है।]

[प्रश्नकर्ता] नाटकादि अभिनेयार्थ होते हैं। सम्भोगश्रृङ्गारविषयक अभिनय के असभ्य [ता पूर्ण] होने से नाटकादि में उसका परिहार किया जाता है [परन्तु काव्य में तो अभिनय न होने से उसके परिहार की आवश्यकता नहीं है।] यदि ऐसा कहें तो ?

[उत्तर] उचित नहीं है। यदि इस प्रकार का [सम्भोगश्रृङ्गार-

---

१. यत्त्वन्यद् नि०। २. तदत्र नि०। ३. अभिनेयत्वाद् नि०, अभिनेयस्य नि० दी०। ४. संभोगशृङ्गारविषयत्वात् नि० दी०। ५. असह्यता नि०, दी०

केन निवार्यते। तस्मादभिनेयार्थेऽनभिनेयार्थे[1] वा काव्ये यदुत्तमप्रकृते राजादेरुत्तमप्रकृतिभिर्नायिकाभिः सह ग्राम्यसम्भोगवर्णनं तत् पित्रोः सम्भोगवर्णनमिव सुतरामसभ्यम्[2]। तथैवोत्तमदेवताविषयम्।

न च सम्भोगशृङ्गारस्य सुरतलक्षण एवैकः प्रकारः, यावदन्येऽपि प्रभेदाः परस्परप्रेमदर्शनादयः सम्भवन्ति, ते कस्मादुत्तमप्रकृतिविषये न वर्ण्यन्ते। तस्मादुत्साहवद् रतावपि प्रकृत्यौचित्यमनुसर्तव्यम्। तथैव विस्मयादिषु। यत्त्वेवंविधे विषये महाकवीनामप्यसमीक्ष्यकारिता लक्ष्ये दृश्यते स दोष एव। स तु शक्तितिरस्कृतत्वात् तेषां न लक्ष्यते, इत्युक्तमेव।

अनुभावौचित्यं तु भरतादौ प्रसिद्धमेव। इयत्तूच्यते। [3]भरतादिविरचितां स्थितिं चानुवर्तमानेन महाकविप्रबन्धांश्च पर्यालोचयता

विषयक] अभिनय असभ्यतापूर्ण है तो इस प्रकार के [सम्भोग-शृङ्गारविषयक] काव्य में उस [असभ्यता दोष] को कौन निवारण कर सकता है। [वहां भी वह दोष होगा ही] इसलिए अभिनेयार्थ या अनभिनेयार्थ [सभी प्रकार के] काव्य में उत्तम प्रकृति राजा आदि का उत्तम प्रकृति की नायिका के साथ जो ग्राम्य सम्भोग का वर्णन [करना] है वह माता-पिता के सम्भोग वर्णन के समान अत्यन्त [अनुचित और] असभ्यतापूर्ण है। उसी प्रकार उत्तम देवता विषयक [सम्भोग शृङ्गार वर्णन अनुचित और असभ्य] है।

सम्भोग शृङ्गार का केवल सुरत वर्णन रूप एक ही प्रकार तो नहीं है। अपितु उसके परस्पर प्रेम दर्शन आदि और भी भेद हो सकते हैं। उत्तम प्रकृति के [नायकादि] के विषय में उनका वर्णन क्यों नहीं करते। [अर्थात् उन्हीं का वर्णन करना चाहिये] इसलिये उत्साह के समान रति में भी प्रकृत्यौचित्य का अनुसरण करना ही चाहिये। इसी प्रकार विस्मयादि में भी। इस प्रकार के विषय में जो [कालिदासादि] महाकवियों की असमीक्ष्यकारिता [कुमारसम्भवादि] लक्ष्य ग्रन्थों में देखी जाती है वह दोष रूप ही है। केवल उनकी प्रतिभा से अभिभूत हो [दब] जाने से प्रतीत नहीं होती यह कह ही चुके हैं।

अनुभावों का औचित्य तो भरतादि [के नाट्यशास्त्रादि] में प्रसिद्ध ही

---

१. अभिनेयार्थे च नि०, दी०। २. असह्यम् नि० दी०। ३. भरतादि-स्थितिं नि०, दी०।

स्वप्रतिभां चानुसरता कविनाऽवहितचेतसा भूत्वा विभावाद्यौचित्यभ्रंश-परित्यागे परः प्रयत्नो विधेयः ।

औचित्यवतः कथाशरीरस्य वृत्तस्योत्प्रेक्षितस्य वा ग्रहो व्यञ्जक इत्येतेनैतत् प्रतिपादयति यदितिहासादिषु कथासु रसवतीषु [1] विविधासु सतीष्वपि यत्तत्र विभावाद्यौचित्यवत् कथाशरीरं तदेव ग्राह्यं नेतरत् । वृत्तादपि च कथाशरीरादुत्प्रेक्षिते विशेषतः प्रयत्नवता भवितव्यम् । तत्र ह्यनवधानात् स्खलतः कवेरव्युत्पत्तिसम्भावना महती भवति ।

परिकरश्लोकश्चात्र :—

कथाशरीरमुत्पाद्य वस्तु कार्यं तथा तथा ।
यथा रसमयं [2] सर्वमेव तत्प्रतिभासते ॥

है । केवल इतना तो [विशेष रूप से] कहना है कि भरतादि मुनियों द्वारा निर्धारित मर्यादा का पालन करते हुए, महाकवियों के प्रबन्धों [काव्यों] का पर्यालोचन करते हुए और अपनी प्रतिभा का अनुसरण करते हुए कवि को सावधान होकर विभावादि के औचित्य से पतित होने से बचने के लिये पूर्ण प्रयत्न करना चाहिये ।

ऐतिहासिक अथवा कल्पित औचित्ययुक्त कथाशरीर का ग्रहण करना [रस का] अभिव्यञ्जक होता है, इससे [कारिकाकार] यह प्रतिपादन करते हैं कि इतिहासादि में [साधारणजनों के अभिप्राय से] रसवती नाना प्रकार की कथाओं के होने पर भी उनमें जो विभावादि के औचित्य से युक्त कथावस्तु है उसी को ग्रहण करना चाहिये, अन्यों को नहीं । और ऐतिहासिक कथावस्तु से भी अधिक कल्पित कथावस्तु में [सावधान रहने का] प्रयत्न करना चाहिये । वहां [कल्पित कथावस्तु में] असावधानी से भूल कर जाने पर कवि की अव्युत्पत्ति [प्रदर्शन] की बहुत सम्भावना रहती है ।

इस विषय में सारांश श्लोक [यह] है ।

कल्पित कथावस्तु को इस प्रकार निर्माण करना चाहिये । जिससे वह सबका सब रसमय ही प्रतीत हो ।

---

१. रसनवतीषु कथासु नि०, दी० । २. सर्वमेवैतत् नि०, दी० ।

तत्र चाभ्युपायः सम्यग् विभावाद्यौचित्यानुसरणम् । तच्च दर्शितमेव ।

किञ्च :—

सन्ति सिद्धरसप्रख्या ये च रामायणादयः ।
कथाश्रया न तैर्योज्या स्वेच्छा रसविरोधिनी ॥

तेषु हि कथाश्रयेषु तावत् स्वेच्छैव न योज्या । यदुक्तम् "कथामार्गे न चाल्पोऽप्यतिक्रमः[1] ।" स्वेच्छापि यदि योज्या तद्रसविरोधिनी न योज्या ।

इदमपरं प्रबन्धस्य रसाभिव्यञ्जकत्वे निबन्धनम् । इतिवृत्तवशायातां कथञ्चिद्रसाननुगुणां स्थितिं त्यक्त्वा पुनरुत्प्रेक्ष्याप्यन्तराभीष्टरसोचितकथोन्नयो विधेयः । यथा कालिदासप्रबन्धेषु । यथा च सर्वसेनविरचिते हरिविजये । यथा च मदीय एवार्जुनचरिते महाकाव्ये । कविना [2]काव्यमुपनिबध्नता सर्वात्मना रसपरतन्त्रेण भवितव्यम् । तत्रेतिवृत्ते यदि रसाननुगुणां स्थितिं पश्येत् [3]तदेमां भङ्क्त्वापि स्वतन्त्रतया रसानुगुणं कथान्तरमुत्पादयेत् । न हि कवेरितिवृत्तमात्रनिर्वहणेन किञ्चित् प्रयोजनम्, इतिहासादेव तत्सिद्धेः ।

उसका उपाय विभावादि के औचित्य का भली प्रकार अनुसरण करना [ही] है । और उसे दिखा ही चुके हैं ।

और भी [कहा है]:—

सिद्ध रसों के समान [सद्यः आस्वादमात्र योग्य न कि भावनीय या परिकल्पनीय] कथाओं के आश्रय जो रामायणादि [इतिहास] हैं उनके साथ रस विरोधिनी स्वेच्छा का प्रयोग नहीं करना चाहिये ।

पहिली बात तो यह कि उन कथाश्रयों में स्वेच्छा लगानी ही नहीं चाहिये । जैसा कि कहा है 'कथा में थोड़ा भी हेर-फेर न करें' । और यदि [प्रयोजनवश] स्वेच्छा का प्रयोग करे भी तो रसविरोधिनी स्वेच्छा का प्रयोग न करे ।

२. प्रबन्ध [काव्य] के रसाभिव्यञ्जकत्व का यह भी [दूसरा] और कारण है कि ऐतिहासिक परम्परा मे प्राप्त [होने पर भी] किसी प्रकार [से भी] रसविरोधिनी स्थिति [कथांश] को छोड़ कर और बीच में कल्पना करके भी अभीष्ट

---

१. न चातिक्रमः नि०, दी० । २. प्रबन्धं नि० । ३. ताम् नि० दी० ।

रसादिव्यञ्जकत्वे प्रबन्धस्य चेदमन्यन्मुख्यं निबन्धनं, यत् सन्धीनां मुखप्रतिमुखगर्भावमर्शनिर्वहणाख्यानां, तदङ्गानां चोपक्षेपादीनां घटनं रसाभिव्यक्त्यपेक्षया। यथा रत्नावल्याम्। न तु केवलं शास्त्रस्थितिसम्पादनेच्छया यथा वेणीसंहारे विलासाख्यस्य प्रतिमुखसन्ध्यङ्गस्य प्रकृतरसनिबन्धनाननुगुणमपि द्वितीयेऽङ्के भरतमतानुसरणमात्रेच्छया घटनम्।

रसोचित कथा का निर्माण करना चाहिए। जैसे कालिदास की रचनाओं में [रघुवंश में अजादि राजाओं का विवाह वर्णन और 'अभिज्ञानशाकुन्तलम्' नाटक में शकुन्तला का प्रत्याख्यान आदि इतिहास में उस रूप में वर्णित नहीं है किन्तु कथा को रसानुगुण और राजा दुष्यन्त को उदात्तचरित बनाने के लिए उनकी कल्पना की गई है] और जैसे सर्वसेनविरचित हरिविजय [महाकाव्य] में [कान्ता के अनुनय के लिए पारिजातहरण का वर्णन] और जैसे मेरे ही बनाए अर्जुनचरित महाकाव्य में [अर्जुन का पाताल विजयादि उस रूप से इतिहास में वर्णित न होने पर भी कथा को रसानुगुण बनाने के लिए कल्पित किया गया है]। काव्य का निर्माण करते समय कवि को पूर्ण रूप से रसपरतन्त्र बन जाना चाहिये। इसलिए यदि इतिहास में रस के विपरीत स्थिति देखे तो उसको तोड़ कर स्वतन्त्र रूप से रस के अनुरूप दूसरी [प्रकार से] कथा बना ले। इतिवृत्त का निर्वाह कर देने मात्र से कवि का कोई लाभ नहीं है क्योंकि वह प्रयोजन तो इतिहास से भी सिद्ध हो सकता है।

इसी नियम के अनुसार कालिदास ने शकुन्तला नाटक में दुर्वासा के शाप, मत्स्यावतार में अंगूठी का गिरना, शापप्रसूतविस्मृतिमूलक शकुन्तलाप्रत्याख्यान आदि की कल्पना कर इतिहास [महाभारत] के 'भ्रमरवृत्ति' दुष्यन्त को उदात्त नायक बना दिया है। और इसी के अनुसार महाकवि भवभूति ने उत्तररामचरित के तृतीय अङ्क में 'छाया सीता' की कल्पना कर पत्थरों को रुलाने और वज्र को गलाने में समर्थ करुण रस की सृष्टि की है—'अपि ग्रावा रोदित्यपि दलति वज्रस्य हृदयम्'।

३. प्रबन्ध [काव्य] के रसादिव्यञ्जकत्व का यह और [तीसरा] मुख्य कारण है कि [नाट्यशास्त्रोक्त] मुख, प्रतिमुख, गर्भ, विमर्श, और निर्वहण नामक [पञ्च] सन्धियों और उनके उपक्षेपादि [६४] अङ्गों का रसाभिव्यक्ति की दृष्टि से जोड़ना। जैसे 'रत्नावली' [नाटिका] में। न कि केवल शास्त्रमर्यादा का पालन करने मात्र की इच्छा से, जैसे 'वेणीसंहार' [नाटक] में,

इदं चापरं प्रबन्धस्य रसव्यञ्जकत्वे निमित्तं यदुद्दीपनप्रशमने यथावसरमन्तरा[1] रसस्य, यथा रत्नावल्यामेव। पुनरारब्धविश्रान्ते रसस्याङ्गिनोऽनुसन्धिश्च, यथा तापसवत्सराजे।

प्रबन्धविशेषस्य नाटकादे रसव्यक्तिनिमित्तमिदं [2]चापरमवगन्तव्यं यदलङ्कृतीनां शक्तावप्यानुरूप्येण योजनम्। शक्तो हि कविः कदाचित् अलङ्कारनिबन्धने तदाक्षिप्ततयैवानपेक्षितरसबन्धः प्रबन्धमारभते तदुपदेशार्थमिदमुक्तम्। दृश्यन्ते च कवयोऽलङ्कारनिबन्धनैकरसा अनपेक्षितरसाः प्रबन्धेषु ॥१४॥

'प्रतिमुख' सन्धि के 'विलास' नामक अङ्ग को प्रकृतरस [वीर रस] के विरुद्ध होने पर भी भरत मत के अनुसरण मात्र की इच्छा से द्वितीय अङ्क में [दुर्योधन और भानुमती के शृङ्गार वर्णन के रूप में] जोड़ना है।

४. प्रबन्ध [काव्य] के रसाभिव्यञ्जकत्व का यह और [चौथा] कारण है कि बीच-बीच में यथावसर रस का उद्दीपन और प्रशमन करना। जैसे 'रत्नावली' में ही। और प्रधान रस के विश्रान्त [विच्छिन्न सा] होने लगने पर उसको फिर संभाल लेना। जैसे 'तापसवत्सराज' में। [तापसवत्सराज नाम का कोई नाटक इस समय उपलब्ध नहीं है]।

५. प्रबन्धविशेष नाटकादि की रसाभिव्यक्ति का यह और [पाँचवाँ] निमित्त समझना चाहिए कि [अलङ्कारों के यथेष्ट प्रयोग की पूर्ण] शक्ति रहने पर भी [रस के] अनुरूप ही अलङ्कारों की योजना करना। [अलङ्कार रचना में] समर्थ कवि कभी-कभी अलङ्कार रचना में ही मग्न होकर रसबन्ध की पर्वाह न करके ही प्रबन्ध रचना करने लगता है। उसके उपदेश के लिए यह [पञ्चम हेतु] कहा है। काव्यों में रस की चिन्ता न कर अलङ्कारनिरूपण में ही आनन्द लेने वाले कवि भी पाए जाते हैं ॥१४॥

इस १५ वीं कारिका के पूर्व यहां तक भी असंलक्ष्यक्रम व्यङ्ग्य ध्वनि का प्रकरण चल रहा है और आगे १६ वीं कारिका में भी असंलक्ष्यक्रम व्यङ्ग्य का ही वर्णन है परन्तु बीच की १५ वीं कारिका में अनुस्वानोपम

---

१ निर्णय सा० सं०—ग्रे यथावसरं......रसस्य के बीच में पाठ छूटा हुआ है। दीधितिकार ने 'निबध्येयातां' लिख कर उसकी पूर्ति की है। बा० प्रि० में 'अन्तरा' पाठ रखा है। २ चावगन्तव्यम् नि०, दी०।

किञ्च :—

अनुस्वानोपमात्मापि प्रभेदो य उदाहृतः ।
ध्वनेरस्य प्रबन्धेषु भासते सोऽपि केषुचित् ॥१५॥

अस्य विवक्षितान्यपरवाच्यस्य ध्वनेरनुरणनरूपव्यङ्ग्योऽपि यः प्रभेद उदाहृतो द्विप्रकारः सोऽपि प्रबन्धेषु केषुचिद् द्योतते । तद्यथा-

---

अर्थात् संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य का वर्णन प्रतीत होता है। यदि इस कारिका की सीधी व्याख्या करें तब तो बीच में इस संलक्ष्यक्रम व्यङ्ग्य की चर्चा अप्राकरणिक और असङ्गत प्रतीत होगी। अतएव इस कारिका और उसकी वृत्ति में 'व्यङ्ग्यतया' और 'व्यञ्जकतया' पदों का अध्याहार करके कारिका के पदों का अन्वय 'अनुस्वानोपमात्मा यो ध्वनेः प्रभेद उदाहृतः केषुचित् प्रबन्धेषु [व्यञ्जकेषु सत्सु] व्यङ्ग्यतया स्थितो भवति सोऽपि, अस्य असंलक्ष्यक्रमस्य रसादिध्वनेः व्यञ्जकतया भासते' अर्थात् जो संलक्ष्यक्रम व्यङ्ग्य का जो भेद, प्रबन्ध में साक्षात् व्यङ्ग्य प्रतीत होता है वह भी इस असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य का व्यञ्जक होता है—इस प्रकार करना चाहिए। अर्थात् प्रबन्ध से साक्षात् तो संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य ध्वनि अभिव्यक्त होता है परन्तु पीछे उसीका प्रकृत रसादि रूप असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य ध्वनि के रूप में पर्यवसान हो जाता है।

अथवा 'अनुस्वानोपमात्मा ध्वनेरुदाहृतो यः प्रभेदः केषुचित् प्रबन्धेषु भासते' इस प्रकार का अन्वय करके अन्त में कारिकास्थ 'अस्य' पद का सम्बन्ध अगली १६ वीं कारिका के 'द्योत्योऽलक्ष्यक्रमः क्वचित्' के साथ करके 'अस्य संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यस्यापि द्योत्यो अलक्ष्यक्रमः क्वचिद् भवति' कहीं-कहीं इस संलक्ष्यक्रम का भी द्योत्य असंलक्ष्यक्रम व्यङ्ग्य होता है इस प्रकार सङ्गति लगानी चाहिए। तदनुसार इस कारिका की व्याख्या निम्न लिखित दो प्रकार होगी—

१. संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य रूप ध्वनि का जो प्रभेद किन्हीं काव्यों में [साक्षात्] व्यङ्ग्यरूप से स्थित [वर्णित] होता है वह भी [पर्यवसान में] इस असंलक्ष्यक्रम व्यङ्ग्य ध्वनि के व्यञ्जक रूप में भासता है।

२. अथवा, अनुस्वानोपम संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य ध्वनि का जो उदाहृत भेद किन्हीं काव्यों में प्रतीत होता है, उस संलक्ष्यक्रम व्यङ्ग्य का भी द्योत्य असंलक्ष्यक्रम व्यङ्ग्य कहीं-कहीं होता है।

इस विवक्षितान्यपरवाच्य [अभिधामूल] ध्वनि का [शब्दशक्त्युत्थ और अर्थशक्त्युत्थ भेद से] दो प्रकार का जो संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य भेद वर्णित किया

मधुमथनविजये पाञ्चजन्योक्तिषु । यथा वा ममैव कामदेवस्य सहचर-समागमे विषमबाणलीलायाम् । यथा च गृध्रगोमायुसंवादादौ महाभारते ।

है वह भी किन्हीं काव्यों में व्यङ्ग्य होता है [और असंलक्ष्यक्रम व्यङ्ग्य रसादि ध्वनि का व्यञ्जक भी होता है] जैसे 'मधुमथन-विजय' [नामक महाकाव्य] में 'पाञ्चजन्य' की उक्तियों में । अथवा जैसे मेरे ही 'विषमबाणलीला' [नामक महाकाव्य] में कामदेव के सहचर [यौवन] के समागम [के प्रसङ्ग] में । और जैसे महाभारत में 'गिद्ध और शृगाल के सम्वाद' आदि में ।

'मधुमथनविजय' की पाञ्चजन्योक्ति में :—

लीलादाढ़ाग्गुव्यूड्ढासअलमहिमण्डलसश्चिअ अज्ज ।
कीस मुणालाहरं तुज्जआइ अङ्गम्मि ॥
लीलादंष्ट्राग्रोद्धृतसकलमहीमण्डलस्यैवाद्य ।
कस्मान्मृणालाभरणमपि तव गुरु भवत्यङ्गे ॥ इतिच्छाया ।

वासुदेव के प्रति यह 'पाञ्चजन्य' की उक्ति है । इसका अभिप्राय यह है कि वराहावतार के समय जिन वासुदेव ने अपनी दाढ़ के अग्रभाग पर सारी पृथिवी का भार उठा लिया था, आज [रुक्मिणी के वियोग में] मृणाल के आभरण धारण कर सकना भी उनके लिए क्यों भारी हो गया है । यहां रुक्मिणी के विरह में रुक्मिणी के प्रति वासुदेव का अभिलाष रूप अभिप्राय संलक्ष्यक्रम रूप से व्यङ्ग्य होकर विप्रलम्भ शृङ्गार रूप असंलक्ष्यक्रम व्यङ्ग्य को अभिव्यक्त करता है ।

२. 'विषमबाणलीला' में कामदेव के सहचर यौवन के समागम-प्रसङ्ग में—

हुम्मि अवहत्थिअरे हो णिरंकुसो अह विवेअरहिओवि ।
सिविणेवि तुमम्मि पुणो भन्तिं ण पसुमरामि ॥
भवाम्यपहस्तितरेखो निरंकुशोऽथ विवेकरहितोऽपि ।
स्वप्नेऽपि तव पुनर्भक्तिं न प्रस्मरामि ॥ इतिच्छाया ।

यह कामदेव के प्रति यौवन की उक्ति है । इसका आशय यह है कि मैं मर्यादा का अतिक्रमण करने वाला [अपहस्तिता रेखाः मर्यादा येन सः । रेखा अर्थात् मर्यादा का बिगाड़ने वाला] भले ही हूं । लोग चाहे भले ही कहें कि यह यौवन निरंकुश है या विवेक रहित है । परन्तु मैं [यौवन] स्वप्न में भी तुम्हारी [कामदेव की] भक्ति को नहीं भूलता हूं । इस यौवन की उक्ति में यौवन

का कामोपासक स्वभाव व्यक्त होता है और उसका पर्यवसान प्रकृत शृङ्गार रस रूप असंलक्ष्यक्रम व्यङ्ग्य ध्वनि में होता है।

३. महाभारत के 'गृध्र-गोमायु-संवाद' में कुछ लोग मरे हुए बालक को लेकर श्मशान में आते हैं। श्मशानचारी गिद्ध और शृगाल दोनों उस समय वहां उपस्थित हैं। लगभग सन्ध्या का समय है। गिद्ध चाहता है कि यह लोग इसे मरे बालक को छोड़ कर अभी चले जांय तो मुझे खाने को मिले। शृगाल चाहता है कि यह लोग ज़रा देर और रुकें, जिससे सूर्यास्त हो जाय तो फिर रात में गिद्ध तो चला जायगा हम निर्विघ्न रूप से उसका भक्षण करेंगे। इस प्रकार दोनों की इच्छा एक दूसरे से भिन्न है। वह दोनों मरे बालक को लाने वालों को अपने-अपने स्वार्थ से समझाते हैं। यही संवाद 'गृध्रगोमायु-संवाद' नाम से प्रसिद्ध है। उसके श्लोक निम्न प्रकार हैं :—

गृध्र उवाच :—

अलं स्थित्वा श्मशानेऽस्मिन् गृध्रगोमायुसंकुले।
कङ्कालबहुले घोरे सर्वप्राणिभयङ्करे ॥
न चेह जीवितः कश्चित् कालधर्ममुपागतः।
प्रियो वा यदि वा द्वेष्यः प्राणिनां गतिरीदृशी ॥

गिद्ध बोला—गिद्ध और शृगालों से व्याप्त, कङ्कालों से भरे हुए, सब प्राणियों को भयभीत करने वाले इस भयङ्कर श्मशान में बैठने से क्या लाभ। जो मर गया वह जी तो सकता नहीं। फिर चाहे वह अपना प्रिय हो अथवा शत्रु हो। जो मर गया सो तो मर ही गया। सब प्राणियों की यही हालत होनी है। इसलिए अब आप लोग अपने घर जाओ। यही गिद्ध का अभिप्राय संलक्ष्यक्रम व्यङ्ग्य है। और उससे प्रकृत शान्तरस रूप असंलक्ष्यक्रम व्यङ्ग्य ध्वनि अभिव्यक्त होता है।

तब शृगाल बोला :—

आदित्योऽयं स्थितो मूढाः स्नेहं कुरुत साम्प्रतम्।
बहुविघ्नो मुहूर्तोऽयं जीवेदपि कदाचन ॥
अमुं कनकवर्णाभं बालमप्राप्तयौवनम्।
गृध्रवाक्यात् कथं मूढास्त्यजध्वमविशङ्किताः ॥

अरे अभी सूर्य निकल रहा है इस बच्चे को प्यार करो। यह मुहूर्त बड़ा विघ्नमय है सम्भव है यह बालक जी ही उठे। अरे मूर्खो, सोने जैसे रंग के और

सुप्-तिङ्-वचन-सम्बन्धैस्तथा कारकशक्तिभिः ।
कृत्-तद्धित-समासैश्च द्योत्योऽलक्ष्यक्रमः क्वचित् ॥१६॥

अलक्ष्यक्रमो ध्वनेरात्मा रसादिः[1] सुब्विशेषैः, तिङ्विशेषैः, वचन-

---

अप्राप्त यौवन इस सुन्दर बालक को इस गिद्ध के कहने से बिना किसी शङ्का के छोड़ कर कैसे चले जाना चाहते हो।

रात्रि में अपना काम साध सकने वाले शृगाल की यह उक्ति उसके अभिप्राय को व्यक्त करती है और उसका भी पर्यवसान प्रकृत शान्तरस रूप असंलक्ष्यक्रम व्यङ्ग्य की अभिव्यक्ति में होता है।

इस प्रकार 'मधुमथनविजय', 'विषम बाण लीला' और 'महाभारत' के इन तीनों उदाहरणों में प्रबन्ध से साक्षात् तो संलक्ष्यक्रम वस्तु ध्वनि व्यक्त होता है परन्तु उसका पर्यवसान प्रकृत रस रूप असंलक्ष्यक्रम व्यङ्ग्य के रूप में होता है। अतः संलक्ष्यक्रम व्यङ्ग्य ध्वनि भी असंलक्ष्यक्रम व्यङ्ग्य ध्वनि का अभिव्यञ्जक होता है। यह अभिप्राय हुआ ॥१५॥

आगे उस असंलक्ष्यक्रम व्यङ्ग्य के और अभिव्यञ्जक गिनाते हैं।

सुप् [अर्थात् प्रथमा आदि विभक्तियां], तिङ् [अर्थात् क्रिया विभक्तियां], वचन [एक, द्वि, बहुवचन], सम्बन्ध [षष्ठी विभक्ति], कारक शक्ति, कृत् [धातु से विहित तिङ् भिन्न प्रत्यय], तद्धित [प्रातिपदिक से विहित सुप् भिन्न प्रत्यय] और समास से [अभिव्यक्त जो संलक्ष्यक्रम व्यङ्ग्य उस से भी] कहीं-कहीं असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य ध्वनि अभिव्यक्त होता है।

पूर्वकारिका में दिखाई इस कारिका के साथ सङ्गति को ध्यान में रखते हुए यहां भी लोचनकार ने "सुबादिभिः योऽनुस्वानोपमो भासते वक्त्रभिप्रायादि-रूपोऽस्यापि सुबादिभिर्व्यक्तस्यानुस्वानोपमस्य असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यो द्योत्यः क्व-चिदिति पूर्वकारिकया सह सम्मील्य सङ्गतिरिति" यह पंक्ति लिखी है। अर्थात् सुबादि से अभिव्यक्त जो संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य वक्ता का अभिप्रायादि रूप ध्वनि है उससे भी असंलक्ष्यक्रम व्यङ्ग्य रसादि ध्वनि अभिव्यक्त होता है इस प्रकार पूर्व कारिका के साथ मिला कर इस की सङ्गति लगानी चाहिए। तदनुसार ही हमने यहां इस कारिका की और पूर्व कारिका के उदाहरण रूप से दिये हुए श्लोकों के व्यङ्ग्यार्थ की सङ्गति लगाई है।

ध्वनि का आत्मभूत [प्रधानभूत] अलक्ष्यक्रम व्यङ्ग्य रसादि, सुब्

---

१. रसादिभिः नि० ।

विशेषैः, सम्बन्धविशेषैः, कारकशक्तिभिः, कृद्विशेषैः, तद्धितविशेषैः, समासैश्चेति । च शब्दान्निपातोपसर्गकालादिभिः प्रयुक्तैरभिव्यज्यमानो दृश्यते । यथा—

न्यक्कारो ह्ययमेव मे यदरयस्तत्राप्यसौ तापसः,
सोऽप्यत्रैव, निहन्ति राक्षसकुलं, जीवत्यहो रावणः ।
धिग् धिक् शक्रजितं प्रबोधितवता किं कुम्भकर्णेन वा,
स्वर्गग्रामटिकाविलुण्ठनवृथोच्छूनैः किमेभिर्भुजैः ॥

विशेष, तिङ् विशेष, वचनविशेष, सम्बन्धविशेष, कारक शक्तियों, कृत् विशेष, तद्धित विशेष और समासविशेष से [व्यक्त होता है] । च शब्द से [संगृहीत] निपात, उपसर्ग कालादि के प्रयोग से [अभिव्यक्त होने वाले संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य ध्वनि से भी] अभिव्यक्त होता देखा जाता है । जैसे—

मेरे शत्रु हों यही [बड़ा भारी] अपमान है उनमें भी यह [बिचारा भिक्षुक] तापस । वह भी यहां [लङ्का में मेरी नाक के नीचे] ही राक्षस कुल का नाश कर रहा है और [यह देख कर भी] रावण जी रहा है । यह बड़ा आश्चर्य है । इन्द्र को विजय करने वाले मेघनाद को धिक्कार है । कुम्भकर्ण को जगाने से भी क्या लाभ हुआ और [दूसरों की बात छोड़ो] स्वर्ग की उस छोटी सी गंडटिया को लूट कर अभिमान से व्यर्थ ही फूली हुई मेरी इन भुजाओं से ही क्या लाभ है ?

जब रामचन्द्र जी लङ्का में राक्षसों का नाश कर रहे थे उस समय अपने वीरों की भर्त्सना करने और शत्रु की तुच्छता आदि सूचित करते हुए अपने सैनिकों को उत्तेजित करने के लिये यह रावण की गर्वपूर्ण क्रोधोक्ति है । जो प्रतिपद व्यङ्ग्य से परिपूर्ण है । पहिले तो शत्रुओं का होना ही मेरे लिए अपमानजनक है । जिसने इन्द्र जैसे देवों को भी कैद कर लिया हो, यमराज भी जिससे कांपते हों उसके शत्रु हों और जीते रहें । कितना आश्चर्य और अनौचित्य है । यह भाव 'मे' पद से व्यक्त होता है । अस्मद् शब्द से वक्ता रावण के पूर्वकृत इन्द्रविजयादि लोकोत्तर चरित, तथा सम्बन्ध बोधक षष्ठी विभक्ति से शत्रुओं के साथ अपने सम्बन्ध का अनौचित्य द्योतित होता है । और उससे रावण के हृदय का क्रोध अभिव्यक्त होता है । 'अरयः' का बहुवचन उसी सम्बन्धानौचित्य के अतिशय को बोधन करता है । उसमें भी यह तापस, तपस्वी नहीं । 'तत्रापि' इस

अत्र हि श्लोके भूयसा सर्वेषामप्येषां स्फुटमेव व्यञ्जकत्वं दृश्यते । तत्र 'मे यदरयः' इत्यनेन सुप्सम्बन्धवचनानामभि-व्यञ्जकत्वम् । 'तत्राप्यसौ तापसः' इत्यत्र तद्धितनिपातयोः । 'सोऽप्यत्रैव निहन्ति राक्षसकुलं जीवत्यहो रावणः' इत्यत्र तिङ्कारकशक्तीनाम् । 'धिग् धिक् शक्रजितं' इत्यादौ श्लोकार्धे कृत्तद्धितसमासोपसर्गाणाम् ।

निपात समुदाय से असम्भवनीयता, और 'तापस' शब्द के मत्वर्थीय अण् प्रत्यय से पुरुषार्थादि का अभाव सूचित होता है । पुरुषार्थहीन, क्षीणदेह, तापस 'लोकरावण' संसार को भयभीत करने वाले 'रावण' का शत्रु हो यह कैसी असंभव सी बात इस समय प्रत्यक्ष हो रही है । 'असौ' से विशेष हीन अवस्था सूचित होती है । यह भिखमङ्गा जिसे पिता ने घर से निकाल दिया है जिसको न पेट को रोटी न तन को कपड़ा जुड़ता है, और जो वन-वन मारा-मारा फिरता है वह 'असौ' मेरा शत्रु है । यह और भी अनुचित है । फिर वह कहीं दूर नहीं 'सोऽप्यत्रैव' मेरे सिर पर खड़ा हुआ है । और है ही यहीं, 'निहन्ति राक्षसकुलं' राक्षस वंश का नाश कर रहा है । फिर भी यह रावण जी रहा है । 'रावण' 'रावयतीति रावणः' सदेवासुर समस्त जगत को कम्पित करने वाले रावण के जीते जी यह सब हो रहा है । 'शक्रं जितवान् इति शक्रजित्' इस भूतकालिक 'क्विप्' प्रत्यय से मेघनाद के इन्द्रविजय में अनास्था सूचित होती है । 'ग्रामटिका' का 'क' रूप तद्धित स्वर्ग की अत्यन्त तुच्छता का और 'एभिः' 'वृथा' 'उच्छूनैः' आदि पद वैयर्थ्यातिशय को अभिव्यक्त करते हैं । प्रतिपद व्यञ्जना युक्त इस श्लोक से रावण के हृदय का गर्व सहकृत क्रोध रूप स्थायीभाव अभिव्यक्त होता है परन्तु सामग्री के अभाव में रौद्ररस रूप में परिणत नहीं हो पाता है ।

इस श्लोक में प्रायः इन सब ही पदों का व्यञ्जकत्व स्पष्ट प्रतीत होता है । उनमें से 'मे यदरयः' इससे सुप् सम्बन्ध और वचन का अभिव्यञ्जकत्व [प्रदर्शित होता है] 'तत्राप्यसौ तापसः' यहां तद्धित ['तापस' पद का अण् प्रत्यय] और निपात [तत्र अपि], का 'सोऽप्यत्रैव निहन्ति राक्षसकुलं जीवत्यहो रावणः' यहां [निहन्ति और जीवति पदों के] तिङ् और [राक्षसकुलं तथा रावणः पदों में कर्म तथा कर्ता रूप] कारक शक्तियों का, 'धिग्-धिक् शक्रजितं' इत्यादि श्लोकार्ध में कृत् [शक्रजित् का क्विप् प्रत्यय], तद्धित [ग्रामटिका का 'क' प्रत्यय], समास [स्वर्गग्रामटिका], उपसर्गों [विलुण्ठन का वि उपसर्ग] का [व्यञ्जकत्व है] ।

एवंविधस्य व्यञ्जकभूयस्त्वे च घटमाने काव्यस्य सर्वातिशायिनी बन्धच्छाया समुन्मीलति । यत्र हि व्यङ्ग्यावभासिनः पदस्यैकस्यैव तावदाविर्भावस्तत्रापि काव्ये कापि बन्धच्छाया किमुत यत्र तेषां बहूनां समवायः । यथात्रानन्तरोदितश्लोके । अत्र हि 'रावण' इत्यस्मिन् पदे, अर्थान्तरसंक्रमितवाच्येन ध्वनिप्रभेदेनालंकृतेऽपि पुनरनन्तरोक्तानां व्यञ्जकप्रकाराणामुद्भासनम् ।

दृश्यन्ते च महात्मनां प्रतिभाविशेषभाजां बाहुल्येनैवंविधा बन्धप्रकाराः । यथा महर्षेर्व्यासस्य :—

अतिक्रान्तसुखाः कालाः प्रत्युपस्थितदारुणाः ।
श्वः श्वः पापीयदिवसा पृथिवी गतयौवना ॥

अत्र हि कृत्तद्धितवचनैरलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यः, 'पृथिवी गतयौवना' इत्यनेन चात्यन्ततिरस्कृतवाच्यो ध्वनिः प्रकाशितः ।

और इस प्रकार का व्यञ्जक बाहुल्य हो जाने पर काव्य का सर्वोत्कृष्ट रचना-सौन्दर्य अभिव्यक्त होता है । जहां व्यङ्ग्य से प्रकाशमान एक भी पद का आविर्भाव हो सके उस काव्य में भी कुछ अनिर्वचनीय सौन्दर्य आ जाता है तो फिर जहां ऐसे बहुत से पदों का एकत्र सन्निवेश हो जाय उसका तो कहना ही क्या । जैसे इसी ऊपर कहे श्लोक में । इस में 'रावण' इस पद के अर्थान्तर-संक्रमित वाच्य [लक्षणामूल] ध्वनि भेद से अलङ्कृत होने पर भी [उसमें] अनन्तरोक्त व्यञ्जक प्रकारों का [भी] उद्भासन होता है ।

विशेष प्रतिभाशाली महात्माओं [महाकवियों] की इस प्रकार की रचना-शैलियां बहुतायत से पाई जाती हैं । जैसे महर्षि व्यास का :—

[अब] समय सुख विरहित और दुःख परिपूरित हो गए हैं और गतयौवना पृथिवी के उत्तरोत्तर बुरे दिन आरहे हैं ।

इस [उदाहरण] में [अतिक्रान्त और प्रत्युपस्थित पदों में 'क्त' प्रत्यय रूप] कृत्, [पापीय में 'छ' प्रत्यय रूप] तद्धित, [और कालाः का बहुवचनरूप] वचन [इन सब] से [निर्वेद को सूचित करते हुए शान्त रस रूप] असंलक्ष्यक्रम-व्यङ्ग्य [रसध्वनि], और 'पृथिवी गतयौवना' इस [में गतयौवना पद] से अत्यन्त तिरस्कृत वाच्य [अविवक्षितवाच्य] ध्वनि प्रकाशित होता है ।

एषां च सुबादीनामेकैकशः समुदितानां च व्यञ्जकत्वं महाकवीनां प्रबन्धेषु प्रायेण[1] दृश्यते ।

सुबन्तस्य व्यञ्जकत्वं यथा :—

तालैः शिञ्जद्वलयसुभगैः कान्तया नर्तितो मे ,
यामध्यास्ते दिवसविगमे नीलकण्ठः सुहृद् वः ॥

तिङन्तस्य यथा :—

अवसर रोउं चिअ णिम्मिआइं मा पुंस मे हअच्छीइं ।
दंसणमेत्तुम्मत्तेहिं जेहिं हिअअं तुह ण णाअम् ॥

इन सुबादि का अलग-अलग और मिल कर [दोनों तरह से] व्यञ्जकत्व महाकवियों की रचनाओं में पाया जाता है।

सुबन्त का व्यञ्जकत्व [का उदाहरण] जैसे :—

बजते हुए कङ्कणों [की मधुर ध्वनि] से मनोहर तालियों से मेरी प्रिया द्वारा नचाया जाने वाला तुम्हारा मित्र नीलकण्ठ [मयूर] दिन के समाप्त होने पर [रात्रि को] जिस पर बैठता है।

यह श्लोक का उत्तरार्द्ध भाग ही यहां उद्धृत किया गया है। श्लोक मेघदूत के उत्तरभाग का १६ वां श्लोक है। उसका अवशिष्ट पूर्वार्द्ध इस प्रकार है :—

तन्मध्ये च स्फटिकफलका काञ्चनी वासयष्टि-
मूले बद्धा मणिभिरनतिप्रौढवंशप्रकाशैः ।

[उस क्रीड़ा शैल] के बीच में स्फटिक की चौकी वाली और नीचे जड़ में कच्चे बांस के समान [हरिद्वर्ण] मालूम पड़ती हुई, [मरकत] मणियों से जड़ी हुई सोने की छतरी है। जिस पर बजते हुए कङ्कणों [की मधुर ध्वनि] से मनोहर तालियों से मेरी प्रिया द्वारा नचाया जाने वाला तुम्हारा मित्र मयूर दिन के समाप्त होने पर [रात्रि को] बैठता है। यहां 'तालैः' यह बहुवचन प्रियतमा के बहुविध वैदग्ध्य सूचन द्वारा विप्रलम्भ का उद्दीपक होता है। अतः यह सुबन्त के व्यञ्जकत्व का उदाहरण है।

तिङन्त का [व्यञ्जकत्व का उदाहरण] जैसे :—

हटो, रोने के ही लिए बने हुए इन दुष्ट नेत्रों को [अपने दर्शन से

---

१. प्रायेणान्यत्रापि नि० ।

[अपसर रोदितुमेव निर्मिते [1]मा पुंसय हते अक्षिणी मे ।
दर्शनमात्रोन्मत्ताभ्यां याभ्यां तव [2]हृदयमेवंरूपं न ज्ञातम् ॥
—इतिच्छाया]

यथा वा :—

मा पन्थं रुन्धीओ अवेहि बालअ अहोसि अहिरीओ ।
अम्हेअ णिरिच्छाओ सुण्णघरं रक्खिदव्वं णो ॥
[मा पन्थानं रुधः अपेहि बालक अहो असि अह्रीकः ।
वयं निरिच्छाः[3] शून्यगृहं रक्षितव्यं नः ॥
—इतिच्छाया]

सम्बन्धस्य यथा :—

फिर] विकसित [करने का प्रयास] मत करो । जिन्होंने तुम्हारे दर्शन मात्र से उन्मत्त होकर तुम्हारे ऐसे [निष्ठुर] हृदय को भी न जाना ।

यहां 'अपसर' और 'मा पुंसय' यह तिङन्त पद मुख्यतः अभिव्यञ्जक हैं । अन्य पदों के सहकार से मुख्यतः तिङन्त पदों द्वारा, उन्मत्त कुछ समझ नहीं सकता इसलिए नेत्रों का कोई अपराध नहीं है । हमारे भाग्य में यही तुम्हारी निष्ठुरता भोगना लिखा था उसे कौन बदल सकता है । इस अर्थ के सूचन द्वारा ईर्ष्या विप्रलम्भ अभिव्यक्त होता है ।

अथवा [तिङन्त के व्यञ्जकत्व का दूसरा उदाहरण] जैसे :—

अरे [नासमझ] लड़के रास्ता न रोको । आश्चर्य है तुम [अब भी नहीं मानते] इतने निर्लज्ज हो । हम [तो] परतन्त्र हैं [क्योंकि] हमको तो [अकेले बैठकर] सूने घर की रखवाली करनी पड़ती है। [मन हो तब उस शून्य घर में आ जाना यहां रास्ते में क्यों छेड़ते हो] ।

यहां 'अपेहि' और 'मा रुधः' यह तिङन्त पद सम्भोगेच्छा के प्रकाशन द्वारा सम्भोग शृङ्गार को अभिव्यक्त करते हैं। पहिले श्लोक में विप्रलम्भ शृङ्गार व्यङ्ग्य था इसलिए यह सम्भोग शृङ्गार का दूसरा उदाहरण दिया है ।

सम्बन्ध का [व्यञ्जकत्व का उदाहरण] जैसे :—

---

१. मोत्पुंसय नि०, दी० । २. हृदयं तव न ज्ञातम्, दी० । ३. वयं परतन्त्राः यतः शून्यगृहं मामकं रक्षणीयं वर्तते । बालप्रिया०, नि० ।

अरणत्त वच्च बालक अन्हाअन्ति किं मं पुलोएसिएअम् ।
हो जाआभीरुआणं तडं विअ ण होई ॥
[अन्यत्र व्रज बालक स्नान्तीं किं मां [1]प्रलोकयस्येतत् ।
भो जायाभीरुकाणां तटमेव न भवति ॥ इतिच्छाया]

कृत–'क'–प्रयोगेषु प्राकृतेषु तद्धितविषये व्यञ्जकत्वमावेद्यत एव । अवज्ञातिशये कः[2] । समासानां च वृत्त्यौचित्येन विनियोजने ।

निपातानां व्यञ्जकत्वं यथा :—

अयमेकपदे तया वियोगः प्रियया चोपनतः सुदुःसहो मे ।
नववारिधरोदयादहोभिर्भवितव्यं च निरातपत्वरम्यैः ॥

अरे लड़के तुम कहीं और जाओ नहाती हुई मुझ को [सस्पृह] क्यों देख रहे हो । [अपनी] पत्नी से डरने वालों के मतलब का यह तट नहीं है ।

यहाँ जलाशय के तट पर नहाती हुई किसी स्वैरिणी को सस्पृह नेत्रों से देखने वाले विवाहित युवक के प्रति उसको चाहने वाली स्वैरिणी की यह उक्ति है । उसमें 'जायाभीरुकाणां' इस सम्बन्ध षष्ठी से उस प्रच्छन्न कामुकी का ईर्ष्यातिशय सूचित होता है । और वह ईर्ष्या, विप्रलम्भ शृङ्गार को अभिव्यक्त करती है । साथ ही भीरुक पद में जो अवज्ञार्थक 'क' प्रत्यय तद्धित का है वह भी अवज्ञातिशय द्वारा ईर्ष्याविप्रलम्भ को परिपुष्ट करता है ।

'क' प्रत्यय के प्रयोग से युक्त प्राकृत पदों में तद्धित विषयक व्यञ्जकत्व भी सूचित होता ही है । [जैसे यहाँ] अवज्ञातिशय में क प्रत्यय [ईर्ष्या विप्रलम्भ का व्यञ्जक] है । वृत्ति के अनुरूप [समासों की] योजना होने पर समासों का [व्यञ्जकत्व होता है । उसके उदाहरण यहाँ नहीं दिए हैं] ।

निपातों का व्यञ्जकत्व [का उदाहरण] जैसे :—

एक साथ ही उस [हृदयेश्वरी] प्रिया के साथ यह असह्य वियोग आ पड़ा और उस पर नए बादलों के उमड़ आने से आतपरहित मनोहर [वर्षा के] दिन होने लगे । [अब यह सब कैसे सहा जायगा] ।

---

१. अन्यत्र व्रज बालक तृष्णायमानः कथमालोकयस्येतत् ।
भो जायाभीरुकाणां युष्माकं सम्बन्ध एव न भवति ॥ दी०

२. अवज्ञातिशय कः यह पाठ नि० दी० में नहीं है ।

इत्यत्र च शब्दः ।

यथा वा :—

मुहुरङ्गुलिसंवृताधरोष्ठं प्रतिषेधाक्षरविक्लवाभिरामम् ।
मुखमंसविवर्ति पक्ष्मलाक्ष्याः कथमप्युन्नमितं न चुम्बितं तु ॥

अत्र तु शब्दः ।

निपातानां प्रसिद्धमपीह द्योतकत्वं रसापेक्षयोक्तमिति द्रष्टव्यम् ।

यहाँ च शब्द [व्यञ्जक है] ।

यहाँ दो बार च का प्रयोग किया गया है । वह इस बात को सूचित करता है कि उसके वियोग के साथ काकतालीय न्याय से जो ये वर्षा के दिन आ पड़े वह जले पर नमक के समान प्राणहरण के लिए पर्याप्त हैं । अतएव 'रम्य' पद से उद्दीपन विभावत्व सूचित होता है । इस प्रकार निपातद्वय का प्रयोग विप्रलम्भ शृङ्गार को अभिव्यक्त करता है । यह 'विक्रमोर्वशीय' नाटक में पुरूरवा की उक्ति है ।

अथवा [निपात के व्यञ्जकत्व का दूसरा उदाहरण] जैसे—

[मेरे ज़बरदस्ती चुम्बन का प्रयत्न करने पर] बार-बार अंगुलियों से ढके हुए अधरोष्ठ वाला और [मान जाओ, जाने दो, इत्यादि] निषेधपरक शब्दों की विकलता से मनोहर तथा कन्धे की ओर मुड़ा हुआ सुन्दर पलकों वाली [प्रियतमा शकुन्तला का] का मुख किसी प्रकार ऊपर उठा तो लिया परन्तु चूम नहीं पाया ।

यहां 'तु' यह शब्द [पश्चात्ताप व्यञ्जक और उस चुम्बनमात्र से कृत-कृत्यता का सूचक होने से शृङ्गार रस को अभिव्यक्त करता है ।]

निपातों का द्योतकत्व [हमारे उपजीव्य वैयाकरण मत में] प्रसिद्ध होने पर भी यहां रस की दृष्टि से [फिर से] कहा है यह समझना चाहिये ।

वैयाकरण सिद्धान्त में निपात अर्थ के द्योतक ही होते हैं वाचक नहीं । 'द्योतकाः प्रादयो येन निपाताश्चादयो यथा ।' वै० भू० । उनको वाचक न मान कर केवल द्योतक मानने का कारण यह है कि उनका स्वतन्त्र प्रयोग नहीं होता । इस प्रकार द्योतकत्व प्रसिद्ध होने पर भी वह द्योतकत्व केवल अर्थों के प्रति विवक्षित है । इसलिए यहां विशेष रूप से रसों के प्रति द्योतकत्व प्रतिपादन किया गया है ।

उपसर्गाणां व्यञ्जकत्वं यथा :—

नीवाराः शुकगर्भकोटरमुखभ्रष्टास्तरूणामधः,
प्रस्निग्धाः क्वचिदिंगुदीफलभिदः सूच्यन्त एवोपलाः ।
विश्वासोपगमादभिन्नगतयः शब्दं सहन्ते मृगाः,
तोयाधारपथाश्च वल्कलशिखानिष्यन्दरेखाङ्किताः ॥

इत्यादौ ।

द्वित्राणां चोपसर्गाणामेकत्र पदे यः प्रयोगः सोऽपि रसव्यक्त्यनुगुणतयैव निर्दोषः । यथा—

"प्रभ्रश्यत्युत्तरीयत्विषि तमसि समुद्वीक्ष्य वीतावृतीन् द्राग् जन्तून्" ।

उपसर्गों का व्यञ्जकत्व [का उदाहरण] जैसे :—

शुक युक्त कोटरों के मुख से गिरे हुए नीवार कण वृक्षों के नीचे बिखरे पड़े हैं। कहीं-कहीं चिकने पत्थर हैं जो इस बात की सूचना देते हैं कि उनसे इंगुदीफल तोड़ने का काम लिया जाता है । सर्वथा आश्वस्त होने से, आने वालों के शब्द को सुन कर भी मृगों की गति में कोई परिवर्तन नहीं होता है और जलाशयों के मार्ग [स्नानोत्तर गीले] वल्कल वस्त्रों से टपकती हुई बूंदों की रेखाओं से अङ्कित हैं ।

इत्यादि में ।

यहां 'प्रस्निग्धाः' में 'प्र' उपसर्ग 'प्रकर्षेण स्निग्धाः प्रस्निग्धाः' इस प्रकार प्रकर्ष को सूचित करता हुआ इंगुदीफलों की सरसता का द्योतक होकर आश्रम के सौन्दर्यातिशय को व्यक्त करता है । कोई-कोई यहां 'तापसस्य फलविषयो अभिलाषातिरेको ध्वन्यते' तापस का फलविषयक अभिलाष का अतिशय यहां ध्वनित होता है यह व्याख्या करते हैं। परन्तु उनकी यह व्याख्या सङ्गत नहीं है क्योंकि अभिज्ञानशाकुन्तल नाटक में यह राजा दुष्यन्त की उक्ति है। तापस की नहीं। आलोककार ने यहां 'शुकगर्भकोटरमुखभ्रष्टाः' यह पाठ रक्खा है। परन्तु दूसरी जगह 'शुककोटरार्भकमुखभ्रष्टाः' पाठ पाया जाता है। वह पाठ अधिक अच्छा जान पड़ता है ।

दो तीन उपसर्गों का जो एक पद में प्रयोग होता है वह भी रसाभिव्यक्ति के अनुकूल होने से ही निर्दोष है। जैसे—

उत्तरीय [दुपट्टा] के समान अन्धकार के गिर जाने [रात्रि के अन्ध-

इत्यादौ ।

यथा वा—

'मनुष्यवृत्त्या समुपाचरन्तम्' ।

इत्यादौ ।[1]

कार के दूर हो जाने] पर आवरण रहित जन्तुओं को देखकर [सूर्यशतक] ।

इत्यादि में ['समुद्वीक्ष्य' पद में एक साथ 'सम् उत् वि' इन तीन उपसर्गों का प्रयोग सूर्यदेव की कृपा के अतिशय का व्यञ्जक और रसानुकूल होने से निर्दोष है ।]

अथवा जैसे—

मनुष्यरूप से आचरण करते हुए को ।

इत्यादि में ।

['मनुष्यवृत्त्या समुपाचरन्तम्' । यहां सम् उप और आङ् इन तीन उपसर्गों का प्रयोग भगवान् के लोकानुग्रहेच्छा के अतिशय का अभिव्यञ्जक है] ।

निर्णयसागरीय तथा दीधिति युक्त संस्करण में इस श्लोक के बाद एक श्लोक और दिया है । परन्तु लोचन में उसका उल्लेख नहीं है । अतएव बालप्रिया वाले संस्करण में उसे मूल पाठ में नहीं रखा है । इसीलिए हमने भी उसे यहां मूल पाठ में नहीं रखा है । फिर भी उसकी व्याख्या टिप्पणी रूप में कर रहे हैं ।

> मदमुखरकपोतमुन्मयूरं प्रविरलवामनवृक्षसन्निवेशम् ।
> वनमिदमवगाहमानभीमं व्यसनमिवोपरि दारुणत्वमेति ॥

इत्यादौ प्रशब्दस्य, औपच्छन्दसिकस्य च व्यञ्जकत्वमधिकं द्योत्यते ।

मद मुखर कपोतों और ऊपर को मुख उठाए मयूरों अथवा उन्मत्त मयूरों से युक्त बहुत छोटे-छोटे और विरल वृक्षों से युक्त यह वन आपत्ति के समान या रोग के समान प्रवेश करते समय [प्रारम्भ में] भयानक [लगता है] और आगे चल कर दारुण दुखदायक बन जाता है ।

---

१. नि० सा० सं० में 'यः स्वप्ने सदुपानतस्य इत्यादौ च ।' इतना अधिक पाठ है ।

निपातानामपि तथैव । यथा :—

'अहो बतासि स्पृहणीयवीर्यः' ।

इत्यादौ ।

इत्यादि में [प्रविरल का] प्र शब्द [उपसर्ग] का और 'औपच्छन्दसिक' [वृत्त] का व्यञ्जकत्व अधिक सूचित होता है । 'पर्यन्ते यौं तथैव शेषं त्वौपच्छन्दसिकं सुधीभिरुक्तम् ' यह 'औपच्छन्दसिक' छन्द का लक्षण है । यहां वस्तु व्यञ्जन द्वारा वह भयानक रस का व्यञ्जक होता है ।

इनमें से पहिला उदाहरण मयूरभट्ट के 'सूर्यशतक' से लिया गया है । पूरा श्लोक इस प्रकार है :—

> प्रभ्रश्यत्युत्तरीयत्विषि तमसि समुद्वीक्ष्य वीतावृतीन् द्राक् ;
> जन्तूंस्तन्तून् यथा यानतनु वितनुते तिग्मरोचिर्मरीचीन् ।।
> ते सान्द्रीभूय सद्यः क्रमविशददशाशादशालीविशालम् ;
> शश्वत् सम्पादयन्तोऽम्बरममलमलं मङ्गलं वो दिशन्तु ।।

दूसरे उदाहरण का पूरा श्लोक निम्न प्रकार है :—

> मनुष्यवृत्त्या समुपाचरन्तं, स्वबुद्धिसामान्यकृतानुमानाः ।
> योगीश्वरैरप्यसुबोधमीशं, त्वां बोद्धुमिच्छन्त्यबुधाः कुतर्कैः ।।

तीसरा 'यः स्वप्ने सदुपानतस्य' इत्यादि उदाहरण लोचनकार ने नहीं दिया है । अतएव वह पाठ प्रामाणिक नहीं है । फिर भी कुछ पुस्तकों में पाया जाता है । परन्तु उसका पूरा पाठ नहीं मिलता है ।

निपातों के विषय में भी वैसा ही है । [अर्थात् दो तीन निपातों के एक साथ प्रयोग होने पर भी रसव्यक्ति के अनुरूप होने से कोई दोष नहीं होता] । जैसे :—

ओहो ! तुम बड़े स्पृहणीय पराक्रम वाले हो ।

इत्यादि में ।

'अहो बतासि स्पृहणीयवीर्यः' इत्यादि में क्रम से आश्चर्य और खेद आदि के बोधक अहो और 'बत' यह दोनों निपात मदन के पराक्रम के अलौकिकत्व-सूचन द्वारा रस को प्रकाशित करते हैं अतः निर्दुष्ट हैं । यह उद्धरण 'कुमारसम्भव' के तृतीय सर्ग से लिया गया है । कामदेव के प्रोत्साहनार्थ इन्द्र की उक्ति है । पूरा श्लोक इस प्रकार है :—

यथा वा :—

ये जीवन्ति न मान्ति ये स्ववपुषि प्रीत्या प्रनृत्यन्ति ये[1],
प्रस्यन्दिप्रमदाश्रवः पुलकिता दृष्टे गुणिन्यूर्जिते।
हा धिक् कष्टमहो क्व यामि शरणं तेषां जनानां कृते,
नीतानां प्रलयं शठेन विधिना साधुद्विषः पुष्यता ॥

इत्यादौ।

सुराः समभ्यर्थयितार एते, कार्यं त्रयाणामपि विष्टपानाम्।
चापेन ते कर्म, न चातिहिंस्रं, अहो बतासि स्पृहणीयवीर्यः ॥

—कु० सं० ३, २०।

अथवा [अनेक निपातों के रसानुगुण सह प्रयोग का दूसरा उदाहरण] जैसे :—

गुणी जनों की वृद्धि देखकर, जो जीते हैं, जो अपने शरीर में फूले नहीं समाते, और जो आनन्द से नाचने लगते हैं, जिनके आनन्दाश्रु बहने लगते हैं, और जिनका शरीर [आनन्द से] रोमाञ्चित हो उठता है; हा धिक्कार है, सज्जन पुरुषों के द्वेषियों का पोषण करने वाले दुष्ट दैव ने उनका अत्यन्त विनाश कर दिया यह बड़े दुःख की बात है, उनके [प्राप्त करने के] लिए मैं किस की शरण में जाऊं।

इत्यादि में :—

यहां 'हा धिक्' इस निपातद्वय से गुणियों की अभिवृद्धि से प्रसन्नता अनुभव करने वाले महापुरुषों का श्लाघातिशय और दैव की असमीक्ष्यकारिता के कारण, निर्वेदातिशय ध्वनित होता है।

इस स्थल की लोचन टीका का पाठ निर्णयसागरीय और वाराणसीय दोनों संस्करणों में भ्रष्ट है। निर्णयसागरीय संस्करण में तो 'हा धिक्' के बाद कुछ पाठ छूटे होने का सूचक...बिन्दियां दी हुई हैं। वहां का पाठ इस प्रकार छापा है। 'हा धिगिति...तिशयो निर्वेदातिशयश्च ध्वन्यते।' वाराणसीय संस्करण में पाठ इस प्रकार छापा है—'श्लाघातिशयो निर्वेदातिशयश्च अहो बतेति हाधिगिति च ध्वन्यते'। यह पाठ भी भ्रष्ट है। इसमें अहो बत यह अंश इससे पूर्व के उदाहरण 'अहो बतासि स्पृहणी...:' से संबन्ध रखता है। उस उदाहरण के

---

१. च बा० प्रि०।

पदपौनरुक्त्यं च व्यञ्जकत्वापेक्षयैव कदाचित् प्रयुज्यमानं शोभामावहति। यथा :—

यद् वञ्चनाहितमतिर्बहुचाटुगर्भं,
कार्योन्मुखः खलजनः कृतकं ब्रवीति।
तत् साधवो न न विदन्ति, विदन्ति किन्तु,
कर्तुं वृथा प्रणयमस्य न पारयन्ति॥

इत्यादौ।

नीचे दिए हुए 'इत्यादौ' की व्याख्या में 'अहो बतेति' लिखा गया है। जिसका अभिप्राय यह है कि उस उदाहरण में 'अहो बत' इन दो निपातों का प्रयोग व्यञ्जक है। इस प्रकार सबसे पहिले 'अहो बत' पाठ, और उसके अन्त में विराम चिह्न छापना चाहिये था। उसके बाद 'हा धिगिति च श्लाघातिशयो निर्वेदातिशयश्च ध्वन्यते' यह पाठ देना चाहिये। इस अंश का संबन्ध प्रकृत उदाहरण से है। अर्थात् इस उदाहरण में हा और धिक् यह निपात क्रमशः श्लाघातिशय और निर्वेदातिशय को व्यक्त करते हैं। इस प्रकार संशोधित पाठ इस प्रकार होना चाहिये।

अहो बतेति। हा धिगिति च श्लाघातिशयो निर्वेदातिशयश्च ध्वन्यते। यह संशोधन दोनों संस्करणों के पाठ की त्रुटियों को पूर्ण कर देता है।

कभी-कभी व्यञ्जकत्व की दृष्टि से ही प्रयुक्त पदों की पुनरुक्ति भी शोभाजनक होती है। जैसे :—

[दूसरों को] धोखा देने वाला [और अपना] काम निकालने वाला दुष्ट पुरुष जो खुशामद की बनावटी बातें करता है उसको सज्जन पुरुष नहीं समझते यह [बात] नहीं है, खूब समझते हैं किन्तु उसके आग्रह को अस्वीकार करने में समर्थ नहीं होते।

इत्यादि में।

यहां पहिले 'न न विदन्ति' नहीं जानते हैं ऐसी बात नहीं है अर्थात् जानते ही हैं। इस नञ् द्वय की वक्रोक्ति से 'विदन्ति' इस अर्थ का सूचन किया। और दुबारा फिर साक्षात् 'विदन्ति' का प्रयोग किया है। यह 'न न विदन्ति' की वक्रोक्ति, और उससे प्राप्त 'विदन्ति' पद की पुनरुक्ति उनके ज्ञानातिशय को अभिव्यक्त करती है।

यहाँ पर 'पदग्रहणं च वाक्यादेरपि यथासम्भवमुपलक्षणम्" लिख कर लोचनकार ने पद को वाक्य का भी उपलक्षण माना है। अर्थात् वाक्य की

कालस्य व्यञ्जकत्वं यथा :—

> सम विसम णिव्विसेसा समन्तओ मन्दमन्दसंआरा ।
> अइरा होहिन्ति पहा मणोरहाणं पि दुल्लंघा ॥
> [समविषमनिर्विशेषाः समन्ततो मन्द-मन्दसञ्चाराः ।
> अचिराद् भविष्यन्ति पन्थानो मनोरथानामपि दुर्लङ्घ्याः ॥
> —इतिच्छाया

अत्र ह्यचिराद् भविष्यन्ति पन्थान इत्यत्र भविष्यन्तीत्यस्मिन् पदे प्रत्ययः कालविशेषाभिधायी रसपरिपोषहेतुः प्रकाशते । अयं हि गाथार्थः प्रवासविप्रलम्भश्रृङ्गारविभावतया विभाव्यमानो रसवान् ।

पुनरुक्ति भी व्यञ्जक होती है । इसका उदाहरण 'रत्नावली' नाटिका का निम्न श्लोक दिया है :—

> द्वीपादन्यस्मादपि, मध्यादपि जलनिधेर्दिशोऽप्यन्तात् ।
> आनीय झटिति घटयति विधिरभिमतमभिमुखीभूतः ॥

कः सन्देहः । द्वीपादन्यस्मादपि इत्यादि ।

यहां इस श्लोक की आवृत्ति इष्ट लाभ की अवश्यम्भाविता को व्यक्त करती है ।

काल का व्यञ्जकत्व [का उदाहरण] जैसे :—

[वर्षाकाल में सब रास्तों में पानी भर जाने से] सम-विषम [ऊंचे-खालें] की विशेषता से रहित, से अत्यन्त मन्द सञ्चार युक्त [अत्यन्त न्यून संख्या और मन्दगति के सञ्चार युक्त] सारे मार्ग शीघ्र ही मनोरथ से भी अगम्य हो जावेंगे ।

यहां "अचिराद् भविष्यन्ति पन्थानः" मार्ग शीघ्र ही [अगम्य] हो जावेंगे इस में 'भविष्यन्ति' इस पद में काल विशेष [भविष्यत् काल] का वाचक [स्य] प्रत्यय [वर्षाकाल की कल्पना भी विरही जनों में कम्प पैदा कर देती है, साक्षात् उसका तो कहना ही क्या इस व्यङ्ग्यार्थ के बोधन द्वारा] रस का परिपोषक हेतु प्रतीत होता है । गाथा का यह अर्थ प्रवास विप्रलम्भ श्रृङ्गार का [उद्दीपन] विभाव रूप से प्रतीत होकर [विशेष रूप से] रसयुक्त प्रतीत होता है ।

यथात्र प्रत्ययांशो व्यञ्जकस्तथा क्वचित् प्रकृत्यंशोऽपि दृश्यते । यथा :—

तद् गेहं नतभित्ति, मन्दिरमिदं लब्धावकाशं दिवः,
सा धेनुर्जरती, चरन्ति करिणामेता घनाभा घटाः ।
स क्षुद्रो मुसलध्वनिः, कलमिदं सङ्गीतकं योषिता-
माश्चर्यं दिवसैर्द्विजोऽयमियतीं भूमिं समारोपितः ॥

अत्र श्लोके 'दिवसै' रित्यस्मिन् पदे प्रकृत्यंशोऽपि द्योतकः ।

सर्वनाम्नां च व्यञ्जकत्वं यथानन्तरोक्ते[1] श्लोके । अत्र च सर्वनाम्नामेव व्यञ्जकत्वं हृदि व्यवस्थाप्य कविना क्वेत्यादि शब्दप्रयोगो न कृतः ।

जैसे यहां प्रत्यय अंश व्यञ्जक है ऐसे ही प्रकृति भाग भी [व्यञ्जक रूप में] देखा जाता है । जैसे :—

[कहां] वह टूटी-फूटी दीवारों का घर, और [कहां आज] यह आकाश-चुम्बी महल, [कहां इसकी] वह बुढ़िया गाय [और कहां आज] ये मेघों के समान [काली-काली और ऊंची] हाथियों की पंक्तियां झूम रही हैं । [कहां] वह मूसल की क्षुद्र ध्वनि, और [कहां आज सुनाई देने वाला] यह सुन्दरियों का मनोहर सङ्गीत । आश्चर्य है इन [थोड़े से] दिनों में ही इस [दरिद्र] ब्राह्मण [सुदामा] की इतनी अच्छी हालत होगई ।

इस श्लोक में 'दिवसैः' इस पदमें प्रकृत्यंश [दिवस शब्द] भी [इस प्रतिपादित अर्थ की अत्यन्त असम्भाव्यमानता का] अभिव्यञ्जक है ।

सर्वनाम भी अभिव्यञ्जक होते हैं जैसे अभी कहे गए [तद् गेहं] श्लोक में । यहां सर्वनामों के व्यञ्जकत्व को मन में रख कर ही कवि ने 'क्व' इत्यादि शब्द का प्रयोग नहीं किया है ।

यहां 'तद् गेहं नतभित्ति' में तत् यह सर्वनाम 'नतभित्ति' के प्रकृत्यंशके साथ मिलकर घर की अत्यन्त दरिद्रता का सूचक, मूषकाद्याकीर्ण दुर्दशा को व्यक्त करता है । यहां केवल 'तत्' सर्वनाम ही व्यञ्जक नहीं है । क्योंकि अकेले सर्वनाम से तो घर का उत्कर्ष भी प्रकट हो सकता था । परन्तु 'नतभित्ति' के सहकार से वह, घर की हीन अवस्था का अभिव्यञ्जक होता है । इसी प्रकार 'सा धेनुर्जरती'

---

१. यथात्रैवानन्तरोक्ते नि० ।

अनया दिशा सहृदयैरन्येऽपि व्यञ्जकविशेषाः स्वयमुत्प्रेक्षणीयाः। एतच्च सर्वं पदवाक्यरचनाद्योतनोक्त्यैव गतार्थमपि वैचित्र्येण व्युत्पत्तये पुनरुक्तम्।

ननु[1] चार्थसामर्थ्याक्षेप्या रसादय इत्युक्तं, तथा च सुबादीनां [2]व्यञ्जकत्ववैचित्र्यकथनमनन्वितमेव।

उक्तमत्र पदानां व्यञ्जकोक्त्यवसरे।

इत्यादि में भी प्रकृत्यंश सहकृत सर्वनाम को ही व्यञ्जक मानना चाहिए। केवल सर्वनाम को नहीं। यहां 'तत्' शब्द अनुभूतार्थस्मारकत्वेन व्यञ्जक है। इसलिए क्रमशः स्मृति और अनुभव के सूचक 'तत्' और 'इदं' शब्द के द्वारा स्मृति और अनुभव की अत्यन्त विरुद्ध विषयता के सूचन से आश्चर्य का उद्दीपक प्रतीत होता है। 'तत्' और 'इदं' शब्द के अभाव में यह विशेष अर्थ प्रतीत नहीं हो सकता है इसलिए वे सर्वनाम पद ही प्रधानतया व्यञ्जक हैं।

इसी प्रकार से अन्य व्यञ्जकों को भी सहृदय पुरुष स्वयं समझ लें। यह सब [सुप्, तिङ् आदि की व्यञ्जकता जो १६ वीं कारिका में कही है, दूसरी कारिका में कहे हुए] पद, वाक्य, रचना आदि की द्योतनोक्ति से ही गतार्थ हो सकता है फिर भी भिन्न प्रकार से व्युत्पत्ति [ज्ञानवृद्धि या बुद्धि वैशद्य] के लिए ही दुबारा कहा है।

[प्रश्न] अर्थ की सामर्थ्य से ही रसादि का आक्षेप हो सकता है यह पहले कहा जा चुका है। उस दशा में [केवल सुबादि के वाचक न होने से] सुबादि का नानाप्रकार से व्यञ्जकत्व वर्णन करना असङ्गत ही है।

[उत्तर] पदों की व्यञ्जकता के प्रतिपादन के अवसर पर इस विषय में [उत्तर] कह चुके हैं।

पृष्ठ २२२ पर इसका यह उत्तर दे चुके हैं कि ध्वनि व्यवहार में वाचकत्व प्रयोजक नहीं है अपितु व्यञ्जकत्व प्रयोजक है। पदों की व्यञ्जकता के प्रसङ्ग में यह शङ्का उठाई थी कि पद तो केवल **अर्थस्मारक** हैं वाचक नहीं तब अवाचक पदों से व्यङ्ग्य की प्रतीति कैसे होगी। वहां उसका समाधान यह किया था कि व्यञ्जकता का प्रयोजक वाच्यत्व नहीं है इसलिए अवाचक पदों में भी व्यञ्जकता रहने में कोई बाधा नहीं है। इस प्रकार एक बार इस विषय का निर्णय हो चुका था परन्तु विशेष महत्वपूर्ण बात होने के कारण उसको स्थूणानिखनन न्याय से दृढ़ करने के लिए फिर दुबारा यहां कहा है।

---

१. न तु नि०, दी०। २. व्यञ्जकत्वकथनम् दी०।

किञ्च, अर्थविशेषाक्षेप्यत्वेऽपि रसादीनां तेषामर्थविशेषाणां व्यञ्जकशब्दाविनाभावित्वाद् यथा प्रदर्शितं व्यञ्जकस्वरूपपरिज्ञानं विभज्योपयुज्यत एव । शब्दविशेषाणां चान्यत्र[1] च चारुत्वं यद् विभागेनोपदर्शितं तदपि तेषां व्यञ्जकत्वेनैवावस्थितमित्यवगन्तव्यम् ।

यत्रापि [2]तत् सम्प्रति न प्रतिभासते तत्रापि व्यञ्जके रचनान्तरे यद् दृष्टं सौष्ठवं तेषां प्रवाहपतितानां, तदेवाभ्यासादपोद्धृतानामप्यवभासत इत्यवसातव्यम्[3] । कोऽन्यथा तुल्ये वाचकत्वे शब्दानां चारुत्वविषयो विशेषः स्यात् ।

साथ ही [यह हेतु भी है] अर्थ विशेष से ही रस की अभिव्यक्ति मानने पर भी, उनकी अर्थ विशेष के [व्यञ्जक शब्दों के बिना प्रतीति नहीं हो सकती है । अतएव जैसा कि दिखाया गया है [उस प्रकार] व्यञ्जक के स्वरूप का अलग-अलग करके ज्ञान [रसादि की प्रतीति में] उपयोगी है ही । और अन्यत्र [भामहविवरण में भट्टोद्भट ने] शब्दविशेषों का जो चारुत्व अलग-अलग प्रदर्शित किया है वह भी उनके अर्थव्यञ्जकत्व के कारण ही व्यवस्थित होता है यह समझना चाहिए ।

और जहां [जिस शब्द में] वह [चारुत्व] इस समय [शृङ्गारादि व्यतिरिक्त स्थल में प्रयोग काल में] प्रतीत नहीं होता वहां [उस शब्द में] भी व्यञ्जक दूसरी रचना में समुदाय में प्रयुक्त उन शब्दों का जो सौष्ठव [चारुत्व] देखा था उन शब्दों के उस [व्यञ्जक] समुदाय से अलग हो जाने पर भी अभ्यासवश वह चारुत्व प्रतीत होता रहता है यह समझना चाहिये । अन्यथा [सभी शब्दों में] वाचकत्व के समानरूप होने से [किन्हीं विशेष शब्दों में] चारुत्व विषयक भेद कहां से आवेगा ।

स्रक् चन्दनादि शब्द शृङ्गार रस में चारुत्व व्यञ्जक होते हैं परन्तु बीभत्स आदि में वही अचारुत्व व्यञ्जक होते हैं। इस लिए बीभत्सादि रसों में प्रयुक्त होने पर यह स्रक् चन्दनादि शब्द शृङ्गारादि के समान चारुत्व के व्यञ्जक नहीं होते । फिर भी अनेक बार सुन्दर अर्थ के प्रतिपादन से अधिवासित होने के कारण उनमें उस अर्थ को अभिव्यक्त करने की सामर्थ्य माननी ही चाहिए यही चारुत्व-व्यञ्जक शब्दों का अन्य शब्दों से भेद है ।

---

१. तत्रान्यत्र च नि० दी० । २. न तत् प्रतिभासते नि०, दी० ।
३. इत्यवस्थातव्यम् नि०, दी० ।

अन्य एवासौ सहृदयसंवेद्य इति चेत्, किमिदं सहृदयत्वं नाम। किं रसभावानपेक्षकाव्याश्रितसमयविशेषाभिज्ञत्वम् उत रसभावादिमयकाव्यस्वरूपपरिज्ञाननैपुण्यम्। पूर्वस्मिन् पक्षे तथाविधसहृदयव्यवस्थापितानां शब्दविशेषाणां चारुत्वनियमो न स्यात्। पुनः समयान्तरेणान्यथापि व्यवस्थापनसम्भवात्। द्वितीयस्मिंस्तु पक्षे रसज्ञतैव सहृदयत्वमिति। तथाविधैः सहृदयैः संवेद्यो रसादिसमर्पणसामर्थ्यमेव नैसर्गिकं शब्दानां विशेष इति व्यञ्जकत्वाश्रय्येव[1] तेषां मुख्यं चारुत्वम्। वाचकत्वाश्रयाणान्तु[2] प्रसाद एवार्थापेक्षया तेषां विशेषः। अर्थानपेक्षायां[3] त्वनुप्रासादिरेव ॥१६॥

यदि यह कहें कि [शब्दों के चारुत्वविशेष का नियामक] सहृदय-संवेद्य कोई अन्य ही [विशेषता] है। तो [यह पूछना चाहिए कि] यह सहृदयत्व [आपके मत में] क्या है। १. क्या रस भाव की अपेक्षा के बिना ही काव्याश्रित सङ्केत विशेष का ज्ञान रखना ही सहृदयत्व है? अथवा रसभावमय काव्य के स्वरूप परिज्ञान की कुशलता [सहृदयत्व है]? यदि पहिला पक्ष मानें तो इस प्रकार के सहृदयों द्वारा निर्धारित शब्द विशेषों के चारुत्व का नियम नहीं बन सकता क्योंकि [दूसरी बार अन्य प्रकार से ही उन शब्दों का सङ्केत किया जा सकता है। [इसलिए पहिला पक्ष ठीक नहीं है]।

दूसरे ['रसभावादिमय-काव्य-स्वरूप-परिज्ञान-नैपुण्यमेव सहृदयत्वम्' इस] पक्ष में रसज्ञता का नाम ही सहृदयत्व हुआ। इस प्रकार के सहृदयों से संवेद्य [शब्द विशेषों के चारुत्व का नियामक] शब्दों की रस समर्पण [रसाभिव्यक्ति] की स्वाभाविक सामर्थ्य ही शब्दों की [चारुत्वद्योतन की नियामक] विशेषता है। इसलिए मुख्यतया व्यञ्जकत्व [शक्ति] के आश्रित ही शब्दों का चारुत्व [निर्धारित होता] है।

वाचकत्वाश्रय [चारुत्व हेतु] उन [शब्दों] के अर्थ की अपेक्षा होने पर प्रसाद [गुण] ही उनका भेदक है। और अर्थ की अपेक्षा न होने पर अनुप्रासादि ही [अन्य साधारण शब्दों से विशेष भेदक हैं।]

अर्थात् जहां व्यञ्जक शब्द का उपयोग नहीं होता केवल वाचक शब्द से

---

१. व्यञ्जकत्वाश्रय एव नि० दी०। २. वाचकत्वाश्रयस्तु नि० दी०। ३. अर्थापेक्षायां नि०, अर्था (न) पेक्षायां दी०।

एवं रसादीनां व्यञ्जकस्वरूपमभिधाय तेषामेव विरोधिरूपं लक्षयितुमिदमुपक्रम्यते—

प्रबन्धे मुक्तके वापि रसादीन् बन्द्धुमिच्छता ।
यत्नः कार्यः सुमतिना परिहारे विरोधिनाम् ॥१७॥

प्रबन्धे मुक्तके वापि रसभावनिबन्धनं प्रत्यादृतमनाः कविर्विरोधिपरिहारे परं यत्नमादधीत । अन्यथा त्वस्य रसमयः श्लोक एकोऽपि सम्यङ् न सम्पद्यते ॥१७॥

ही चारुत्व प्रतीत होता है वहां चारुत्व के बोधक शब्दों में अन्य शब्दों से जो विशेषता होती है वह वाचक के आश्रित ही रहती है । और उसके भी दो रूप होते हैं। एक जहां केवल शब्दनिष्ठ चारुता की प्रतीति हो और उस में अर्थ ज्ञान की कोई आवश्यकता न हो ऐसे शब्दनिष्ठ चारुता द्योतक शब्दों का अन्य शब्द से भेद करने वाला विशेष धर्म अनुप्रासादि शब्दालङ्कार हैं । और जहां चारुत्व प्रतीति में अर्थज्ञान की सहायता भी अपेक्षित होती है वहां 'प्रसाद गुण' चारुता द्योतक शब्दों को अन्य शब्दों से भिन्न करता है ।

इस प्रकार सुबादि के वाचक न होने पर भी वह रस के अभिव्यञ्जक हो सकते हैं क्योंकि वाचक शब्द उनकी सहायता से ही अपना अर्थ बोध कर सकते हैं। अतः व्यङ्ग्य अर्थ के व्यञ्जक शब्द से अविनाभूत होने के कारण, और प्रातिपदिक के सुबादि सहयोग से ही अर्थ बोधक होने से सुबादि भी रसादि के अभिव्यञ्जक होते हैं इस प्रकार यह प्रकरण समाप्त हुआ ॥१६॥

इस प्रकार रसादि के अभिव्यञ्जकों के स्वरूप का प्रतिपादन कर के [अब] उन्हीं [रसादि] के विरोधियों का स्वरूप प्रतिपादन करने के लिए यह [अगला प्रकरण] प्रारम्भ करते हैं।

प्रबन्ध काव्य अथवा मुक्तक [काव्य] में रसादि के निबन्धन की इच्छा रखने वाले बुद्धिमान् [कवि] को [रस के] विरोधियों के परिहार के लिए प्रयत्न करना चाहिए ।

प्रबन्ध [काव्य] अथवा मुक्तक [काव्य] में रसबन्ध के लिए

कानि पुनस्तानि विरोधीनि यानि यत्नतः कवेः परिहर्तव्यानी-त्युच्यते :—

विरोधिरससम्बन्धिविभावादिपरिग्रहः ।
विस्तरेणान्वितस्यापि वस्तुनोऽन्यस्य वर्णनम् ॥१८॥
अकाण्ड एव विच्छित्तिरकाण्डे च प्रकाशनम् ।
परिपोषं गतस्यापि पौनःपुन्येन दीपनम् ।
रसस्य स्याद् विरोधाय वृत्त्यनौचित्यमेव च ॥१९॥

समुत्सुक कवि, विरोधियों के परिहार के लिए पूर्ण प्रयत्न करे । अन्यथा उसका एक भी श्लोक रसमय नहीं हो सकता है ॥१७॥

रस के विरोधी पांच प्रकार के होते हैं । कारिका के आधे-आधे भाग में एक-एक का वर्णन किया गया है । इस प्रकार यह ढाई कारिका इस विषय की होती है । परन्तु संख्या देते समय इन पर १८ तथा १९ दो ही कारिकाओं की संख्या दी गई है । जिससे १९ कारिका का कलेवर तीन पंक्ति का हो गया है । एक विषय से सम्बद्ध होने से और आगे की कारिकाओं में गड़बड़ न हो इस लिए यह संख्या क्रम रखा गया है । अन्य सब संस्करणों में ऐसा ही क्रम है ।

[रसादि के] वह विरोधी जिनको यत्नपूर्वक कवि को बचाना चाहिए कौन से हैं, यह बतलाते हैं ।

१. विरोधी रस के सम्बन्धी विभावादि का ग्रहण कर लेना ।

२. [रस से] सम्बद्ध होने पर भी अन्य वस्तु का अधिक विस्तार से वर्णन करना ।

३. असमय में रस को समाप्त कर देना अथवा अनवसर में उसका प्रकाशन करना ।

४. [रस का] पूर्ण परिपोषण हो जाने पर भी बार-बार उसका उद्दीपन करना ।

५. और व्यवहार का अनौचित्य ।

[ये पांचों] रस के विरोधकारी होते हैं ।

प्रस्तुतरसापेक्षया विरोधी यो रसस्तस्य सम्बन्धिनां विभावभावानुभावानां परिग्रहो रसविरोधहेतुकः[1] सम्भावनीयः ।

तत्र विरोधिरसविभावपरिग्रहो यथा, शान्तरसविभावेषु तद्विभावतयैव निरूपितेष्वनन्तरमेव शृङ्गारादिविभाववर्णने[2] ।

विरोधिरसभावपरिग्रहो यथा प्रियं प्रति प्रणयकलहकुपितासु कामिनीषु वैराग्यकथाभिरनुनये ।

विरोधिरसानुभावपरिग्रहो यथा प्रणयकुपितायां प्रियायामप्रसीदन्त्यां नायकस्य कोपावेशविवशस्य रौद्रानुभाववर्णने ।

रसों का विरोध तीन प्रकार से होता है । किन्हीं का आलम्बन ऐक्य में, किन्हीं का आश्रय ऐक्य में और किन्हीं का नैरन्तर्य से ।

वीर और शृङ्गार का; हास्य, रौद्र और बीभत्स के साथ सम्भोगशृङ्गार का; और वीर, करुण तथा रौद्रादि के साथ विप्रलम्भ शृङ्गार का विरोध आलम्बन ऐक्य से ही होता है ।

२. आश्रय ऐक्य से वीर और भयानक का तथा

३. नैरन्तर्य तथा विभाव ऐक्य से शान्त और शृङ्गार का विरोध होता है ।

प्रस्तुत रस की दृष्टि से जो विरोधी रस हो उससे सम्बन्ध रखने वाले विभाव, अनुभाव तथा व्यभिचारी भावों का वर्णन [सब से पहिला] रसविरोधी हेतु समझना चाहिए ।

अ. उनमें विरोधी रस के विभाव परिग्रह [का उदाहरण] जैसे शान्तरस के विभावों का उसके विभाव रूप में ही वर्णन करने के बाद तुरन्त ही शृङ्गार के विभाव का वर्णन करने लगना । [शान्त और शृङ्गार का नैरन्तर्येण विरोध होने से ऐसा वर्णन दोषाधायक है ।]

ब. विरोधी में रस के भाव [व्यभिचारी भाव] के परिग्रह [का उदाहरण] जैसे, प्रिय के प्रति प्रणय-कलह में कुपित कामिनियों के वैराग्य चर्चा द्वारा अनुनय वर्णन में ।

स. विरोधी रस के अनुभाव के परिग्रह [का उदाहरण] जैसे प्रणय-

---

१. हेतुरेकः नि०, दी० । २. शृङ्गारादिवर्णने नि० ।

अयं चान्यो रसभङ्गहेतुर्यत् प्रस्तुतरसापेक्षया वस्तुनोऽन्यस्य कथञ्चिदन्वितस्यापि विस्तरेण कथनम् । यथा विप्रलम्भशृङ्गारे नायकस्य कस्यचिद् वर्णयितुमुपक्रान्ते[1], कवेर्यमकाद्यलङ्कारनिबन्धनरसिकतया महता प्रबन्धेन पर्वतादिवर्णने ।

कलह में कुपित मानिनी के प्रसन्न न होने पर कोपाविष्ट नायक के रौद्रानुभावों का वर्णन करना।

यहां भाव शब्द से व्यभिचारी भाव का ही ग्रहण करना चाहिये, स्थायीभाव का नहीं क्योंकि पूर्व स्थायीभाव का विच्छेद हुए विना विरोधी स्थायीभाव का उदय संभव ही नहीं है। इसलिये 'भाव' शब्द को सामान्यवाचक होते हुए भी यहां व्यभिचारीभाव परक ही समझना चाहिये।

इस प्रकार का उदाहरण यह है :—

प्रसादे वर्तस्व, प्रकटय मुदं, सन्त्यज रुषं ;
प्रिये शुष्यन्त्यङ्गान्यमृतमिव ते सिञ्चतु वचः।
निधानं सौख्यानां क्षणमभिमुखं स्थापय मुखं ;
न मुग्धे प्रत्येतुं प्रभवति गतः कालहरिणः ॥

प्रसन्न हो जाओ, आनन्द प्रकट करो और क्रोध को छोड़ दो। प्रिये मेरे अङ्ग सूखे जा रहे हैं, उन पर अपने वचनामृत की वर्षा करो। समस्त सुखों के आधार स्वरूप अपने मुख को ज़रा सामने करो। अयि सरले ! काल रूप हरिण एक बार चले जाने पर फिर नहीं लौट सकता।

इस प्रकार वैराग्य कथा से प्रणय-कलह-कुपित कामिनी का अनुनय शृङ्गार विरोधी होने से परित्याज्य है। क्योंकि वैराग्य कथा से तत्वज्ञान हो जाने पर तो फिर शृङ्गार में प्रवृत्ति ही नहीं हो सकती अतएव वह हेय है।

यह [दूसरा] रसभङ्ग का हेतु और है कि, प्रस्तुत रस से किसी प्रकार सम्बद्ध होने पर भी [रस से भिन्न] किसी अन्य वस्तु का विस्तार पूर्वक वर्णन। जैसे किसी नायक के विप्रलम्भ शृङ्गार का वर्णन प्रारम्भ कर कवि का यमकादि रचना के अनुराग से अत्यन्त विस्तार के साथ पर्वतादि का वर्णन करने लगना। [जैसे 'किरातार्जुनीय' [काव्य] में सुराङ्गनाविलासादि। अथवा हयग्रीव वध में हयग्रीव का अति विस्तृत वर्णन।]

---

१. उपक्रान्तस्य नि० दी०।

अयं चापरो रसभङ्गहेतुरवगन्तव्यो यदकाण्ड एव विच्छित्ती[1] रसस्याकाण्ड एव च प्रकाशनम्[2]।

तत्रानवसरे विरामो यथा नायकस्य कस्यचित् स्पृहणीयसमागमया नायिकया कयाचित् परां परिपोषपदवीं प्राप्ते शृङ्गारे, विदिते च परस्परानुरागे, समागमोपायचिन्तोचितं व्यवहारमुत्सृज्य स्वतन्त्रतया व्यापारान्तरवर्णने।

अनवसरे च प्रकाशनं [3]रसस्य यथा प्रवृत्ते [4]प्रवृद्धविविध-वीरसंक्षये कल्पसंक्षयकल्पे संग्रामे [5]रामदेवप्रायस्यापि तावन्नायक-स्यानुपक्रान्तविप्रलम्भशृङ्गारस्य निमित्तमुचितमन्तरेणैव शृङ्गारकथाया-यमवतारवर्णने।

नचैवंविधे विषये दैवव्यामोहितत्वं कथापुरुषस्य परिहारो,

---

३. अकाण्ड [अनवसर] में रस को विच्छिन्न कर देना अथवा अनवसर में ही उसका विस्तार [करने लगना] यह भी और [तीसरा] रसभङ्ग का हेतु है।

अ. उसमें अकाण्ड में विराम [का उदाहरण] जैसे किसी नायक का जिसके साथ समागम उसको अभीष्ट है ऐसी नायिका के साथ [किसी प्रकार] शृङ्गार [रति] के परिपुष्ट हो जाने और [उनके] परस्पर अनुराग का पता लग जाने पर उनके समागम के उपाय के चिन्तन योग्य व्यापार को छोड़ कर स्वतन्त्र रूप से किसी अन्य व्यापार का वर्णन करने लगना। [जैसे 'रत्नावली' [नाटिका] में 'बाभ्रव्य' के आने पर सागरिका की विस्मृति।]

ब. अनवसर में रस के प्रकाशन [का उदाहरण] जैसे नाना वीरों के विनाशक कल्प प्रलय के समान भीषण संग्राम के प्रारम्भ हो जाने पर विप्रलम्भ शृङ्गार के प्रसङ्ग के बिना और बिना किसी उचित कारण के रामचन्द्र सरीखे देवपुरुष का भी शृङ्गार कथा में पड़ जाने का वर्णन करने में [भी रसभङ्ग होता है जैसे वेणीसंहार के द्वितीय अङ्क में महाभारत का युद्ध प्रारम्भ हो जाने पर भी भानुमती और दुर्योधन के शृङ्गार वर्णन में।]

इस प्रकार के विषय में [यहां दुर्योधन ने दैववश व्यामोह में पड़ कर वह सब कुछ किया इस प्रकार] कथा नायक के दैवी व्यामोह से उस दोष का

---

१. विच्छित्तिः बा० प्रि०। २. प्रथनम् नि०, दी०। ३. रसस्य नि० में नहीं है। ४. प्रवृत्त बा० प्रि०। ५. देवप्रायस्य नि०, दी०।

यतो रसबन्ध एव कवेः प्राधान्येन [1]प्रवृत्तिनिबन्धनं युक्तम् । इतिवृत्त-वर्णनं तदुपाय एवेत्युक्तं प्राक् "आलोकार्थी यथा दीपशिखायां यत्नवान् जनः" इत्यादिना।

अत एव चेतिवृत्तमात्रवर्णनप्राधान्येऽङ्गाङ्गिभावरहितरसभाव-निबन्धेन च कवीनामेवंविधानि स्खलितानि भवन्तीति रसादिरूप-व्यङ्ग्यतात्पर्यमेवैषां युक्तमिति यत्नोऽस्माभिरारब्धो न ध्वनिप्रति-पादनमात्राभिनिवेशेन।

पुनश्चायमन्यो रसभङ्गहेतुरवधारणीयो यत् परिपोषं गतस्यापि रसस्य पौनःपुन्येन दीपनम्। उपभुक्तो हि रसः स्वसामग्रीलब्धपरिपोषः पुनः पुनः परामृश्यमाणः परिम्लानकुसुमकल्पः कल्पते।

तथावृत्तेर्व्यवहारस्य यदनौचित्यं तदपि रसभङ्गहेतुरेव। यथा नायकं प्रति नायिकायाः कस्याश्चिदुचितां [2]भङ्गिमन्तरेण स्वयं सम्भोगाभिलाषकथने।

परिहार नहीं हो सकता है क्योंकि रस बन्धन ही कवि की प्रवृत्ति का मुख्य कारण है और इतिहास वर्णन तो उसका उपाय मात्र ही है। यह बात "आलोकार्थी यथा दीपशिखायां यत्नवान् जनः" इत्यादि से [प्रथम उद्योत की नवम कारिका में] पहिले ही [पृ० ५० पर] कह चुके हैं।

इसलिए केवल इतिहास के वर्णन का प्राधान्य होने पर अङ्ग और अङ्गी भाव का विचार किए बिना ही रस और भाव का निबन्धन करने से कवियों से इस प्रकार के [सब] दोष हो जाते हैं अतः रसादिरूप व्यङ्ग्य तत्परत्व ही उनके लिए उचित है इसी दृष्टि से हमने यह [ध्वनि-निरूपण का] यत्न प्रारम्भ किया है केवल ध्वनि के प्रतिपादन के आग्रह के कारण ही नहीं।

४. फिर यह [चौथा] और रसभङ्ग का हेतु समझना चाहिए कि रस के परिपुष्टि को प्राप्त हो जाने पर भी बार-बार उसको उद्दीप्त करना। अपनी [विभावादि] सामग्री से परिपुष्ट और उपभुक्त रस बार-बार स्पर्श करने से मुरझाए हुए फूल के समान मलिन हो जाता है।

५. और [पांचवां] व्यवहार का जो अनौचित्य है वह भी रसभङ्ग का ही हेतु होता है। जैसे नायक के प्रति किसी नायिका का उचित हाव-भाव

---

१. स्वप्रवृत्ति नि०, स्ववृत्ति दी०। २. अङ्गभङ्गि नि०।

यदि वा वृत्तीनां भरतप्रसिद्धानां कैशिक्यादीनां काव्यालङ्कारान्तरप्रसिद्धानामुपनागरिकाद्यानां वा यदनौचित्यमविषये निबन्धनं तदपि रसभङ्गहेतुः ।

के बिना स्वयं [शब्दतः] सम्भोगाभिलाष कहने में [व्यवहार का अनौचित्य हो जाने से रसभङ्ग होता है ।]

अथवा भरत प्रसिद्ध कैशिकी आदि वृत्तियों का अथवा दूसरे [भामह-कृत] काव्यालङ्कार [और उस पर भट्टोद्भटकृत 'भामह विवरण'] में प्रसिद्ध उपनागरिका आदि वृत्तियों का जो अनौचित्य अर्थात् अविषय में निबन्धन है वह भी रसभङ्ग का [पांचवां] हेतु है ।

भरत के नाट्य शास्त्र में कैशिकी, सात्वती, भारती तथा आरभटी चार वृत्तियों का वर्णन किया गया है । उनके लक्षण इस प्रकार दिए गए हैं —

कैशिकीलक्षणम् :—

या श्लक्ष्णनेपथ्यविशेषचित्रा, स्त्रीसंयुता या बहुनृत्तगीता ।
कामोपभोगप्रभवोपचारा , तां कैशिकीं वृत्तिमुदाहरन्ति ॥

सात्वतीलक्षणम् :—

या सत्वजेनेह गुणेन युक्ता, न्यायेन वृत्तेन समन्विता च ।
हर्षोत्कटा संहृतशोकभावा , सा सात्वती नाम भवेत्तु वृत्तिः ॥

भारतीलक्षणम् :—

या वाक् प्रधाना पुरुषप्रयोज्या, स्त्रीवर्जिता संस्कृतवाक्ययुक्ता ।
स्वनामधेयैर्भरतैः प्रयुक्ता , सा भारती नाम भवेत्तु वृत्तिः ॥

आरभटीलक्षणम् शृङ्गारतिलके :—

या चित्रयुद्धभ्रमशस्त्रपातमायेन्द्रजालप्लुतिलङ्घिताढ्या ।
ओजस्विगुर्वक्षरबन्धगाढ़ा ज्ञेया बुधैः सारभटीति वृत्तिः ॥

इनकी उत्पत्ति भरत मुनि ने चारों वेदों से इस प्रकार बताई है :—

ऋग्वेदात् भारती वृत्तिः, यजुर्वेदात्तु सात्वती ।
कैशिकी सामवेदाच्च, शेषा चाथर्वणी तथा ॥

इन वृत्तियों के अनुचित प्रयोग से अथवा भट्टोद्भट प्रतिपादित उपनागरिका आदि वृत्तियों—जिनका कि वर्णन हम पीछे पृष्ठ २५१ पर कर चुके हैं—के अनुचित प्रयोग से भी रसभङ्ग होता है यह आगे कहते हैं ।

एवमेषां रसविरोधिनामन्येषाञ्चानया दिशा स्वयमुत्प्रेक्षितानां परिहारे सत्कविभिरवहितैर्भवितव्यम् । परिकरश्लोकाश्चात्रः—

मुख्या व्यापारविषयाः सुकवीनां[1] रसादयः ।
तेषां निबन्धने भाव्यं तैः सदैवाप्रमादिभिः ॥
नीरसस्तु प्रबन्धो यः सोऽपशब्दो महान् कवेः ।
स तेनाकविरेव स्यादन्येनास्मृतलक्षणः ॥
पूर्वे विश्रृङ्खलगिरः कवयः प्राप्तकीर्तयः ।
तान् समाश्रित्य न त्याज्या नीतिरेषा मनीषिणा ॥
वाल्मीकिव्यासमुख्याश्च ये प्रख्याताः कवीश्वराः ।
तदभिप्रायबाह्योऽयं नास्माभिर्दर्शितो नयः ॥ इति ॥१९॥

इस प्रकार इन रसविरोधियों [पांचों हेतुओं] का और इसी मार्ग से स्वयं उत्प्रेक्षित अन्य रसभङ्ग हेतुओं का परिहार करने में सत्कवियों को साव-धान रहना चाहिए । इस विषय के संग्रह श्लोक [इस प्रकार] हैं—

१. सुकवियों के व्यापार के मुख्य विषय रसादि हैं उनके निबन्धन में उन सत्कवियों को सदैव प्रमाद रहित [जागरूक] रहना चाहिए ।

२. कवि का जो नीरस काव्य है वह [उसके लिए] महान अपशब्द है । उस नीरस काव्य से वह कवि ही नहीं रहता । [कविरूप में] कोई उसका नाम भी याद नहीं करता ।

महाभाष्य में व्याकरण शास्त्र के प्रयोजनों का प्रतिपादन करते हुए महर्षि पतञ्जलि ने 'तेऽसुराः' प्रतीक से अपशब्द से बचना भी एक प्रयोजन बतलाया है । 'तेऽसुरा हेलयो हेलय इति कुर्वन्तः पराबभूवुः । तस्माद् ब्राह्मणेन न म्लेच्छितवै नापभाषितवै । म्लेच्छो ह वा एष यदपशब्दः । म्लेच्छा मा भूमेत्य-ध्येयं व्याकरणम् ।' म० भा० पस्पशान्हिक । जिस प्रकार वैयाकरण के लिए अपशब्द का प्रयोग म्लेच्छतापादक होने से अत्यन्त परिवर्जनीय है इसी प्रकार कवि के लिए नीरस काव्य की रचना अपशब्द सदृश होने से अत्यन्त गर्हित है । यह भाव यहां 'सोऽपशब्दो महान् कवेः' से अभिव्यक्त होता है ।

३. [इन नियमों का उल्लंघन करने वाले] स्वच्छन्द रचना करने वाले जो पूर्व कवि प्रसिद्ध हो गए हैं उनके [उदाहरण को] लेकर बुद्धिमान् [नवकवि] को यह नीति नहीं छोड़नी चाहिए ।

---

१. सत्कवीनाम् दी० ।

विवक्षिते रसे लब्धप्रतिष्ठे तु विरोधिनाम् ।
बाध्यानामङ्गभावं वा प्राप्तानामुक्तिरच्छला ॥२०॥

स्वसामग्र्या[1] लब्धपरिपोषे तु विवक्षिते रसे विरोधिनां, विरोधिरसाङ्गानां, बाध्यानामङ्गभावं वा प्राप्तानां सतामुक्तिरदोषः[2] । बाध्यत्वं हि विरोधिनां शक्याभिभवत्वे सति, नान्यथा । [3]तथा च तेषामुक्तिः प्रस्तुतरसपरिपोषायैव सम्पद्यते ।

---

४. [क्योंकि] वाल्मीकि व्यास इत्यादि जो प्रसिद्ध कवीश्वर हुए हैं उनके अभिप्राय के विरुद्ध हमने यह नीति निर्धारित नहीं की है ।

अपितु ये नियम सर्वथा उनके अभिप्राय के अनुकूल ही हैं । इसलिए यदि कोई पूर्व कवि स्वच्छन्द रचना कर के भी प्रसिद्ध हो गए हैं तो कवि बनने के इच्छुक नवकवि को उनकी इस स्वच्छन्दता का अनुकरण नहीं करना चाहिए ॥१६॥

इस प्रकार सामान्यतः विरोधियों के परिहार का निरूपण करके उस नियम के अपवाद रूप जहां विरोधियों का साथ-साथ वर्णन भी हो सकता है उन स्थितियों का निरूपण करते हैं—

विवक्षित [प्रधान] रस के परिपुष्ट [लब्धप्रतिष्ठ— सुस्थिर] हो जाने पर तो [१] बाध्य रूप अथवा [२] अङ्गरूपता को प्राप्त विरोधियों का कथन दोष रहित है ।

प्रधान रस के अपनी [विभावादि] सामग्री के आधार पर परिपुष्ट हो जाने पर विरोधियों [अर्थात्] विरोधी रस के अङ्गों का, [१] बाध्य अथवा [२] अङ्गभाव को प्राप्त रूप में वर्णन करने में कोई दोष नहीं है । [क्योंकि] विरोधियों [विरोधी रसाङ्गों] का बाध्यत्व उनका अभिभव सम्भव होने पर ही हो सकता है अन्यथा नहीं । अतएव उनका [बाध्य रूप] वर्णन प्रस्तुत रस का परिपोषक ही होता है । [इसलिए विरुद्ध रसों के अङ्ग भी प्रकृत रस से अभिभूत अर्थात् बाधित होकर उस विवक्षित [प्रधान] रस के परिपोषक ही हो जाते हैं अतः ऐसी दशा में उनका वर्णन करने में कोई हानि नहीं है ।]

अङ्गभाव को प्राप्त हो जाने पर तो विरोध ही समाप्त हो जाता है । [इसलिए अङ्गभाव को प्राप्त विरोधी रस के वर्णन में भी कोई हानि नहीं है]

---

१. स्वसामग्री नि,० दी० । २. अदोषा नि०, निर्दोषा दी० । ३. नि०, दी० में 'तथा च' नहीं है ।

अङ्गभावं प्राप्तानां च [1]तेषां विरोधित्वमेव निवर्तते। [2]अङ्गभाव-प्राप्तिर्हि तेषां स्वाभाविकी समारोपकृता वा। तत्र येषां नैसर्गिकी तेषां तावदुक्तावविरोध एव। यथा विप्रलम्भश्रृङ्गारे तदङ्गानां व्याध्यादीनाम्। [3]तेषां च तदङ्गानामेवादोषो नातदङ्गानाम्।

उन [विरोधी रसाङ्गों] का अङ्गभाव भी स्वाभाविक अथवा समारोपित [दो] रूप से हो सकता है। उनमें जिनका स्वाभाविक अङ्गभाव है उनके वर्णन में तो अविरोध ही है। जैसे विप्रलम्भ श्रृङ्गार में [उसके अङ्गभूत] व्याधि आदि का [अविरोध है]। उन [व्याधि आदि व्यभिचारी भावों] में उस [विप्रलम्भ श्रृङ्गार] के अङ्गभूत [व्यभिचारियों] का वर्णन ही दोष रहित है उससे भिन्न [जो] उस [विप्रलम्भ में श ृङ्गार] के अङ्ग नहीं हैं, उनका नहीं।

'विप्रलम्भश्रृङ्गारे तदङ्गानां व्याध्यादीनाम्। तेषां च तदङ्गानामेवादोषो नातदङ्गानाम्।' इस पंक्ति का आशय यह है कि रसों के व्यभिचारीभाव सम्मिलित रूप से ३३ माने गए हैं। साहित्यदर्पणकार ने उनका संग्रह इस प्रकार किया है :—

> निर्वेदावेगदैन्यश्रममदजड़ता औग्र्यमोहौ विबोधः,
> स्वप्नापस्मारगर्वा मरणमलसतामर्षनिद्रावहित्था।
> औत्सुक्योन्मादशङ्काः स्मृतिमतिसहिता व्याधिसंत्रासलज्जा,
> हर्षासूयाविषादाः सधृतिचपलता ग्लानिचिन्तावितर्काः॥
>
> सा. द. ३, १४१।

> त्रयस्त्रिंशदमी भावाः समाख्यातास्तु नामतः,
> विज्ञेया व्यभिचारिणः। का. प्र. ४, ३४।

इनमें से उग्रता, मरण, आलस्य और जुगुप्सा को छोड़ कर शेष सब श्रृङ्गार रस के व्यभिचारी भाव होते हैं। 'त्यक्त्यौग्र्यमरणालस्यजुगुप्सा व्यभिचारिणः'। सा० द० ३, १८६। और करुण रस में निर्वेद, मोह, अपस्मार, व्याधि, ग्लानि, स्मृति, श्रम, विषाद, जड़ता, उन्माद और चिन्ता यह व्यभिचारी भाव होते हैं। 'निर्वेद मोहापस्मारव्याधिग्लानिस्मृतिश्रमाः। विषादजड़तोन्माद-

---

१. तदुक्तावविरोध एव नि०। २. अङ्गभाव प्राप्तिर्हि तेषां स्वाभाविकी समारोपकृता वा। तत्र येषां नैसर्गिकी तेषां तावदुक्ताव-विरोध एव इतना पाठ नि० में नहीं है। ३. तेषां च नि०, दी० में नहीं है।

तदङ्गत्वे च सम्भवत्यपि मरणस्योपन्यासो न ज्यायान्[1]। आश्रयविच्छेदे रसस्यात्यन्तविच्छेदप्राप्तेः। करुणस्य तु तथाविधे विषये परिपोषो भविष्यतीति चेत्, न। तस्याप्रस्तुतत्वात्, प्रस्तुतस्य च विच्छेदात्। यत्र तु [2]करुणरसस्यैव काव्यार्थत्वं तत्राविरोधः।

शृङ्गारे वा मरणस्यादीर्घकालप्रत्यापत्तिसम्भवे कदाचिदुपनिबन्धो नात्यन्तविरोधी। दीर्घकालप्रत्यापत्तौ [तु] तस्यान्तरा प्रवाहविच्छेद एवेत्येवंविधेतिवृत्तोपनिबन्धनं रसबन्धप्रधानेन कविना परिहर्तव्यम्।

चिन्ताद्या व्यभिचारिणः' । सा० द० ३,२२५। इस प्रकार व्याधि आदि शृङ्गार और करुण दोनों के समान व्यभिचारीभाव हैं। करुण और विप्रलम्भशृङ्गार का आलम्बनैक्येन विरोध ऊपर पृष्ठ २६० पर दिखाया जा चुका है। व्याधि आदि व्यभिचारीभाव दोनों के अङ्गों में पठित है। अतः वह दोनों के अङ्ग हो सकते हैं और दोनों के साथ उनका स्वाभाविक अङ्गाङ्गिभाव सम्बन्ध है। इसलिये जो व्याधि आदि विप्रलम्भ शृङ्गार के विरोधी करुण रस के अङ्ग हैं वह विप्रलम्भ शृङ्गार के विरोधी हैं। परन्तु उन व्याधि आदि का शृङ्गार के साथ भी स्वाभाविक अङ्गाङ्गिभाव है। इसलिये विप्रलम्भ शृङ्गार में भी व्याधि आदि का वर्णन करने में कोई दोष नहीं है परन्तु आलस्य, उग्रता, जुगुप्सा, आदि जिन व्यभिचारियों का शृङ्गार में अङ्गभाव नहीं है परन्तु करुणरस में है, उन का विप्रलम्भ शृङ्गार में वर्णन दोषाधायक ही होगा। यह उक्त पंक्ति का अभिप्राय है। 'विप्रलम्भशृङ्गारे तदङ्गानां व्याध्यादीनाम्।' का भाव यह हुआ कि व्याधि आदि करुण रस के अङ्ग होने से विप्रलम्भ शृङ्गार के साथ उनका विरोध हो सकता है परन्तु वह शृङ्गार के भी अङ्ग हैं इसलिये 'तदङ्गानां अर्थाद् विप्रलम्भशृङ्गाराङ्गानां व्याध्यादीनामविरोधः'। परन्तु 'व्याध्यादि' से सभी व्यभिचारी भावों का ग्रहण न कर लिया जाय इसलिये आगे 'तेषां च तदङ्गानामेवादोषो नातदङ्गानाम्।' लिख कर यह सूचित किया कि जो व्याधि आदि शृङ्गार के भी अङ्ग हैं उन्हीं का वर्णन हो सकता है जो शृङ्गार के अङ्ग नहीं केवल करुण के अङ्ग हैं उनका वर्णन तो दोषजनक ही होगा। अतएव उनका वर्णन नहीं करना चाहिये।

मरण के उस [विप्रलम्भशृङ्गार] का अङ्ग हो सकने पर भी उसका वर्णन करना उचित नहीं है। क्योंकि आश्रय [आलम्बन विभाव] का ही

---

१. न न्याय्यः नि०, दी०। २. करुणस्यैव नि०, दी०।

नाश हो जाने से रस का अत्यन्त विनाश हो जायगा। यदि यह कहो कि ऐसे स्थान में करुण रस का परिपोषण होगा [तो रस का सर्वथा नाश तो नहीं हुआ।] यह कहना उचित नहीं है क्योंकि करुण रस प्रस्तुत रस नहीं है और जो [विप्रलम्भ शृङ्गार] प्रस्तुत है उसका अत्यन्त विच्छेद हो जाता है। [हां] जहां करुणरस काव्य का मुख्य रस है वहां तो [मरण वर्णन में भी] विरोध नहीं है।

अथवा शृङ्गार में जहां शीघ्र ही उनका समागम फिर हो सके ऐसे स्थान पर मरण का वर्णन भी अत्यन्त विरोधी नहीं है। [परन्तु जहां] दीर्घकाल बाद पुनः सम्मिलन हो सके वहां तो बीच में रस प्रवाह का विच्छेद ही हो जाता है अतएव रसप्रधान कवि को इस प्रकार के इतिवृत्त के वर्णन को बचाना ही चाहिए।

यहां आलोककार ने लिखा है कि मरण विप्रलम्भ शृङ्गार का अङ्ग हो सकता है परन्तु ऊपर 'त्यक्त्वौग्र्यमरणालस्यजुगुप्सा व्यभिचारिणः' । सा० द० ३,१८६ जो उद्धृत किया है उसमें मरण को शृङ्गार का अङ्ग या व्यभिचारीभाव नहीं माना है।

आलस्यौग्र्यजुगुप्साभिर्भावैस्तु परिवर्जिताः।
उद्भावयन्ति शृङ्गारं सर्वे भावाः स्वसंज्ञया ॥ ना० शा० १०८

भरत मुनि के नाट्य शास्त्र के इस श्लोक में मरण को भी शृङ्गार में वर्जित नहीं किया है। अतः प्रतीत होता है कि नवीन आचार्यों ने नायिका या नायक में से किसी की मृत्यु होजाने पर विप्रलम्भ की सीमा समाप्त होकर करुण की सीमा आजाने से प्रवाह के विच्छिन्न हो जाने से मरण को विप्रलम्भ का अङ्ग नहीं माना है। परन्तु उसकी यह कल्पना भरत मुनि के अभिप्राय के विरुद्ध प्रतीत होती है। आलोककार ने भरत के नाट्यशास्त्र के आधार पर ही अपना यह प्रकरण लिखा है। भरत मुनि ने जो मरण को विप्रलम्भ शृङ्गार में भी व्यभिचारीभाव माना है वह इसी अदीर्घकालीन प्रत्यापत्ति के आधार पर माना है। और उसका वर्णन भी उस रूप में कालिदास आदि के ग्रन्थों में मिलता है। कालिदास ने रघुवंश में लिखा है :—

तीर्थे तोयव्यतिकरभवे जह्नुकन्यासरय्वोः
देहन्यासादमरगणनालेखमासाद्य सद्यः।

पूर्वाकाराधिकचतुरया सङ्गतः कान्तयासौ
लीलागारेष्वरमत पुनर्नन्दनाभ्यन्तरेषु ॥

'अत्र स्फुटैव रत्यङ्गता मरणस्य'। लिख कर लोचनकार ने उसकी रत्यङ्गता का पोषण किया है। यह श्लोक रघुवंश के आठवें सर्ग का अन्तिम श्लोक है। इन्दुमती के मर जाने के आठ वर्ष की बीमारी के बाद अज ने गङ्गा और सरयू के सङ्गम पर शरीर त्याग कर देवभाव को प्राप्त किया और उस देव लोक में पहिले ही पहुंची हुई पहिले से अधिक चतुर कान्ता इन्दुमती के साथ नन्दन वन के भीतर बने लीलाभवनों में रमण किया। यह श्लोक का भाव है। यहां वर्णित मरण इसी श्लोक में वर्णित रति का अङ्ग है। इस रूप में मरण को शृङ्गार का अङ्ग माना गया है।

परन्तु मूल प्रश्न तो विप्रलम्भ शृङ्गार से चला था। मरण विप्रलम्भ शृङ्गार का अङ्ग हो सकता है या नहीं। इस उदाहरण से उसकी विप्रलम्भ शृङ्गार के प्रति अङ्गता सिद्ध नहीं होती है। सम्भोग शृङ्गार के प्रति अङ्गता प्रतीत होती है और वह भी बिल्कुल काल्पनिक है।

पण्डितराज जगन्नाथ ने अपने 'रसगङ्गाधर' नामक ग्रन्थ में शृङ्गार के प्रसङ्ग में 'जातप्राय' और 'चेतसा आकांक्षित' दो रूप से मरण के वर्णन का विधान किया है। जैसे :—

दयितस्य गुणाननुस्मरन्ती शयने सम्प्रति सा विलोकितासीत्।
अधुना खलु हन्त सा कृशाङ्गी गिरमङ्गीकुरुते न भाषितापि ॥

इसमें जातप्राय मरण और निम्न श्लोक में मन से आकांक्षित मरण का वर्णन किया है।

रोलम्बाः परिपूरयन्तु हरितो झङ्कारकोलाहलैः,
मन्दं मन्दमुपैतु चन्दनवनीजातो नभस्वानपि।
माद्यन्तः कलयन्तु चूतशिखरे केलीपिकाः पञ्चमं,
प्राणाः सत्वरमश्मसारकठिना गच्छन्तु गच्छन्त्वमी ॥

इस प्रकार जातप्राय, मनता आकांक्षित तथा अचिर प्रत्यापत्ति युक्त इन तीन रूपों में शृङ्गार रस में भी मरण का वर्णन प्राचीन कविपरम्परा में पाया जाता है। और भरत मुनि को भी अभिप्रेत जान पड़ता है। परन्तु वास्तविक आत्यान्तिक मरण किसी को अभिप्रेत नहीं। अतएव साहित्यदर्पणकार आदि जिन आचार्यों ने मरण को शृङ्गार में व्यभिचारीभाव नहीं माना है उनका अभिप्राय वास्तविक या आत्यन्तिक मरण के निषेध से ही है — ऐसा समझना चाहिये।

तत्र लब्धप्रतिष्ठे तु विवक्षिते रसे विरोधिरसाङ्गानां बाध्यत्वेनोक्तावदोषः ।

यथा :—

क्वाकार्यं शशलक्ष्मणः क्व च कुलं, भूयोऽपि दृश्येत सा;
दोषाणां प्रशमाय मे श्रुतमहो, कोपेऽपि कान्तं मुखम् ।
किं वक्ष्यन्त्यपकल्मषाः कृतधियः, स्वप्नेऽपि सा दुर्लभा,
चेतः स्वास्थ्यमुपैहि कः खलु युवा, धन्योऽधरं पास्यति ॥

इस प्रकार नैसर्गिक अङ्ग भाव का निरूपण किया। नैसर्गिक से भिन्न अङ्गता समारोपित अङ्गता समझनी चाहिए इसलिए उसका लक्षण यहां नहीं किया है। उदाहरण आगे देंगे। विरोधी रसाङ्गों के १. बाध्यरूप, तथा अङ्गाङ्गिभाव में २. नैसर्गिक अङ्गाङ्गिभाव तथा ३. समारोपित अङ्गाङ्गिभाव इस प्रकार तीन रूपों में निरूपण में दोष नहीं है यह ऊपर का सारांश हुआ। इन तीनों के उदाहरण आगे देते हैं।

उनमें प्रधान रस के लब्धप्रतिष्ठ [परिपुष्ट] हो जाने पर बाध्यरूप से विरोधी रसाङ्गों के वर्णन में दोष नहीं होता [इसका उदाहरण] जैसे :—

अन्य अप्सराओं के साथ उर्वशी के स्वर्ग को चले जाने पर विरहोत्कण्ठ राजा पुरूरवा के मन में उठते हुए अनेक प्रकार के विचारों का इस पद्य में यथाक्रम वर्णन है। अर्थ इस प्रकार है :—

१. कहां यह अनुचित कार्य और कहां उज्ज्वल चन्द्रवंश ! [वितर्क]
२. क्या वह फिर कभी देखने को मिलेगा ? [औत्सुक्य]
३. अरे ! मैंने तो [कामादि] दोषों का दमन करने वाला शास्त्रों का श्रवण किया है। [मति]
४. क्रोध में भी कैसा सुन्दर [उसका] मुख [लगता था] [स्मरण]
५. [मेरे इस व्यवहार को देख कर] धर्मात्मा विद्वान् लोग क्या कहेंगे। [शङ्का]
६. वह तो अब स्वप्न में भी दुर्लभ हो गई। [दैन्य]
७. अरे चित्त धीरज धरो। [धृति]
८. न जाने कौन सौभाग्यशाली युवक उसके अधरामृत का पान करेगा। [चिन्ता]

यथा वा पुण्डरीकस्य महाश्वेतां प्रति प्रवृत्तनिर्भरानुरागस्य द्वितीयमुनिकुमारोपदेशवर्णने ।

स्वाभाविक्यामङ्गभावप्राप्तावदोषो यथा :—

भ्रमिमरतिमलसहृदयतां प्रलयं मूर्छां तमः शरीरसादम् ।

मरणं च जलदभुजगजं प्रसह्य कुरुते विषं वियोगिनीनाम् ॥

इत्यादौ ।

यहां विषम संख्या वाले अर्थात् १ वितर्क, ३ मति, ५ शङ्का, ७ धृति यह शान्तरस के व्यभिचारी भाव हैं। और सम संख्या वाले अर्थात् २ औत्सुक्य, ४ स्मरण, ६ दैन्य और ८ चिन्ता यह शृङ्गार रस के व्यभिचारी भाव हैं। शान्त और शृङ्गार रस का नैरन्तर्य तथा आलम्बन ऐक्य में विरोध होता है। यहां इन दोनों का नैरन्तर्य भी है और आलम्बन ऐक्य भी है। इसलिए सामान्य नियम के अनुसार उनका एकत्र वर्णन रस विरोधी होना चाहिए था। परन्तु उसमें विषम संख्या वाले शान्त रस के व्यभिचारी भावों को सम संख्या वाले शृङ्गार रस के व्यभिचारी भाव बांधने वाले हैं। अर्थात् वितर्क का औत्सुक्य से, मति का स्मृति से, शङ्का का दैन्य से और धृति का चिन्ता से बाध हो जाता है। इस लिए बाध्यत्वेन कथन होने के कारण दोष नहीं है।

[काव्यप्रकाश की टीकाओं में 'कमलाकर', 'भीमसेन' आदि ने इस पद्य को देवयानी को देखने पर राजा ययाति की उक्ति माना है वह ठीक नहीं है।]

अथवा जैसे [कादम्बरी में] महाश्वेता के ऊपर पुण्डरीक के अत्यन्त मोहित हो जाने पर दूसरे मुनि कुमार के उपदेश वर्णन में [प्रदर्शित शान्तरस के अङ्ग, मुख्य शृङ्गार रस के अङ्गों से बाधित हो जाते हैं और अन्त में रति स्थिर रहती है । इसलिए बाध्यत्वेन उनका प्रतिपादन दोष नहीं है]।

[विरोधी रसाङ्गों की] स्वाभाविक अङ्गरूपता प्राप्ति में अदोषता [का उदाहरण] जैसे :—

भ्रमरतिं [इसकी व्याख्या पृष्ठ १६७ पर भी कर चुके हैं]।

मेघ रूप भुजङ्ग से उत्पन्न विष [जल तथा विष] वियोगिनियों को चक्कर, बेचैनी, अलसहृदयता, प्रलय [चेतना रूप ज्ञान और चेष्टा का अभाव], मूर्छा, मोह, शरीरसन्नता और मरण उत्पन्न कर देता है।

इत्यादि में।

समारोपितायामप्यविरोधो यथा-'पाण्डुक्षाममित्यादौ'।
यथा वा-'कोपात् कोमललोलबाहुलतिकापाशेन' इत्यादौ।

[यहां करुण रसोचित व्याधि के अनुभाव भ्रमि आदि का विप्रलम्भ में भी सम्भव होने से नैसर्गिकी अङ्गता होने से अविरोध है]।

समारोपित अङ्गता में भी अविरोध [होता है उसका उदाहरण] जैसे—'पाण्डु क्षामम्' इत्यादि में।

अथवा जैसे 'कोपात् कोमललोलबाहुलतिकापाशेन' इत्यादि में।

'पाण्डु क्षामं' आदि पूरा श्लोक इस प्रकार है—

पाण्डु क्षामं वदनं हृदयं सरसं तवालसं च वपुः।
आवेदयति नितान्तं क्षेत्रियरोगं सखि हृदन्तः॥

हे सखि तेरा पाण्डुवर्ण मुरझाया हुआ चेहरा, सरस हृदय, और अलस देह तेरे हृदय में स्थित नितान्त असाध्य रोग की सूचना देते हैं। [क्षेत्रिय रोग उसको कहते हैं जिसकी इस शरीर में चिकित्सा सम्भव न हो अर्थात् अत्यन्त असाध्य।—क्षेत्रियच् परक्षेत्रे चिकित्स्यः।]

इस श्लोक में करुणोचित व्याधि का वर्णन है परन्तु श्लेष वश वहां विप्रलम्भ शृङ्गार में भी नायिका में उनका आरोप कर लिया है। अतएव उनकी शृङ्गार के प्रति समारोपित अङ्गता होने से शृङ्गार में करुणोचित व्याधि का वर्णन दोष नहीं है।

दूसरा 'कोपात् कोमल' इत्यादि पूरा श्लोक और उसका अर्थ पृष्ठ १६० पर दिया जा चुका है। वहां से देखो। यहां 'कोपात्', 'बद्ध्वा', 'हन्यते' इत्यादि रौद्र रस के अनुभावों को रूपक बल से शृङ्गार में आरोपित कर और रूपक का 'नाति निर्वहणैषिता' के अनुसार अत्यन्त निर्वाह न करने से ही उसके अङ्गों की शृङ्गार के प्रति समारोपित अङ्गता होती है। इस समारोपित अङ्गता के कारण ही शृङ्गार में उनका वर्णन निर्दोष है।

एक बाध्यरूपता, और नैसर्गिक तथा समारोपित रूप से दो प्रकार की अङ्गता, इस प्रकार विरोधी रसाङ्गों के अविरोध सम्पादक तीन हेतु ऊपर बत। हैं। अब एक प्रधान के अन्तर्गत अङ्गभूत दो विरोधी रसाङ्गों के अविरोध का चौथा उपाय अथवा अङ्गरूपता का तीसरा भेद और दिखाते हैं।

इयं चाङ्गभावप्राप्तिरन्या यदाधिकारिकत्वात्[1] प्रधान एकस्मिन् वाक्यार्थे रसयोर्भावयोर्वा परस्परविरोधिनोर्द्वयोरङ्गभावगमनं, तस्यामपि न दोषः। यथोक्तं "क्षिप्तो हस्तावलग्नः" इत्यादौ।

कथं तत्राविरोध इति चेत् द्वयोरपि तयोरन्यपरत्वेन व्यवस्थानात्।[2]

अन्यपरत्वेऽपि विरोधिनोः कथं विरोधनिवृत्तिरिति चेत्, उच्यते, विधौ विरुद्धसमावेशस्य दुष्टत्वं[3] नानुवादे। यथा:—

एहि, गच्छ, पतोत्तिष्ठ वद मौनं समाचर।
एवमाशाग्रहग्रस्तैः क्रीडन्ति धनिनोऽर्थिभिः॥

इत्यादौ।

यह [आगे वक्ष्यमाण] अङ्गभाव प्राप्ति दूसरे प्रकार की है कि जहां आधिकारिक होने से एक प्रधान वाक्यार्थ में परस्पर विरोधी दो रसों या भावों की अङ्गरूपता प्राप्त हो। उस [प्रकार की अङ्गता में भी विरोधी रसाङ्गों के वर्णन] में दोष नहीं है। जैसा कि पहिले [पृष्ठ १२१ पर] 'क्षिप्तो हस्तावलग्नः' इत्यादि में कह चुके हैं।

वहां कैसे अविरोध होता है वह पूछें, तो उत्तर यह है कि उन [ईर्ष्या विप्रलम्भ और करुण] दोनों के अन्य [शिव प्रभावातिशय मूलक भक्ति] के अङ्ग [रूप में] व्यवस्थित होने से। [अविरोध है]।

[प्रश्न] अन्य के अङ्ग होने पर भी उन विरोधी रसों के विरोध की निवृत्ति कैसे होती है। यह पूछते हो तो समाधान यह है कि विधि अंश में दो विरोधियों के समावेश करने में दोष होता है अनुवाद में नहीं।

जैसे—

आशा रूप ग्रह के चक्कर में पड़े हुए याचकों के साथ धनी लोग आओ, जाओ, पड़ जाओ, खड़े हो जाओ, बोलो, चुप रहो, इस प्रकार [कह कर] खेल करते हैं। [अर्थात् कभी कुछ कभी कुछ मनमानी बात कह कर उनसे खिलवाड़ करते हैं]

इत्यादि [उदाहरण] में।

---

१. अधिकारिकत्वात् नि०। २. व्यवस्थापनात् नि०, दी०। ३. वानुवादे नि०, बालप्रिया०।

अत्र हि विधिप्रतिषेधयोरनूद्यमानत्वेन समावेशे न विरोध-स्तथेहापि भविष्यति। श्लोके ह्यस्मिन् ईर्ष्याविप्रलम्भश्रृङ्गारकरुणवस्तुनो-र्न विधीयमानत्वम्। त्रिपुररिपुप्रभावातिशयस्य वाक्यार्थत्वात्, तदङ्ग-त्वेन च तयोर्व्यवस्थानात्।

यहां [एहि गच्छ आदि में जैसे] विधि और प्रतिषेध के केवल अनूद्य-मान रूप में सन्निवेश करने से दोष नहीं है इसी प्रकार यहां [क्षिप्तो हस्ता-वलग्नः इत्यादि में] भी समझना चाहिए। इस श्लोक [क्षिप्तो हस्तावलग्नः इत्यादि] में ईर्ष्याविप्रलम्भ और करुण विधीयमान नहीं है। त्रिपुरारि शिव के प्रभावातिशय के मुख्य वाक्यार्थ होने, और [ईर्ष्या विप्रलम्भ तथा करुण] इन दोनों के उसके अङ्ग रूप में स्थित होने से [उनका परस्पर विरोध नहीं है]।

यहां 'एहि' और 'गच्छ' यह दोनों विरोधी हैं इसी प्रकार 'पत' और 'उत्तिष्ठ' तथा 'वद' और 'मौनं समाचार' यह विरोधी बातें हैं। परन्तु यहां इनका विधान नहीं किया गया है अपितु धनिकों के याचकों के साथ इस प्रकार के व्यवहार का अनुवाद मात्र किया गया है। विधि अंश में यदि इस प्रकार विरोधियों का समावेश होता तो वह दोष होता परन्तु यहां अनुवाद अंश में उनका समावेश दोषाधायक नहीं है।

एक प्रधानभूत अर्थ के अन्तर्गत अनेक अप्रधान अर्थात् गौण अर्थों का परस्पर सम्बन्ध किस प्रकार होता है इसका विचार मीमांसा के 'आरुण्याधिकरण' में किया गया है। ज्योतिष्टोम याग के प्रकरण में 'अरुणया पिङ्गाक्ष्या एक-हायन्या गवा सोमं क्रीणाति' यह वाक्य आता है। इस वाक्य में ज्योतिष्टोम याग में प्रयुक्त होने वाले सोम अर्थात् सोमलता के क्रय करने के लिए अरुण-वर्ण की, पिङ्गलवर्ण के नेत्र वाली और एक वर्ष की, गौ देकर सोम क्रय करने का विधान किया गया है। शब्दबोध की प्रक्रिया में नैयायिकों ने 'प्रथमा-न्तार्थमुख्यविशेष्यक', वैयाकरणों ने 'धात्वर्थमुख्यविशेष्यक' और मीमांसकों ने 'भावनामुख्यविशेष्यक' शाब्दबोध माना है। तदनुसार यहां मीमांसक मत से भावना मुख्य विशेष्य है अतएव आरुण्यादि का प्रथम भावना के साथ अन्वय होता है। अरुणया, पिङ्गाक्ष्या, एकहायन्या, इन सब में तृतीया विभक्ति करणत्व-बोधिका है। अतएव तृतीयाश्रुति बलात् इन सब का क्रय करणक भावना में प्रथम अन्वय होता है। और पीछे वाक्य मर्यादा से उनका परस्पर सम्बन्ध

होता है। इसी प्रकार 'एहि गच्छ' इत्यादि में मुख्य क्रीडार्थ के अङ्गरूप से 'एहि' 'गच्छ' आदि का अन्वय 'राजनिकटव्यवस्थित आततायिद्वय' न्याय से प्रथम मुख्यार्थ के साथ होता है। जब तक प्रधान के साथ उनका सम्बन्ध नहीं हो जाता है तब तक उनका दूसरे के साथ सम्बन्ध का अवसर ही नहीं आता। और पीछे परस्पर सम्बन्ध होने पर भी मुख्यार्थ से प्रभावित होने के कारण उनका विरोध अकिञ्चित्कर रहता है।

इसी प्रकार 'क्षिप्तो हस्तावलग्नः' इत्यादि में करुण और विप्रलम्भ शृङ्गार दोनों शिव के प्रभावातिशय के अङ्ग रूप में अन्वित होते हैं इसलिए उनमें विरोध नहीं आता।

विधि भाग अर्थात् प्रधान अंश में विरोध होने पर तो दोष होता है। जैसे उपर्युक्त ज्योतिष्टोम के ही प्रकरण में 'अतिरात्रे षोडशिनं गृह्णाति' और 'नातिरात्रे षोडशिनं गृह्णाति' यह दो विरुद्ध वाक्य मिलते हैं। यहां विधि अंश में ही दोनों का विरोध होने से उनका विकल्प मानना पड़ता है। यही दोष होजाता है। परन्तु गौण अंश अर्थात् अनुवाद भाग में जैसे 'एहि गच्छ' इत्यादि श्लोक में अनुवाद भाग-गौण अंश में विरोध रहने पर भी कोई दोष नहीं होता। इसी प्रकार 'क्षिप्तो हस्तावलग्नः' इत्यादि का विरोध प्रधान अंश में नहीं अपितु अङ्गभूत अर्थात् गौण अनुवाद अंश में होने से दोषाधायक नहीं है।

[प्रश्न] विधि और अनुवाद मीमांसा के पारिभाषिक शब्द हैं। उनके यहां 'अज्ञातार्थज्ञापको वेदभागो विधिः' अज्ञात अर्थ का ज्ञापक वेद भाग विधि कहलाता है। और उनके मत में 'आम्नायस्य क्रियार्थत्वादानर्थक्यमतदर्थानाम्'। मी० अ० १ पा० २ सू० १ में निर्धारित सिद्धान्त के अनुसार यागादि क्रिया ही मुख्यतः विधि रूप होती है। उस दशा में रसों में तो विधि अनुवादरूपता सम्भव नहीं हो सकती है। तब फिर आपने विधि और अनुवाद की शरण लेकर सङ्गति लगाने का जो प्रयत्न किया है वह कैसे बनेगा ?

[उत्तर] इसका समाधान यह है कि यहां विधि और अनुवाद शब्द को [लक्षणया] मुख्य और गौण अर्थ का बोधक समझना चाहिए। इस प्रधान और गौण के साथ भी वाच्य नहीं जोड़ना चाहिए। अर्थात् जो प्रधानतया वाच्य हो वह विधि और जो गौणतया वाच्य हो वह अनुवाद ऐसा नहीं कहना चाहिए। क्योंकि उस दशा में रसों के वाच्य न होकर व्यङ्ग्य होने के कारण वे

न च रसेषु विध्यनुवादव्यवहारो नास्तीति शक्यं वक्तुम्, तेषां वाक्यार्थत्वेनाभ्युपगमात् । वाक्यार्थस्य वाच्यस्य च यौ विध्यनुवादौ तौ तदाक्षिप्तानां रसानां केन वार्येते ।

यैर्वा साक्षात् काव्यार्थता रसादीनां नाभ्युपगम्यते तैस्तेषां तन्निमित्तता तावदवश्यमभ्युपगन्तव्या । तथाप्यत्र श्लोके न विरोधः ।

विधि रूप नहीं हो सकेंगे । अतएव विधि शब्द लक्षणया केवल प्रधान अर्थ को और अनुवाद शब्द अप्रधान अर्थ को सूचित करता है । इस प्रकार का प्रधान और गौणभाव रसों में भी हो सकता है । इसलिए विधि और अनुवाद रूप में जो समन्वय ऊपर किया गया है उसमें कोई दोष नहीं है । यही प्रश्न और उत्तर मूल ग्रन्थ की अगली पंक्तियों में किए गए हैं ।

रसों में विधि और अनुवाद व्यवहार नहीं होता है, यह नहीं कहा जा सकता है । क्योंकि उन [रसों] को वाक्यार्थ रूप में स्वीकार किया जाता है । वाच्य रूप वाक्यार्थ में जो विधि और अनुवाद रूपता रहती है उसको उस [वाच्यार्थ] से आक्षिप्त [व्यङ्ग्य] रसादि में कौन रोक सकता है । [जब वाच्यार्थ में विधि अनुवाद रूपता रह सकती है तो व्यङ्ग्य रसादि में नहीं रह सकती है यह कैसे कहा जा सकता है । उनमें भी अवश्य रह सकती है ।]

अथवा अनूद्यमान रूप से विरुद्ध रसों के एकत्र समावेश की जो बात कही है, उसे आप नहीं मानना चाहते हैं तो उसे छोड़िए । दूसरी तरह से सहकारी रूप में भी उनके अविरोध का उपपादन किया जा सकता है । किसी तीसरे प्रधान के साथ मिल कर दो विरुद्ध सहकारी भी काम कर सकते हैं । जैसे जल अग्नि को बुझा देता है इसलिए ये दोनों परस्पर विरुद्ध हैं परन्तु तीसरे प्रधानरूप तण्डुल चावल या दाल आदि पाक्य वस्तु के साथ सहकारी रूप में मिल कर ये दोनों पक्व ओदन, भात को सिद्ध करते हैं । अथवा शरीर में विरुद्ध स्वभाव वाले वात, पित्त, कफ भी मिल कर शरीर धारण रूप अर्थक्रिया सम्पादन करते हैं । इस प्रकार 'क्षिप्तो हस्तावलग्नः' में भी सहकारी भूत शृङ्गार और करुण रस प्रधान भूत शाम्भवशराग्निजन्य दुरितदाह के साथ मिल कर शिव के प्रतापातिशय रूप 'भाव' का द्योतन रूप कार्य कर सकते हैं । यह अगली पंक्तियों का भाव है ।

अथवा जो रसादि को साक्षात् काव्य [काव्य वाक्यों] का अर्थ नहीं

यस्मादनूद्यमानाङ्गनिमित्तोभयरसवस्तुसहकारिणो विधीयमानांशाद् भावविशेषप्रतीतिरुत्पद्यते ततश्च न कश्चिद् विरोधः। दृश्यते हि विरुद्धोभयसहकारिणः कारणात् कार्यविशेषोत्पत्तिः। विरुद्धफलोत्पादन-हेतुत्वं हि युगपदेकस्य कारणस्य विरुद्धं न तु विरुद्धोभयसहका-रित्वम्।

मानते उनको भी उन [रसादि] की तन्निमित्तता [वाक्यार्थ व्यङ्गयता] अवश्य स्वीकार करनी होगी। तब भी इस श्लोक [क्षिप्तो हस्तावलग्नः] में विरोध नहीं रहता है। क्योंकि अनूद्यमान जो अङ्ग [अर्थात् रसाङ्गभूत हस्ताक्षेपादि विभाव] तन्निमित्तक जो उभयरसवस्तु [अर्थात् उन हस्ताक्षेपादि से प्रतीत होने वाले जो उभय अर्थात् करुण और विप्रलम्भ शृङ्गार रूप रसवस्तु रसजातीय तत्त्व] यह जिसका सहकारी है ऐसे विधीयमान अंश [शाम्भवशराग्निजन्य दुरितदाह] से भाव विशेष [रतिर्देवादिविषया भावः—प्रेयोलङ्कार विषय—शिव के प्रतापातिशय मूलक भक्ति] की प्रतीति उत्पन्न होती है। इसलिये कोई विरोध नहीं है। दो विरुद्ध [जल और अग्नि रूप शीतोष्ण] जिसके सहकारी हैं ऐसे कारण [मुख्य कारण आदि] से कार्यविशेष [ओदन, भात आदि] की उत्पत्ति देखी जाती है।

[तब तो फिर विरोध का कोई अर्थ ही नहीं रहा, वह सर्वथा अकिञ्चित्कर हो जाता है। यह नहीं समझना चाहिये क्योंकि] एक कारण का एक साथ [युगपत्] विरुद्ध फलों के उत्पादन का हेतुत्व [मानना यही] विरुद्ध है दो विरोधियों को उसका सहकारी मानने में कोई विरोध नहीं है।

अच्छा इस प्रकार आपने काव्य में तो करुण और शृङ्गार के विरोध का परिहार कर दिया। परन्तु प्रश्न यह रह जाता है कि यदि अभिनेय नाटक में इस प्रकार का वाक्य आ जाय तो उसका अभिनय करते समय इस प्रकार के विरुद्ध पदार्थ का अभिनय कैसे किया जाय। इसका उत्तर यह है कि अनूद्यमान गौण वाच्यार्थ के विषय में 'एहि गच्छ पत उत्तिष्ठ' आदि के अभिनय में जो प्रकार अवलम्बन किया जाय वही 'क्षिप्तो हस्तावलग्नः' आदि के विषय में भी अवलम्बन करना चाहिये। इसका अर्थ यह हुआ कि 'क्षिप्तो हस्तावलग्नः' इत्यादि में शिव के प्रभाव का द्योतन करने में करुण के अधिक उपयोगी होने से वह अधिक प्राकरणिक अर्थ है। विप्रलम्भ शृङ्गार तो 'कामीवार्द्रापराधः' इत्यादि उपमा बल से आता है और प्रभावातिशय द्योतन में उसका कोई उपयोग नहीं है इससे वह दूरस्थ अर्थ

[1]एवंविधविरुद्धपदार्थविषयः कथमभिनयः प्रयोक्तव्य इति चेत् अनूद्यमानैवंविधवाच्यविषये या वार्ता सात्रापि भविष्यति । एवं, विध्यनुवादनयाश्रयेणात्र श्लोके परिहृतस्तावद् विरोधः ।

किञ्च, नायकस्याभिनन्दनीयोदयस्य कस्यचित् प्रभावातिशयवर्णने तत्प्रतिपक्षाणां यः करुणो रसः स परीक्षकाणां न वैक्लव्यमादधाति प्रत्युत प्रीत्यतिशयनिमित्ततां प्रतिपद्यते । इत्यतस्तस्य कुण्ठशक्तिकत्वात् तद्-विरोधविधायिनो न कश्चिद् दोषः । तस्माद् वाक्यार्थीभूतस्य रसस्य भावस्य वा विरोधी [2]रसविरोधीति वक्तुं न्याय्यः न त्वङ्गभूतस्य कस्यचित् ।

है । अतएव अभिनय करते समय करुण रस को प्रधान मानकर पहिले 'साश्रुनेत्रोत्पलाभिः' तक का अभिनय करुणोपयोगी अग्नि से त्रस्त के समान भय, घबराहट, विप्लुत दृष्टि, अश्रु आदि का प्रदर्शन करते हुए, 'कामीवार्द्रापराधः' पर तनिक सा प्रणय कोपोचित अभिनय करके फिर 'स दहतु दुरितं' पर उग्रतापूर्ण साटोप अभिनय करके महेश्वर के प्रभावातिशय के द्योतन में अभिनय को समाप्त करना चाहिये । यही विषय अगली पंक्तियों में स्पष्ट किया है ।

इस प्रकार का विरुद्धपदार्थविषयक अभिनय कैसे करना चाहिये ? यह प्रश्न हो तो, इस प्रकार के [विरुद्ध] अनूद्यमान वाच्य [एहि गच्छ पत उत्तिष्ठ इत्यादि] के विषय में जो बात है वही यहां भी होगी । [अर्थात् एहि गच्छ, पत, उत्तिष्ठ आदि का अभिनय जिस प्रकार किया जायगा उसी प्रकार 'क्षिप्तो हस्तावलग्नः' में भी करुण और शृङ्गार का अभिनय किया जा सकता है] इस प्रकार विधि और अनुवाद की नीति का आश्रय लेकर इस श्लोक [क्षिप्तो हस्तावलग्नः] में विरोध का परिहार हो गया ।

और किसी प्रशंसनीय उत्कर्षप्राप्त नायक के प्रभावातिशय के वर्णन में उसके शत्रुओं का [शत्रुओं से सम्बन्ध रखने वाला] जो करुण रस [होता है] वह विवेकशील प्रेक्षकों को विकल नहीं करता अपितु आनन्दातिशय का कारण बनता है अतएव विरोध करने वाले उस [करुण] के कुण्ठित शक्ति [चित्तद्रुति रूप स्वकार्योत्पादन में असमर्थ] होने से कोई दोष नहीं होता ।

---

१. एवंविरुद्धपदार्थविषयः नि० । २. यो सः रसः इतना पाठ नि०, दी० में अधिक है ।

अथवा वाक्यार्थीभूतस्यापि कस्यचित् करुणरसविषयस्य तादृशेन शृङ्गारवस्तुना भङ्गिविशेषाश्रयेण संयोजनं रसपरिपोषायैव जायते । यतः प्रकृतिमधुराः पदार्थाः शोचनीयतां प्राप्ताः प्रागवस्थाभाविभिः संस्मर्यमाणैर्विलासैरधिकतरं [1]शोकावेशमुपजनयन्ति । यथा :—

अयं स रशनोत्कर्षी पीनस्तनविमर्दनः ।
नाभ्युरूजघनस्पर्शी नीवीविस्रंसनः करः ॥

इत्यादौ ।

इसलिये वाक्यार्थीभूत [प्रधान] रस अथवा भाव के विरोधी को ही रसविरोधी कहना उचित है । किसी अङ्गभूत [गौण] के [विरोधी को रसविरोधी कहना उचित] नहीं [है] ।

'क्षिप्तो हस्तावलग्नः' में करुण और शृङ्गार के विरोध का दो प्रकार से परिहार दिखा चुके हैं । अब तीसरे प्रकार से और उसी विरोध का परिहार दिखाते हैं । पहिले समाधानों में करुण और विप्रलम्भ शृङ्गार दोनों को अन्य का अङ्ग मानकर उनके अविरोध का उपपादन किया था । अब इस तीसरे समाधान में शृङ्गार को करुण का ही अङ्ग बताकर समाधान करते हैं ।

अथवा वाक्यार्थ रूप किसी करुण रस के विषय को उसी प्रकार के वाक्यार्थ रूप शृङ्गार विषय के साथ किसी सुन्दर ढंग से जोड़ देने पर वह रस का परिपोषक ही हो जाता है। क्योंकि स्वभावतः सुन्दर पदार्थ शोचनीय अवस्था को प्राप्त हो जाने पर पूर्व अवस्था के [अनुभूतचर] सौन्दर्य के स्मरण से और भी अधिक शोकावेग को उत्पन्न करते हैं । जैसे :—

[सम्भोगावसर में] तगड़ी को हटाने वाला, उन्नत उरोजों का मर्दन करने वाला, नाभि, जंघा और नितम्ब का स्पर्श करने वाला और नारे को खोलने वाला यह [प्रियतम] का वही हाथ है ।

इत्यादि में ।

महाभारत के युद्ध में भूरिश्रवा के मर जाने पर युद्ध क्षेत्र में उसके कटे हुए अलग पड़े हाथ को देखकर उसकी पत्नी के विलाप के प्रसङ्ग में यह श्लोक आया है ! यहां भूरिश्रवा के मर चुकने से नायिकागत करुण रस प्रधान है। पूर्वावस्थानुभूत शृङ्गार का वह स्मरण कर रही है । अतः संस्मर्यमाण वह शृङ्गार

---

१. शोकावेगं नि०, दी० ।

तदत्र त्रिपुरयुवतीनां शाम्भवः शराग्निरार्द्रापराधः कामी यथा व्यवहरति[1] तथा व्यवहृतवानित्यनेनापि प्रकारेणास्त्येव निर्विरोधत्वम्। तस्माद् यथा यथा निरूप्यते तथा तथात्र दोषाभावः।

इत्थं च :—

क्रामन्त्यः क्षतकोमलाङ्गुलिगलद्रक्तैः सदर्भाः स्थलीः,
पादैः पातितयावकैरिव पतद्बाष्पाम्बुधौताननाः।
भीता भर्तृकरावलम्बितकरास्त्वद्वैरिनार्योऽधुना,
दावाग्निं परितो भ्रमन्ति पुनरप्युद्यद्विवाहा इव॥

इत्येवमादीनां सर्वेषामेव निर्विरोधत्वमवगन्तव्यम्।

यहां करुण रस का और अधिक उद्दीपक हो जाता है। इसी प्रकार 'क्षिप्तो हस्तावलग्नः' में अग्नि से त्रस्त त्रिपुर युवतियों का करुण, प्रधानरूप से वाक्यार्थ है। परन्तु शाम्भव शराग्नि की चेष्टाओं के अवलोकन से पूर्वानुभूत प्रणयकलह के वृत्तान्त का स्मरण शोक का उद्दीपन विभाव बनकर उसको और परिपुष्ट करता है।

इसलिये यहां आर्द्रापराध कामी जैसा व्यवहार करता है शाम्भव शराग्नि ने त्रिपुर युवतियों के साथ उसी प्रकार का व्यवहार किया। [अतएव स्मर्यमाण कामी व्यवहार वर्तमान करुणरस का परिपोषक होता है] इस प्रकार से भी निर्विरोधत्व है ही। अतः इस पर जितना-जितना अधिक विचार करते हैं उतना ही उतना अधिक दोषाभाव प्रतीत होता है।

और इस प्रकार—

घायल हुई कोमल अंगुलियों से रक्त टपकाती हुई, अतएव मानो महावर लगे हुए पैरों से, कुशांकुर युक्त भूमि पर चलती हुई, गिरते हुए आंसुओं से मुख को धोए हुए, भयभीत होने से पतियों के हाथ में हाथ पकड़ाए हुए, तुम्हारे शत्रुओं की स्त्रियां इस समय फिर दुबारा विवाह के लिए उद्यत सी दावाग्नि के चारों ओर घूम रही हैं।

इस प्रकार के सभी [उदाहरणों में विरुद्ध प्रतीत होने वाले रसादिकों] का अविरोध समझना चाहिये।

यहां विवाह की स्मृति शत्रु स्त्रियों के वर्तमान विपत्तिमूलक शोक रूप स्थायीभाव की उद्दीपन विभाव बन कर शोकातिशय को व्यक्त करती है। यहां

---

१. 'स्म' पाठ बा० प्रि० में अधिक है।

एवं तावद्रसादीनां विरोधिरसादिभिः समावेशासमावेशयोर्विषय-विभागो दर्शितः ॥२०॥

इदानीं तेषामेकप्रबन्धविनिवेशने न्याय्यो यः क्रमस्तं प्रतिपादयितुमुच्यते :—

प्रसिद्धेऽपि प्रबन्धानां नानारसनिबन्धने ।
एको रसोऽङ्गीकर्त्तव्यस्तेषामुत्कर्षमिच्छता ॥ २१ ॥

प्रबन्धेषु महाकाव्यादिषु नाटकादिषु वा विप्रकीर्णतया अङ्गाङ्गिभावेन [1]बहवो रसा उपनिबध्यन्ते इत्यत्र प्रसिद्धौ सत्यामपि यः प्रबन्धानां छायातिशययोगमिच्छति[2] तेन तेषां रसानामन्यतमः कश्चिद् विवक्षितो रसोऽङ्गित्वेन विनिवेशयितव्य इत्ययं युक्ततरो मार्गः ॥२१॥

'वाष्पाम्बुधौताननाः' में विवाहकाल में वाष्पाम्बु का सम्बन्ध होमाग्नि के धूम से अथवा परिवार और घर से त्याग जन्य दुःख के कारण समझना चाहिए।

इस प्रकार रसादि का विरोधी रसादि के साथ समावेश और असमावेश का विषय विभाग प्रदर्शित कर दिया ॥२०॥

अब उन [रसों] के एक प्रबन्ध में सन्निवेश करने के विषय में जो उचित व्यवस्था है उसका प्रतिपादन करने के लिए कहते हैं :—

प्रबन्धों [महाकाव्य या नाटकादि] में अनेक रसों का समावेश प्रसिद्ध [भरतमुनि आदि से प्रतिपादित तथा प्रचलित] होने पर भी उनके उत्कर्ष को चाहने वाले [कवि] को किसी एक रस को अङ्गी [प्रधान] रस [अवश्य] बनाना चाहिये।

महाकाव्यादि [अनभिनेय] अथवा नाटक आदि [अभिनेय] प्रबन्धों में, [नायक, प्रतिनायक, पताकानायक, प्रकरीनायक आदि निष्ठत्वेन] बिखरे [विप्रकीर्ण] रूप में अङ्गाङ्गिभाव से अनेक रसों का निबन्धन किया जाता है इस प्रकार की प्रसिद्धि [परिपाटी] होने पर भी जो [कवि] प्रबन्ध के सौन्दर्यातिशय को चाहता है उसे उन रसों में से किसी एक प्रतिपादनाभिमत रस को ही प्रधान रूप से समाविष्ट करना चाहिये। यही अधिक उचित मार्ग है।

---

१. वा पाठ अधिक है नि०, दी०। २. छायातिशयमिच्छति नि०।

ननु रसान्तरेषु बहुषु प्राप्तपरिपोषेषु सत्सु कथमेकस्याङ्गिता न विरुध्यत इत्याशङ्क्येदमुच्यते :—

रसान्तरसमावेशः प्रस्तुतस्य रसस्य यः ।
नोपहन्त्यङ्गितां सोऽस्य स्थायित्वेनावभासिनः ॥२२॥

प्रबन्धेषु प्रथमतरं प्रस्तुतः सन् पुनः पुनरनुसन्धीयमानत्वेन स्थायी यो रसस्तस्य सकलबन्धव्यापिनो[1] रसान्तरैरन्तरालवर्तिभिः समावेशो यः स नाङ्गितामुपहन्ति ॥२२॥

एतदेवोपपादयितुमुच्यते :—

कार्यमेकं यथा व्यापि प्रबन्धस्य विधीयते ।
तथा रसस्यापि विधौ विरोधो नैव विद्यते ॥२३॥

प्रबन्ध में अनेक रस रहते हुए भी एक रस को अङ्गी बनाना चाहिए यह ऊपर कहा है । परन्तु प्रश्न यह है कि वह अन्य रस यदि परिपोष प्राप्त हैं तब तो वे अङ्ग नहीं हो सकते प्रधान ही होंगे । और यदि परिपोष प्राप्त नहीं हैं तब वे रस नहीं कहे जा सकते । ऐसी दशा में रसत्व और अङ्गत्व यह दोनों बातें विरुद्ध हैं । अतः अन्य रसों के होने पर वह अङ्ग रहें और एक रस अङ्गी बन जावे यह कैसे हो सकेगा ! इस प्रश्न का समाधान करते हैं ॥२१॥

अन्य अनेक रसों के [एक साथ] परिपोष प्राप्त होने पर [उनमें से किसी] एक का अङ्गी होना विरोधी क्यों नहीं होगा इस बात की आशङ्का करके यह कहते हैं :—

[प्रधान रस का] अन्य रसों के साथ प्रस्तुत [प्रधान] रस का जो समावेश है वह स्थायी [प्रबन्धव्यापी] रूप से प्रतीत होने वाले इस [प्रस्तुत प्रधान रस] की अङ्गिता [प्राधान्य] का विघातक नहीं होता है ।

प्रबन्धों [काव्य या नाटकादि] में [अन्यों की अपेक्षा] प्रथम प्रस्तुत और बार-बार उपलब्ध होने से जो स्थायी रस है, सम्पूर्ण प्रबन्ध में [आद्यन्त] वर्तमान, उस रस का बीच-बीच में आए हुए अन्य रसों के साथ जो समावेश है, वह [उसके] प्रधान्य [अङ्गिता] का विघातक नहीं होता है ॥२२॥

इसी के उपपादन करने के लिए कहते हैं :—

---

१. सकलरसव्यापिनः नि०, सकलसन्धिव्यापिनः दी० ।

सन्ध्यादिमयस्य प्रबन्धशरीरस्य यथा कार्यमेकमनुयायि व्यापकं कल्प्यते न च तत् कार्यान्तरैर्न सङ्कीर्यते, न च तैः सङ्कीर्यमाणस्यापि तस्य प्राधान्यमपचीयते, तथैव रसस्याप्येकस्य सन्निवेशे क्रियमाणे विरोधो न कश्चित् । प्रत्युत प्रत्युदितविवेकानामनुसन्धानवतां सचेतसां तथाविधे विषये प्रह्लादातिशयः प्रवर्तते ॥२३॥

जैसे प्रबन्ध में [आद्योपान्त] व्यापक [प्रासङ्गिक अवान्तर कार्य अथवा आख्यान वस्तु से परिपुष्ट] एक प्रधान कार्य [विषय आख्यान वस्तु] रखा जाता है [और अवान्तर अनेक कार्य उसको परिपुष्ट करते हैं] इसी प्रकार रस की विधि [एक प्रबन्धव्यापी अङ्गी रस के साथ अङ्गभूत अवान्तर रसों के समावेश] में भी विरोध नहीं है।

सन्धि आदि से युक्त प्रबन्ध [मुख, प्रतिमुख, गर्भ, विमर्श तथा निर्वहण सन्धि रूप पञ्च सन्धि युक्त प्रबन्ध अर्थात् नाटकादि] शरीर में जैसे समस्त प्रबन्ध में व्यापक निरन्तर विद्यमान एक [आधिकारिक वस्तु] कार्य की रचना की जाती है। वह आधिकारिक वस्तु [कार्य] अन्य [प्रासङ्गिक] कार्यों से सङ्कीर्ण नहीं होता हो सो बात नहीं है। [अन्य प्रासङ्गिक वस्तुओं से आधिकारिक वस्तु का सम्बन्ध अवश्य होता है] परन्तु उनसे सम्बन्ध होने पर भी उस [आधिकारिक मुख्य कथावस्तु] का प्राधान्य कम नहीं होता है। इसी प्रकार [अन्य अनेक अङ्गभूत रसों के साथ प्रधान भूत] एक रस का [अङ्गित्वेन] सन्निवेश करने में कोई विरोध नहीं होता। अपितु विवेकी और पारखी सहृदयों को इस प्रकार के विषयों में और अधिक आनन्द आता है ॥२३॥

विरोध दो प्रकार का हो सकता है एक 'सहानवस्थान विरोध' और दूसरा 'वध्यघातक भाव विरोध'। सहानवस्थान विरोध में दो पदार्थ समान रूप से बराबर की स्थिति में एक जगह नहीं रह सकते हैं। और 'वध्य घातक भाव' विरोध में तब तक वध्य का वध नहीं हो सकता जब तक घातक का उदय नहीं होता। अर्थात् घातक के उदय होजाने के बाद ही अगले क्षण में वध्य का नाश हो सकता है। इन दोनों प्रकार के विरोधों में वध्य घातक विरोध ही मुख्य विरोध है। सहानवस्थान पक्ष गौण होने से अविरोधकल्प है। रसों में भी कुछ रसों का परस्पर सहानवस्थान मात्र में विरोध है अर्थात् वह समान स्थिति में एक साथ नहीं रह सकते हैं । और कुछ का 'वध्य घातक' विरोध है । तो जिनका केवल

ननु येषां रसानां [1]परस्पराविरोधः यथा वीरशृङ्गारयोः, शृङ्गार-हास्ययोः, रौद्रशृङ्गारयोः, वीराद्भुतयोः, वीररौद्रयोः, रौद्रकरुणयोः, शृङ्गारा-द्भुतयोर्वा तत्र भवत्वङ्गाङ्गिभावः । तेषां तु स कथं भवेद् येषां परस्परं बाध्यबाधकभावो यथा शृङ्गारबीभत्सयोः, वीरभयानकयोः, शान्तरौद्रयोः, शान्तशृङ्गारयोर्वा इत्याशङ्क्येदमुच्यते :—

सहानवस्थान विरोध है उनका तो परस्पर अङ्गाङ्गि भाव हो जाने में कोई कठिनाई नहीं है परन्तु जिनका 'वध्य-घातक' विरोध है उनमें परस्पर अङ्गाङ्गि भाव नहीं बन सकता है । इस दृष्टि से यहां आशङ्का करके उसके समाधान के लिए अगली कारिका लिखी गई है। इसी भाव को लेकर अवतरणिका करते हैं :—

जिन रसों का परस्पर अविरोध है [वध्य घातक भाव विरोध नहीं है] जैसे वीर और शृङ्गार का [युद्ध नीति, पराक्रम आदि से, कन्यारत्न के लाभ में], शृङ्गार और हास्य का [हास्य के स्वयं पुरुषार्थ न होने और अनु-रञ्जनात्मक होने से], रौद्र और शृङ्गार का [भरत के नाट्य शास्त्र में 'शृङ्गारश्च तैः प्रसभं सेव्यते' में, तैः रौद्रप्रभृतिभिः रक्षोदानवोद्धतमनुष्यैः सेव्यते इस व्याख्या से रौद्र और शृङ्गार का कथञ्चित् अविरोध है । केवल नायिका विषयक उग्रता बचानी चाहिए ।] वीर और अद्भुत का [वीरस्य चैव यत्कर्म सोऽद्भुतः, भ० ना०], रौद्र और करुण का [रौद्रस्यैव च यत्कर्म स शेषः करुणो रसः], अथवा शृङ्गार और अद्भुत का, [जैसे रत्नावली में ऐन्द्रजालिक के वर्णन प्रसङ्ग में] वहां अङ्गाङ्गिभाव भले ही हो जाय। परन्तु उनका वह [अङ्गाङ्गिभाव] कैसे होगा जिनका बाध्यबाधक भाव [विरोध] है ! जैसे शृङ्गार और बीभत्स का [आलम्बन रूप नायिका में अनुरक्ति से रति की, और आलम्बन से पलायमान रूप से जुगुप्सा की उत्पत्ति होती है इसलिए आलम्ब-नैक्य में रति और जुगुप्सा दोनों का वध्य-घातक भाव विरोध है] वीर और भयानक का [भय और उत्साह का आश्रयैक्य में 'वध्य-घातक भाव' विरोध है] शान्त और रौद्र का [नैरन्तर्य और विभावैक्य दोनों रूप में 'वध्यघातक भाव' विरोध है] अथवा शान्त तथा शृङ्गार का [विभावैक्य तथा नैरन्तर्य में विरोध है इन में अङ्गाङ्गिभाव कैसे बनेगा] इस आशङ्का से यह कहते हैं ।

---

१. परस्परविरोधः नि० दी० ।

अविरोधी विरोधी वा रसोऽङ्गिनि रसान्तरे ।
परिपोषं न नेतव्यस्तथा स्यादविरोधिता ॥२४॥

अङ्गिनि रसान्तरे शृङ्गारादौ प्रबन्धव्यङ्ग्ये सति, अविरोधी विरोधी वा रसः परिपोषं न नेतव्यः । तत्राविरोधिनो[1] रसस्याङ्गिरसापेक्षयात्यन्तमाधिक्यं न कर्तव्यमित्ययं प्रथमः परिपोषपरिहारः । उत्कर्षसाम्येऽपि तयोः विरोधासम्भवात् ।

यथा—

एकन्तो रुइअ पिआ अण्णन्तो समरतूरणिग्घोसो ।
णेहेण रणरसेण अ भडस्स दोलाइअं हिअअम् ॥

[*एकतो रोदिति प्रिया अन्यतः समरतूर्यनिर्घोषः ।*
स्नेहेन रणरसेन च भटस्य दोलायितं हृदयम् ॥ इतिच्छाया]

दूसरे रस के प्रधान होने पर उसके अविरोधी अथवा विरोधी [किसी भी] रस का [अत्यन्त] परिपोष नहीं करना चाहिए । इससे उनका अविरोध हो सकता है ।

प्रधानभूत शृङ्गारादि रस के प्रबन्ध व्यङ्ग्य होने पर उसके अविरोधी अथवा विरोधी रस का परिपोषण नहीं करना चाहिए । [उस परिषोयण के तीन प्रकार के परिहार क्रम से कहते हैं] १—उनमें से अविरोधी रस का अङ्गी प्रधानभूत रस की अपेक्षा अत्यन्त आधिक्य नहीं करना चाहिए यह प्रथम परिहार है । उन दोनों का समान उत्कर्ष हो जाने [तक] पर भी विरोध सम्भव नहीं है ।

जैसे—

एक ओर प्रियतमा रो रही है और दूसरी ओर युद्ध के बाजे का घोष हो रहा है । अतः स्नेह और युद्धोत्साह से वीर का हृदय दोलायमान हो रहा है ।

[यहां वीर और शृङ्गार का साम्य होने पर भी अविरोध है ।]

अथवा [दो रसों में साम्य होने पर भी अविरोध का दूसरा उदाहरण]

---

१. तत्राविरोधि रसस्य नि०, दी० ।

यथा वा—

कण्ठाच्छित्वाक्षमालावलयमिव करे हारमावर्तयन्ती,
कृत्वा पर्यङ्कबन्धं विषधरपतिना मेखलाया गुणेन ।
मिथ्यामन्त्राभिजापस्फुरदधरपुटव्यञ्जिताव्यक्तहासा
देवी सन्ध्याभ्यसूयाहसितपशुपतिस्तत्र दृष्टा तु वोऽव्यात् ॥

इत्यत्र ।

अङ्गिरसविरुद्धानां व्यभिचारिणां प्राचुर्येणानिवेशनम्,[1] निवेशने वा क्षिप्रमेवाङ्गिरसव्यभिचार्यनुवृत्तिरिति द्वितीयः ।

जैसे :—

गले में से हार को तोड़ [निकाल] कर हाथ में जपमाला के समान उसको फेरती हुई, नागराज के स्थान पर मेखला सूत्र से पर्यङ्क बन्ध आसन बांध कर झूठमूठ मन्त्र जप के कारण हिलते हुए अधरपुट से अभिव्यक्त हास को प्रकट करती हुई, सन्ध्या नामक [सपत्नी] के प्रति ईर्ष्यावश, महादेव का उपहास करती हुई देखी गई, देवी पार्वती तो तुम्हारी रक्षा करें ।

इसमें [प्रकृत ईर्ष्या विप्रलम्भ और तद्विरोधी मंत्र जपादि से व्यङ्ग्य शान्त इन दोनों रसों का साम्य होने पर भी विरोध नहीं है] ।

२—अङ्गिरस के विरुद्ध, व्यभिचारी भावों का अधिक निवेश न करना, अथवा निवेश करने पर शीघ्र ही अङ्गिरस के व्यभिचारी रूप में परिणत कर देना यह [परिपोष के परिहार का] दूसरा [प्रकार] है ।

विरोधी रस के व्यभिचारीभावों का यदि निवेश न किया जाय तो उसका परिपोष ही नहीं होगा और न वह रस कहा जा सकेगा । अतएव 'वा' से दूसरे विकल्प की प्रबलता सूचित होती है और यह दोनों विकल्प अलग-अलग नहीं हैं यह भी सूचित होता है । अन्यथा तीन के स्थान पर चार परिहार पक्ष बन जावेंगे। दूसरा पक्ष यह है कि विरोधी रस के व्यभिचारीभाव का निवेश करने पर भी उसको शीघ्र ही अङ्गीरस के व्यभिचारी भावरूप में परिणत कर देना चाहिये । जैसे पृष्ठ १६० पर दिए हुए "कोपात् कोमलबाहुलतिकापाशेन" इत्यादि श्लोक में अङ्गीभूत रति में अङ्ग रूप से जो रौद्र के स्थायीभाव क्रोध का निवेश किया है उसमें 'बद्ध्वा दृढ़' इस पद से उपनिबद्ध रौद्र रस के व्यभिचारीभाव [क्रोध] का, 'रुदत्या' और

---

१. निवेशनम् नि० ।

अङ्गत्वेन पुनः पुनः प्रत्यवेक्षा परिपोषं नीयमानस्याप्यङ्गभूतस्य रसस्येति तृतीयः । अनया दिशान्येऽपि प्रकारा उत्प्रेक्षणीयाः । विरोधिनस्तु रसस्याङ्गिरसापेक्षया कस्यचिन्न्यूनता [1]सम्पादनीया, यथा शान्तेऽङ्गिनि शृङ्गारस्य, शृङ्गारे वा शान्तस्य ।

परिपोषरहितस्य रसस्य कथं रसत्वमिति चेत्, उक्तमत्राङ्गिरसापेक्षयेति । अङ्गिनो हि रसस्य यावान् परिपोषस्तावांस्तस्य न कर्तव्यः । [2]स्वतस्तु संभवी परिपोषः केन वार्यते ।

एतच्चापेक्षिकं प्रकर्षयोगित्वमेकस्य रसस्य बहुरसेषु प्रबन्धेषु रसानामङ्गाङ्गिभावमनभ्युपगच्छताप्यशक्यप्रतिक्षेपमित्यनेन प्रकारेणाविरोधिनां विरोधिनां च रसानामङ्गाङ्गिभावेन समावेशे प्रबन्धेषु स्यादविरोधः ।

'हसन्' द्वारा शीघ्र ही रति के व्यभिचारीभाव ईर्ष्या, औत्सुक्य और हर्ष रूप में पर्यवसान हो जाता है अतएव रौद्र का परिपोष नहीं हो पाता । यह विरोधी रस के परिपोष परिहार का द्वितीय प्रकार हुआ । उसमें विरोधी व्यभिचारियों के अनिवेश की अपेक्षा अङ्गिरस व्यभिचारितया अनुसंधान अधिक प्रबल समझना चाहिये यह उत्तर विकल्प का दार्ढ्य ग्रन्थकार ने वा पद से सूचित किया है ।

३—अङ्गभूत रस का परिपोष करने पर भी बार-बार उसकी अङ्गरूपता का ध्यान रखना यह [परिपोष के परिहार का] तीसरा [प्रकार] है । [इस विषय में तापस वत्सराज में वत्सराज के पद्मावती विषयक सम्भोग शृङ्गार को उदाहरण रूप में रखा जा सकता है ।] इस शैली से अन्य प्रकार भी [स्वयं] समझ लेने चाहिएं । [जैसे] किसी विरोधी रस की अङ्गी रस की अपेक्षा न्यूनता कर लेनी जाहिए । जैसे शान्त रस के प्रधान होने पर शृङ्गार की अथवा शृङ्गार के प्रधान होने पर शान्त की ।

परिपोष प्राप्त हुए बिना रस का रसत्व ही कैसे बनेगा ? यदि यह पूछा जाय तो [इसके उत्तर में] 'अङ्गिरसापेक्षया' कहा गया है । [अर्थात्] अङ्गिरस का जितना परिपोष किया जाय उतना परिपोष उस [विरोधी रस] का नहीं करना चाहिये । स्वयं होने वाले [साधारण] परिपोषण को कौन मना करता है ।

अनेक रसों वाले प्रबन्धों में रसों के परस्पर अङ्गाङ्गिभाव को न मानने वाले भी इस आपेक्षिक [प्रधान रस को अधिक और शेष रसों को कम] प्रकर्ष का

---

१. न संपादनीया नि० । २. स्वगतस्तु सम्भवि नि०, दी० ।

एतच्च सर्वं येषां रसो रसान्तरस्य व्यभिचारी भवति इति दर्शनं[1] तन्मतेनोच्यते। मतान्तरे [2]तु रसानां स्थायिनो भावा उपचाराद् रस-शब्देनोक्तास्तेषामङ्गत्वं निर्विरोधमेव[3]।

खण्डन नहीं कर सकते हैं। इस प्रकार से भी प्रबन्धों में अविरोधी और विरोधी रसों के अङ्गाङ्गिभाव से समावेश करने में अविरोध हो सकता है।

जो लोग रसों का अङ्गाङ्गिभाव या उपकार्योपकारक भाव नहीं मानते हैं उनका कहना यह है कि रस तो उसी का नाम है जो स्वयं चमत्कार रूप है। यदि उसकी स्वचमत्कार रूप में विश्रान्ति नहीं होती है तो वह रस ही नहीं है। अङ्गाङ्गिभाव अथवा उपकार्योपकारक भाव मानने में तो अङ्गभूत या उपकारक रस की स्वचमत्कार में विश्रान्ति नहीं हो सकती है अतः वह रस नहीं कहला सकता है। रस वह तभी होगा जब स्वचमत्कार में ही उसकी विश्रान्ति हो जाय। उस दशा में वह किसी दूसरे का अङ्ग नहीं हो सकता है। इसलिये रसों में अङ्गाङ्गिभाव सम्भव नहीं है। जिनका यह मत है उनको भी अनेक रस वाले प्रबन्धों में किसी तारतम्य को मानना ही होगा। इसी तारतम्य का दूसरा रूप अङ्गाङ्गिभाव है। इसलिये नाम से वह भले ही अङ्गाङ्गिभाव न मानें परन्तु तारतम्य रूप से मानते ही हैं। अन्यथा कथावस्तु [इतिवृत्त सङ्घटना] का निर्माण ही नहीं हो सकेगा।

यह सब बात उनके मत से कही गई है जो एक रस को दूसरे रस में व्यभिचारी [अङ्ग] होने का सिद्धान्त मानते हैं। दूसरे [रस का रसान्तर में व्यभि-चारित्व अर्थात् अङ्गत्व न मानने वाले] मत में रस के स्थायीभाव उपचार से रस शब्द से कहे गये हैं [ऐसा समाधान समझना चाहिये]। उन [स्थायी भावों] का अङ्गत्व तो निर्विरोध है। [अर्थात् स्थायीभावों को अङ्ग मानने में उनको भी कोई आपत्ति नहीं है जो रसों का अङ्गत्व स्वीकार नहीं करते हैं।]

रसों के परस्पर अङ्गाङ्गिभाव के विषय में ऊपर जिन दो मतों का उल्लेख किया गया है उनका आधार भरत नाट्यशास्त्र के 'भावव्यञ्जक नामक सप्तम अध्याय के लगभग अन्त में पठित निम्न श्लोक हैं :—

---

१. निदर्शनं नि०। २. मतान्तरेऽपि नि०। ३. तेषामङ्गित्वे निर्विरोधित्वमेव नि०, तेषामङ्गत्वे निर्विरोधित्वमेव दी०।

बहूनां समवेतानां रूपं यस्य भवेद् बहु।
स मन्तव्यो रसः स्थायी शेषाः सञ्चारिणो मताः ॥
भ० ना० ७, ११९ ।

उक्त दोनों मत वाले इस श्लोक की भिन्न-भिन्न प्रकार से व्याख्या करते हैं। रसों में अङ्गाङ्गिभाव या स्थायी सञ्चारीभाव मानने वालों के मत में इसका अर्थ इस प्रकार होता है कि, चित्तवृत्ति रूप अनेक भावों में से जिसका रूप बहु अर्थात् अधिक प्रबन्धव्यापक हो उसको स्थायी रस मानना चाहिये और शेष को व्यभिचारी। इस मत में 'रसः स्थायी' यह अलग-अलग पद हैं। वह रस स्थायी अर्थात् अङ्गी रस होता है शेष रस सञ्चारी अथवा अङ्गरस होते हैं। किसी किसी जगह 'रसः स्थायी' इस प्रकार के विसर्गयुक्त पाठ के स्थान पर 'रस स्थायी' ऐसा विसर्ग रहित पाठ है उस दशा में इस मत वाले 'खर्परे शरि' इस वार्तिक से विसर्ग का वैकल्पिक लोप मानकर सङ्गति लगाते हैं। इस प्रकार इस मत से भरत मुनि ने रसों के स्थायी अर्थात् अङ्गी रूप और सञ्चारी अर्थात् अङ्ग रूप दोनों रूप स्वीकार किये हैं। लोचनकार ने भागुरि मुनि को रसों के स्थायी सञ्चारी मानने वाले पक्ष का समर्थक बताते हुए लिखा है कि "तथा च भागुरिरपि, किं रसानामपि स्थायीसञ्चारितास्तीति आक्षिप्याभ्युपगमेनैवोत्तरमवोचद् बाढ़मिति।" अतः रसों का स्थायो सञ्चारी भाव अर्थात् अङ्गाङ्गिभाव होता है यह भागुरि मुनि को भी अभिमत है। अतएव इस मत को ही प्रधान मानकर आलोककार ने भी विस्तारपूर्वक उसके उपपादन का प्रयत्न किया है।

दूसरे मत वाले रसस्थायी को एक समस्त पद मानते हैं और उसमें "द्वितीयाश्रितातीतपतितगतात्यस्तप्राप्तापन्नैः" इस पाणिनि सूत्र में स्थित "गमिगम्यादीनामुपसंख्यानम्" वार्तिक से समास मानकर 'रसानां रसेषु वा स्थायी रसस्थायी' ऐसा विग्रह करते हैं। यह रसों का नहीं उनके स्थायीभाव का अङ्गाङ्गिभाव अथवा स्थायी सञ्चारीभाव मानते हैं। एक रस में स्थायीभाव होने पर भी वह दूसरे रस का सञ्चारी भाव हो सकता है। जैसे क्रोध रौद्र रस का स्थायीभाव होने पर भी वीर रस में व्यभिचारीभाव होता है। अथवा एक रस में जो व्यभिचारीभाव है वही दूसरे रस में स्थायीभाव हो सकता है जैसे तत्वज्ञान विषयक निर्वेद शान्तरस में स्थायीभाव होता है यद्यपि अन्य जगह वह व्यभिचारी भाव ही है। अथवा कहीं एक व्यभिचारी भाव भी दूसरे व्यभिचारी भाव की अपेक्षा स्थायी हो जाता है जैसे 'विक्रमोर्वशी' नाटक में चतुर्थ अङ्क में उन्माद। इस प्रकार भावों की स्थायिता और सञ्चारिता को प्रतिपादन करने के लिए भरत मुनि ने यह श्लोक लिखा है यह इस मत वालों

एवमविरोधिनां विरोधिनां च प्रबन्धस्थेनाङ्गिना रसेन समावेशे साधारणमविरोधोपायं प्रतिपाद्येदानीं विरोधिविषयमेव[1] तं प्रतिपादयितुमिदमुच्यते :—

विरुद्धैकाश्रयो यस्तु विरोधी स्थायिनो भवेत् ।
स विभिन्नाश्रयः कार्यस्तस्य पोषेऽप्यदोषता ॥२५॥

ऐकाधिकरण्यविरोधी नैरन्तर्यविरोधी चेति द्विविधो विरोधी । तत्र प्रबन्धस्थेन स्थायिनाङ्गिना रसेनौचित्यापेक्षया विरुद्धैकाश्रयो यो

का कहना है । वे श्लोक के पदों का समन्वय इस प्रकार करते हैं कि चित्तवृत्ति रूप अनेक भावों में से जिसका अधिक विस्तृत रूप उपलब्ध होता है वह स्थायी भाव होता है और वही रसीकरण योग्य होता है इसी से उसको रसस्थायी कहते हैं । शेष सब व्यभिचारी होते हैं । इसी लिये एक रस का स्थायीभाव दूसरी जगह व्यभिचारी अथवा एक रस का व्यभिचारी भाव दूसरी जगह स्थायी भाव हो जाता है ।

इस प्रकार पहिले मत में साक्षात् रसों का, और दूसरे मत में उनके स्थायी भावों का साक्षात्, और परम्परा या लक्षणा से रसों का अङ्गाङ्गिभाव या उपकार्योपकारक भाव हो सकता है । इसलिये दोनों ही मतों में विरोधी रसों के अविरोध का उपपादन किया जा सकता है ॥२४॥

इस प्रकार प्रबन्धस्थ प्रधान रस के साथ उसके अविरोधी तथा विरोधी रसों के समावेश में साधारण अविरोधोपाय का प्रतिपादन करके अब [विशेष रूप से] विरोधी रस के ही उस [अविरोधापादक उपाय] का प्रतिपादन करने के लिए यह कहते हैं—

स्थायी [प्रधान] रस का जो विरोधी ऐकाधिकरण्य रूप से विरोधी हो उसको विभिन्नाश्रय कर देना चाहिए [फिर] उसके परिपोष में भी कोई दोष नहीं है ।

विरोधी [रस] दो प्रकार के होते हैं, १. ऐकाधिकरण्य विरोधी और २. नैरन्तर्य विरोधी । [ऐकाधिकरण्य विरोधी के भी फिर दो भेद हो जाते हैं आलम्बन के [ऐक्य में विरोधी और आश्रय के ऐक्य में विरोधी] इन में से

---

१. विरोधिविषये नि० दी० ।

विरोधी यथा वीरेण भयानकः स विभिन्नाश्रयः कार्यः । तस्य वीरस्य य आश्रयः कथानायकस्तद्विपक्षविषये सन्निवेशयितव्यः । तथा सति च तस्य विरोधिनोऽपि यः परिपोषः[1] स निर्दोषः । विपक्षविषये हि भयातिशयवर्णने नायकस्य नयपराक्रमादिसम्पत् सुतरामुद्योतिता भवति । एतच्च मदीयेऽर्जुनचरितेऽर्जुनस्य पातालावतरणप्रसङ्गे वैशद्येन प्रदर्शितम् ॥२५॥

एवमैकाधिकरण्यविरोधिनः प्रबन्धस्थेन स्थायिना रसेनाङ्गभावगमने निर्विरोधित्वं यथा तथा दर्शितम् । द्वितीयस्य तु तत्प्रतिपादयितुमुच्यते :—

प्रबन्ध के प्रधान रस की दृष्टि से जो एकाधिकरण विरोधी रस हो, जैसे वीर से भयानक, उसको भिन्न आश्रय में कर देना चाहिए । [अर्थात्] उस वीर का जो आश्रय कथानायक उसके विपक्ष [प्रतिनायक] में [उस भयानक रस] का सन्निवेश करना चाहिए । ऐसा होने पर उस विरोधी [भयानक] का परिपोषण भी निर्दोष है । [क्योंकि] विपक्ष [शत्रु] विषयक भय के अतिशय के वर्णन से नायक की नीति और पराक्रम आदि का बाहुल्य प्रकाशित होता है । यह बात मेरे 'अर्जुनचरित' [नामक काव्य] में अर्जुन के पातालगमन के प्रसङ्ग में स्पष्ट रूप से प्रदर्शित की गई है ।

ऐकाधिकरण्य विरोधी का अर्थ यह है कि समान अधिकरण या आश्रय में दोनों रस न रह सकें । जैसे वीर और भयानक ये दोनों रस एक आश्रय अर्थात् एक नायक में एक साथ नहीं रह सकते हैं । वीर का स्थायीभाव 'उत्साह' और भयानक का स्थायीभाव 'भय' यह दोनों एक जगह सम्भव न होने से इन दोनों का आश्रय ऐक्य में विरोध है । इसका परिहार करने का सीधा उपाय यह है कि वीर को नायक निष्ठ और भयानक को प्रतिनायक-निष्ठ रूप से उपनिबद्ध किया जाय । ऐसा करने से उस वीर विरोधी भयानक का परिपोष न केवल निर्दोष होगा अपितु वीर रस का उत्कर्षाधायक होगा । और उसको अधिक चमत्कार युक्त बना देगा ॥२५॥

प्रबन्धस्थ प्रधान रस के साथ ऐकाधिकरण्य रूप विरोधी का, अङ्गभाव होकर जिस प्रकार अविरोध हो सकता है वह प्रकार दिखला दिया । अब

---

१. पोषः नि० दी० ।

एकाश्रयत्वे निर्दोषो नैरन्तर्ये विरोधवान् ।
रसान्तरव्यवधिना रसो व्यङ्ग्यो[1] सुमेधसा ॥२६॥

यः पुनरेकाधिकरणत्वे निर्विरोधो नैरन्तर्ये तु विरोधी स रसान्तरव्यवधानेन प्रबन्धे निवेशयितव्यः यथा शान्तश्रृङ्गारौ नागानन्दे निवेशितौ ।

दूसरे [अर्थात् जिनके निरन्तर समावेश में विरोध होता है उन नैरन्तर्य विरोधियों] के भी उस [अविरोधोपपादक प्रकार] को दिखाने के लिए यह कहते हैं —

जिस [रस] के एक आश्रय में निबन्धन में दोष नहीं है [परन्तु] निरन्तर [पास-पास अव्यवहित रूप से] समावेश में विरोध आता है, उसको [दोनों के] बीच में अविरोधी रस के वर्णन से व्यवहित करके बुद्धिमान् कवि को वर्णन करना चाहिए ।

और जो [रस] एक अधिकरण में अविरोधी है परन्तु नैरन्तर्य में विरोधी है उसका दूसरे रस के व्यवधान से प्रबन्ध में समावेश करना चाहिए। जैसे नागानन्द में शान्त और श्रृङ्गार [बीच में दोनों के अविरोधी अद्भुत रस के समावेश से व्यवहित करके] का समावेश किया गया है ।

नागानन्द में "रागस्यास्पदमित्यवैमि न च मे ध्वंसीति न प्रत्ययः" इत्यादि से लेकर परार्थशरीरवितरणरूप निर्वहण पर्यन्त शान्त रस है । और उसका विरोधी मलयवती विषयक श्रृङ्गार है। इन दोनों के बीच में दोनों के अविरोधी अद्भुत रस का "अहो गीतमहो वादित्रम्" आदि से समावेश और उसी की पुष्टि के लिए "व्यक्तिर्व्यञ्जनधातुना" आदि का समावेश किया गया है। इस प्रकार नैरन्तर्य विरोधी रसों के बीच में अविरोधी रस का समावेश कर देने से उनका अविरोध हो सकता है ।

यहाँ ग्रन्थकार ने नागानन्द के शान्त और श्रृङ्गार रस का उदाहरण दिया है। परन्तु कुछ लोग शान्त रस को अलग रस ही नहीं मानते हैं। और न नागानन्द को शान्त प्रधान नाटक मानते हैं, अपितु उसका मुख्य रस दयावीर मानते हैं। इस विषय का विशेष रूप से उपपादन श्री 'धनञ्जय' के 'दशरूपक' और

---

१. न्यस्यः दी०, व्यङ्ग्यः [न्यस्यः] नि० ।

उसकी 'धनिक' विरचित टीका में पाया जाता है। यहां आलोककार ने इस मत का खण्डन करके शान्त रस को अलग रस सिद्ध करने का प्रयत्न किया है। शान्त रस को न मानने वालों की ओर से धनिक ने जो कुछ लिखा है उसका सारांश यह है कि—

कुछ लोग कहते हैं कि भरत मुनि ने शान्त रस के विभावादि का प्रतिपादन नहीं किया है अतएव शान्त रस नहीं है। दूसरे लोग कहते हैं कि अनादिकालीन रागद्वेष के प्रवाह का सर्वथा उच्छेद असम्भव होने से रागद्वेषोच्छेदात्मक शान्त रस सम्भव नहीं है। तीसरे लोग वीर आदि रस में शान्त रस का अन्तर्भाव करते हैं। इनमें से कोई पक्ष माना जाय या न माना जाय इसमें धनिक को कोई आपत्ति नहीं है। उनका कहना तो यह है कि नाटक में शान्त रस की पुष्टि नहीं हो सकती है। क्योंकि शान्त की स्थिति में समस्त व्यापारों का विलय हो जाता है। उस समस्तव्यापारशून्यता रूप शान्त रस का अभिनय हो ही नहीं सकता है अतएव धनिक और धनञ्जय नाटक में शम के स्थायीभावत्व का निषेध करते हैं।—"शममपि केचित् प्राहुः पुष्टिर्नैतस्य नाट्येषु।"

निर्वेदादिरताद्रूप्यादस्थायी स्वदते कथम्।
वैरस्यायैव तत्पोषस्तेनाष्टौ स्थायिनो मताः॥ दश रू० ४, ३६।

अर्थात् स्थायीभाव का जो यह लक्षण किया गया है—

विरुद्धैरविरुद्धैर्वा भावैर्विच्छिद्यते न यः।
आत्मभावं नयत्यन्यान् स स्थायी लवणाकरः॥ दश रू० ४, २४।

वह निर्वेद में नहीं घटता है। इसलिए वह स्थायीभाव नहीं केवल व्यभिचारी भाव है। और उसका सर्वव्यापारोपरतिरूप होने से उसका परिपोष भी नाटक में नहीं हो सकता है, यदि किया जाएगा तो वह नीरस ही होगा। अतः निर्वेद स्थायी भाव नहीं है और न शान्त रस ही कोई रस है। रही नागानन्द की बात सो उसमें शान्त रस बताना ठीक नहीं है क्योंकि उसमें मलयवती के प्रति अनुराग और अन्त में विद्याधरचक्रवर्तित्व की प्राप्ति का जो वर्णन है वह शान्त रस के सर्वथा प्रतिकूल है। अतएव उसमें शान्त रस नहीं है। अपितु दयावीर के अनुरूप उत्साह उसका स्थायी भाव होने से वीर रस है। इस प्रकार शान्त रस का अन्तर्भाव वीर रस में करते हैं। इन्हीं सब पक्षों का खण्डन करके शान्त रस की सिद्धि करने के लिए आलोककार ने अगला प्रसङ्ग उठाया है।

शान्तश्च तृष्णाक्षयसुखस्य यः परिपोषस्तल्लक्षणो रसः प्रतीयत एव । तथा चोक्तम् :—

यच्च कामसुखं लोके यच्च दिव्यं महत् सुखम् ।
तृष्णाक्षयसुखस्यैते नार्हतः षोडशीं कलाम् ।।

यदि नाम सर्वजनानुभवगोचरता तस्य नास्ति नैतावताऽसावलोकसामान्यमहानुभावचित्तवृत्तिविशेषः[1] प्रतिक्षेप्तुं शक्यः । [2]न च वीरे तस्यान्तर्भावः कर्तुं युक्तः । तस्याभिमानमयत्वेन व्यवस्थापनात् । अस्य चाहङ्कारप्रशमैकरूपतया स्थितेः । तयोश्चैवंविधविशेषसद्भावेऽपि यद्यैक्यं परिकल्प्यते तद्वीररौद्रयोरपि तथा प्रसङ्गः । दयावीरादीनां तु चित्तवृत्तिविशेषाणां सर्वाकारमहङ्काररहितत्वेन शान्तरसप्रभेदत्वम्, इतरथा तु वीररसप्रभेदत्वमिति व्यवस्थाप्यमाने न कश्चिद् विरोधः । तदेवमस्ति शान्तो रसः । तस्य चाविरुद्धरसव्यवधानेन प्रबन्धे विरोधिरससमावेशे सत्यपि निर्विरोधत्वम् । यथा प्रदर्शिते विषये ।।२६।।

तृष्णा नाश से उत्पन्न सुख का जो परिपोष तत्स्वरूप शान्त रस प्रतीत होता ही है [अर्थात् उसका अपलाप, निषेध नहीं किया जा सकता है] इसी से कहा है—

संसार में जो काम-सुख और जो अलौकिक महान् सुख है यह दोनों तृष्णा क्षय [सन्तोष जन्य] सुख की सोलहवीं कला के बराबर भी नहीं हैं ।

यदि में [शान्त रस] सर्वसाधारण के अनुभव का विषेय नहीं है तो इससे असाधारण महापुरुषों के चित्तवृत्ति विशेष रूप शान्त रस का निषेध नहीं किया जा सकता है । और न वीर रस में उसका अन्तर्भाव करना उचित है । क्योंकि वीर रस अहङ्कारमय रूप से स्थित होता है और इस शान्त की स्थिति अहङ्कार प्रशम रूप से होती है । उन [शान्त और वीर] दोनों में इस प्रकार का भेद होते हुए भी यदि ऐक्य माना जाय तो फिर वीर और रौद्र को भी एक ही मानना होगा । दयावीर आदि की चित्तवृत्ति विशेष यदि सब प्रकार के अहङ्कार से रहित हो तब तो उसको शान्त रस का भेद कह सकते हैं अन्यथा [अहङ्कारमय चित्तवृत्ति होने पर] वीर रस का भेद होगा, ऐसी व्यवस्था करने से उनमें कोई विरोध नहीं होगा । इस प्रकार शान्त रस है । और विरोधी रस का समावेश रहने पर भी अविरुद्ध रस के व्यवधान से प्रबन्ध

---

१. विशेषवत् नि०, दी० । २. वीरे च तस्यान्तर्भावः कर्तुं युक्तः नि० ।

एतदेव स्थिरीकर्तुमिदमुच्यते—

रसान्तरान्तरितयोरेकवाक्यस्थयोरपि ।
निवर्तते हि रसयोः समावेशे विरोधिता ॥२७॥

रसान्तरव्यवहितयोरेकप्रबन्धस्थयो[1]र्विरोधिता निवर्तत इत्यत्र न काचिद् भ्रान्तिः । यस्मादेकवाक्यस्थयोरपि रसयोरुक्तया नीत्या विरुद्धता निवर्तते ।

यथा :—

भूरेणुदिग्धान्नवपारिजातमालारजोवासितबाहुमध्याः ।
गाढं शिवाभिः परिरभ्यमाणान् सुराङ्गनाश्लिष्टभुजान्तरालाः ॥
सशोणितैः क्रव्यभुजां स्फुरद्भिः पक्षैः खगानामुपवीज्यमानान् ।
संवीजिताश्चन्दनवारिसेकैः सुगन्धिभिः कल्पलतादुकूलैः ॥
विमानपर्यङ्कतले निषण्णाः कुतूहलाविष्टतया तदानीम् ।
निर्दिश्यमानान् ललनाङ्गुलीभिर्वीराः स्वदेहान् पतितानपश्यन् ॥

में उसका समावेश करने से विरोध नहीं रहता जैसा ऊपर दिखाए हुए [नागानन्द के] विषय में है ॥२६॥

इसी को स्थिर करने के लिए यह कहते हैं :—

एक वाक्य में स्थित होने पर भी दूसरे [दोनों के अविरोधी] रस से व्यवहित हुए दो [विरोधी] रसों का समावेश होने पर उनका विरोध समाप्त हो जाता है ।

दूसरे रस से व्यवधान हो जाने पर एक प्रबन्ध में स्थित [विरोधी] रसों का विरोध [भी] मिट जाता है इसमें किसी प्रकार का भ्रम नहीं है। क्योंकि उपर्युक्त नीति से एक वाक्यस्थ रसों का भी विरोध नहीं रहता है। जैसे :—

नवीन पारिजात-माला के पराग से सुरभित वक्षस्थल वाले, सुराङ्गनाओं से आलिङ्गित उरःस्थल वाले, चन्दनजल से सिक्त सुगन्धित कल्पलता के [बने] दुकूलों [वस्त्रों] द्वारा पंखा किए जाते हुए विमान के पलङ्गों पर बैठे हुए [युद्ध में मारे गए] के वीरों ने कौतूहलवश ललनाओं,

---

१. विरुद्धयोर्विरोधिता नि०, दी० ।

इत्यादौ । अत्र हि शृङ्गारबीभत्सयोस्तदङ्गयोर्वा वीररस-व्यवधानेन समावेशो न विरोधी ॥२७॥

विरोधमविरोधं च सर्वत्रेत्थं निरूपयेत् ।
विशेषतस्तु शृङ्गारे सुकुमारतमो[1] ह्यसौ ॥२८॥

यथोक्तलक्षणानुसारेण विरोधाविरोधौ सर्वेषु रसेषु प्रबन्धेऽन्यत्र च निरूपयेत् सहृदयः । विशेषतस्तु शृङ्गारे । स हि रतिपरिपोषात्मकत्वाद्, रतेश्च स्वल्पेनापि निमित्तेन भङ्गसम्भवात्, सुकुमारतमः[1] सर्वेभ्यो रसेभ्यो मनागपि विरोधिसमावेशं न सहते ॥२८॥

[अप्सराओं, स्ववेंश्याओं] द्वारा अंगुली [के संकेत] से दिखलाए जाते हुए, पृथ्वी की धूल में सने हुए, शृगालियों से गाढ़ आलिङ्गित और मांसाहारी पक्षियों के रक्त में सने हुए, तथा हिलते हुए पंखों से हवा किये जाते और [युद्धभूमि में] पड़े हुए अपने शरीरों को देखा ।

इत्यादि में । यहां शृङ्गार और बीभत्स रस अथवा उसके अङ्गों [स्थायी-भावों, रति तथा जुगुप्सा] का वीर रस के व्यवधान से समावेश विरुद्ध नहीं है ।

यहां 'वीराः' कर्ता और 'स्वदेहान्' कर्म है । सारे वाक्य में अनुगतरूप से उनकी प्रतीति होती है और समस्त वाक्य में ही शृङ्गार तथा बीभत्स अथवा उनके स्थायीभाव रति और जुगुप्सा व्यापक है इसलिए वीररस के बीच में व्यवधान की प्रतीति नहीं जान पड़ती है फिर भी 'भूरेणुदिग्धान्' इस विशेषण के बोध से बीभत्स, और 'नवपारिजातमालारजोवासितबाहुमध्याः' इस विशेषण के बोध से शृङ्गार, और इन दोनों के बीच विशेष्य बोध के रूप में वीर रस की प्रतीति होती है । इस प्रकार यहां शृङ्गार तथा बीभत्स के बीच में वीर का व्यवधान होने से उनका समावेश उचित है ॥२७॥

विरोध तथा अविरोध का सर्वत्र इसी प्रकार निरूपण करना चाहिए । विशेष कर शृङ्गार में, क्योंकि वह सबसे अधिक सुकुमार होता है ।

उपर्युक्त लक्षणों के अनुसार प्रबन्ध काव्य में और अन्यत्र [मुक्तकों में] सहृदयों को सब रसों में विरोध अथवा अविरोध को पहिचानना चाहिए । विशेष कर शृङ्गार में । क्योंकि वह रति के परिपोष रूप होने से, और रति

---

१. सुकुमारतरः नि० दी० ।

अवधानातिशयवान् रसे तत्रैव सत्कविः ।
भवेत् तस्मिन् प्रमादो हि झटित्येवोपलक्ष्यते[1] ॥२९॥

तत्रैव च रसे सर्वेभ्योऽपि रसेभ्यः सौकुमार्यातिशययोगिनि कविरवधानवान् प्रयत्नवान् स्यात् । तत्र हि प्रमाद्यतस्तस्य सहृदयमध्ये क्षिप्रमेवावज्ञानविषयता भवति ॥२९॥

शृङ्गाररसो हि संसारिणां नियमेनानुभवविषयत्वात् सर्वरसेभ्यः कमनीयतया प्रधानभूतः । एवं च सति :—

विनेयानुन्मुखीकर्तुं काव्यशोभार्थमेव वा ।
तद्विरुद्धरसस्पर्शस्तदङ्गानां न दुष्यति ॥३०॥

के तनिक से भी कारण से, भङ्ग हो जाने से, सब रसों से अधिक सुकुमार है और विरोधी के तनिक से भी समावेश को सहन नहीं कर सकता है ॥२८॥

सत्कवि को उसी [शृङ्गार] रस में अत्यन्त सावधान रहना चाहिये [क्योंकि] उसमें [तनिक सा भी] प्रमाद तुरन्त प्रतीत हो जाता है ।

सब रसों से अधिक सुकुमार उसी रस में कवि को सावधान, [और] प्रयत्नशील होना चाहिए । उसमें प्रमाद करने वाले उस [कवि] की सहृदयों के बीच शीघ्र ही तिरस्कार विषयता हो जाती है ॥२९॥

शृङ्गाररस समस्त सांसारिक पुरुषों के अनुभव का विषय अवश्य होता है अतः सौन्दर्य की दृष्टि से प्रधानतम है । ऐसा होने से :—

शिष्यों को [शिक्षणीय विषय में] प्रवृत्त करने की दृष्टि से अथवा काव्य की शोभा के लिए उस [शृङ्गार] के विरोधी [शान्त आदि] रसों में उस [शृङ्गार] के अङ्गों [व्यभिचारी भावादि] का स्पर्श [पुट] दूषित नहीं होता।

जैसे, लोचनकार निर्मित स्तोत्र में,

त्वां चन्द्रचूडं सहसा स्पृशन्ती प्राणेश्वरं गाढवियोगतप्ता ।
सा चन्द्रकान्ताकृतिपुत्रिकेव संविद् विलीयापि विलीयते मे ॥

इस श्लोक में चन्द्रचूड़ शिव की स्तुति है। शृङ्गार की पद्धति में

---

१. झगित्येवावभासते दी०, झगित्येवोपलक्ष्यते नि० ।

शृङ्गारविरुद्धरसस्पर्शः शृङ्गाराङ्गाणां[1] यः स न केवलमविरोध-लक्षणयोगे सति न दुष्यति, यावद् विनेयानुन्मुखीकर्तुं काव्यशोभार्थमेव वा क्रियमाणो न दुष्यति । शृङ्गररसाङ्गैरुन्मुखीकृताः सन्तो हि विनेयाः सुखं विनयोपदेशान् गृह्णन्ति । सदाचारोपदेशरूपा हि नाटकादिगोष्ठी, विनेयजनहितार्थमेव मुनिभिरवतारिता ।

चन्द्रचूड़ शिव को पति, और अपनी बुद्धिवृत्ति को चन्द्रकान्त मणि से निर्मित पुतली के समान सुन्दर अपनी अर्थात् स्तोत्र रचयिता की पुत्री तथा शिव की पत्नी रूप माना है। वह बुद्धि वृत्ति अपने प्रियतम शिव से बहुत काल से वियुक्त होने के कारण अत्यन्त वियोग सन्तप्त है। शिव के ध्यान में तनिक देर के लिए चित्त एकाग्र होने से, चन्द्रचूड़ शिव का स्पर्श पाकर वह तदाकारापन्न होने से स्वरूप विहीन, पति के आलिङ्गन में सर्वात्मना विलीन-सी होकर चन्द्रचूड़ के स्पर्श से द्रवित होकर विलीन हो जाने वाली चन्द्रकान्त पुत्तलिका के समान विलीन हो जाती है।

यहां शान्त रस के विभाव, अनुभाव आदि का भी शृङ्गाररस की पद्धति से निरूपण किया गया है। यदि सीधी शान्त रस की शैली में इस बात को कहा जाय तो वह, सब सहृदयों को उतनी रुचिकर नहीं होगी जितनी इस प्रकार हो जाती है। यहां शृङ्गार रस के विरोधी शान्त रस में भी शृङ्गार का पुट लग जाने से काव्य में चमत्कार आगया है इसलिये काव्यशोभा इस प्रकार के पुट का एक प्रयोजन है।

दूसरा मुख्य प्रयोजन शिष्यों की शिक्षणीय विषय में प्रवृत्ति करना है। इसीलिये उपदेशप्रद वेदादि को 'शब्द प्रधान' होने से 'प्रभु शब्द', और इतिहास पुराणादि को 'अर्थतात्पर्यप्रधान' होने से 'सुहृच्छब्द', तथा काव्य नाटकादि को 'रस तात्पर्य' प्रधान होने से 'कान्ता शब्द' के समान माना है। जिनमें 'कान्ता-शब्द-सम्मित' काव्य नाटकादि से शिष्यों को रसास्वादन पूर्वक शिक्षा प्राप्त होने से विनेयों का उन्मुखीकरण उनका मुख्य प्रयोजन है।

शृङ्गार के अङ्गों का जो शृङ्गार विरुद्ध रसों के साथ स्पर्श है वह केवल पूर्वोक्त अविरोध लक्षणों के होने पर ही निर्दोष हो यह बात नहीं है अपितु शिष्यों को उन्मुख करने अथवा काव्य शोभा की दृष्टि से किया जाने पर [भी]

---

१. शृङ्गाराङ्गानां बा० प्रि० ।

किञ्च शृङ्गारस्य सकलजनमनोहराभिरामत्वात्[1] तदङ्गसमावेशः काव्ये शोभातिशयं पुष्यतीत्यनेनापि प्रकारेण विरोधिनि[2] रसे शृङ्गाराङ्गसमावेशो न विरोधी। ततश्च :—

सत्यं मनोरमा रामाः सत्यं रम्या विभूतयः।
किन्तु मत्ताङ्गनापाङ्गभङ्गलोलं हि जीवितम्॥

इत्यादिषु नास्ति रसविरोधदोषः ॥३०॥

दूषित नहीं होता है। शृङ्गार रस के अङ्गों से प्रवृत्त हुए शिष्यगण सदाचार के उपदेशों को आनन्दपूर्वक ग्रहण कर लेते हैं। [भरतादि] मुनियों ने शिक्षणीय जनों के हित के लिए ही सदाचारोपदेश रूप नाटकादि गोष्ठी [मण्डली] की अवतारणा की है।

और शृङ्गार के सब लोगों के मन को हरण करने वाला और सुन्दर होने से उसके अङ्गों का समावेश काव्य में सौन्दर्य के अतिशय की वृद्धि करने वाला होता है इस प्रकार से भी विरोधी रस में शृङ्गार का समावेश विरोधी नहीं है। इसलिये :—

यह ठीक है कि स्त्रियां बड़ी मनोरम होती हैं, यह ठीक है कि [ऐश्वर्य] विभूति बड़ी सुन्दर होती है, किन्तु [उनका भोग करने वाला यह] जीवन [तो] मत्त स्त्री के कटाक्ष के समान अत्यन्त अस्थिर है।

इत्यादि में रस विरोध का दोष नहीं हैं ॥३०॥

यहां सब जगत् की अनित्यता रूप शान्त रस के विभाव का वर्णन करते हुए 'त्वां चन्द्रचूड़' इत्यादि के समान किसी विभाव का शृङ्गार पद्धति से वर्णन नहीं किया है। किन्तु 'सत्यं' शब्द से मानों पर-हृदय में प्रवेश कर कवि कहना चाहता कि हम मिथ्या ही वैराग्य की बात नहीं करते अपितु यह 'रामाः' और 'रम्या विभूतयः' जिसके लिए हैं वह जीवन ही इतना अस्थिर है। 'मत्ताङ्गनापाङ्गभङ्ग' शृङ्गार रस का विभावरूप अङ्ग है। मत्ताङ्गना के सर्वाभिलषणीय कटाक्ष की अस्थिरता से विश्व के 'विभूति' और 'रामा' आदि विषयों की अस्थिरता की उपमा देने से वैराग्य का विषय सरलता से समझ लिया जाता है॥३०॥

---

१. सकलजनमनोऽभिरामत्वात् दी०। २. विरोधिरसे नि०, दी०।

विज्ञायेत्थं रसादीनामविरोधविरोधयोः ।
विषयं सुकविः काव्यं कुर्वन् मुह्यति न क्वचित् ॥ ३१ ॥

इत्थमनेनानन्तरोक्तेन प्रकारेण रसादीनां रसभावतदाभासानां परस्परं विरोधस्याविरोधस्य च विषयं विज्ञाय सुकविः काव्यविषये प्रतिभातिशययुक्तः काव्यं कुर्वन् न क्वचिन्मुह्यति ॥३१॥

एवं रसादिषु विरोधाविरोधनिरूपणस्योपयोगित्वं प्रतिपाद्य व्यञ्जकवाच्य-वाचक निरूपणस्यापि तद्विषयस्य तत्प्रतिपाद्यते :—

वाच्यानां वाचकानां च यदौचित्येन योजनम् ।
रसादिविषयेणैतत् कर्म मुख्यं महाकवेः ॥ ३२ ॥

वाच्यानामितिवृत्तविशेषाणां वाचकानां च तद्विषयाणां, रसादिविषयेणौचित्येन यद् योजनमेतन्महाकवेर्मुख्यं कर्म । अयमेव हि महाकवेर्मुख्यो व्यापारो यद्रसादीनेव मुख्यतया काव्यार्थीकृत्य तद्व्यक्त्यनुगुणत्वेन शब्दानामर्थानां चोपनिबन्धनम् ॥३२॥

इस प्रकार रस आदि के अविरोध और विरोध के विषय को समझ कर काव्य रचना करने वाला कवि कहीं भ्रम में नहीं पड़ता है।

इस प्रकार अभी कही रीति से, रस आदि अर्थात् रस, भाव और तदाभासों के परस्पर विरोध और अविरोध के विषय को समझ कर काव्य के विषय में अत्यन्त निपुण [प्रतिभावान्] हुआ सत्कवि काव्य रचना करते हुए कहीं व्यामोह [भ्रम] में नहीं पड़ता है ॥३१॥

इस प्रकार रस आदि में विरोध और अविरोध के निरूपण की उपयोगिता प्रतिपादन करके, उस [रसादि] विषय के व्यञ्जक, वाच्य [कथा-वस्तु] तथा वाचक शब्दादि के निरूपण की भी उपयोगिता प्रतिपादन करते हैं :—

वाच्य [कथावस्तु] और [उसके] वाचक शब्दादि की रसादि विषयक औचित्य की दृष्टि से जो योजना करना है यही महाकवि का मुख्य कर्तव्य है।

वाक्य अर्थात् इतिवृत्त [कथावस्तु विशेष] और उसके सम्बन्धी वाचक शब्दादि की रसादि विषयक औचित्य की दृष्टि से योजना करना है यह महाकवि का मुख्य कर्म है। रसादि को मुख्यरूप से काव्य का विषय बना कर उसके अनुरूप शब्द और अर्थों की रचना करना यही महाकवि का मुख्य कार्य है ॥३२॥

एतच्च रसादितात्पर्येण काव्यनिबन्धनं भरतादावपि सुप्रसिद्ध-मेवेति प्रतिपादयितुमाह[1] :—

रसाद्यनुगुणत्वेन　　　　व्यवहारोऽर्थशब्दयोः ।
औचित्यवान् यस्ता एता वृत्तयो [2]द्विविधाः स्थिताः ॥३३॥

व्यवहारो हि वृत्तिरित्युच्यते । तत्र रसानुगुण औचित्यवान् वाच्याश्रयो यो व्यवहारस्ता एताः कैशिक्याद्याः वृत्तयः । वाचकाश्रयाश्चोपनागरिकाद्याः वृत्तयो हि रसादितात्पर्येण सन्निवेशिताः कामपि नाट्यस्य काव्यस्य च छायामावहन्ति । रसादयो हि द्वयोरपि तयोर्जीव-भूताः । इतिवृत्तादि तु शरीरभूतमेव ।

रसादि के तात्पर्य से [रसादि को प्रधान मान कर] यह काव्य रचना भरत [के नाट्यशास्त्र] आदि में भी प्रसिद्ध है यह प्रतिपादन करने के लिए कहते हैं :—

रस आदि के अनुकूल शब्द और अर्थ का जो उचित व्यवहार है वही ये दो प्रकार की वृत्ति मानी जाती हैं ।

व्यवहार को ही वृत्ति कहते हैं । उनमें रसानुगुण औचित्य युक्त जो वाच्य अर्थ का व्यवहार है वह कैशिकी आदि वृत्तियां हैं । और वाचक [शब्द] आश्रित जो व्यवहार है वह उपनागरिकादि वृत्तियां हैं । रसादिपरतया [रसादि के अनुकूल, रसादि को प्रधान मान कर] प्रयुक्त की गई [कैशिकी आदि तथा उपनागरिकादि] वृत्तियां नाटक और काव्य में [क्रमशः] कुछ अनिर्वचनीय सौन्दर्य उत्पन्न कर देती हैं । रसादि उन दोनों प्रकार की वृत्तियों के आत्मभूत है ।

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है वृत्ति शब्द साहित्य में अनेक अर्थों में प्रयुक्त होता है । यहां भरत के नाट्यशास्त्र की कैशिकी आदि और भट्टोद्भट आदि की अभिमत उपनागरिका आदि वृत्तियों का अर्थव्यवहार और शब्द व्यवहार रूप से सुन्दर और सुबोध भेद किया है । शब्द व्यवहार में भी शब्द-रचना की दृष्टि से उपनागरिकादि और अर्थबोधानुकूल व्यापार की दृष्टि से अभिधा-लक्षणा आदि को वृत्ति कहा जाता है । इस प्रकार की व्यवस्था से वृत्ति शब्द के तीन अर्थ बिल्कुल अलग-अलग और स्पष्ट हो जाते हैं ।

---

१. प्रतिपादयितुमिदमुच्यते दी० । २. विविधा स्मृताः नि० ।

अत्र केचिदाहुः, 'गुणगुणिव्यवहारो रसादीनामितिवृत्तादिभिः सह युक्तो, न तु जीवशरीरव्यवहारः। रसादिमयं हि वाच्यं प्रतिभासते, नतु रसादिभिः पृथग्भूतम्' इति।

अत्रोच्यते, यदि रसादिमयमेव वाच्यं यथा गौरत्वमयं शरीरं एवं सति यथा शरीरे प्रतिभासमाने नियमेनैव गौरत्वं प्रतिभासते सर्वस्य, तथा वाच्येन सहैव रसादयोऽपि सहृदयस्यासहृदयस्य च प्रतिभासेरन्। न चैवम्। तथा चैतत् प्रतिपादितमेव प्रथमोद्योते।

स्यान्मतम्, रत्नानामिव जात्यत्वं प्रतिपत्तृविशेषतः[1] संवेद्यं वाच्यानां रसादिरूपत्वमिति।

नैवम्, यतो यथा जात्यत्वेन प्रतिभासमाने रत्ने रत्नस्वरूपा-

[पूर्वपक्ष] कुछ लोगों का कहना है कि इतिवृत्त [कथावस्तु] के साथ रसादि का गुण-गुणी व्यवहार ही युक्त है। जीव और शरीर व्यवहार नहीं। [क्योंकि] वाच्य [कथावस्तु गुण, रसादि रूप गुणी से युक्त होने से] रसादिमय प्रतीत होता है [आत्मा से भिन्न शरीर के समान] रसादि से पृथक् [प्रतीत] नहीं [होता है]।

[सिद्धान्त पक्ष] इस पर हम यह कह सकते हैं कि यदि वाच्य [कथावस्तु] गौरत्वमय शरीर के समान रसादिमय ही होता तो जैसे शरीर की प्रतीति होने पर [हरएक व्यक्ति को] गौरत्व की प्रतीति अवश्य होती है इसी प्रकार वाच्य के साथ ही सहृदय, असहृदय सब को रसादि की प्रतीति भी होनी चाहिए। परन्तु ऐसा होता नहीं है, इसे इस प्रथम उद्योत में ['शब्दार्थशासनज्ञानमात्रेणैव न वेद्यते' इत्यादि कारिका ७ पृष्ठ ४६ में] प्रतिपादन कर चुके हैं।

[पूर्वपक्ष] जिस प्रकार रत्नों का उत्कर्ष [जात्यत्व, उत्कृष्टजातीयत्व] विशेषज्ञ [जौहरी] ही जान सकता है [हर एक व्यक्ति को वह प्रतीत नहीं होता] इसी प्रकार वाच्य [कथावस्तु] का रसादिरूपत्व [रसादिमयत्व रूप गुणोत्कर्ष] विशेषज्ञ [सहृदय] को ही प्रतीत होता है [सर्वसाधारण को नहीं] यदि यह अभिमत हो तो, [उत्तर यह है कि]:—

[सिद्धान्त पक्ष] यह ठीक नहीं है। क्योंकि जैसे उत्कृष्टजातीय रूप

---

१. प्रतिपत्तृविशेष [तः] रसानां नि०, दी०।

ऽनतिरिक्तत्वमेव तस्य लक्ष्यते, तथा रसादीनामपि विभावानुभावादि-रूपवाच्याव्यतिरिक्तत्वमेव[1] लक्ष्येत । न चैवम् । नहि विभावा-नुभावव्यभिचारिण एव रसा इति कस्यचिदवगमः । अतएव च विभा-वादिप्रतीत्यविनाभाविनी रसादीनां प्रतीतिरिति तत्प्रतीत्योः कार्य-कारणभावेन व्यवस्थानात् क्रमोऽवश्यंभावी । स तु लाघवान्न प्रकाश्यते[2] 'इत्यलक्ष्यक्रमा एव सन्तो व्यङ्ग्या रसादयः' इत्युक्तम् ।

ननु शब्द एव प्रकरणाद्यवच्छिन्नो वाच्यव्यङ्ग्ययोः सममेव प्रतीतिमुपजनयतीति किं तत्र क्रमकल्पनया । न हि शब्दस्य वाच्यप्रतीति-परामर्श एव व्यञ्जकत्वे निबन्धनम् । तथा हि गीतादिशब्देभ्योऽपि [3]रसाभिव्यक्तिरस्ति । न च तेषामन्तरा वाच्यपरामर्शः ।

से प्रतीत होने वाले रत्न में वह [उत्कर्ष] रत्न के स्वरूप से अभिन्न [रत्न स्वरूप भूत] ही प्रतीत होता है । इसी प्रकार रसादि को भी विभावा-नुभावादि से अभिन्न [विभावादिरूप] में ही प्रतीत होनी चाहिए । परन्तु ऐसा नहीं है । विभाव, अनुभाव, व्यभिचारी भाव ही रस हैं ऐसा किसी को अनुभव नहीं होता । अतएव विभावादि प्रतीति के अविनाभूत [परन्तु उससे पृथक्] रसादि प्रतीति होती है अतः उन दोनों [विभावादि तथा रसादि की] प्रतीतियों के कार्य कारण भाव से स्थित होने से [उनमें] क्रम अवश्यम्भावी है । परन्तु [उत्पल शतपत्रपत्रव्यतिभेदवत्, जैसे कमल के सौ पत्तों में सुई चुभोने से वह प्रत्येक पत्र को क्रम से ही छेदेगी परन्तु प्रतीत ऐसा होता है कि एक साथ सब पत्तों को पार कर गई इसी प्रकार] शीघ्रता के कारण वह [क्रम] दिखाई नहीं देता है । इसीलिए रसादि असं-लक्ष्यक्रम रूप से ही व्यङ्ग्य होते हैं यह कहा गया है ।

[पूर्वपक्ष] प्रकरणादि सहकृत शब्द ही वाच्य और व्यङ्ग्य दोनों की एक साथ ही प्रतीति उत्पन्न कर देता है उसमें क्रम के कल्पना करने की क्या आवश्यकता है । शब्द की वाच्य [अर्थ] की प्रतीति का [सम्बन्ध] परामर्श ही व्यञ्जकत्व का कारण हो सो तो है नहीं । इसी से [वाच्यार्थ के सम्बन्ध या ज्ञान के बिना केवल स्वर रागादि के अनुसार ही] गीत आदि

---

१. वाच्यानतिरिक्त मेव लक्ष्यते दी०, वाच्यव्यतिरिक्तत्वमेव लक्ष्य नि० । २. प्रकाशते दी० । ३. रसाद्यभिव्यक्तिरस्ति नि०, दी० ।

अत्रापि ब्रूमः। प्रकरणाद्यवच्छेदेन व्यञ्जकत्वं शब्दानामित्यनुमतमेवैतदस्माकम्। किन्तु तद् व्यञ्जकत्वं तेषां कदाचित् स्वरूपविशेषनिबन्धनं कदाचित् वाचकशक्तिनिबन्धनम्। तत्र येषां वाचकशक्तिनिबन्धनं तेषां यदि वाच्यप्रतीतिमन्तरेणैव स्वरूपप्रतीत्या निष्पन्नं तद्भवेन्न तर्हि वाचकशक्तिनिबन्धनम्। अथ तन्निबन्धनं तन्नियमेनैव [1]वाच्यवाचकभावप्रतीत्युत्तरकालत्वं व्यङ्ग्यप्रतीतेः प्राप्तमेव। स तु क्रमो यदि लाघवान्न लक्ष्यते तत्किं क्रियते[2]।

यदि च वाच्यप्रतीतिमन्तरेणैव प्रकरणाद्यवच्छिन्नशब्दमात्रसाध्या रसादिप्रतीतिः स्यात्, तदनवधारितप्रकरणानां वाच्यवाचकभावे

के शब्दों से भी रसादि की अभिव्यक्ति होती है। [आदि शब्द से वाद्य या विलापादि के शब्द का ग्रहण होता है। जहां गीत शब्दों का अर्थ है वहां भी वह अर्थ रसाभिव्यक्ति में उपयोगी नहीं होता] उन [गीत शब्दों के श्रवण और रसाभिव्यक्ति] के बीच में वाच्य अर्थ का ज्ञान [परामर्श] नहीं होता है। [अतः शब्द बिना किसी क्रम के वाच्य और व्यङ्ग्य की प्रतीति एक साथ ही करा सकते हैं।]

[सिद्धान्तपक्ष] इसमें हमारा कहना यह है कि, प्रकरण आदि के सहकृत शब्द अर्थ के व्यञ्जक होते हैं यह बात हमें अभिमत ही है। परन्तु वह व्यञ्जकत्व उन [शब्दों] में कभी स्वरूप विशेष के कारण और कभी वाचक शक्ति के कारण होता है। उनमें से जिन [शब्दों] में वाचकशक्तिमूलक [व्यञ्जकत्व] है उनमें यदि वाच्य प्रतीति के बिना ही स्वरूप की प्रतीति मात्र से ही वह [व्यञ्जकत्व] पूर्ण हो जाय तो वह वाचक शक्ति मूलक नहीं हुआ। और यदि वाचकशक्तिमूलक है तो व्यङ्ग्य प्रतीति अवश्य ही वाच्य-वाचक प्रतीति के उत्तरकाल में ही होगी यह सिद्ध ही है। वह क्रम शीघ्रता के कारण यदि प्रतीत नहीं होता तो क्या किया जाय।

व्यङ्ग्य प्रतीति भले ही वाच्य प्रतीति के बाद हो परन्तु वाच्य प्रतीति उस व्यङ्ग्य प्रतीति में उपयोगिनी नहीं है जैसे गीतादि शब्दों में बिना वाच्य प्रतीति के उपयोग के ही रसादि प्रतीति हो जाती है इसी प्रकार यहां होगा इस पूर्वपक्ष की शङ्का को मन में रख कर सिद्धान्तपक्षी कहता है।

२. यदि वाच्य प्रतीति के बिना ही प्रकरणादि सहकृत शब्दमात्र से

---

१. वाच्यवाचकप्रतीत्युत्तरकालत्वं दी०। २. क्रियताम् दी०।

च स्वयमव्युत्पन्नानां प्रतिपत्तॄणां काव्यमात्रश्रवणादेवासौ भवेत्। सह-भावे च वाच्यप्रतीतेरनुपयोगः, उपयोगे वा न सहभावः।

रसादि प्रतीति साध्य हो तो [किसी वाक्य विशेष में] वाच्य-वाचक न समझने [और स्वयं प्रकरण भी नहीं जानने] परन्तु [किसी के द्वारा] प्रकरण का ज्ञान कर लेने वाले ज्ञाता को भी काव्य के श्रवण मात्र से रसादि प्रतीति होनी चाहिये [जैसे गीतादि शब्द से बिना वाच्यादि के ज्ञान के प्रकरण आदि सहकृत श्रवणमात्र से रसादि प्रतीति होती है। वाच्य और व्यङ्ग्य प्रतीति के] साथ होने पर [व्यञ्जकत्व में] वाच्यप्रतीति का कोई उपयोग नहीं है। और यदि उपयोग है तो सहभाव नहीं हो सकता। [इसलिये जिन शब्दों में वाच्यशक्तिमूलक व्यञ्जकत्व रहता है उनमें वाच्य और व्यङ्ग्य प्रतीति में क्रम अवश्य रहता है।]

यहां 'अनवधारितप्रकरणानां यह' पाठ अटपटा और सन्दिग्ध सा प्रतीत होता है परन्तु निर्णयसागरीय तथा बनारस के दोनों, अर्थात् मुद्रित तीनों संस्करणों में यही पाठ पाया जाता है। इसलिए मूल पाठ तो यही मानना चाहिए। परन्तु उसकी व्याख्या विशेष ध्यान से समझनी चाहिए।

जैसे गीत आदि के शब्दों में वाच्यार्थ की प्रतीति के बिना भी केवल प्रकरण आदि के सहकार से रसादि की अनुभूति हो जाती है इसी प्रकार काव्य में भी वाच्य प्रतीति के बिना भी प्रकरण आदि के सहकार से रसादि की प्रतीति हो सकती है। इसलिए रसादि की प्रतीति में वाच्य प्रतीति का कोई उपयोग नहीं है। इस शङ्का के समाधान का प्रयत्न इस प्रसङ्ग में किया जा रहा है। प्रकृत पंक्तियों का भाव यह है कि यदि वाच्य प्रतीति के बिना ही प्रकरण आदि सहकृत शब्द मात्र से रसादि की प्रतीति सिद्ध हो तो 'अनवधारितप्रकरण' अर्थात् प्रकरण को न जानने वाले और स्वयं वाच्य वाचक भाव को न समझने वाले श्रोताओं को भी काव्य के शब्दों के श्रवण मात्र से रसादि की प्रतीति होनी चाहिए।

शङ्का में वाच्य-प्रतीति के बिना केवल प्रकरण आदि की सहायता से रस प्रतीति दिखाई थी इसलिए उत्तर करते समय प्रकरण सहकार को सूचित करने के लिए 'अवधारितप्रकरणानां' पाठ होना चाहिए था। उस दशा में जिनको स्वयं वाच्य वाचकभाव का ज्ञान नहीं है परन्तु प्रकरण का ज्ञान है ऐसे श्रोताओं को भी काव्य शब्दों से रसादि की प्रतीति होनी चाहिए यह समाधान की सङ्गति ठीक लग जाती है। 'अनवधारितप्रकरणानां' की सङ्गति सरलता से नहीं लगती है। इसीलिए 'बालप्रिया' टीका में 'अवधारितप्रकरणानां' यही पाठ मान

कर इस प्रकरण की व्याख्या की है। 'तदवधारितेति। तर्हि, अवधारितं ज्ञातं प्रकरणं यैस्तैषाम्'। इस व्याख्या से स्पष्ट प्रतीत होता है कि बालप्रिया टीकाकार 'अवधारितप्रकरणानां' यही पाठ मान रहे हैं।

दीधितिकार ने प्रकरण को ज्ञातसत् नहीं अपितु स्वरूपसत् उपयोगी मान कर सङ्गति लगाने का प्रयत्न किया है। अर्थात् शङ्का पक्ष में प्रकरण की स्वरूप सत्ता को ही रसादि प्रतीति में उपयोगी माना है ज्ञान को नहीं। काव्य शब्दों में प्रकरण स्वरूपतः तो विद्यमान है ही, और उसके ज्ञान की आवश्यकता नहीं है। इसलिए 'अनवधारितप्रकरणानां' अर्थात् जिन्होंने प्रकरण को ग्रहण नहीं किया है और स्वयं 'वाच्य वाचकभाव' को भी नहीं जानते उनको भी काव्य शब्दों के 'श्रावण' प्रत्यक्षमात्र से रसादि की प्रतीति होनी चाहिए। इस प्रसङ्ग में दीधितिकार का लेख इस प्रकार है।

यदि सर्वस्य रसादिव्यङ्ग्यप्रतीतौ शब्दश्रावणप्रत्यक्षस्यैव कारणत्वं स्यात् तर्हि यैः काव्यशब्दाः श्रुताः किन्तु तेषां प्रकरणादिग्रहो, वाचकशब्दनिष्ठाभिधाग्रहश्च न जातः तेषां वाच्यार्थप्रतीत्यभावेन व्यङ्ग्यार्थप्रतीतिर्या न भवति सा कुतो न स्यात्। भवन्मते वाच्यार्थप्रतीतेस्तत्कारणत्वानङ्गीकारात् तद्विरहस्याकिञ्चित्करत्वात्, भवदभिमतशब्दप्रत्यक्षमात्रकारणस्य तत्रापि जागरूकत्वाच्च। न च प्रकरणादिज्ञानाभावन्न भवेदिति वाच्यम्। प्रकरणादिज्ञानस्य भवन्मते कारणत्वाकथनात्, स्वरूपसतः प्रकरणादेस्तत्रापि सत्वाच्च। तस्मात् काव्यजव्यङ्ग्यप्रतीतौ वाच्यप्रतीतेः कारणत्वमवश्यमूरीकरणीयमिति भावः।

इस प्रकार दीधितिकार ने मूल के 'अनवधारितप्रकरणानां' पाठ की सङ्गति लगाने के लिए यह कल्पना की है कि पूर्वपक्षी गीत आदि शब्दों में केवल प्रकरण की स्वरूपसत्ता का उपयोग मानता है उसके ज्ञान का नहीं। परन्तु दीधितिकार की यह कल्पना निश्चितरूप से न्याय्य कल्पना नहीं कही जा सकती है। पूर्वपक्षी प्रकरण को स्वरूपसत् ही उपयोगी मानता है इसका विनिगमक कोई युक्ति या प्रमाण नहीं है। दीधितिकार ने केवल 'अनवधारितप्रकरणानां' पाठ की सङ्गति लगाने के लिए ऐसी कल्पना कर ली है।

लोचनकार की इस स्थल की व्याख्या भी बहुत स्पष्ट नहीं है। उन्होंने लिखा है।

ननु गीतशब्दवदेव वाचकशक्तिरत्राप्यनुपयोगिनी, यत्तु क्वचिच्छ्रुतेऽपि

येषामपि स्वरूपविशेषप्रतीतिनिमित्तं व्यञ्जकत्वं यथा गीतादि-शब्दानां, तेषामपि स्वरूपप्रतीतेर्व्यङ्ग्यप्रतीतेश्च नियमभावी[1] क्रमः। [2]तत्तु शब्दस्य क्रियापौर्वापर्यमनन्यसाध्यतत्फलघटनास्वाशुभाविनीषु वाच्येनाविरोधिन्यभिधेयान्तरविलक्षणे रसादौ न प्रतीयते।

काव्ये रसप्रतीतिर्न भवति तत्रौचितः प्रकरणावगमादिः सहकारी नास्तीत्याशंक्याह यदि चेति। प्रकरणावगमो हि क उच्यते, किं वाक्यान्तरसहायत्वं, अथ वाक्यान्तराणां सम्बन्धिवाच्यम्। उभयपरिज्ञानेऽपि न भवति प्रकृतवाक्यार्थावेदने रसोदयः। स्वयमिति। प्रकरणमात्रमेव परेण केनचिद्येषां व्याख्यातमिति भावः। न चान्वय-व्यतिरेकवतीं वाच्यप्रतीतिमपन्हुत्य, अदृष्टसद्भावाभावौ शरणत्वेनाश्रितौ मात्स-र्यादधिकं किंचित् पुष्णीत इत्यभिप्रायः।

इस व्याख्या में लोचनकार ने मूल के 'स्वयं' पद को भिन्नक्रम मान कर उसे 'अवनधारितप्रकरणानां' के साथ जोड़ कर सङ्गति लगाने का प्रयत्न किया है। अर्थात् जिनको स्वयं काव्य शब्दों के वाच्य वाचक भाव का ज्ञान नहीं है, जो काव्य शब्दों के अर्थ को नहीं समझते और अर्थ न समझने के कारण स्वयं प्रकरण भी नहीं समझ सकते परन्तु किसी दूसरे ने उनको प्रकरण बतला दिया है। 'प्रकरणमात्रमेव परेण केनचिद् येषां व्याख्यातं' उनको अर्थ के न समझने पर भी रस की प्रतीति होनी चाहिए। परन्तु होती नहीं है इसलिए रस प्रतीति में वाच्य प्रतीति का भी उपयोग है। इस प्रकार की व्याख्या लोचनकार ने की है। उन्हीं के अभिप्राय के अनुसार हमने अनुवाद किया है। क्योंकि अन्य सब व्याख्याओं की अपेक्षा यह व्याख्या अधिक सरल और स्वारसिक व्याख्या है।

और [दूसरे प्रकार के शब्दों में] जहां [गीतादि में] स्वरूप विशेष प्रतीति मूलक व्यञ्जकत्व है जैसे गीतादि शब्दों में उनके यहां भी स्वरूपविशेष की प्रतीति और व्यङ्ग्य की प्रतीति में क्रम अवश्य रहता है। किन्तु शब्द की [वाचकत्व और व्यञ्जकत्व रूप अथवा अभिधा व्यञ्जनारूप] क्रियाओं का पौर्वापर्य [क्रम] प्रकारान्तरासाध्यफलक क्षिप्रभाविनी रचनाओं में वाच्य के अविरोधी तथा अन्य वाच्यों से विलक्षण रसादि [रूप व्यङ्ग्य के बोधन] में [वह क्रम] प्रतीत नहीं होता है।

---

१. नियमभावक्रमः नि०।　　२. तत्र तु नि०।

'तत्तु' से लेकर 'प्रतीयते' पर्यन्त इस पंक्ति की व्याख्या लोचनकार ने इस प्रकार की है। 'ननु संश्चेत् क्रमः किं न लक्ष्यते इत्याशङ्क्याह। तत्त्विति। क्रियापौर्वापर्यमित्यनेन क्रमस्य स्वरूपमाह।' यदि क्रम है तो मालूम क्यों नहीं पड़ता, ऐसी शङ्का करके कहते हैं तत्तु इति। 'क्रियापौर्वापर्य' से क्रम का स्वरूप कहते हैं। 'क्रियेते इति क्रिये' वाच्यव्यङ्ग्यप्रतीती, यदि वाभिधाव्यापारो, व्यञ्जनापरपर्यायो ध्वननव्यापारश्चेति क्रिये। 'क्रियेते इति क्रिये' यह 'क्रिये' इस शब्द की व्युत्पत्ति है। जो की जावें वे दोनों क्रियाएं 'क्रिये' हुईं। इसमें वाच्य और व्यङ्ग्य प्रतीति रूप दो क्रियाएं अथवा अभिधा व्यापार और व्यञ्जना नामक ध्वनन व्यापार यह दो 'क्रिये' शब्द से ग्रहण की जा सकती हैं। 'तयोः पौर्वापर्यं न प्रतीयते।' उनका पौर्वापर्य-क्रम-प्रतीत नहीं होता है। क्व ? रसादौ विषये। कीदृशि, अभिधेयान्तराद् अभिधेयविशेषाद् विलक्षणे सर्वथैवानभिधेये, अनेन भवितव्यं तावत् क्रमेणेत्युक्तम्। तथा वाच्येनाविरोधिनि, विरोधिनि तु लक्ष्यत एवेत्यर्थः।' कहां प्रतीत नहीं होता ? रसादि विषय में। कैसे रसादि में। अभिधेयान्तर अर्थात् अभिधेय विशेष से भिन्न, अर्थात् सर्वथा अनभिधेय रसादि में। इससे यह सूचित किया कि क्रम अवश्य होना चाहिये। तथा वाच्य से अविरोधी रसादि में क्रम लक्षित नहीं होता। इसका अर्थ हुआ कि विरोधी में लक्षित होता है। 'कुतो न लक्ष्यते इति निमित्त-सप्तमीनिर्दिष्टं हेत्वन्तरगर्भं हेतुमाह। आशु भाविनीष्विति।' क्यों नहीं लक्षित होता है इस विषय में निमित्त सप्तमी से निर्दिष्ट हेत्वन्तरगर्भ हेतु कहते हैं। 'आशु-भाविनीषु।' अनन्यसाध्यतत्फलसङ्घटनासु, सङ्घटनाः पूर्वं माधुर्यादिलक्षणाः प्रति-पादिताः गुणनिरूपणावसरे, ताश्च तत्फलाः, रसादिप्रतीतिः फलं यासां तथा अनन्यत् तदेव साध्यं यासां नहि ओजोघटनायाः करुणादिप्रतीतिः साध्या'। घटना से माधुर्यादि का ग्रहण करना चाहिये यह बात पहिले गुण निरूपण के अवसर पर कह चुके हैं। 'तत्फलाः' का अर्थ रसादि प्रतीति जिनका फल है यह करना चाहिये। 'अनन्य साध्य' से वही विशेष फल जिनका है अर्थात् ओज के अनुगुण घटना से करुण आदि की प्रतीति नहीं हो सकती। यह सूचित किया। 'ननु भवत्वेवं सङ्घटनानां स्थितिः, क्रमस्तु किं न लक्ष्यते अत आह आशुभाविनीषु वाच्यप्रतीति-कालप्रतीक्षणेन विनैव झटिति ता रसादीन् भावयन्ति तदास्वादं विदधतीत्यर्थः' सङ्घटनाओं की स्थिति जैसे आप कहते हैं वैसी हो परन्तु क्रम क्यों नहीं मालूम होता इसके उत्तर के लिए 'आशुभाविनीषु' कहा है। वाच्य प्रतीति की प्रतीक्षा किए बिना ही वह शीघ्रता से रसादि का आस्वाद करा देती है।

क्वचित्तु लक्ष्यत एव। यथानुरणनरूपव्यङ्ग्यप्रतीतिषु। तत्रापि कथमिति चेदुच्यते। अर्थशक्तिमूलानुरणरूपव्यङ्ग्ये[1] ध्वनौ तावद्-भिधेयस्य तत्सामर्थ्याक्षिप्तस्य चार्थस्य, अभिधेयान्तरविलक्षणतया, अत्यन्तविलक्षणे ये प्रतीती तयोरशक्यनिन्हवो निमित्तनिमित्तिभाव इति स्फुटमेव तत्र पौर्वापर्यम्। यथा प्रथमोद्योते प्रतीयमानार्थसिद्ध्यर्थ-मुदाहृतासु गाथासु। तथाविधे च विषये वाच्यव्यङ्ग्ययोरत्यन्त-विलक्षणत्वाद् यैव एकस्य प्रतीतिः सैवेतरस्येति न शक्यते वक्तुम्।

शब्दशक्तिमूलानुरणरूपव्यङ्ग्ये तु ध्वनौ :—

"गावो वः पावनानां परमपरिमितां प्रीतिमुत्पादयन्तु।"

इत्यादावर्थद्वयप्रतीतौ शाब्द्यामर्थद्वयस्योपमानोपमेयभावप्रतीति-

---

कहीं [संलक्ष्यक्रम व्यङ्ग्य ध्वनि के भेदों में वाच्य और व्यङ्ग्य का क्रम] दिखाई देता ही है। [संलक्ष्यक्रम और असंलक्ष्यक्रम व्यङ्ग्य दोनों में व्यङ्ग्यता समान होने पर भी एक जगह क्रम प्रतीत होता है और दूसरी जगह नहीं, इस भेद का क्या कारण है, इस आशङ्का से आगे कहते हैं] जैसे अनुरणनरूप [संलक्ष्य क्रम] व्यङ्ग्य की प्रतीतियों में। वहां भी कैसे प्रतीत होता है यह प्रश्न करो तो उत्तर यह है कि [संलक्ष्यक्रम व्यङ्ग्य के शब्दशक्त्युत्थ और अर्थशक्त्युत्थ दो मुख्य भेद हैं उन दोनों में क्रम लक्षित होता है यह प्रतिपादन करते हैं] अर्थशक्तिमूल संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य ध्वनि में अभिधेय [अर्थात् वाच्यार्थ] और उसकी सामर्थ्य से आक्षिप्त [अर्थात् व्यङ्ग्य] अर्थ के, अन्य वाच्यार्थों से विलक्षण होने से यह दोनों जो अत्यन्त विलक्षण [वाच्य और व्यङ्ग्य रूप] प्रतीतियां हैं। उनके कार्य कारण भाव को छिपाया नहीं जा सकता है, इसलिए उनमें पौर्वापर्य [क्रम] स्पष्ट ही है। जैसे प्रथम उद्योत में प्रतीयमान अर्थ की सिद्धि के लिए उदाहृत [भ्रम धार्मिक इत्यादि] गाथाओं में। ऐसे स्थलों में वाच्य और व्यङ्ग्य के अत्यन्त भिन्न होने से जो एक [वाच्य या व्यङ्ग्य] की प्रतीति है वही दूसरे [व्यङ्ग्य या वाच्य को] प्रतीति है यह नहीं कहा जा सकता है। [अतएव अर्थशक्तिमूल संलक्ष्य क्रम व्यङ्ग्य ध्वनि में क्रम अवश्य ही मानना होगा]।

[संलक्ष्यक्रम व्यङ्ग्य ध्वनि के दूसरे भेद] शब्दशक्तिमूल संलक्ष्यक्रम व्यङ्ग्य

---

१. व्यङ्ग्यध्वनौ नि०, दी०।

रूपमवाचकपदविरहे सति, अर्थसामर्थ्यादाक्षिप्तेति, तत्रापि [1]सुलक्ष्यमभिधेयव्यङ्ग्यालङ्कारप्रतीत्योः पौर्वापर्यम् ।

पदप्रकाशशब्दशक्तिमूलानुरणरूपव्यङ्ग्येऽपि ध्वनौ विशेषणपदस्योभयार्थसंबन्धयोग्यस्य योजकं पदमन्तरेण योजनमशाब्दमप्यर्थादवस्थितमित्यत्रापि पूर्ववदभिधेयतत्सामर्थ्याक्षिप्तालङ्कारमात्रप्रतीत्योः सुस्थितमेव पौर्वापर्यम् । आर्थ्यपि च प्रतिपत्तिस्तथाविधे विषये [2]उभयार्थसम्बन्धयोग्यशब्दसामर्थ्यप्रसाधितेति शब्दशक्तिमूला कल्प्यते ।

ध्वनि में "गावो वः पावनानां परमपरिमितां प्रीतिमुत्पादयन्तु" इत्यादि [पृष्ठ १७४ पर उदाहृत] उदाहरण में, शब्दतः दो अर्थों की [शाब्दी] प्रतीति होने पर भी, उस अर्थद्वय के उपमानोपमेय भाव की प्रतीति उपमावाचक पद के अभाव में अर्थसामर्थ्य से व्यङ्ग्य ही होती है । इसलिए वहां भी अभिधेय [वाच्य] और व्यङ्ग्य [उपमा] अलङ्कार की प्रतीति में पौर्वापर्य [क्रम] स्पष्ट दिखाई देता] है ।

[संलक्ष्यक्रम व्यङ्ग्य ध्वनि के शब्दशक्तिमूल प्रभेद के अन्तर्गत वाक्यप्रकाश्य के 'गावो वः' इत्यादि उदाहरण में वाच्य और व्यङ्ग्य का क्रम स्पष्ट होने के अतिरिक्त] पद प्रकाश्य शब्दशक्तिमूल संलक्ष्यक्रम व्यङ्ग्य ध्वनि में भी [जिसका उदाहरण "प्रातुं धनैरर्थिजनस्य वाञ्छां, दैवेन सृष्टो यदि नाम नास्मि । पथि प्रसन्नाम्बुधरस्तडागः, कूपोऽथवा किन्न जड़ः कृतोऽहम् ।" पृष्ठ २१७ पर दिया जा चुका है उसमें] दोनों अर्थों [कूप और अहम्] के साथ सम्बन्ध योग्य विशेषण [जड़] को, जोड़ने वाले शब्द के बिना भी [दोनों ओर] योजना अशाब्द होते हुए भी अर्थशक्ति से निश्चित होती है । इसलिए यहां भी पूर्व [अर्थात् वाक्यगत शब्दशक्तिमूल के उदाहरण 'गावो वः'] के समान वाच्य अर्थ [यहां जड़त्व का दोनों और अन्वय होने से दीपकालङ्कार वाच्य है । 'अत्राभिधेयालङ्कारो दीपकम् जड़स्योभयत्रान्वयात् । तत्सामर्थ्याक्षिप्ता चोपमा] और उसकी सामर्थ्य से आक्षिप्त अलङ्कार की प्रतीतियों में पौर्वापर्य [क्रम] निश्चित ही है । ऐसे स्थलों पर [व्यङ्ग्य अलङ्कारादि की] प्रतीति आर्थी होने पर भी दोनों ओर सम्बन्ध के योग्य शब्द की सामर्थ्य से उत्पन्न होती है इसलिये शब्दशक्तिमूला मानी जाती है ।

---

१. सुलक्ष्यं नि०, दी० । २. उभयार्थसम्बन्धयोगशब्दसामर्थ्यप्रतिप्रसवभूतेति नि०, दी०, प्रसविता बा० प्रि० ।

अविवक्षितवाच्यस्य तु ध्वनेः प्रसिद्धस्वविषयवैमुख्यप्रतीतिपूर्वकमेवार्थन्तरप्रकाशनमिति नियमभावी क्रमः । [1]तत्राविवक्षितवाच्यत्वादेव वाच्येन सह व्यङ्ग्यस्य क्रमप्रतीतिविचारो न कृतः । तस्मादभिधानाभिधेयप्रतीत्योरिव वाच्यव्यङ्ग्यप्रतीत्योर्निमित्तनिमित्तिभावान्नियमभावी क्रमः । स तूक्तयुक्त्या क्वचिल्लक्ष्यते क्वचिन्नलक्ष्यते ।

यहां निर्णय सागरीय संस्करण में 'शब्दसामर्थ्यप्रतिप्रसवभूता' और बनारस के संस्करण में 'प्रसाविता' पाठ है। इनमें निर्णयसागरीय संस्करण में 'प्रति' शब्द अधिक जान पड़ता है । उससे तो अर्थ भी उल्टा हो जाता है । 'प्रसव' का अर्थ उत्पत्ति और 'प्रति प्रसव' का अर्थ प्रलय होता है । इसलिए 'प्रतिप्रसव' पाठ तो असङ्गत है । उससे तो प्रसवभूता पाठ ठीक हो सकता है। वाराणसीय पाठ में 'प्रसूता' की जगह णिजन्त 'प्रसाविता' प्रयोग भी सुसङ्गत नहीं है । परन्तु 'प्रतिप्रसवभूता' जैसा असङ्गत भी नहीं है । 'प्रसाधिता' पाठ उन दोनों से अच्छा है अतः यहां मूल में उसी पाठ को स्थान दिया है ।

इस प्रकार विवक्षितान्यपर वाच्य ध्वनि के संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य भेद के अवान्तर भेद शब्दशक्तिमूल तथा अर्थशक्तिमूल दोनों में क्रम संलक्षित होता है और असंलक्ष्यक्रम रसादि में नहीं यह दिखा चुके । अब अविवक्षित वाच्य [लक्षणामूल] ध्वनि में भी क्रम संलक्षित होता है यह दिखाते हैं :—

अविवक्षित वाच्यध्वनि [के अत्यन्त तिरस्कृत वाच्य के उदाहरण 'निःश्वासान्ध इवादर्शः' और अर्थान्तर संक्रमित वाच्य के 'रामोऽस्मि सर्वं सहे' उदाहरण पहिले दिए जा चुके हैं उन] में अपने प्रसिद्ध अर्थ की प्रतीति से विमुख होकर ही अर्थान्तर का प्रकाशन होता है अतएव क्रम अवश्यंभावी है । परन्तु वाच्य के अविवक्षित होने से ही वाच्य के साथ व्यङ्ग्य के क्रम की प्रतीति का विचार नहीं किया गया है । इसलिये वाचय और वाच्य [शब्द और अर्थ की प्रतीतियों के समान वाच्य और व्यङ्ग्य की प्रतीतियों में कारण कार्य भाव होने से क्रम अवश्यंभावी है । [किन्तु] उक्त प्रकार से वह [क्रम] कहीं लक्षित होता है और कहीं [असंलक्ष्यक्रम व्यङ्ग्य रसादि ध्वनि में] संलक्षित नहीं होता है ।

इस उद्योत के प्रारम्भ में "एवं व्यङ्ग्यमुखेनैव ध्वनेः प्रदर्शिते सप्रभेदे

---

१. तत्र त्वविवक्षितवाच्यत्वादेव दी० । तत्रापि विवक्षितवाच्यत्वादेव नि० ।

तदेवं व्यञ्जकमुखेन ध्वनिप्रकारेषु निरूपितेषु कश्चिद् ब्रूयात्, किमिदं व्यञ्जकत्वं नाम ? व्यङ्ग्यार्थप्रकाशनम् ? न हि व्यञ्जकत्वं व्यङ्ग्यत्वं चार्थस्य[1]। व्यञ्जकसिद्ध्यधीनं व्यङ्ग्यत्वं, व्यङ्ग्यापेक्षया च व्यञ्जकत्वसिद्धिरित्यन्योन्यसंश्रयादव्यवस्थानम्।

ननु वाच्यव्यतिरिक्तस्य व्यङ्ग्यस्य सिद्धिः प्रागेव प्रतिपादिता। तत्सिद्ध्यधीना च व्यञ्जकत्वसिद्धिरिति कः पर्यनुयोगावसरः ?

सत्यमेवैतत्। प्रागुक्तयुक्तिभिर्वाच्यव्यतिरिक्तस्य वस्तुनः सिद्धिः कृता, स त्वर्थो व्यङ्ग्यतयैव कस्माद् व्यपदिश्यते ? यत्र च प्राधान्येनावस्थानं तत्र वाच्यतयैवासौ व्यपदेष्टुं युक्तः। तत्परत्वाद् वाक्यस्य[2]।

स्वरूपे, पुनर्व्यञ्जकमुखेन प्रकाश्यते" यह प्रतिज्ञा की थी तदनुसार यहां तक व्यञ्जक मुख से ध्वनि प्रभेदों का निरूपण किया। अब उपसंहार करते हुए प्रथम उद्योत में समर्थित व्यङ्ग्य व्यञ्जक भाव को 'स्थूणानिखनन न्याय' से दृढ़ करने के लिए फिर पूर्वपक्ष करते हैं।

[पूर्वपक्ष] इस प्रकार व्यञ्जक की दृष्टि से ध्वनि के भेदों का निरूपण करने पर कोई [भाट्ट, प्रभाकर अथवा वैयाकरण] कह सकता है कि, यह व्यञ्जकत्व क्या पदार्थ है ? व्यङ्ग्य अर्थ का प्रकाशन [करना ही व्यञ्जकत्व है] ? [सो ठीक नहीं है क्योंकि] अर्थ का व्यञ्जकत्व अथवा व्यङ्ग्यत्व [सिद्ध] नहीं हो सकता। व्यञ्जक की सिद्धि के अधीन व्यङ्ग्य की और व्यङ्ग्य की दृष्टि से व्यञ्जक की सिद्धि [हो सकती] है इसलिए अन्योन्याश्रय होने से [दोनों ही] सिद्ध नहीं हो सकते हैं।

[व्यञ्जकत्व वादी उत्तर पक्ष] वाच्य से अतिरिक्त व्यङ्ग्य की सिद्धि पहले ही [प्रथम उद्योत में] प्रतिपादित कर चुके हैं। उसकी सिद्धि के द्वारा व्यञ्जक की सिद्धि हो जायगी इस प्रकार प्रश्न करने [पर्यनुयोग] का कौन-सा [अर्थात् कोई नहीं] अवसर है ?

[व्यञ्जकत्व प्रतिषेधक मीमांसक आदि का पूर्वपक्ष] ठीक है, पहिले कही हुई युक्तियों से वाच्य से भिन्न अर्थ की सिद्धि [आप प्रथम उद्योत में] कर चुके हैं। [परन्तु प्रश्न यह है कि] उस अर्थ को व्यङ्ग्य ही

---

१. चार्थस्यापि नि०, दी०। २. वाचकत्वस्य नि०, दी०।

अतश्च तत्प्रकाशिनो वाक्यस्य वाचकत्वमेव व्यापारः, किन्तस्य व्यापारान्तरकल्पनया ? तस्मात् तात्पर्यविषयो योऽर्थः स तावन्मुख्यतया वाच्यः। या त्वन्तरा तथाविधे विषये वाच्यान्तरप्रतीतिः सा तत्प्रतीतेरुपायमात्रं, पदार्थप्रतीतिरिव वाक्यार्थप्रतीतेः।

क्यों कहते हैं ? [वाच्य क्यों नहीं कहते या फिर वाच्य को भी व्यङ्ग्य क्यों नहीं कहते ? अर्थात् वह दोनों अर्थ समान ही हैं] जहां [वह अर्थ] प्रधान रूप से स्थित है वहां उसको वाच्य कहना ही उचित है क्योंकि वाक्य मुख्यतः उसी का प्रतिपादन करता है। इसीलिए उस [अर्थ] के प्रकाशक वाक्य का [उस अर्थ के बोधन में] अभिधा [वाचकत्व] व्यापार ही होता है। [तब] उसके [व्यञ्जकत्व नामक] अलग व्यापार की कल्पना करने की क्या आवश्यकता है। इसलिए [वाक्य का] तात्पर्य विषयीभूत जो अर्थ है वह मुख्यार्थ होने से वाच्य अर्थ है। और इस प्रकार के स्थलों में बीच में जो दूसरे वाच्यार्थ की प्रतीति होती है वह उस [मुख्य] प्रतीति का उपायमात्र है। जैसे पदार्थ प्रतीति, वाक्यार्थ प्रतीति की [उपाय मात्र होती है]।

यहां कुमारिल भट्ट, तथा वैयाकरण—आदि की ओर से यह सामान्य पूर्वपक्ष किया जा सकता है। इस विषय में 'श्लोक वार्तिक' के 'वाक्याधिकरण' में दी हुई निम्न कारिका में 'भट्ट मत' इस प्रकार दिखाया है—

'वाक्यार्थमितये तेषां प्रवृत्तौ नान्तरीयकम्।
पाके ज्वालेव काष्ठानां पदार्थप्रतिपादनम्' ॥

पाक के लिए इन्धन के ज्वाला रूप अवान्तर व्यापार के समान वाक्यार्थ बोध के लिए शब्दों का पदार्थ प्रतिपादन रूप अवान्तर व्यापार नान्तरीयक उपायमात्र है। अर्थात् शब्दों से उपस्थित होने वाले पदार्थों से, तात्पर्य रूप से जिस अर्थ का प्रतिपादन होता है वही वाक्यार्थ है और वह वाच्य ही है। प्रभाकर के मत में भी पदार्थ और वाक्यार्थ में 'निमित्तनिमित्तिभाव' है। और "सोऽयमिषोरिव दीर्घदीर्घतरो अभिधा व्यापारः" के सिद्धान्त के अनुसार एक ही अभिधा व्यापार से वाच्य और व्यङ्ग्य दोनों अर्थों की प्रतीति हो जाती है। विशेष बात यह है कि प्रभाकर 'अन्विताभिधानवादी' हैं इसलिए उनके मत में पदार्थ और वाक्यार्थ का निमित्तनिमित्तिभाव केवल उत्पत्ति की दृष्टि से ही है ज्ञप्ति की दृष्टि से तो प्रथम वाक्यार्थ की ही प्रतीति होती है पदार्थ की नहीं। क्योंकि उनके अन्विता-

अत्रोच्यते—यत्र शब्दः स्वार्थमभिदधानोऽर्थान्तरमवगमयति तत्र यत्तस्य स्वार्थाभिधायित्वं यच्च तदर्थान्तरावगमहेतुत्वं तयोरविशेषो विशेषो वा ? न तावदविशेषः। यस्मात्तौ द्वौ व्यापारौ भिन्नविषयौ भिन्नरूपौ च प्रतीयेते एव। तथाहि वाचकत्वलक्षणो व्यापारः शब्दस्य स्वार्थविषयः, गमकत्वलक्षणस्तु अर्थान्तरविषयः।[1] न च स्वपरव्यवहारो वाच्यव्यङ्ग्ययोरपह्नोतुं शक्यः। एकस्य सम्बन्धित्वेन प्रतीतेरपरस्य सम्बन्धिसम्बन्धित्वेन। वाच्यो ह्यर्थः साक्षाच्छब्दस्य सम्बन्धी, तदितरस्त्वभिधेयसामर्थ्याक्षिप्तः सम्बन्धिसम्बन्धी। यदि च स्वसम्बन्धित्वं साक्षात्तस्य स्यात् तदार्थान्तरव्यवहार एव न स्यात्। तस्मात् विषयभेदस्तावत् तयोर्व्यापारयोः सुप्रसिद्धः।

मिधानवाद' की सङ्गति इसी में लग सकती है। प्रभाकर जिस प्रकार उत्पत्ति में पदार्थ और वाक्यार्थ का कारणकार्यभाव मानते हैं इसी प्रकार वैयाकरण भी मानते हैं। परन्तु प्रभाकर मत का कार्यकारणभाव पारमार्थिक है और 'स्फोटवादी' वैयाकरण के यहां वह अपारमार्थिक है। इस प्रकार इन तीनों मतों की ओर से यह व्यञ्जकत्व विरोधी सामान्य पूर्वपक्ष किया जा सकता है। आगे इसका उत्तर देते हैं।

[सिद्धान्त पक्ष]—इस [पूर्वपक्ष के होने] पर यह [सिद्धान्तपक्ष] कहते हैं। जहां शब्द अपने अर्थ को अभिधा से बोधन करके, दूसरे अर्थ का बोध कराता है, वहां उस [शब्द] का जो स्वार्थ का अभिधान करना और परार्थ का बोध कराना है, उन दोनों में अभेद है अथवा भेद ? अभेद तो [यह] कह नहीं सकते हैं। क्योंकि वह दोनों व्यापार विभिन्न विषयक और भिन्न रूप [अलग ही] प्रतीत होते ही हैं। जैसे कि शब्द का 'वाचकत्व' रूप व्यापार अपने अर्थ के विषय में और गमकत्व रूप व्यापार दूसरे अर्थ के विषय में होता है। वाच्य और व्यङ्ग्य अर्थ के विषय में [शब्द के] स्व और पर [अर्थ विषयक] व्यवहार को छिपाया नहीं जा सकता है। [क्योंकि] एक [वाच्यार्थ] की [शब्द के साथ साक्षात्] सम्बन्धित्व रूप से प्रतीति होती है और दूसरे की [शब्द के] सम्बन्धी [अर्थ] के सम्बन्धी [परम्परा-सम्बन्धित] रूप से प्रतीति होती है। वाच्यार्थ साक्षात् शब्द का सम्बन्धी है और उससे भिन्न

---

१. यतः स्वपरव्यवहारा वाच्यगम्ययोरपह्नोतुमशक्यः दी०, ततः स्वपरव्यवहारो वाच्यगम्ययोरपह्नोतुमशक्यः नि०।

रूपभेदोऽपि प्रसिद्ध एव । नहि यैवाभिधानशक्तिः सैवावगमनशक्तिः । अवाचकस्यापि गीतशब्दादे रसादिलक्षणार्थावगमदर्शनात् । अशब्दस्यापि चेष्टादेरर्थविशेषप्रकाशनप्रसिद्धेः । तथाहि "व्रीडायोगान्नतवदनया" इत्यादि श्लोके चेष्टाविशेषः सुकविनार्थप्रकाशनहेतुः प्रदर्शित एव । तस्माद् भिन्नविषयत्वाद् भिन्नरूपत्वाच्च स्वार्थाभिधायित्वमर्थान्तरावगमहेतुत्वं च शब्दस्य यत्, तयोः स्पष्ट एव भेदः ।

विशेषश्चेत्, न तर्हीदानीमवगमनस्य[1], अभिधेयसामर्थ्याक्षिप्त-

दूसरा अर्थ तो वाच्यार्थ की सामर्थ्य से आक्षिप्त सम्बन्धि-सम्बन्धी [परम्परया शब्द से सम्बद्ध] है । यदि उस [वाच्यार्थ से भिन्न अर्थ] का [शब्द के साथ] साक्षात् स्वसम्बन्धित्व [शब्दसम्बन्धित्व] हो तो उसमें [अर्थान्तर, वाच्यार्थ से भिन्न] दूसरा अर्थ , यह व्यवहार ही न हो । इसलिए [स्वार्थ विषय में वाच्य व्यवहार और परार्थ विषय में व्यङ्ग्य व्यवहार होने से] उन दोनों व्यापारों का विषय भेद प्रसिद्ध ही है ।

[वाच्य और व्यङ्ग्य का स्वरूप भेद भी प्रसिद्ध ही है ।] जो [शब्द की] अभिधान [वाचक] शक्ति है वही अवगमन [व्यञ्जक] शक्ति नहीं है । क्योंकि जो गीत आदि के शब्द वाचक नहीं [अभिधा शक्ति से रहित] हैं उनसे भी रसादि रूप अर्थ की अवगति होती है । और [न केवल अभिधा रहित अपितु] शब्द-प्रयोग रहित केवल चेष्टादि से भी अर्थविशेष का प्रकाशन प्रसिद्ध है । जैसे "व्रीडायोगान्नतवदनया" [पृष्ठ २२७] इत्यादि श्लोक में सुकवि ने चेष्टा विशेष को अर्थप्रकाशन का हेतु दिखाया ही है । इसलिए भिन्न विषय और भिन्न स्वरूप होने से शब्द के जो 'अर्थाभिधायित्व' और 'अर्थान्तरावगमहेतुत्व' हैं उनका भेद स्पष्ट ही है । [इसलिए शब्द के स्वार्थाभिधायित्व और अर्थान्तरावगमहेतुत्व को अविशेष अभिन्न नहीं मान सकते हैं । इस प्रकार अविशेष पक्ष खण्डित हो जाता है । दूसरा पक्ष विशेष का था । उसके सम्बन्ध में आगे कहते हैं] ।

[स्वार्थाभिधायित्व तथा परार्थावगमहेतुत्व रूप शब्द धर्म में] यदि विशेष [भेद] है तो फिर अवगमन रूप, अभिधेय सामर्थ्य से आक्षिप्त दूसरे अर्थ को वाच्य नाम से कहना उचित नहीं है । [उस वाच्यसामर्थ्याक्षिप्त] अर्थ का शब्दव्यापार का विषय होना तो हमें अभिमत ही है । परन्तु व्यङ्ग्य रूप से

---

१. अवगमनीयस्य दी० ।

स्यार्थान्तरस्य वाच्यत्वव्यपदेश्यता। शब्दव्यापारगोचरत्वं तु तस्यास्माभिरिष्यत एव, तत्तु व्यङ्ग्यत्वेनैव, न वाच्यत्वेन। प्रसिद्धाभिधानान्तरसम्बन्धयोग्यत्वेन च तस्यार्थान्तरस्य[1] प्रतीतेः शब्दान्तरेण स्वार्थाभिधायिना यद्विषयीकरणं तत्र प्रकाशनोक्तिरेव युक्ता।

न कि वाच्य रूप से। क्योंकि उस दूसरे [वाच्य व्यतिरिक्त] अर्थ की प्रतीति [जिस व्यञ्जक-अवाचक शब्द से इस समय उसका बोध कराया गया है उस से भिन्न, अन्य] प्रसिद्ध वाचक शब्द के सम्बन्ध से भी हो सकती है। इसलिए [किसी अर्थ को अपने वाचक शब्द से न कह कर] अभिधा शक्ति से अपने दूसरे अर्थ के वाचक [किसी] दूसरे शब्द द्वारा जो बोध का विषय बनाना है उसके लिए 'प्रकाशन' कहना ही उचित है [वाच्य या वाचक आदि कहना उचित नहीं है। इसलिए व्यङ्ग्य और व्यञ्जक शब्द का प्रयोग ठीक ही है]।

अभी ऊपर पृष्ट ३४४ पर श्लोक वार्तिक की 'वाक्यार्थमितये' इत्यादि कारिका उद्धृत करके वाच्य और व्यङ्ग्य अर्थ का पदार्थ वाक्यार्थ न्याय दिखलाया था। जैसे पाक के उत्पादन में काष्ठों का ज्वला रूप अवान्तर व्यापार होता है इसी प्रकार पदों से वाक्यार्थ बोध होने में पदार्थबोध अवान्तर व्यापार मात्र है। इस मत का खण्डन करते हैं।

खण्डन में पहिली बात तो यह है कि कुमारिल भट्ट, प्रभाकर, तथा वैयाकरण आदि की ओर से यह सामान्य पूर्वपक्ष किया गया था। उनमें से 'स्फोटवादी' वैयाकरण तो इस पद पदार्थ और वाक्यार्थ विभाग को ही असत्य-अपारमार्थिक मानते हैं :—

पदे न वर्णा विद्यन्ते वर्णेष्ववयवा न च।
वाक्यात् पदानामत्यन्तं प्रविवेको न कश्चन॥ वै० भू०।

यह सब पद पदार्थ कल्पना असत्य है केवल बालकों के शिक्षण के लिए ही उसका उपयोग है। अखण्ड 'स्फोट' ही सत्य है। इसलिये वैयाकरण मत में 'पदार्थ वाक्यार्थ न्याय' नहीं बन सकता है। जो कुमारिल भट्ट आदि इस पद पदार्थ आदि व्यवहार को असत्य नहीं मानते हैं उनके मत में भी घट और उसके उपादान अथवा समवायिकरण का न्याय यहां लागू होगा। घट के उपादान कारण या समवायिकारण कपाल हैं। जब घट बन जाता है तब उसके उपादान या समवायिकारण

---

१. तस्यार्थान्तरस्य च प्रतीतेः दी०, नि०।

न च पदार्थवाक्यार्थन्यायो वाच्यव्यङ्ग्ययोः । यतः पदार्थप्रतीति-रसत्यैवेति[1] कैश्चिद् विद्वद्भिरास्थितम् । यैरप्यसत्यत्वमस्या नाभ्युपेयते तैर्वाक्यार्थपदार्थयोर्घटतदुपादानकारणन्यायोऽभ्युपगन्तव्यः । यथा हि घटे निष्पन्ने तदुपादानकारणानां न पृथगुपलम्भस्तथैव वाक्ये तदर्थे वा प्रतीते पदतदर्थानाम् । तेषां तदा विभक्ततयोपलम्भे वाक्यार्थबुद्धिरेव दूरीभवेत् । न त्वेष वाच्यव्यङ्ग्ययोर्न्यायः । न हि व्यङ्ग्ये प्रतीयमाने वाच्यबुद्धिर्दूरीभवति । वाच्यावभासाविनाभावेन तस्य प्रकाशनात् । तस्माद् घटप्रदीपन्यायस्तयोः । यथैव हि प्रदीपद्वारेण घटप्रतीतावुत्पन्नायां न प्रदीपप्रकाशो निवर्तते तद्वद् व्यङ्ग्यप्रतीतौ वाच्यावभासः । यत्तु प्रथमोद्योते "यथा पदार्थद्वारेण" इत्याद्युक्तं [2]तदुपायत्वमात्रात् साम्य-विवक्षया ।

कपाल अलग प्रतीत नहीं होते । इसी प्रकार वाक्य बन जाने पर पदों की, और वाक्यार्थ प्रतीति में पदार्थों की प्रतीति अलग नहीं होगी । यह भी अभीष्ट नहीं है इसलिये भट्ट, नैयायिक, प्रभाकर आदिक मत में भी 'पदार्थ वाक्यार्थ न्याय' नहीं बन सकता है । बौद्ध दर्शन क्षणभङ्गवादी दर्शन है । उसमें पदों का अस्तित्व ही नहीं बनता है । और सांख्य सिद्धान्त में भी वाक्यार्थप्रतीति काल में पदार्थ तिरोहित हो जाते हैं । इस प्रकार किसी दार्शनिक मत में 'पदार्थ वाक्यार्थ' न्याय नहीं बन सकता है यह बात कहते हैं ।

वाच्य और व्यङ्ग्य का पदार्थ वाक्यार्थ न्याय भी नहीं है । क्योंकि कुछ विद्वान् [वैयाकरण] पदार्थ प्रतीति को असत्य ही मानते हैं । जो [भट्ट, नैयायिक आदि] इसको असत्य नहीं मानते हैं उनको वाक्यार्थ तथा पदार्थ में घट और उसके उपादान [समवायिकारण] का न्याय मानना होगा । जैसे घट के बन जाने पर उसके उपादान कारणों [समवायिकारण कपालों] की अलग प्रतीति नहीं होती इसी प्रकार वाक्य अथवा वाक्यार्थ के प्रतीति होने पर [क्रमशः] पद और पदार्थ की अलग प्रतीति नहीं होती । [तब पदार्थ वाक्यार्थ न्याय कैसे बनेगा] उस समय [वाक्य प्रतीतिकाल में पदों और वाक्यार्थ प्रतीतिकाल में पदार्थों की] उनकी पृथक् रूप से प्रतीति मानने पर वाक्यार्थ बुद्धि ही नहीं रहेगी । [क्योंकि एक संपूर्ण अर्थ को बोधन करने वाले पद समुदाय को ही

---

१. अस्त्येवेति नि०, दी० । २. तदुपायत्वमात्रस्य विवक्षया नि०, दी० ।

नन्वेवं युगपदर्थद्वययोगित्वं वाक्यस्य प्राप्तं, तद्भावे च तस्य वाक्यतैव विघटते। तस्या ऐकार्थ्यलक्षणत्वात्।

वाक्य कहते हैं। 'अर्थैकत्वादेकं वाक्यं' इत्यादि जैमिनीय सूत्र के अनुसार अर्थ का एकत्व होने पर ही वाक्यत्व होता है। इसलिए पदार्थ और वाक्यार्थ की अलग प्रतीति नहीं मानी जा सकती है। और जब अलग प्रतीति नहीं होती है तब 'पदार्थ वाक्यार्थ' न्याय भी नहीं बन सकता है] वाच्य और व्यङ्ग्य में यह बात नहीं है। व्यङ्ग्य की प्रतीति होने पर वाच्य बुद्धि दूर हो जाय सो नहीं है। व्यङ्ग्य प्रतीति वाच्य प्रतीति की अविनाभाविनी [वाच्य प्रतीति के बिना व्यङ्ग्य प्रतीति हो नहीं सकती है] रूप में प्रकाशित होती है। इसलिये उन दोनों [वाच्य और व्यङ्ग्य प्रतीतियों] में प्रदीप-घट-न्याय लागू होता है। [अर्थात्] जैसे प्रदीप द्वारा घट की प्रतीति हो जाने पर भी प्रदीप की प्रतीति नष्ट नहीं हो जाती [वह भी होती रहती है] इसी प्रकार व्यङ्ग्य की प्रतीति हो जाने पर भी वाच्य की प्रतीति होती रहती है। [यहां प्रश्न यह होता है कि "यथा पदार्थद्वारेण वाक्यार्थः सम्प्रतीयते। वाच्यार्थपूर्विका तद्वत् प्रतिपत्तस्य वस्तुनः।" प्रथम उद्योत की इस दसवीं कारिका से वाच्य और व्यङ्ग्य में पदार्थ-वाक्यार्थ न्याय आपके मत से भी प्रतीत होता है। फिर यहां उसी का खण्डन कैसे किया है। इसका समाधान करते हैं] प्रथम उद्योत में जो 'यथा पदार्थ द्वारेण' इत्यादि कहा है वह केवल [जैसे पदार्थ बोध, वाक्यार्थ बोध का उपाय होता है इसी प्रकार वाच्यार्थ बोध व्यङ्ग्यार्थ प्रतीति का उपाय होता है इस] उपायत्व रूप सादृश्य को कथन करने की इच्छा से ही लिखा था।

यह 'पदार्थ-वाक्यार्थ-न्याय' का पूर्वपक्ष तात्पर्याशक्ति से व्यङ्ग्यबोध के निराकरण के अभिप्राय से उठाया है। इसके पूर्व अभिधा शक्ति से व्यङ्ग्य अर्थ के बोध का निराकरण किया था। पदार्थ से वाक्यार्थ बोध तात्पर्याशक्ति से होता है उसके निराकरण के लिए इस पक्ष को उठाकर निरूपण किया है। अतः इस 'पदार्थ वाक्यार्थ न्याय' वाले पूर्वपक्ष में से तात्पर्याशक्ति को न मानने वाले, 'अन्विताभिधानवादी' का सम्बन्ध केवल उत्पत्ति की दृष्टि से समझना चाहिये।

[प्रश्न—पूर्वपक्ष यदि घट-प्रदीप-न्याय से वाच्यार्थ और व्यङ्ग्यार्थ दोनों की प्रतीति मानेंगे तो] इस प्रकार वाक्य के एक साथ दो अर्थ होने लगेंगे और ऐसा होने पर उसका वाक्यत्व ही नहीं रहेगा क्योंकि एकार्थ ही उस [वाक्य] का लक्षण है।

नैष दोषः। गुणप्रधानभावेन तयोर्व्यवस्थानात्। व्यङ्ग्यस्य हि क्वचित् प्राधान्यं वाच्यस्योपसर्जनभावः। क्वचिद्वाच्यस्य प्राधान्यमपरस्य गुणभावः। तत्र व्यङ्ग्यप्राधान्ये ध्वनिरित्युक्तमेव। वाच्यप्राधान्ये तु प्रकारान्तरं निर्देक्ष्यते। तस्मात् स्थितमेतत् व्यङ्ग्यपरत्वेऽपि काव्यस्य न व्यङ्ग्यस्याभिधेयत्वमपितु व्यङ्ग्यत्वमेव।

किञ्च व्यङ्ग्यस्य प्राधान्येनाविवक्षायां वाच्यत्वं तावद् भवद्भिर्नाभ्युपगन्तव्यमतत्परत्वाच्छब्दस्य। तदस्ति तावद् व्यङ्ग्यः शब्दानां कश्चिद् विषय इति। यत्रापि तस्य प्राधान्यं तत्रापि किमिति तस्य स्वरूपमपह्नूयते। एवं तावद् वाचकत्वादन्यदेव व्यञ्जकत्वम्।

इतश्च वाचकत्वाद् व्यञ्जकत्वस्यान्यत्वं, यद्वाचकत्वं शब्दैकाश्रय-

---

[उत्तर] यह दोष नहीं आता है क्योंकि उन [वाच्य तथा व्यङ्ग्य अर्थ] की गुण और प्रधान रूप से व्यवस्था है। कहीं व्यङ्ग्य का प्राधान्य और वाच्यार्थ उपसर्जन [गौण] रूप होता है और कहीं वाच्य अर्थ का प्राधान्य तथा व्यङ्ग्य अर्थ का गुणभाव होता है। उनमें से व्यङ्ग्य का प्राधान्य होने पर ध्वनि [काव्य] होता है यह कह ही चुके हैं। और वाच्य के प्राधान्य होने पर दूसरा प्रकार [गुणीभूतव्यङ्ग्य] होता है यह आगे कहेंगे। इसलिए यह सिद्ध हो गया कि काव्य के व्यङ्ग्य प्रधान होने पर भी व्यङ्ग्य अर्थ अभिधेय नहीं अपितु व्यङ्ग्य ही होता है।

इसके अतिरिक्त जहां व्यङ्ग्य का प्राधान्य विवक्षित नहीं है वहां शब्द के तत्पर [गुणीभूत व्यङ्ग्य के प्रतिपादन परक] न होने से उस [गुणीभूत व्यङ्ग्य अर्थ] को आप वाच्यार्थ नहीं मानेंगे। उस दशा में [यह मानना ही होगा कि] शब्द का कोई व्यङ्ग्य अर्थ भी है [जो शब्द के तत्पर न होने, अर्थात् गुणीभूत होने से, वाच्य नहीं है अतः व्यङ्ग्य है] और जहां उस [व्यङ्ग्य] का प्राधान्य है वहां उसके स्वरूप का निषेध किस लिए करते हैं। इस प्रकार वाचकत्व से व्यञ्जकत्व अलग ही है।

इसलिए भी वाचकत्व से व्यञ्जकत्व भिन्न है क्योंकि वाचकत्व केवल शब्द के आश्रित रहता है और व्यञ्जकत्व शब्द और अर्थ दोनों में रहता है। [क्योंकि] शब्द और अर्थ दोनों का व्यञ्जकत्व प्रतिपादन किया जा चुका है।

इस प्रकार यहां तक यह सिद्ध किया कि अभिधा शक्ति और तात्पर्य

मितरत्तु शब्दाश्रयमर्थाश्रयं च। शब्दार्थयोर्द्वयोरपि व्यञ्जकत्वस्य प्रतिपादितत्वात्।

गुणवृत्तिस्तूपचारेण लक्षणया चोभयाश्रयापि भवति। किन्तु ततोऽपि व्यञ्जकत्वं स्वरूपतो विषयतश्च भिद्यते। रूपभेदस्तावदयम्,

---

शक्ति से भिन्न व्यञ्जकत्व या ध्वनन व्यापार अलग ही है। आगे लक्षणा से उसके भेद का प्रतिपादन करते हैं।

मुख्य वाचक से व्यञ्जक शब्द का भेद निरूपण कर के अब अमुख्यार्थक शब्द से भी व्यञ्जक का भेद दिखलाते हैं। अमुख्य शब्द व्यवहार, मुख्यार्थ बाधित होने पर सादृश्येतर सम्बन्ध से लक्षणा द्वारा, अथवा सादृश्य सम्बन्ध से उपचार द्वारा दो प्रकार से होता है। अतएव अमुख्य से भेद दिखाने में लक्षणा और गौणी वृत्ति से भेद दिखाना अभीष्ट है। अभिधा और तात्पर्याख्या वृत्ति से इसके पूर्व भेद दिखा चुके हैं। इस प्रकार अन्य सब वृत्तियों से व्यञ्जकत्व का भेद सिद्ध हो जाने से व्यञ्जकत्व को अलग मानना ही होगा यही ग्रन्थकार का अभिप्राय है।

वाचकत्व से भेद दिखाते हुए जो अन्तिम युक्ति दी थी कि वाचकत्व केवल शब्दाश्रित रहता है और व्यञ्जकत्व शब्द तथा अर्थ दोनों में आश्रित रहता है। वहीं से गुणवृत्ति का सम्बन्ध जोड़ कर पूर्वपक्ष उठाते हैं कि गुणवृत्ति या लक्षणा तो शब्द और अर्थ दोनों में रहती है तब उस से व्यञ्जकत्व का क्या भेद है। उसका उत्तर यह कहते हैं कि उपचार तथा लक्षणा के शब्द तथा अर्थ उभय में आश्रित होने पर भी स्वरूपभेद तथा विषयभेद से व्यञ्जकत्व उनसे भिन्न ही है।

ग्रन्थ की 'गुणवृत्तिस्तूपचारेण लक्षणया चोभयाश्रयापि भवति' इस पंक्ति के अर्थ में थोड़ी भ्रान्ति हो सकती है। उसके अनुसार उभयाश्रया के अर्थ का उपचार और लक्षणा इन दोनों का ग्रहण उभय शब्द से किया जा सकता है। परन्तु वास्तव में उभय शब्द से 'शब्द' और 'अर्थ' का ग्रहण अभीष्ट है। इस लिए लोचनकार ने 'उभयाश्रयापि शब्दार्थाश्रया' लिख कर उसकी व्याख्या की है।

गुणवृत्ति तो उपचार [सादृश्य मूलक अमुख्यार्थ में प्रयोग] तथा लक्षणा [सादृश्येतर सम्बन्ध से अमुख्यार्थ में प्रयोग] से दोनों [शब्द तथा अर्थ उभय] में आश्रित होती है, किन्तु उससे भी स्वरूपतः और विषयतः व्यञ्जकत्व का भेद है। स्वरूप भेद तो यह है कि अमुख्यतया

यदमुख्यतया व्यापारो गुणवृत्तिः प्रसिद्धा। व्यञ्जकत्वं तु मुख्यतयैव शब्दस्य व्यापारः। नह्यर्थाद् व्यङ्ग्यत्रयप्रतीतिर्या तस्या अमुख्यत्वं मनागपि लक्ष्यते।

अयं चान्यः स्वरूपभेदः, यद् गुणवृत्तिरमुख्यत्वेन व्यवस्थितं[1] वाचकत्वमेवोच्यते। व्यञ्जकत्वं तु वाचकत्वादत्यन्तं विभिन्नमेव। एतच्च प्रतिपादितम्।

अयं चापरो रूपभेदो यद् गुणवृत्तौ [2]यदार्थोऽर्थान्तरमुपलक्षयति, तदोपलक्षणीयार्थात्मना परिणत एवासौ सम्पद्यते। यथा 'गङ्गायां घोषः' इत्यादौ। व्यञ्जकत्वमार्गे तु यदाऽर्थोऽर्थान्तरं द्योतयति तदा स्वरूपं प्रकाशयन्नेवासावन्यस्य प्रकाशकः प्रतीयते प्रदीपवत्। यथा "लीला-कमलपत्राणि गणयामास पार्वती" इत्यादौ।

[अर्थ का बोधन कराने वाला] शब्द व्यापार गुणवृत्ति [नाम से] प्रसिद्ध है और व्यञ्जकत्व मुख्यतया [अर्थबोधक] व्यापार है। जो तीन प्रकार के [रसादि ध्वनि, वस्तु ध्वनि तथा अलङ्कार ध्वनि] व्यङ्ग्यों की प्रतीति होती है उसका अर्थ [वाच्यार्थ] से किसी प्रकार तनिक भी अमुख्यत्व नहीं दिखाई देता है।

और दूसरा स्वरूपभेद यह है कि अमुख्य रूप से स्थित वाचकत्व ही ही गुणवृत्ति है और व्यञ्जकत्व वाचकत्व से अत्यन्त भिन्न होता है। यह कह चुके हैं।

और [तीसरा] रूपभेद यह है कि गुणवृत्ति में जब एक अर्थ [का वाचक शब्द] दूसरे अर्थ को लक्षणा द्वारा बोधित करता है तब [जहत्स्वार्था या लक्षण लक्षणा में] लक्षणीय अर्थ रूप में परिणत होकर ही लक्ष्यार्थ होता है। जैसे 'गङ्गायां घोषः' में [गङ्गा पद अपने अर्थ को छोड़कर तट रूप में परिणत होकर ही तट अर्थ को बोधन करता है।] व्यञ्जकत्व की पद्धति में जब अर्थ दूसरे अर्थ को अभिव्यक्त करता है तब प्रदीप के समान वह अपने स्वरूप को प्रकाशित करता हुआ ही अन्य अर्थ का प्रकाशक होता है। [अर्थात् जहत्-स्वार्था लक्षणा में गङ्गा पद अपने मुख्य अर्थ को सर्वथा छोड़कर तटरूप अर्थान्तर

---

१. व्यवहितं नि० दी०। २. पदार्थो नि०, दी०।

यदि च यत्रातिरस्कृतस्वप्रतीतिरर्थोऽर्थान्तरं लक्षयति तत्र लक्षणाव्यवहारः क्रियते, तदेवं सति लक्षणैव मुख्यः शब्दव्यापार इति प्राप्तम्। यस्मात् प्रायेण[1] वाक्यानां वाच्यव्यतिरिक्ततात्पर्यविषयार्थावभासित्वम्।

ननु त्वत्पक्षेऽपि यदार्थो व्यङ्ग्यत्रयं प्रकाशयति तदा शब्दस्य कीदृशो व्यापारः ?

का बोधक होता है व्यञ्जक शब्द अपने स्वार्थ को भी प्रकाशित करता हुआ अर्थान्तर का बोधक होता है यह तीसरा भेद है जिससे व्यञ्जकत्व गुणवृत्ति से अलग है।] जैसे 'लीलाकमलपत्राणि गणयामास पार्वती' में [पहिले मुख्यार्थ का बोध होता है और उसके बाद वह वाच्यार्थ, व्यङ्ग्य लज्जा अथवा अवहित्था रूप शृङ्गाराङ्ग को अभिव्यक्त करता है]।

[प्रश्न] लक्षणा में भी अजहत्स्वार्था अथवा उपादान लक्षणा नामक एक ऐसा भेद भी होता है कि जिस में शब्द अपने मुख्यार्थ का तिरस्कार या परित्याग किए बिना ही अर्थान्तर का बोधक होता है। इसलिए जहत्स्वार्था अथवा उस पर आश्रित 'अत्यन्त तिरस्कृत वाच्य' ध्वनि में गुणवृत्ति और व्यञ्जकत्व के स्वरूप का अभेद भले ही न हो परन्तु अजहत्स्वार्था लक्षणा और उस पर आश्रित अर्थान्तर संक्रमित वाच्य ध्वनि में तो गुणवृत्ति और व्यञ्जकत्व अभिन्न या एक ही हैं। इस पूर्वपक्ष को उठाकर उसका खण्डन करते हैं।—

और यदि जहां [अजहत्स्वार्था उपादान लक्षणा अथवा अर्थान्तर-संक्रमित वाच्य ध्वनि में] अर्थ, अपनी प्रतीति का परित्याग किए बिना अर्थान्तर को लक्षित करता है वहां लक्षणा व्यवहार [ही] करें तो तब फिर [अभिधा के भी स्थान पर] लक्षणा ही शब्द का मुख्य व्यापार है यह आ जाता है। क्योंकि अधिकांश वाक्य, [स्वार्थ का परित्याग किए बिना भी] वाच्य से भिन्न तात्पर्य विषयीभूत अर्थ के प्रकाशक होते हैं।

[प्रश्न] आपके मत में भी जब अर्थ [रसादि, अलङ्कार तथा वस्तु रूप] व्यङ्ग्यत्रय को प्रकाशित करता है तब शब्द का किस प्रकार का व्यापार होता है।

---

१. प्रायेणैव नि०, दी०।

उच्यते—प्रकरणाद्यवच्छिन्नशब्दवशेनैवार्थस्य तथाविधं व्यञ्जकत्वमिति शब्दस्य तत्रोपयोगः [अस्खलद्गतित्वं, समयानुपयोगित्वं, पृथगवभासित्वञ्चेति त्रयं] कथमपह्नूयते ।

[उत्तर] प्रकरण आदि सहकृत शब्द की सामर्थ्य से ही अर्थ में उस प्रकार [वस्तु, अलङ्कार अथवा रसादि] का व्यञ्जकत्व होता है, इसलिए उसमें शब्द के उपयोग [अर्थात् अस्खलद्गतित्व, समय अर्थात् संकेतग्रह के अनुपयोगित्व और पृथगवभासित्व] को किस प्रकार छिपाया नहीं जा सकता है ।

प्रश्नकर्त्ता का आशय है कि शब्द के अर्थ के बोधन में दो ही प्रकार के व्यापार हो सकते हैं एक तो मुख्य और दूसरा अमुख्य । आपके मत में जब अर्थ 'व्यक्त' होता है वहां भी शब्द का या तो मुख्य या अमुख्य इनमें से ही कोई एक व्यापार होगा । जब अर्थ के प्रकाशन में मुख्य व्यापार होता है उसी को वाचकत्व कहते हैं और जब अमुख्य व्यापार होता है उसी को गुणवृत्ति कहते हैं । इसलिए आपके अभिमत अर्थ के प्रकाशन में भी या तो वाचकत्व अथवा गुणवृत्ति इन दोनों में से ही कोई एक प्रकार का व्यापार मानना होगा । इनके अतिरिक्त व्यञ्जकत्वादि रूप और कोई तीसरा प्रकार नहीं हो सकता है ।

उत्तर का अभिप्राय यह है कि वह व्यापार तो मुख्य ही होता है परन्तु सामग्री भेद से वह वाचकत्व से अलग है । यहां प्रश्न जितना स्पष्ट है उत्तर उतना ही अस्पष्ट है । लोचनकार ने जो "मुख्य एवासौ व्यापारः सामग्रीभेदाच्च वाचकादतिरिच्यत इत्यभिप्रायेणाह उच्यते इति" लिख कर जो व्याख्या की है वह पूर्ण स्पष्ट समाधानकारक नहीं है । भेद को स्पष्ट करने के लिए गुणवृत्ति और व्यञ्जकत्व में मुख्यतः तीन प्रकार के रूपभेद प्रतिपादित किए हैं ।

१—अमुख्य व्यापार गुणवृत्ति और मुख्य व्यापार व्यञ्जकत्व है । यहां मुख्य अमुख्य का अभिप्राय अस्खलद्गतित्व और स्खलद्गतित्व से है । इसका आशय यह है कि गुणवृत्ति में स्खलद्गति अर्थात् बाधितार्थ होकर शब्द दूसरे अर्थ का बोधक होता है परन्तु व्यञ्जकत्व में स्खलद्गतित्व अथवा बाधितार्थ होना आवश्यक नहीं है । यह गुणवृत्ति और व्यञ्जकत्व का पहिला रूप भेद है । गुणवृत्ति के अन्तर्गत उपचार और लक्षणा दोनों आ जाते हैं । लावण्यादि स्थलों पर शब्दाश्रित सादृश्यमूलक गौण व्यवहार उपचार, और अर्थाश्रित अमुख्य व्यवहार लक्षणा रूप यह दोनों गुणवृत्ति हैं । इन दोनों में शब्द स्खलद्गति होता है और व्यञ्जना में नहीं इस कारण वह व्यञ्जकत्व से भिन्न हैं ।

विषयभेदोऽपि गुणवृत्तिव्यञ्जकत्वयोः स्पष्ट एव। यतो व्यञ्जकत्वस्य रसादयो, अलङ्कारविशेषा, व्यङ्ग्यरूपावच्छिन्नं वस्तु, चेति त्रयं विषयः[1]। तत्र रसादिप्रतीतिर्गुणवृत्तिरिति न केनचिदुच्यते न च शक्यते वक्तुम्। व्यङ्ग्यालङ्कारप्रतीतिरपि तथैव। [2]वस्तु चारुत्वप्रतीतये स्वशब्दानभिधेयत्वेन यत् [3]प्रतिपादयितुमिष्यते तद् व्यङ्ग्यम्। तच्च न सर्वं गुणवृत्तेर्विषयः। प्रसिद्ध्यनुरोधाभ्यामपि गौणानां शब्दानां प्रयोगदर्श-

---

२—गुणवृत्ति और व्यञ्जकत्व का दूसरा भेद यह दिखाया है कि अमुख्य रूप से स्थित वाचकत्व ही गुणवृत्ति होता है। अर्थात् उसमें किसी न किसी रूप से संकेतग्रह का प्रयोग होता है। इसी से लक्षणा को 'अभिधापुच्छभूता' कहा है। परन्तु व्यञ्जकत्व में संकेतग्रह का उपयोग नहीं होता है।

३—गुणवृत्ति और व्यञ्जकत्व का तीसरा भेद यह दिखाया है कि गुणवृत्ति में शक्यार्थ और लक्ष्यार्थ का अभेद प्रतीत होता है, और व्यञ्जकत्व में वाच्य और व्यङ्ग्य का अभेद नहीं, भेद होता है। दोनों की अलग-अलग प्रतीति होती है।

इस प्रकार इन तीन रूप से गुणवृत्ति तथा व्यञ्जकत्व का स्वरूप भेद प्रतिपादन कर अब विषय भेद से भी उन दोनों का भेद भी दिखाते हैं।

गुणवृत्ति और व्यञ्जकत्व का विषयभेद भी स्पष्ट ही है। क्योंकि व्यञ्जकत्व के विषय 'रसादि', 'अलङ्कार' और व्यङ्ग्यरूप 'वस्तु' यह तीन हैं। उनमें से रसादि की प्रतीति को कोई भी गुणवृत्ति नहीं कहता है, और न कह ही सकता है। व्यङ्ग्य अलङ्कार की प्रतीति भी ऐसी ही है। [अर्थात् उसको न कोई गुणवृत्ति कहता है और न कह सकता है।] चारुत्व की प्रतीति के लिए वाच्य भिन्न [स्वशब्दानभिधेयत्वेन] रूप से जिसका प्रतिपादन इष्ट हो वह 'वस्तु' व्यङ्ग्य है। वह सब गुणवृत्ति का विषय नहीं है। क्योंकि प्रसिद्धि [अर्थात् रूढ़ि वश लावण्य आदि शब्द] और अनुरोध [अर्थात् व्यवहार के अनुरोध से 'वदति बिसिनीपत्रशयनम्' आदि में] से भी गौण शब्दों का प्रयोग देखा है। जैसा कि पहिले कह चुके हैं। और जहां [गङ्गायां घोषः इत्यादि प्रयोजनवती लक्षणा में शैत्य-

---

१. अस्खलद्गतित्वं समयानुपयोगित्वं पृथगवभासित्वं चेति त्रयं इतना पाठ नि०, दी० में अधिक है। २. वस्तुचारुत्वप्रतीतये बा० प्रि०। ३. प्रतिपादयितुं बा० प्रि०।

नात्। तथोक्तम् प्राक्। यदपि च [1]गुणवृत्तेर्विषयस्तदपि च व्यञ्जकत्वानुप्रवेशेन। तस्माद् गुणवृत्तेरपि व्यञ्जकत्वस्यात्यन्तविलक्षणत्वम्। वाचकत्वगुणवृत्तिविलक्षणस्यापि च तस्य तदुभयाश्रितत्वेन व्यवस्थानम्।

पावनत्व का अतिशय] गुणवृत्ति का विषय होता भी है वहां व्यञ्जकत्व के अनुप्रवेश से [वस्तु व्यङ्ग्य गुणवृत्ति का विषय] होता है। इसलिए गुणवृत्ति से भी व्यञ्जकत्व अत्यन्त भिन्न है वाचकत्व तथा गुणवृत्ति से विलक्षण [भिन्न] होने पर भी उन दोनों [वाचकत्व तथा गुणवृत्ति] के आश्रय ही उस [व्यञ्जकत्व] की स्थिति होती है।

इस अनुच्छेद में 'वस्तु चेति त्रयं विषयः' इसके बाद निर्णयसागरीय संस्करण में 'अस्खलद्गतित्वं, समयानुपयोगित्वं, पृथगवभासित्वं चेति त्रयम्' इतना पाठ और मिलता है। परन्तु उसकी सङ्गति यहां नहीं लगती है। इस स्थल पर यह पाठ अनावश्यक और असङ्गत है उसके बीच में आजाने से अगले वाक्य की पूर्व वाक्य से जो स्पष्ट सङ्गति है उसमें बाधा पड़ती है। अतएव यहां तो यह निश्चित रूप से प्रमाद पाठ है। 'लोचनकार' ने इसकी व्याख्या "उच्यते" के बाद और "विषयभेदोऽपि" इससे पूर्व करते हुए लिखा है। "एवमस्खलिद्गतित्वात्, कथञ्चिदपि समयानुपपोगात् पृथगाभासमानत्वाच्चेति त्रिभिः प्रकारैः प्रकाशकत्वस्यैतद्विपरीतरूपत्रयायाश्च गुणवृत्तेः स्वल्पभेदं व्याख्याय विषयभेदमप्याह। विषयभेदोऽपीति"। इससे प्रतीत होता है कि 'लोचनकार' दो वाक्य पहिले इस पाठ को मानते हैं। दीधितिकार ने यहां इस पाठ को रख कर उसकी व्याख्या की है। उनका यह प्रयत्न 'लोचनकार' के विपरीत भी है और सुसङ्गत भी नहीं। वाराणसीय दूसरे संस्करण में इस पाठ को कहीं स्थान नहीं दिया गया है। यह बात भी लोचनकार की व्याख्या के प्रतिकूल होने से अनुचित है। अतएव लोचनकार की व्याख्या का ध्यान रखते हुए 'तत्रोपयोगः' के बाद और 'कथमपन्हूयते' से पूर्व इस पाठ को रखना चाहिए। तब 'उच्यते' से आगे वाक्य इस प्रकार बनेगा।

"उच्यते, प्रकरणाद्यवच्छिन्नशब्दवशेनैवार्थस्य तथाविधं व्यञ्जकत्वमिति शब्दस्य तत्रोपयोगः, अस्खलद्गतित्वं समयानुपयोगित्वं पृथगवभासित्वं चेति त्रय कथपमन्हूयते।

---

१. गुणवृत्ते यह पाठ नि० में नहीं है।

व्यञ्जकत्वं हि क्वचिद् वाचकत्वाश्रयेण व्यवतिष्ठते, यथा विवक्षितान्यपरवाच्ये ध्वनौ । क्वचित्तु गुणवृत्त्याश्रयेण यथा अविवक्षितवाच्ये ध्वनौ । तदुभयाश्रयत्वप्रतिपादनायैव च ध्वनेः प्रथमतरं द्वौ प्रभेदावुपन्यस्तौ तदुभयाश्रितत्वाच्च तदेकरूपत्वं तस्य न शक्यते वक्तुम् । यस्मान्न तद् वाचकत्वैकरूपमेव क्वचिल्लक्षणाश्रयेण वृत्तेः न च लक्षणैकरूपमेव, अन्यत्र वाचकत्वाश्रयेण

इस प्रकार के पाठ की व्याख्या निम्न प्रकार होगी। इसके पूर्व प्रश्नकर्त्ता का प्रश्न यह था कि तुम्हारे अर्थात् व्यञ्जकत्ववादी के मत में जब शब्द व्यङ्ग्य-त्रय को प्रकाशित करता है तब शब्द का व्यापार मुख्य या अमुख्य कैसा होगा। यदि मुख्य व्यापार होगा तो वाचकत्व के अन्तर्गत होगा और अमुख्य होगा तो गुणवृत्ति के अन्तर्गत होगा। इनके अतिरिक्त तीसरा कोई प्रकार संभव नहीं है। इस प्रश्न का उत्तर 'उच्यते' से दिया है। उत्तर का आशय यह है कि प्रकरणादि सहकृत शब्द सामर्थ्य से ही अर्थ का उस प्रकार का व्यञ्जकत्व बनता है इसलिए व्यञ्जकत्वस्थल में शब्द के व्यापार को मानना ही होगा, साथ ही वहां शब्द के अस्खलद्गतित्व, समयानुपयोगित्व और पृथगवभासित्व को भी मानना होगा। इसके विपरीत लक्षणा या गुणवृत्ति में स्खलद्गतित्व, समय अर्थात् संकेतग्रह का उपयोगित्व और वाच्य तथा लक्ष्य का पृथगनवभासित्व प्रतीत होता है। अतएव व्यञ्जकत्व गुणवृत्ति से सर्वथा भिन्न है। इसलिए रसादि तथा अलङ्कार और वस्तु तीनों व्यङ्ग्य अर्थ शब्द व्यापार के विषय होने पर भी समयानुपयोगित्व अर्थात् संकेतग्रह का उपयोग न होने से वाचक से भिन्न, और अस्खलद्गततित्व के कारण लक्षणा से भिन्न, तथा पृथगवभासित्व के कारण उपचार से भिन्न व्यञ्जकत्व व्यापार के विषय होते हैं यह मानना होगा। इस प्रकार की व्याख्या करने से उस स्थल की पंक्ति में उत्तर में जो अस्पष्टता आती है वह भी दूर हो जाती है। और इस पाठ की सङ्गति भी लग जाती है। इसलिए हमने इस पाठ को उचित स्थान पर कोष्ठक में दे दिया है।

व्यञ्जकत्व कहीं वाचकत्व के आश्रित रहता है जैसे विवक्षितान्यपरवाच्य [अभिधामूल] ध्वनि में, और कहीं गुणवृत्ति के आश्रय से जैसे, अविवक्षित-वाच्य [लक्षणामूल] ध्वनि में । उस [व्यञ्जकत्व] के उभय [अर्थात् वाचक तथा गुणवृत्ति] में आश्रितत्व के प्रतिपादन के लिए ही सबसे पहिले ध्वनि के [अविवक्षितवाच्य और विवक्षितान्यपर वाच्य] दो

व्यवस्थानात् । न चोभयधर्मत्वेनैव तदेकैकरूपं न भवति, यावद्वाचकत्वलक्षणादिरूपरहितशब्दधर्मत्वेनापि । तथाहि गीतध्वनीनामपि व्यञ्जकत्वमस्ति रसादिविषयम् । न च तेषां वाचकत्वं लक्षणा वा कथञ्चिल्लक्ष्यते । शब्दादन्यत्रापि[1] विषये व्यञ्जकत्वस्य दर्शनाद् वाचकत्वादिशब्दधर्मप्रकारत्वमयुक्तं वक्तुम् । यदि च[2] वाचकत्वलक्षणादीनां शब्दप्रकाराणां प्रसिद्धप्रकारविलक्षणत्वेऽपि व्यञ्जकत्वं प्रकारत्वेन परिकल्प्यते तच्छब्दस्यैव प्रकारत्वेन कस्मान्न परिकल्प्यते ।

भेद किए गए हैं। उभयाश्रित होने के कारण ही वह [व्यञ्जकत्व] उन [वाचकत्व और गुणवृत्ति] के साथ एक रूप [वाचकत्व या गुणवृत्ति रूप—उनसे अभिन्न] नहीं कहा जा सकता है। [अपितु उन दोनों से भिन्न है] क्योंकि कहीं [अविवक्षितवाच्य लक्षणामूल ध्वनि में] लक्षणा के आश्रय भी रहने से वह [व्यञ्जकत्व] वाचकत्व रूप ही नहीं हो सकता है। और कहीं [विवक्षितान्यपरवाच्य ध्वनि में] वाचकत्वाश्रय भी रहने से लक्षणारूप भी नहीं हो सकता है। और न केवल उभय [वाचकत्व तथा गुणवृति] का धर्म होने से ही तदेकैरूप [वाचकत्व तथा गुणवृत्ति] नहीं होता। [अर्थात् व्यञ्जकत्व के वाचकत्व अथवा गुणवृत्ति रूप न होने का केवल उभयाश्रित होना यह एक ही कारण नहीं है अपितु आगे बताए हुए और भी कारण उसको वाचकत्व तथा गुणवृत्ति से भिन्न करते हैं] अपितु वाचकत्व और लक्षणा आदि व्यापार से रहित [गीत आदि के] शब्दों का धर्म होने से भी [व्यञ्जकत्व, वाचकत्व तथा गुणवृत्ति से भिन्न है]। जैसे गीत की ध्वनि में भी रसादि विषयक व्यञ्जकत्व रहता है परन्तु उनमें वाचकत्व अथवा लक्षणा किसी प्रकार भी दिखाई नहीं देती। [इसके अतिरिक्त] शब्द से भिन्न [चेष्टा आदि] विषय में भी व्यञ्जकत्व के पाए जाने से उसे वाचकत्व आदि रूप शब्दधर्म विशेष कहना उचित नहीं है। और यदि प्रसिद्ध [वाचकत्व तथा गुणवृत्ति रूप] भेदों से [पूर्वोक्त हेतुओं से] अतिरिक्त होने पर भी व्यञ्जकत्व को वाचकत्व और लक्षणा आदि शब्द धर्मों [प्रकार धर्म] का विशेष प्रकार मानना चाहते हैं तो उस [व्यञ्जकत्व] को शब्द का ही [प्रकार] विशेष भेद क्यों नहीं मान लेते। [जब प्रबलतर युक्तियों से वाचकत्व तथा गुणवृत्ति से व्यञ्जकत्व का भेद स्पष्ट सिद्ध हो गया है फिर भी आप उस व्यञ्जकत्व को

---

१. च नि०, दी० में अधिक है। २. नि० में च नहीं है।

तदेवं शाब्दे व्यवहारे त्रयः प्रकाराः; वाचकत्वं गुणवृत्ति-र्व्यञ्जकत्वं च। तत्र व्यञ्जकत्वे यदा व्यङ्ग्यप्राधान्यं तदा ध्वनिः, तस्य चाविवक्षितवाच्यो विवक्षितान्यपरवाच्यश्चेति द्वौ प्रभेदा-वनुक्रान्तौ प्रथमतरं तौ सविस्तरं निर्णीतौ।

वाचकत्व या गुणवृत्ति के भेदों में ही परिगणित करने का असङ्गत प्रयत्न कर रहे हैं तो उसको शब्द का एक अलग प्रकार मानने में आपको क्या आपत्ति है।]

लोचनकार ने इस पंक्ति की व्याख्या करते हुए लिखा है "व्यञ्जकत्वं वाचकत्व-मिति यदि पर्यायौ कल्प्येते तर्हि व्यञ्जकत्वं शब्द इत्यपि पर्यायता कस्मान्न कल्प्यते, इच्छाया अव्याहतत्वात्।" अर्थात् यदि व्यञ्जकत्व और वाचकत्व को पर्याय मानना चाहते हैं तो व्यञ्जकत्व और शब्द को भी पर्याय क्यों नहीं मान लेते। क्योंकि आपकी इच्छा तो अप्रतिहत है, वह कहीं रोकी नहीं जा सकती। इसका भाव यह हुआ कि जैसे शब्द को व्यञ्जकत्व का पर्याय मानना युक्तिसङ्गत नहीं है इसी प्रकार व्यञ्जकत्व को वाचकत्व का पर्याय मानना भी युक्ति विरुद्ध है। यह व्याख्या हमें रुचिकर प्रतीत नहीं होती। उसके स्थान पर 'तच्छब्दस्यैव प्रकारत्वेन कस्मान्न परिकल्प्यते' का अर्थ उस व्यञ्जकत्व को शब्द का ही एक अलग प्रकार या धर्म क्यों नहीं मान लेते अर्थात् व्यञ्जकत्व को शब्द का एक अलग धर्म मान लेना अधिक युक्तिसङ्गत है। यह व्याख्या अधिक युक्तिसङ्गत प्रतीत होती है। इसका भाव यह हुआ कि प्रबल युक्तियों से वाचकत्व और व्यञ्जकत्व का भेद सिद्ध हो जाने पर भी उसे वाचकत्वरूप मानना तो अत्यन्त अनुचित है उसके बजाय उस व्यञ्जकत्व को वाचकत्व और गुणवृत्ति आदि से भिन्न तीसरा शब्दधर्म मान लेना अधिक युक्तिसङ्गत है। अतः उसके मानने में कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिये। इसके अनुसार व्यञ्जकत्व को वाचकत्व से भिन्न सिद्ध करने वाले अनुमान वाक्य का स्वरूप इस प्रकार बनेगा। "व्यञ्जकत्वं अभिधालक्षणान्यतरत्वावच्छिन्नप्रति-योगिताकभेदवत् शब्दवृत्तित्वे सति शब्देतरवृत्तित्वात् प्रमेयत्ववत्।" इस अनुमान में गौणी को लक्षणा के ही अन्तर्गत मान कर वाक्य में 'अभिधालक्षणान्यतर-त्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकभेदवत्त्व' को साध्य रखा है। परन्तु मीमांसक के यहां गौणी वृत्ति अलग है। उसके अनुसार अनुमान वाक्य बनाना हो तो "व्यञ्जकत्वं अभिधा-लक्षणागौण्यन्यतमत्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकभेदवत्" यह साध्य का रूप होगा।

इस तरह शाब्द व्यवहार के तीन प्रकार होते हैं। वाचकत्व, गुणवृत्ति

अन्यो ब्रूयात्। ननु विवक्षितान्यपरवाच्ये ध्वनौ गुणवृत्तिता नास्तीति यदुच्यते तद्युक्तम्। यस्माद् वाच्यवाचकप्रतीतिपूर्विका यत्रार्थान्तरप्रतिपत्तिस्तत्र कथं गुणवृत्तिव्यवहारः। नहि गुणवृत्तौ यदा निमित्तेन केनचिद् विषयान्तरे शब्द आरोप्यतेऽत्यन्ततिरस्कृतस्वार्थो, यथा 'अग्निर्माणवक' इत्यादौ, यदा वा स्वार्थमंशेनापरित्यजस्तत्सम्बन्ध-

---

और व्यञ्जकत्व उनमें से व्यञ्जकत्व [भेद] में जब व्यङ्ग्य का प्राधान्य होता है तब ध्वनि [काव्य] कहलाता है। और उस [ध्वनि] के अविवक्षित वाच्य तथा विवक्षितान्यपरवाच्य यह दो भेद किए गए हैं और पहिले ही उनका सविस्तर वर्णन किया जा चुका है।

यद्यपि उपर्युक्त प्रकरण में अभिधा, लक्षणा और गौणी से भिन्न व्यञ्जकत्व की सिद्धि की जा चुकी है फिर भी अविवक्षित वाच्य अर्थात् लक्षणा मूल ध्वनि के अर्थान्तरसंक्रमित वाच्य भेद में सादृश्यमूलक गौणी अथवा अजहत्स्वार्था उपादान लक्षणा और अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य ध्वनि में जहत्स्वार्था रूप लक्षणलक्षणा से भेद को और स्पष्ट करने के लिए यह अगला पूर्वपक्ष उठाते हैं। पूर्वपक्ष का आशय यह है कि अभिधामूल अथवा विवक्षितान्यपरवाच्य ध्वनि में वाचकत्व और गुणवृत्ति से भेद स्पष्ट है परन्तु अविवक्षित वाच्य अथवा लक्षणा-मूल ध्वनि, गौणी तथा लक्षणा से भिन्न नहीं हैं।

[पूर्वपक्ष] अन्य [कोई] कह सकता है कि विवक्षितान्यपरवाच्य ध्वनि में गुणवृत्ति नहीं होती यह जो कहते हैं सो ठीक है। क्योंकि जहां [विवक्षितान्यपरवाच्य ध्वनि में] वाच्य-वाचक [अर्थ और शब्द] की प्रतीति-पूर्वक [व्यङ्ग्य रूप] अर्थान्तर की प्रतीति होती है वहां गुणवृत्ति व्यवहार हो ही कैसे सकता है। [क्योंकि वहां वाच्य और व्यङ्ग्य की अलग-अलग और क्रम से प्रतीति होती है। इसलिए विवक्षितान्यपर वाच्य ध्वनि में गुणवृत्ति नहीं रह सकती है। इसी प्रकार आगे कहे हेतु से गुणवृत्ति में विवक्षितान्यपरवाच्य ध्वनि नहीं रह सकती है] गुणवृत्ति में जब किसी विशेष कारण से विषयान्तर में [उसके अवाचक] शब्द का अपने अर्थ को अत्यन्त तिरस्कृत कर आरोप [मूलक व्यवहार] किया जाता है जैसे 'अग्निर्माणवकः इत्यादि में [अग्नि शब्द का अपने अर्थ को छोड़कर तेजस्वितादि सादृश्य से बालक में आरोपित

---

१. वक्तुम् नि०।

द्वारेण विषयान्तरमाक्रामति यथा 'गङ्गायां घोष' इत्यादौ तदा विवक्षित-वाच्यत्वमुपपद्यते । अत एव च विवक्षितान्यपरवाच्ये ध्वनौ वाच्य-वाचकयोर्द्वयोरपि स्वरूपप्रतीतिरर्थावगमनं च दृश्यत इति व्यञ्जकत्व-व्यवहारोयुक्त्यनुरोधी । स्वरूपं प्रकाशयन्नेव परावभासको व्यञ्जक इत्युच्यते। तथाविधे विषये वाचकत्वस्यैव व्यञ्जकत्वमिति गुणवृत्ति-व्यवहारो नियमेनैव न शक्यते कर्तुम्[1] ।

अविवक्षितवाच्यस्तु ध्वनिर्गुणवृत्तेः कथं भिद्यते। तस्य प्रभेद-द्वये गुणवृत्तिप्रभेदद्वयरूपता लक्ष्यत एव यतः[2] ।

व्यवहार किया जाता है तब यहां अत्यन्त तिरस्कृत वाच्य' या जहत्स्वार्था लक्षणा तो मानी जा सकती है परन्तु विवक्षितान्यपर वाच्य ध्वनि नहीं] अथवा कुछ अंश में अपने अर्थ को छोड़कर [सामीप्यादि] सम्बन्ध द्वारा [गङ्गा आदि शब्द जब] अर्थान्तर [तट आदि रूप अर्थ] का बोध कराता है, जैसे 'गङ्गायां घोषः' इत्यादि में। तब ऐसे स्थलों पर अविवक्षित वाच्य [लक्षणामूल ध्वनि] हो सकता है। [परन्तु विवक्षितान्यपर वाच्य नहीं हो सकता है। अतएव जहां विवक्षितान्यपर वाच्यध्वनि होता है वहां गुणवृत्ति न रहने से और जहां गुणवृत्ति रहती है वहां विवक्षितान्यपर वाच्य ध्वनि न रहने से उन दोनों की एकविषयता नहीं हो सकती है यह कहना तो ठीक ही है] इसीलिए विवक्षितान्तपरवाच्यध्वनि में वाच्य और वाचक दोनों के स्वरूप की प्रतीति और [व्यङ्ग्य] अर्थ का ज्ञान पाया जाता है इसलिए व्यञ्जकत्व व्यवहार युक्तिसङ्गत है। [क्योंकि] अपने रूप को प्रकाशित करते हुए [दीपकादि के समान] पर के रूप को प्रकाशित करने वाला ही व्यञ्जक कहलाता है । ऐसे उदाहरणों में [वाचकत्व और व्यञ्जकत्व स्पष्ट रूप से अलग-अलग प्रतीत होते हैं अतः] वाचकत्व का ही व्यञ्जकत्व रूप है इस प्रकार का गुणवृत्ति [मूलक] व्यवहार निश्चित रूप से नहीं किया जा सकता है। [इसलिए विवक्षितान्यपर वाच्य ध्वनि गुणवृत्ति रूप नहीं है यह ठीक है।]

परन्तु अविवक्षित वाच्य [लक्षणामूल] ध्वनि गुणवृत्ति से कैसे अलग हो सकती है। उसके दोनों भेदों [अर्थान्तर संक्रमित वाच्य तथा अत्यन्त

---

२. नि०. दी० में यतः को अगले वाक्य के साथ जोड़ कर 'यतोऽयमपि न दोषः' पाठ रखा है।

अयमपि न दोषः। यस्मादविवक्षितवाच्यो ध्वनिर्गुणवृत्तिमार्गाश्रयोऽपि भवति, न तु गुणवृत्तिरूप एव। गुणवृत्तिर्हि व्यञ्जकत्वशून्यापि दृश्यते। व्यञ्जकत्वं च यथोक्तचारुत्वहेतुं व्यङ्ग्यं विना न व्यवतिष्ठते।

गुणवृत्तिस्तु वाच्यधर्माश्रयेणैव व्यङ्ग्यमात्राश्रयेण चाभेदोपचाररूपा सम्भवति, यथा 'तीक्ष्णत्वादग्निर्माणवकः', 'आल्हादकत्वाच्चन्द्र एवास्या मुखम्' इत्यादौ। यथा च 'प्रिये जने नास्ति पुनरुक्तम्' इत्यादौ।

तिरस्कृत वाच्य] में गुणवृत्ति के दोनों भेद [उपचार और लक्षणारूप स्पष्ट] दिखाई देते ही हैं। [अर्थान्तर संक्रमित वाच्य ध्वनि उपादान लक्षणा अथवा अजहत्स्वार्था लक्षणा और अत्यन्त तिरस्कृत वाच्य ध्वनि जहत्स्वार्था अथवा लक्षण-लक्षणा रूप या गुणवृत्ति स्वरूप प्रतीत होती है। अतएव वह लक्षणा या गुणवृत्ति से कैसे भिन्न हो सकती है। यह प्रश्नकर्ता का आशय है]।

[उत्तर] यह दोष भी नहीं हो सकता है। क्योंकि अविवक्षित वाच्य ध्वनि गुणवृत्ति लक्षणा के मार्ग का आश्रय भी लेता है किन्तु वह गुणवृत्ति लक्षणा-स्वरूप नहीं है। क्योंकि गुणवृत्ति व्यञ्जकत्व रहित भी हो सकती [लावण्यादि पदों में व्यङ्ग्य प्रयोजन के अभाव में भी गुणवृत्ति या केवल रूढ़िमूलक लक्षणा पाई जाती है। यहां गुणवृत्ति है परन्तु व्यञ्जकत्व नहीं] और व्यञ्जकत्व पूर्वोक्त चारुत्व हेतु व्यङ्ग्य के बिना नहीं रहता [इसलिए गुणवृत्ति और अविवक्षित वाच्य ध्वनि एक नहीं हैं।]

गुणवृत्ति तथा अविवक्षित वाच्य ध्वनि के भेद प्रतिपादन के लिए और भी हेतु देते हैं।

अभेदोपचार रूप गुणवृत्ति तो वाच्य धर्म के आश्रय से [रूढ़ि हेतुक] और व्यङ्ग्यमात्र के आश्रय से [प्रयोजनवती] हो सकती है। जैसे तेजस्वितादि धर्मयुक्त होने से यह लड़का अग्नि है तथा आनन्ददायक होने से इसका मुख चन्द्रमा है, इत्यादि में। और प्रिय जन में पुनरुक्ति नहीं होती, इत्यादि में।

ये तीन उदाहरण अभेदोपचार रूप गुणवृत्ति के दिए हैं। माणवक में अग्नि का, मुख में चन्द्र का अभेदारोप मूलक उपचार व्यवहार होने से यह गौणी के उदाहरण हैं और वाच्य धर्माश्रयेण यह उदाहरण दिए गए हैं। वाच्य धर्माश्रय का अर्थ रूढ़ि हेतुक किया गया है। परन्तु 'अग्निर्माणवकः' में तेजस्वितादि और दूसरे उदाहरण में 'आह्लादकत्वातिशय' रूप प्रयोजन व्यङ्ग्य होने से यह

यापि लक्षणारूपा गुणवृत्तिः साप्युपलक्षणीयार्थसम्बन्धमात्राश्रयेण चारुरूपव्यङ्ग्यप्रतीतिं विनापि सम्भवत्येव, यथा 'मञ्चाः क्रोशन्ति' इत्यादौ विषये।

दोनों तो वाच्यधर्माश्रयेण के स्थान पर व्यङ्ग्यधर्माश्रयेण के उदाहरण होने चाहिए थे। इनको ग्रन्थकार ने वाच्य धर्माश्रयेण के उदाहरण रूप में कैसे प्रस्तुत किया है। यह शङ्का उत्पन्न हो सकती है। इसी लिए लोचनकार ने इसकी विशेष रूप से व्याख्या करके लिखा है कि "वाच्यविषयो यो धर्मो अभिधाव्यापारस्तस्याश्रयेण तदुपबृंहणायेत्यर्थः। श्रुतार्थापत्ताविवार्थान्तरस्याभिधेयार्थोपपादन एव पर्यवसानादिति भावः"। स्वयं मूलकार ने भी उस व्यङ्ग्य प्रयोजन की आशङ्का से ही केवल 'अग्निर्माणवकः' इतना उदाहरण नहीं दिया है अपितु तीक्ष्णत्वादि जो व्यङ्ग्य माना जा सकता है उसकी व्यङ्ग्यता की आशङ्का को मिटाने के लिए ही उस तीक्ष्णत्वादि को भी स्वशब्द से वाच्य रूप में प्रस्तुत करते हुए 'तीक्ष्णत्वादग्निर्माणवकः' यह उदाहरण दिया है। इसमें तीक्ष्णत्व धर्म शब्दतः ही उपात्त है अतः वह व्यङ्ग्य नहीं हो सकता। अतः ये उदाहरण वाच्यधर्माश्रयेण ही के हैं व्यङ्ग्य धर्माश्रयेण के नहीं यह बात मूल से ही स्पष्ट हो जाती है। फिर भी यदि किसी को आग्रह हो तो उसकी दृष्टि से ही मूल में वाच्यधर्माश्रय का तीसरा उदाहरण "प्रिये जने नास्ति पुनरुक्तम्" दिया है। यह उदाहरण पहिले पृष्ठ ८४ पर उदाहृत प्राकृत पद्य का छायाभाग है।

लोचनकार का आशय यह है कि 'पीनो देवदत्तो दिवा न भुङ्क्ते' यह श्रुतार्थापत्ति का उदाहरण है। देवदत्त दिन में नहीं खाता परन्तु स्थूल हो रहा है ऐसा सुनने वाला उसके रात्रिभोजन की कल्पना करता है। यहां रात्रिभोजन वाच्य न होकर अर्थापत्ति से आक्षिप्त होता है परन्तु वह केवल श्रूयमाण पीनत्व का उपपादक मात्र होता है। चारुत्व हेतु नहीं। इसी प्रकार 'अग्निर्माणवकः' अथवा 'चन्द्र एव मुखम्' इत्यादि उदाहरणों में तेजस्वितादि और आह्लादकत्वादि धर्म शब्दतः उपात्त न भी हों तो भी अर्थाक्षिप्त हो कर भी वह अग्नि और माणवक के अभेद रूप वाच्यार्थ के उपपादक मात्र होने से और चारुत्व हेतु न होने से रूढ़ि के ही उदाहरण हैं। इसलिए वाच्यधर्माश्रयेणैव के उदाहरण रूप में ये उदाहरण ठीक ही हैं। यह लोचनकार का अभिप्राय है। इस प्रकार इन तीनों उदाहरणों में अभेदोपचाररूपा गुणवृत्ति का वाच्यधर्माश्रयेण प्रयोग दिखाया। अब लक्षणा रूपा गुणवृत्ति का वाच्यधर्माश्रयेण प्रयोग दिखाते हैं।

और जो लक्षणा रूपा गुणवृत्ति है वह भी लक्ष्यार्थ के साथ सम्बन्ध

यत्र तु सा चारुरूपव्यङ्ग्यहेतुस्तत्रापि व्यञ्जकत्वानुप्रवेशेनैव, वाचकत्ववत्।

असम्भविना चार्थेन यत्र व्यवहारः, 'यथा सुवर्णपुष्पां पृथिवीम्' इत्यादौ, तत्र चारुत्वरूपव्यङ्ग्यप्रतीतिरेव प्रयोजिकेति तथाविधेऽपि विषये गुणवृत्तौ सत्यामपि ध्वनिव्यवहार एव युक्त्यनुरोधी। तस्माद्-

---

मात्र के आश्रय से, चारुत्व रूप व्यङ्ग्य प्रतीति के बिना भी हो सकती है। जैसे 'मञ्चाः क्रोशन्ति' मचान चिल्लाते हैं इत्यादि में।

'मञ्चाः क्रोशन्ति' में मचानरूप अचेतन पदार्थ में चिल्लाने की सामर्थ्य न होने से मञ्च पद उपादान [रूढ़ि] लक्षणा से मञ्चस्थ पुरुषों का बोधक होता है। इस प्रकार ऊपर अभेदोपचाररूपा गुणवृत्ति और 'मञ्चाः क्रोशन्ति' में लक्षणा रूपा गुणवृत्ति, व्यङ्ग्य प्रयोजन आदि के बिना रूढ़ि से ही अन्य अर्थ का बोधन कराती हैं। इसलिए व्यङ्ग्य के अभाव में भी गुणवृत्ति की स्थिति होने से अविवक्षितवाच्य लक्षणा मूल ध्वनि के अर्थान्तरसंक्रमित वाच्य और अत्यन्ततिरस्कृत वाच्य दोनों भेद गुणवृत्ति से अत्यन्त भिन्न हैं—यह सिद्ध किया। अब आगे प्रयोजनवती लक्षणा भी अविवक्षितवाच्य लक्षणा मूल ध्वनि से भिन्न है यह प्रतिपादन करते हैं।

और जहां वह [लक्षणा] चारुत्व रूप व्यङ्ग्य की प्रतीति का हेतु [प्रयोजिका] होती है वहाँ [वह, लक्षणा] भी वाचकत्व के समान व्यञ्जकत्व के अनुप्रवेश से ही [चारुत्वरूप व्यङ्ग्य प्रतीति का हेतु] होती है।

अभिधामूल विवक्षितान्यपरवाच्य ध्वनि में गुणवृत्ति और व्यञ्जकत्व को आप भी अलग मान चुके हैं। 'गतोऽस्तमर्कः' इत्यादि अभिधा स्थल में अभिसरण कालादि व्यङ्ग्य की प्रतीति व्यञ्जनानुप्रवेश से ही होती है। इसी प्रकार लक्षणा मूलक अविवक्षितवाच्य ध्वनि स्थल में भी यदि लक्षणा चारुत्व हेतु होती है तो व्यञ्जना के अनुप्रवेश से ही वह चारुत्व हेतु हो सकती है, स्वतः नहीं। इसलिए वहाँ ध्वनि व्यवहार होता है।

जहां असम्भव अर्थ [आरोपमूलक गुणवृत्ति] से व्यवहार होता है जैसे 'सुवर्णपुष्पां पृथिवीम्' इत्यादि [पृ० ७८ पर उदाहृत] में, वहां चारुत्वरूप-व्यङ्ग्य की प्रतीति ही उस [आरोपमूलक गुणवृत्ति व्यवहार] की हेतु है इसलिए इस प्रकार के उदाहरणों में गुणवृत्ति होने पर भी [अनायास प्रचुर धनोपार्जन रूप चमत्कारी व्यङ्ग्य के कारण ही गुणवृत्ति व्यवहार होने से]

विवक्षितवाच्ये ध्वनौ, द्वयोरपि प्रभेदयोर्व्यञ्जकत्वविशेषाविशिष्टा गुणवृत्तिर्न तु तदेकरूपा सहृदयहृदयाह्लादिनी। [1]प्रतीयमानाप्रतीतिहेतुत्वाद् विषयान्तरे तद्रूपशून्याया[2] दर्शनात्। एतच्च सर्वं प्राक् सूचितमपि स्फुटतरप्रतीतये पुनरुक्तम्।

ध्वनि व्यवहार ही युक्तिसङ्गत है। इसलिए अविवक्षित वाच्य [लक्षणामूल] ध्वनि में [अर्थान्तरसंक्रमित वाच्य और अत्यन्ततिरस्कृत वाच्य] दोनों भेदों में व्यञ्जकत्व विशेष से युक्त गुणवृत्ति सहृदयहृदयाह्लादिनी होती है। तदेकरूपा नहीं [अर्थात् गुणवृत्ति और व्यञ्जकत्व एक नहीं हैं] क्योंकि [गुणवृत्ति] प्रतीयमान, [चारुत्व हेतु रूप व्यङ्ग्य] की प्रतीति का हेतु नहीं है। दूसरे स्थानों पर [अग्निर्माणवकः आदि में] उस [गुणवृत्ति] को उस [व्यञ्जकत्व] से रहित पाते हैं। [अग्निर्माणवकः, अथवा, नास्ति पुनरुक्तम्, आदि उदाहरणों में गुणवृत्ति व्यञ्जकत्व शून्य पाई जाती है। इसलिए 'सुवर्णपुष्पां' आदि में भी व्यञ्जना के द्वारा ही चारुत्व रूप व्यङ्ग्य की प्रतीति होती है। गुणवृत्ति रूप से नहीं। अतः अविवक्षित वाच्य ध्वनि से भी गुणवृत्ति अलग है] यह सब बातें पहले [प्रथम उद्योत में] सूचित [सूक्ष्म रूप से] की जा चुकी है फिर भी अधिक स्पष्ट रूप से प्रतिपादनार्थ यहां फिर कही हैं। [स्वरूप भेद और निमित्तभेद प्रतिपादन के कारण पुनरुक्त नहीं है]।

यहां निर्णयसागरीय संस्करण में प्रतीयमाना के बाद विराम लगा दिया गया है। और शेष वाक्य को अलग रखा है। यह उचित नहीं है। लोचनकार ने 'प्रतीयमानाप्रतीतिहेतुत्वात्' को सम्मिलित मान कर ही 'नहि गुणवृत्तेश्चारुत्वप्रतीतिहेतुत्वमस्तीति दर्शयति' लिखा है।

दीधितिकार ने सहृदयहृदयाह्लादिनी में से न को हटा कर सहृदयहृदयाह्लादि को प्रतीयमान का विशेषण बना कर एक समस्त पद कर दिया है। उनका यह प्रयत्न भी ठीक नहीं है। व्यञ्जकत्व विशेषाविशिष्टा, गुणवृत्ति ही सहृदयहृदयाह्लादिनी हो सकती है स्वयं गुणवृत्ति न सहृदयहृदयाह्लादिनी होती है और न प्रतीयमान की प्रतीति हेतु। यह अभिप्राय है। 'लोचन'

---

१. प्रतीयमाना। नि०, सहृदयहृदयाह्लादिप्रतीयमानाप्रतीतिहेतुत्वात् दी०। २. तद्रूपशून्यायाश्च नि, दी०।

अपि च व्यञ्जकत्वलक्षणो यः शब्दार्थयोधर्मः स प्रसिद्ध-सम्बन्धानुरोधीति न कस्यचिद् विमतिविषयतामर्हति । शब्दार्थयोर्हि प्रसिद्धो यः सम्बन्धो वाच्यवाचकभावाख्यस्तमनुरुन्धान एव व्यञ्जकत्व-लक्षणो व्यापारः सामग्र्यन्तरसम्बन्धादौपाधिकः प्रवर्तते ।

की टीका 'बालप्रिया' में 'यतो गुणवृत्तिः सहृदयहृदयाह्लादिनी प्रतीयमाना च न भवति अतो न तदेकरूपेति सम्बन्धः' लिखा है। यहां 'बालप्रियाकार' ने निर्णय-सागरीय पाठ के अनुसार प्रतीयमाना के आगे विराम मान कर अर्थ किया जान पड़ता है। इसलिए उन्हें लोचन की ऊपर उद्धृत की हुई पंक्ति की सङ्गति लगाने का विशेष प्रयास करना पड़ा है।

इस प्रकार अविवक्षित वाच्य ध्वनि को गुणवृत्ति से पृथक् सिद्ध कर चुकने के उपरान्त दूसरे प्रकार से अभिधा [वाचकत्व व्यापार] से उसका भेद दिखाने के लिए अग्रिम प्रकरण की अवतारणा करते हैं। इसमें वाचकत्व को स्वाभाविक या नियत धर्म और व्यञ्जकत्व को औपाधिक धर्म मान कर दोनों का भेद प्रतिपादन किया है।

और शब्द तथा अर्थ का व्यञ्जकत्व रूप जो धर्म है वह प्रसिद्ध सम्बन्ध [वाचकत्व] का अनुसरण करता है इसमें किसी का मतभेद नहीं होना चाहिए। शब्द और अर्थ का जो वाच्य-वाचक भाव सम्बन्ध प्रसिद्ध है उसका अनुसरण करते हुए ही अन्य सामग्री [प्रकरणादि वैशिष्ट्य रूप] के सम्बन्ध से व्यञ्जकत्व नामक [शब्द] व्यापार औपाधिक रूप से [व्यङ्ग्यार्थ-बोधनार्थ] प्रवृत्त होता है।

'उप स्वसमीपवर्तिनि स्वधर्ममादधातीति उपाधिः।' जो अपने समीपवर्ती, अपने से सम्बद्ध, पदार्थ में अपने धर्म का आधान करता है वह 'उपाधि' कहलाता है। यह उपाधि का लक्षण है। जैसे जवाकुसुम [गुड़हल] एक लाल रङ्ग का फूल है उसको जब दर्पण के पास रख दिया जाय तो उसका आरुण्य दर्पण में प्रतीत होने लगता है। जवाकुसुम ने अपना आरुण्य धर्म समीपवर्ती स्फटिक अथवा दर्पण में आधान कर दिया इसलिए जवाकुसुम 'उपाधि' कहलाता है और दर्पण या स्फटिक में आरुण्य 'औपाधिक' कहलाता है। इसी प्रकार प्रकरणादिवैशिष्ट्य रूप अन्य सामग्री के समवधान से शब्द, अर्थ को 'व्यक्त' करता है इसलिए प्रकरणादि रूप अन्य सामग्री 'उपाधि' हुई और उसके सहकार से शब्द में प्रतीत होने वाला व्यञ्जकत्व धर्म 'औपाधिक' हुआ।

अत एव वाचकत्वात्तस्य विशेषः। वाचकत्वं हि शब्दविशेषस्य नियत आत्मा[1]। व्युत्पत्तिकालादारभ्य तदविनाभावेन तस्य प्रसिद्धत्वात्। स त्वनियतः, औपाधिकत्वात्। प्रकरणाद्यवच्छेदेन तस्य प्रतीतेरितरथा त्वप्रतीतेः।

ननु यद्यनियतस्तत्किं तस्य स्वरूपपरीक्षया। नैष दोषः। यतः शब्दात्मनि तस्यानियतत्वम्, न तु स्वे विषये व्यङ्ग्यलक्षणे।

इसी लिए वाचकत्व से उसका भेद है। वाचकत्व शब्द विशेष का निश्चित स्वरूप [अथवा आत्मा के समान नियत धर्म] है [क्योंकि] संकेतग्रह के समय से लेकर वाचकत्व शब्द से अविनाभूत [सदैव साथ रहने वाला] प्रसिद्ध है। और वह [व्यञ्जकत्व] तो 'औपाधिक' [प्रकरणादि सामग्र्यन्तर समवधान जन्य] होने से [शब्द का] नियत धर्म नहीं है। प्रकरणादि के वैशिष्ट्य से उस [व्यञ्जकत्व] की प्रतीति होती है अन्यथा नहीं। [अतः वह नियत या स्वाभाविक नहीं अपितु 'औपाधिक' धर्म है]।

[प्रश्न] अब यदि वह [व्यञ्जकत्व] नियत धर्म नहीं है [औपाधिक अर्थात् अवास्तविक, कल्पित धर्म है] तो उस के स्वरूप की परीक्षा से ही क्या लाभ है। ['खपुष्प' या 'बन्ध्यापुत्र' की स्वरूप परीक्षा के समान व्यञ्जकत्व के स्वरूप की परीक्षा भी व्यर्थ है यह प्रश्नकर्ता का भाव है]।

[उत्तर] यह दोष नहीं है। क्योंकि शब्दरूप [अंश] में ही उस [व्यञ्जकत्व] का अनिश्चय है परन्तु व्यङ्ग्य रूप अपने विषय में [अनियत] नहीं है।

अर्थात् अभिधा तो वाचक शब्दों में नियत है परन्तु व्यञ्जना किसी शब्द विशेष का नियत धर्म नहीं है प्रकरणादि के वैशिष्ट्य से किसी भी शब्द में व्यञ्जकत्व आ सकता है। इसलिए शब्द स्वरूप में तो व्यञ्जकत्व अनियत है। परन्तु अपने विषय व्यङ्ग्यार्थ के बोधन में व्यञ्जकत्व, और केवल व्यञ्जकत्व का ही उपयोग होने से वह नियत है। अतः उसके स्वरूप की परीक्षा का प्रयास 'खपुष्प' अथवा 'बन्ध्यापुत्र' के स्वरूप परीक्षा के प्रयास के समान व्यर्थ नहीं है। यह उत्तर का आशय है।

---

१. नि० में इसके आगे सम्बन्धी पाठ अधिक है। दी० में आत्मा के बाद बिराम देकर 'सम्बन्धव्युत्पत्तिकालादारभ्य' पाठ रखा है।

औपाधिकत्व रूप से व्यञ्जकत्व का अभिधा से भेद सिद्ध कर अब 'लिङ्गत्व-न्याय' से भी अभिधा से व्यञ्जकत्व का भेद सिद्ध करते हैं। लिङ्गत्व न्याय का अभिप्राय यह है कि न्याय शास्त्र प्रतिपादित अनुमान की प्रक्रिया में धूम आदि को 'लिङ्ग' और वन्हि आदि को 'साध्य' कहा जाता है। 'लिङ्ग' शब्द का अर्थ होता है 'लीनं अर्थं गमयति इति लिङ्गम्।' जो लीन अर्थात् छिपे हुए–प्रत्यक्ष दिखाई न देने वाले अर्थ का बोधक हो उसको 'लिङ्ग' कहते हैं। धूम पर्वत पर स्थित, परन्तु प्रत्यक्ष दिखाई न देने वाली वन्हि का बोध कराता है। धुवां उठता हुआ देख कर दूर से ही यह ज्ञान हो जाता है कि "पर्वतो वन्हिमान् धूमवत्त्वात्।" पर्वत पर अग्नि है क्योंकि पर्वत पर धुवां दिखाई दे रहा है। इस प्रकार धूम लिङ्ग कहलाता है, वन्हि साध्य और पर्वत पक्ष। परन्तु पर्वत का यह 'पक्षत्व' वन्हि का 'साध्यत्व' और धूम का 'लिङ्गत्व' हर समय उस रूप में काम नहीं करते हैं। जिस समय अनुमान करने की इच्छा होती है उसी समय वह इस रूप में उपयोगी होते हैं। घर की रसोई में धुवां भी देखते हैं और वन्हि भी। परन्तु वहां न रसोई पक्ष कहलाती है, न धूम को लिङ्ग कहते हैं, और नाहीं वन्हि साध्य है। क्योंकि वहां वन्हि प्रत्यक्ष प्रमाण से सिद्ध है। उसको अनुमान से सिद्ध करने की इच्छा नहीं है। इसलिए पक्ष, लिङ्ग और साध्य व्यवहार केवल अनुमान की इच्छा 'अनुमित्सा' या सिसाधयिषा के ऊपर निर्भर है। इसी प्रकार शब्द का व्यञ्जकत्व प्रयोक्ता की इच्छा पर निर्भर है। इसलिए व्यञ्जकत्व में लिङ्गत्व का साम्य है। इसके अतिरिक्त धूमादि लिङ्ग व्याप्तिग्रह रूप अन्य सामग्री के सहकार से ही अर्थ के अनुमापक होते हैं। 'व्याप्तिबलेन अर्थगमकं लिङ्गम्' यह भी लिङ्ग का लक्षण है। धूम से वन्हि का बोध कराने में 'यत्र यत्र धूमस्तत्र तत्र वन्हिः' इस व्याप्ति के ग्रहण की आवश्यकता होती है। उसके बिना धूम, वन्हि का अनुमापक नहीं हो सकता है। इसी प्रकार व्यञ्जक शब्द को व्यङ्ग्य अर्थ के बोध कराने के लिए प्रकरणादि वैशिष्ट्य रूप सामग्री की सहायता आवश्यक होती है। यह भी लिङ्गत्व और व्यञ्जकत्व की एक समानता हो सकती है। परन्तु इसको लिङ्गत्व न्याय का प्रवर्तक नहीं मानना चाहिए। क्योंकि नैयायिक अपने लिङ्गत्व को औपाधिक धर्म नहीं मानता है। वह उसे नियत स्वाभाविक सम्बन्ध कहता है। इसीलिए आलोककार ने यहां केवल इच्छाधीनत्व को ही लिङ्गत्व न्याय का प्रवर्तक माना है।

और इस व्यञ्जक भाव का लिङ्गत्व न्याय [लिङ्गत्व साम्य] भी दिखाई देता है। जैसे लिङ्गत्व आश्रयों [धूमादि] में इच्छा [अनुमित्सा]

लिङ्गत्वन्यायश्चास्य व्यञ्जकभावस्य लक्ष्यते। यथा[1] लिङ्गत्वमाश्रयेष्वनियतावभासम्, इच्छाधीनत्वात्, स्वविषयाव्यभिचारि च, तथैवेदं यथा दर्शितं व्यञ्जकत्वम्।

शब्दात्मन्यनियतत्वादेव[2] च तस्य वाचकत्वप्रकारता न शक्या कल्पयितुम्। यदि हि वाचकत्वप्रकारता तस्य भवेत्तच्छब्दात्मनि नियततापि स्याद् वाचकत्ववत्।

के अधीन होने से अनियत रूप [सदा न प्रतीत होने वाला] होता है और अपने विषय [साध्य वन्हि आदि] में अव्यभिचारी [सदा नियत] होता है। इसी प्रकार, जैसे कि ऊपर दिखाया जा चुका है, यह व्यञ्जकत्व [अपने आश्रय शब्दों में इच्छाधीन होने से अनियत और स्वविषये अर्थात् व्यङ्ग्य अर्थ के बोधन में नियत अव्यभिचारी] है।

शब्द स्वरूप में अनियत होने से ही उस [व्यन्जकत्व] को वाच्यत्व का भेद नहीं माना जा सकता है। यदि वह [व्यन्जकत्व] वाचकत्व का भेद [प्रकार ही] होता तो वाचकत्व के समान शब्द स्वरूप में नियत भी होना चाहिए। [परन्तु वह शब्द स्वरूप में नियत नहीं है। प्रकरणादि सहकार से ही व्यन्जकत्व होता है। अतः व्यन्जकत्व वाचकत्व से भिन्न है।]

वाचकत्व से व्यञ्जकत्व का भेद सिद्ध करने के लिए अभी व्यञ्जकत्व को 'औपाधिक' धर्म बतलाया गया है। अर्थात् शब्द और अर्थ का व्यञ्जकत्व रूप 'औपाधिक' सम्बन्ध भी होता है। यह बात मीमांसा दर्शन के "औत्पत्तिकस्तु शब्दस्यार्थेन सम्बन्धः" इत्यादि अ० १, पा० १ सू० ५ के विरुद्ध है। उस सूत्र में शब्द और अर्थ का नित्य सम्बन्ध माना है। 'औत्पत्तिक' का अर्थ नित्य करते हुए सूत्र के भाष्यकार शबरस्वामी ने लिखा है कि "औत्पत्तिक इति नित्यं ब्रूमः। उत्पत्तिर्हि भाव उच्यते लक्षणया। अवियुक्तः शब्दार्थयोः सम्बन्धः। नोत्पन्नयोः पश्चात् सम्बन्धः।" इस शबरस्वामी के भाष्य और मीमांसा सूत्र के साथ व्यञ्जकत्व रूप शब्द अर्थ के औपाधिक सम्बन्ध के विरोध का परिहार करते हुए पौरुषेय तथा अपौरुषेय वाक्यों में भेद मानने वाले मीमांसक

---

१. तथाहि लिङ्गत्वमाश्रयेषु नियतावभासम् नि०, (अ) नियतावभासम् दी०। २. शब्दा- त्मनि नियतत्वादेद नि०, (अ) नियतत्वादेव दी०।

के लिए भी औपाधिक व्यञ्जकत्व की अनिवार्यता प्रतिपादन करने के लिए अगला प्रकरण प्रारम्भ करते हैं।

मीमांसा के सिद्धान्त में वेद 'अपौरुषेय' हैं और उनका स्वतःप्रामाण्य माना जाता है। लौकिक वाक्य पुरुषनिर्मित होने से पौरुषेय हैं, उनका प्रामाण्य वक्ता के प्रामाण्य की अपेक्षा रखने से परतः है। वैदिक वाक्य स्वतः प्रमाण हैं और लौकिक वाक्य परतः प्रमाण हैं। 'ज्ञानग्राहकातिरिक्तानपेक्षत्वं स्वतस्त्वम्।' 'ज्ञानग्राहकातिरिक्तापेक्षत्वं परतस्त्वम्।' अर्थात् जहां ज्ञान की ग्राहक सामग्री से भिन्न सामग्री प्रामाण्य के ग्रहण करने के लिए अपेक्षित हो वहां परतः प्रामाण्य होता है और जहां ज्ञान ग्राहक सामग्री से ही प्रामाण्य का भी ग्रहण ज्ञान के ग्रहण के साथ ही हो जाता है वहां स्वतःप्रामाण्य होता है। लौकिक वाक्य पुरुषनिर्मित होते हैं। पुरुष में भ्रम, प्रमाद, विप्रलिप्सा आदि दोष हो सकते हैं, अतएव पुरुष के दोषों के सम्बन्ध से लौकिक या 'पौरुषेय' वाक्यों में अप्रामाण्य आ जाता है। परन्तु वेद 'अपौरुषेय' हैं, उनमें 'पुन्दोष' के संसर्ग की सम्भावना न होने से वह स्वतः प्रमाण हैं, यह मीमांसकों का सिद्धान्त है।

मीमांसक शब्द और अर्थ का नित्य सम्बन्ध मानते हैं इसलिए उनके यहां शब्द भी नित्य है। परन्तु शब्दों के समूहरूप लौकिक वाक्य पुरुषनिर्मित और अनित्य हैं। जैसे मालाकार पुष्पों का उत्पादक नहीं होता फिर भी उनके क्रमिक सन्निवेश रूप माला का निर्माता होता है, इसी प्रकार पुरुष नित्य शब्दों का उत्पादक न होने पर भी उनके क्रमबद्ध वाक्यस्वरूप का निर्माता होता है, अतः लौकिक वाक्य 'पौरुषेय' अर्थात् पुरुषनिर्मित होते हैं।

इस प्रकार शब्द और अर्थ का नित्य सम्बन्ध होने से उनके मत में वाक्य को कभी निरर्थक अथवा मिथ्यार्थक नहीं होना चाहिए। इसलिए लौकिक वाक्य भी वैदिक वाक्य के समान स्वतःप्रमाण ही होने चाहिएं। फिर भी मीमांसक लौकिक वाक्यों में पुरुषदोष के सम्बन्ध से अप्रामाण्य मानते हैं। इस अप्रामाण्य अथवा पौरुषेय अपौरुषेय वाक्यों के भेद का उपपादन वाच्यार्थ-बोधकता के आधार पर नहीं हो सकता है क्योंकि वाच्यार्थ की बोधकता तो पौरुषेय अपौरुषेय दोनों प्रकार के वाक्यों में समान ही है। किन्तु तात्पर्यबोधकत्व के आधार पर ही उन दोनों वाक्यों का भेद सम्भव है। वाक्यनिर्माता पुरुष की इच्छा ही तात्पर्य है। पुरुष के असर्वज्ञ और भ्रान्ति आदि से युक्त होने के कारण उसके तात्पर्यविषयीभूत अथवा इच्छा के विषयीभूत अर्थ में मिथ्यात्व भी

स च तथाविध औपाधिको धर्मः शब्दानामौत्पत्तिकशब्दार्थसम्बन्धवादिना वाक्यतत्वविदा पौरुषेयापौरुषेययोर्वाक्ययोर्विशेषमभिदधता नियमेनाभ्युपगन्तव्यः। तदनभ्युपगमे हि तस्य शब्दार्थसम्बन्धनित्यत्वे सत्यप्यपौरुषेयपौरुषेययोर्वाक्ययोरर्थप्रतिपादने निर्विशेषत्वं स्यात्। तदभ्युपगमे तु पौरुषेयाणां वाक्यानां पुरुषेच्छानुविधानसमारोपितौपाधिकव्यापारान्तराणां सत्यपि स्वाभिधेयसम्बन्धापरित्यागे मिथ्यार्थतापि भवेत्।

सम्भव हो सकता है। इसलिए पौरुषेय लौकिक वाक्यों में वक्ता के भ्रम, प्रमाद, विप्रलिप्सा आदि दोष युक्त होने से मिथ्यार्थकता हो सकती है। वैदिक वाक्य किसी पुरुष [यहां पुरुष शब्द से ईश्वर का ग्रहण होता है] के निर्मित नहीं हैं। अतएव उनमें मिथ्यार्थकता सम्भव नहीं है। यही पौरुषेय-अपौरुषेय वाक्यों का अन्तर है।

इस प्रकार 'पौरुषेय' वाक्यों का तात्पर्यार्थ उन्हें 'अपौरुषेय' वाक्यों से भिन्न करता है। यह तात्पर्यार्थ अभिधा से प्रतीत नहीं हो सकता क्योंकि वह संकेतित अर्थ नहीं है। और न लक्षणा से प्रतीत हो सकता है क्योंकि वहां लक्षणा की मुख्यार्थबाध आदि रूप सामग्री नहीं है। अतएव इस तात्पर्यार्थ का बोध अभिधा और लक्षणा से भिन्न व्यञ्जना वृत्ति से ही हो सकता है। इसलिए मीमांसक के न चाहने पर भी उसे व्यञ्जना वृत्ति स्वीकार करनी ही होगी। इसलिए शब्द में तात्पर्य रूप 'औपाधिक' धर्म उसे भी स्वीकार करना होगा। उस औपाधिक धर्म के सम्बन्ध से पदार्थ के स्वभाव में परिवर्तन देखा जाता है। इस युक्तिक्रम से ग्रन्थकार मीमांसकों के लिए औपाधिक धर्म व्यञ्जकत्व की अनिवार्यता इस प्रकरण में सिद्ध करते हैं।

और इस प्रकार का वह [व्यञ्जकत्व रूप] औपाधिक धर्म शब्द और अर्थ के नित्य सम्बन्ध को मानने वाले और पौरुषेय तथा अपौरुषेय वाक्यों में भेद मानने वाले वाक्य के तत्त्व को जानने वाले [और वाक्य में शक्ति मानने वाले मीमांसक] को अवश्य माना पड़ेगा। उसके स्वीकार किए बिना शब्द और अर्थ का नित्य सम्बन्ध होने पर भी पौरुषेय तथा अपौरुषेय वाक्यों के अर्थबोधन में समानता होगी। [भेद का उपपादन नहीं हो सकेगा] और उस [व्यञ्जकत्व रूप औपाधिक धर्म] के स्वीकार कर लेने पर पौरुषेय वाक्यों में अपने वाच्यवाचकभाव [रूप नित्य] सम्बन्ध का परित्याग किए बिना भी पुरुष

दृश्यते हि भावानामपरित्यक्तस्वभावानामपि सामग्र्यन्तरसम्पातसम्पदितौपाधिकव्यापारान्तराणां विरुद्धक्रियत्वम् । तथा हि हिममयूखप्रभृतीनां निर्वापितसकलजीवलोकं शीतलत्वमुद्वहतामेव प्रियाविरहदहनदह्यमानमानसैर्जनैरालोक्यमानानां सतां सन्तापकारित्वं प्रसिद्धमेव । तस्मात् पौरुषेयाणां वाक्यानां सत्यपि नैसर्गिकेऽर्थसम्बन्धे मिथ्यार्थत्वं समर्थयितुमिच्छता वाचकत्वव्यतिरिक्तं किञ्चिद्रूपमौपाधिकं व्यक्तमेवाभिधानीयम् । तच्च व्यञ्जकत्वादृते नान्यत् । व्यङ्ग्यत्वप्रकाशनं हि व्यञ्जकत्वम् । पौरुषेयाणि च वाक्यानि प्राधान्येन पुरुषाभिप्रायमेव प्रकाशयन्ति । स च व्यङ्ग्य एव न त्वभिधेयः । तेन सहाभिधानस्य वाच्यवाचकभावलक्षणसम्बन्धाभावात् ।

नन्वनेन न्यायेन सर्वेषामेव लौकिकानां वाक्यानां ध्वनिव्यवहारः प्रसक्तः । सर्वेषामप्यनेन न्यायेन व्यञ्जकत्वात् ।

की इच्छा [तात्पर्य] के अनुसरण करने वाले दूसरे औपाधिक [व्यञ्जकत्व रूप] व्यापार युक्त वाक्यों की मिथ्यार्थकता भी हो सकती है ।

अपने स्वभाव का परित्याग किए बिना भी अन्य कारण सामग्री के संयोग से औपाधिक अन्य व्यापारों को प्राप्त करने वाले पदार्थों में विपरीत क्रियाकारित्व देखा जाता है । जैसे समस्त संसार को शान्ति प्रदान करने वाले शीतल स्वभाव से युक्त होने पर भी, प्रिया के विरहानल से सन्तप्त चित्त वाले पुरुषों के दर्शनगोचर चन्द्रमा आदि [शीतल] पदार्थों का सन्तापकारित्व प्रसिद्ध ही है । इसलिए [शब्द और अर्थ का] स्वाभाविक [नित्य] सम्बन्ध होने पर भी पौरुषेय वाक्यों की मिथ्यार्थकता का समर्थन करने की इच्छा रखने वाले [मीमांसक] को वाचकत्व से अतिरिक्त [वाक्यों में] कुछ औपाधिक रूप अवश्य ही मानना पड़ेगा । और वह [औपाधिक रूप] व्यञ्जकत्व के सिवाय और कुछ नहीं [हो सकता] है । व्यङ्ग्य अर्थ का प्रकाशन करना ही व्यञ्जकत्व है । पौरुषेय वाक्य मुख्य रूप से [वक्ता] पुरुष के अभिप्राय को ही [व्यङ्ग्य रूप से] प्रकाशित करते हैं । और वह [पुरुषाभिप्राय] व्यङ्ग्य ही होता है, वाच्य नहीं । [क्योंकि] उस [पुरुषाभिप्राय] के साथ वाचक वाक्य का वाच्य वाचकभाव सम्बन्ध [संकेतग्रह] नहीं होता है । [इसलिए मीमांसक को वक्ता के अभिप्राय रूप औपाधिक अर्थ के बोध के लिए वाक्य में व्यञ्जकत्व अवश्य मानना होगा ।]

[प्रश्न] इस प्रकार तो सभी लौकिक वाक्यों का [पुरुषाभिप्राय रूप

सत्यमेतत्, किन्तु वक्त्रभिप्रायप्रकाशनेन [1]यद्व्यञ्जकत्वं तत्सर्वेषामेव लौकिकानां वाक्यानामविशिष्टं, तत्तु[2] वाचकत्वान्न भिद्यते। व्यङ्ग्यं हि तत्र नान्तरीयकतया व्यवस्थितम् । न तु विवक्षितत्वेन। [3]यस्य तु विवक्षितत्वेन व्यङ्ग्यस्य स्थितिस्तद्व्यञ्जकत्वं ध्वनिव्यवहारस्य प्रयोजकम् ।

यत्त्वभिप्रायविशेषरूपं व्यङ्ग्यं शब्दार्थाभ्यां [4]प्रकाशते तद्भवति विवक्षितं तात्पर्येण प्रकाश्यमानं सत्[5] । किन्तु तदेव केवलमपरिमितविषयस्य ध्वनिव्यवहारस्य न प्रयोजकमव्यापकत्वात्[6] । तथा[7] दर्शितभेदत्रयरूपं तात्पर्येण द्योत्यमानमभिप्रायरूपमनभिप्रायरूपं च सर्वमेव ध्वनिव्यवहारस्य प्रयोजकमिति यथोक्तव्यञ्जकत्वविशेषे[8] ध्वनिलक्षणे नातिव्याप्तिर्न चाव्याप्तिः ।

व्यङ्ग्य के सम्बन्ध के कारण] ध्वनि व्यवहार हो जायगा [सभी लौकिक वाक्य ध्वनि कहलाने लगेंगे ।]

[उत्तर] यह ठीक है। वक्ता के अभिप्राय के प्रकाशन से जो व्यञ्जकत्व आता है वह तो सब लौकिक वाक्यों में समान है। किन्तु वह वाचकत्व से भिन्न नहीं है। क्योंकि उनमें व्यङ्ग्य, वाच्य के अविनाभूत रूप में स्थित है, विवक्षित रूप में नहीं। [व्यङ्ग्य के विवक्षित न होने से उसमें ध्वनि व्यवहार नहीं किया जाता है] और जिस व्यङ्ग्य की स्थिति तो [प्रधान रूप से] विवक्षित रूप में है वही व्यञ्जकत्व ध्वनि व्यवहार का प्रयोजक होता है। [अतः सब लौकिक वाक्य ध्वनि नहीं है]।

जो अभिप्राय विशेष रूप व्यङ्ग्य शब्द और अर्थ से प्रकाशित होता है वह तात्पर्य रूप [प्रधान रूप] से प्रकाशन हो तो विवक्षित [व्यङ्ग्य] कहलाता है। किन्तु केवल वह ही, अपरिमित [स्थलों पर होने वाले] ध्वनि व्यवहार का कारण नहीं है [ध्वनि व्यवहार की अपेक्षा] अव्यापक होने से। जैसे कि ऊपर

---

१. यदि व्यंजकत्वं नि०, यदिदं व्यंजकत्वं दी० । २. ननु नि० । ३. यस्य तु यह पाठ नि० में नहीं है। न तु विवक्षितत्वेन व्यङ्ग्यस्य व्यवस्थितिः। तद् व्यंजकत्वं ध्वनिव्यवहारस्य प्रयोजकम् ऐसा पाठ रखा है नि० । ४. शब्दार्थाभ्यामेव दी०। ५. यत् नि० । ६. न प्रयोजकम् व्यापकत्वात् दी०, नि० में प्रयोजकम् के बाद विराम है। ७. तत्तु दी० । ८. यथोक्तव्यंजकत्वविशेषध्वनिलक्षणे नि०, दी० ।

तस्माद्वाक्यतत्त्वविदां मतेन [1]तावद् व्यञ्जकत्वलक्षणः शाब्दो व्यापारो न [2]विरोधी प्रत्युतानुगुण एव लक्ष्यते ।

दिखाए हुए भेदत्रय [रसादि, वस्तु, अलङ्कार] रूप, तात्पर्य से द्योत्यमान अभिप्राय रूप [रसादि] और अनभिप्राय रूप [वस्तु तथा अलङ्कार रूप] सभी ध्वनि व्यवहार के प्रयोजक हैं । अतएव [यत्रार्थः शब्दो वा तमर्थमुपसर्जनीकृतस्वार्थौ व्यङ्क्तः काव्यविशेषः स ध्वनिरिति सूरिभिः कथितः । १,१३ । इत्यादि कारिका में] पूर्वोक्त व्यञ्जकत्व विशेष रूप ध्वनि लक्षण मानने में न अतिव्याप्ति होती है और न अव्याप्ति ।

इसका अभिप्राय यह हुआ कि सभी लौकिक वाक्य वक्ता के अभिप्राय के व्यञ्जक होने से ध्वनि कहलाने लगेंगे यह जो अतिव्याप्ति अभी दिखाई थी, और उसी के आधार पर अभिप्राय रूप जो नहीं है ऐसे वस्तु या अलङ्कार के व्यञ्जक में ध्वनि व्यवहार नहीं हो सकेगा यह अव्याप्ति बनती है । यह दोनों दोष तब तो हो सकते हैं जब सामान्यतः अभिप्रायव्यञ्जकत्व को ध्वनि का लक्षण मानें । परन्तु अभिप्रायव्यञ्जकत्व सामान्य को ध्वनि लक्षण न मान कर अभिप्राय विशेष रूप और कहीं वस्तु आदि रूप चमत्कारी व्यङ्ग्य के प्राधान्य में ध्वनि व्यवहार माना गया है अतएव उक्त कारिका में कहे ध्वनि लक्षण में न अतिव्याप्ति है और न अव्याप्ति ।

इसलिए वाक्यतत्त्वज्ञों [मीमांसकों] के मत में व्यञ्जकत्व रूप [वाचकत्व तथा गुणवृत्ति से भिन्न] शाब्द व्यापार का मानना विरोधी नहीं अपितु अनुकूल ही प्रतीत होता है ।

इस प्रकरण के प्रारम्भ में मीमांसक, वैयाकरण और नैयायिक आदि की ओर से एक सामान्य व्यञ्जकत्व विरोधी पूर्वपक्ष उठाया गया था । अब उसका खण्डन कर उपसंहार करते हैं । उस उपसंहार में मीमांसक मत में व्यञ्जकत्व व्यापार विरोधी नहीं अपितु अनुकूल जान पड़ता है—यह कहा । आगे वैयाकरण सिद्धान्त के साथ ध्वनि व्यवहार का अविरोध इस प्रकार दिखाते हैं कि हम आलङ्कारिकों ने तो ध्वनि शब्द ही वैयाकरणों से लिया है अतएव उनके सिद्धान्त के साथ हमारे ध्वनि सिद्धान्त के विरोध-अविरोध की चर्चा करना ही व्यर्थ है ।

---

१. मते न नि०, दी० । २. (न) नि० ।

परिनिश्चितनिरपभ्रंशशब्दब्रह्मणां विपश्चितां मतमाश्रित्यैव प्रवृत्तोऽयं ध्वनिव्यवहार इति तैः[1] सह किं विरोधाविरोधौ चिन्त्येते ।

कृत्रिमशब्दार्थसम्बन्धवादिनां तु युक्तिविदामनुभवसिद्ध एवायं व्यञ्जकभावः शब्दानामर्थान्तराणामिवाविरोधश्चेति न प्रतिक्षेप्यपदवीमवतरति ।

वाचकत्वे हि तार्किकाणां विप्रतिपत्तयः प्रवर्तन्ताम्, किमिदं स्वाभाविकं शब्दानामाहोस्वित् सामयिकमित्याद्याः । व्यञ्जकत्वे तु तत्पृष्ठभाविनि [2]भावान्तरसाधारणे लोकप्रसिद्ध एवानुगम्यमाने को विमतीनामवसरः ।

अलौकिके ह्यर्थे तार्किकाणां विमतयो निखिलाः[3] प्रवर्तन्ते न तु लौकिके । न हि नीलमधुरादिष्वशेषलोकेन्द्रियगोचरे बाधारहिते

['निरपभ्रंशं गलितभेदप्रपञ्चतया अविद्यासंस्काररहितम्' इति लोचनकारः] अविद्यासंस्काररहित शब्दब्रह्म का निश्चय करने वाले [वैयाकरण] विद्वानों के मत का आश्रय लेकर ही [हमारे शास्त्र में] यह ध्वनि व्यवहार प्रचलित हुआ है इसलिए उनके साथ विरोध-अविरोध की चिन्ता की आवश्यकता ही क्या है । [अर्थात् उनके साथ विरोध हो ही नहीं सकता है । अतः उसके परिहार की चिन्ता भी व्यर्थ है ।]

शब्द और अर्थ का कृत्रिम [अनित्य] सम्बन्ध [संकेतकृत वाच्य-वाचकत्व रूप] मानने वाले प्रमाणविदों [नैयायिकों] के मत में तो [दीपक आदि] अन्य अर्थों के [व्यञ्जकत्व के] समान शब्दों का व्यञ्जकत्व अनुभव सिद्ध और निर्विरोध [ही] है, अतः [नैयायिक मत में व्यञ्जकता] निराकरण [खण्डन] करने योग्य नहीं है ।

तार्किकों [नैयायिकों] को वाचकत्व के विषय में, क्या शब्दों का वाचकत्व स्वाभाविक है अथवा संकेतकृत इत्यादि प्रकार की विप्रतिपत्तियां भले ही हों परन्तु उस [वाचकत्व] के बाद आने वाले, और [दीपक आदि] अन्य पदार्थों के समान लोकप्रसिद्ध अनुभूयमान व्यञ्जकत्व के विषय में तो मतभेद का अवसर ही कहां है ।

---

१. यैः वा० प्रि० । २. भावान्तरासाधारणे नि० । ३. विमतयो नखिला के स्थान पर नि०, दी० में अभिनिवेशाः पाठ है ।

तत्त्वे परस्परं विप्रतिपन्ना दृश्यन्ते। न हि बाधारहितं नीलं नीलमिति ब्रुवन्नपरेण प्रतिषिध्यते नैतन्नीलं पीतमेतदिति। तथैव व्यञ्जकत्वं वाचकानां शब्दानामवाचकानां च गीतध्वनीनामशब्दरूपाणां च चेष्टादीनां यत्सर्वेषामनुभवसिद्धमेव[1] तत्केनापन्हूयते[2]।

अशब्दमर्थं रमणीयं हि सूचयन्तो व्याहारास्तथा व्यापारा निबद्धाश्चानिबद्धाश्च[3] विदग्धपरिषत्सु विविधा विभाव्यन्ते। [4]तानु-पहस्यमानतामात्मनः परिहरन् कोऽतिसन्दधीत[5] सचेताः।

[6]ब्रूयात्! अस्त्यतिसन्धानावसरः। व्यञ्जकत्वं शब्दानां गमकत्वं तच्च लिङ्गत्वम्, अतश्च व्यङ्ग्यप्रतीतिर्लिङ्गिप्रतीतिरेवेति लिङ्गलिङ्गिभाव

तार्किकों [नैयायिकों] को [आत्मा आदि] अलौकिक [लोक प्रत्यक्ष के अगोचर] अर्थों के विषय में सारी विप्रतिपत्तियां होती हैं लौकिक [प्रत्य-क्षादिसिद्ध] अर्थ के विषय में नहीं। नील मधुर आदि [में से निर्धारणे सप्तमी] सर्वलोक प्रत्यक्ष और अबाधित पदार्थ के विषय में परस्पर मतभेद नहीं दिखाई देता है। बाधा रहित नील को नील कहने वाले किसी को [दूसरा] निषेध नहीं करता है कि यह नील नहीं है, यह पीत है। इसी प्रकार वाचक शब्दों का, अवाचक शब्दरूप गीत आदि ध्वनियों का और [अशब्दरूप] चेष्टा आदि [तीनों] का व्यञ्जकत्व जो सबके अनुभवसिद्ध ही है उसका अपलाप कौन कर सकता है? विद्वानों की गोष्ठियों में शब्द से अनभिधेय [अभिधा द्वारा शब्द से कथित न किए जा सकने वाले] सुन्दर [चमत्कारजनक] अर्थ को अभिव्यक्त करने वाले अनेक प्रकार के वचन और व्यापार [शब्द रूप में] निबद्ध अथवा अनिबद्ध पाए जाते हैं। अपने आपको उपहास्यता से बचाने वाला कौन बुद्धिमान् उनको स्वीकार नहीं करेगा?

[पूर्व पक्ष] कोई कह सकता है कि [व्यञ्जकत्व को] अस्वीकार करने का अवसर है। शब्दों के [अन्यार्थ] बोधकत्व [गमकत्व] का नाम ही व्यञ्जकत्व है। और वह [गमकत्व] लिङ्गत्व [रूप] है। इसलिए व्यङ्ग्य की प्रतीति लिङ्गी की प्रतीति ही है। अतएव लिङ्ग-लिङ्गिभाव ही उन शब्दों

---

१. एव पद नि में नहीं है। २. तत्केनाभिश्रूयते [पन्हूपते ?] ऐसा पाठ नि० में है। ३. तथा व्यापारनिबन्धाश्च नि०, दी०। ४. नानु नि०। ५. कोऽभिसन्दधीत नि०, दी०। ६. (ब्रूयात्) अस्त्यभिसन्धानावसरे नि०,दी०।

एव तेषां, व्यङ्ग्यव्यञ्जकभावो नापरः कश्चित्। अतश्चैतदवश्यमेव बोद्धव्यं यस्माद्वक्त्रभिप्रायापेक्षया व्यञ्जकत्वमिदानीमेव त्वया प्रतिपादितम्। वक्त्रभिप्रायश्चानुमेयरूप एव।

[1]अत्रोच्यते, नन्वेवमपि यदि नाम स्यात् तत्किन्नश्छिन्नम्। वाचकत्वगुणवृत्तिव्यतिरिक्तो व्यञ्जकत्वलक्षणः शब्दव्यापारोऽस्तीत्यस्माभिरभ्युपगतम्। तस्य चैवमपि न काचित् क्षतिः। तद्धि व्यञ्जकत्वं लिङ्गत्वमस्तु अन्यद्वा। सर्वथा प्रसिद्धशाब्दप्रकारविलक्षणत्वं शब्दव्यापारविषयत्वं च तस्यास्तीति नास्त्येवावयोर्विवादः।

का व्यङ्ग्य-व्यञ्जक भाव है और [लिङ्ग-लिङ्गिभाव से] अलग कुछ नहीं है। और इसलिए भी ऐसा अवश्य मानना चाहिए कि वक्ता के अभिप्राय की दृष्टि से व्यञ्जकत्व का प्रतिपादन [अर्थात् व्यञ्जक और व्यङ्ग्य का लिङ्ग-लिङ्गिभाव] तुमने [व्यञ्जकत्ववादी ने] अभी [मीमांसक के खण्डन के प्रसङ्ग में] किया है और वक्ता का अभिप्राय अनुमेय रूप ही होता है। [अतएव जिसे व्यञ्जकत्ववादी व्यञ्जना व्यापार का विषय मानना चाहता है वह अनुमान का विषय है। अतः व्यञ्जना अनुमिति के अन्तर्गत है यह पूर्वपक्ष का अभिप्राय है।]

[उत्तर पक्ष] इसका उत्तर यह है कि यदि [थोड़ी देर के लिए प्रौढ़िवाद से] ऐसा भी मान लें तो हमारी क्या हानि है। हमने तो यह स्वीकार किया है कि वाचकत्व और गुणवृत्ति से अतिरिक्त व्यञ्जकत्व रूप [अलग तीसरा] शब्द व्यापार है। उस [सिद्धान्त] की ऐसा [व्यङ्ग्य-व्यञ्जक भाव को लिङ्गलिङ्गिभाव रूप] मानने पर भी कोई हानि नहीं [होती]। वह व्यञ्जकत्व [चाहे] लिङ्गत्व रूप हो अथवा अन्य कुछ, प्रत्येक दशा में प्रसिद्ध [अभिधा तथा गुणवृत्ति रूप] शब्द व्यापार से भिन्न, और शब्द व्यापार का विषय वह [व्यञ्जकत्व] रहता ही है, इसलिए हमारा तुम्हारा कोई झगड़ा नहीं है।

यह 'प्रौढ़िवाद' से उत्तर हुआ। अपनी प्रौढ़ता या पाण्डित्य को प्रकट करने के लिए किसी अनभिमत बात को कुछ समय के लिए स्वीकार कर लेना 'प्रौढ़िवाद' कहलाता है। यहां व्यङ्ग्य-व्यञ्जक भाव का लिङ्ग लिङ्गी रूप होना

---

१. अत्रोच्यते पाठ नि० में नहीं है।

न पुनरयं परमार्थो यद् व्यञ्जकत्वं लिङ्गत्वमेव सर्वत्र, व्यङ्ग्य-प्रतीतिश्च लिङ्गिप्रतीतिरेवेति ।

यदपि स्वपक्षसिद्धयेऽस्मदुक्तमनूदितं, त्वया वक्त्रभिप्रायस्य व्यङ्ग्यत्वेनाभ्युपगमात् तत्प्रकाशने शब्दानां लिङ्गत्वमेवेति तदेतद्यथास्माभिरभिहितं तद्विभज्य प्रतिपाद्यते, श्रूयताम् ।

द्विविधो विषयः शब्दानाम् । अनुमेयः प्रतिपाद्यश्च । तत्रानुमेयो विवक्षालक्षणः । विवक्षा च शब्दस्वरूपप्रकाशनेच्छा शब्देनार्थप्रकाशनेच्छा चेति द्विप्रकारा । तत्राद्या न शाब्दव्यवहाराङ्गम् । सा हि प्राणित्वमात्रप्रतिपत्तिफला । द्वितीया तु शब्दविशेषावधारणावसितव्यवहितापि [1]शब्दकरणव्यवहारनिबन्धनम् । ते तु द्वे अप्यनुमेयो विषयः शब्दानाम् ।

सिद्धान्त पक्ष को वास्तव में इष्ट नहीं है । फिर भी प्रौढ़ता प्रदर्शन के लिए थोड़ी देर के लिए मान लिया है । अतः यह उत्तर 'प्रौढ़िवाद' का उत्तर है । वास्तव उत्तर आगे देते हैं ।

वास्तव में तो यह बात ठीक नहीं है कि व्यञ्जकत्व सब जगह लिङ्गत्व रूप और व्यङ्ग्य की प्रतीति सर्वत्र [अनुमिति] लिङ्गिप्रतीति रूप ही हो ।

और अपने पक्ष की सिद्धि करने के लिए जो हमारे कथन का अनुवाद किया है कि तुमने [व्यञ्जकत्ववादी ने] वक्ता के अभिप्राय को व्यङ्ग्य माना है और उस [वक्ता के अभिप्राय] के प्रकाशन में शब्दों का लिङ्गत्व ही है । सो इस विषय में जो हमने कहा है उसको अलग-अलग खोल कर कहते हैं [अच्छी तरह] सुनो ।

शब्दों का विषय दो प्रकार का होता है, एक अनुमेय और [दूसरा] प्रतिपाद्य । उनमें से [अर्थ की कहने की इच्छा] विवक्षा अनुमेय है । विवक्षा भी शब्द के [आनुपूर्वी] स्वरूप के प्रकाशन की इच्छा, और शब्द से अर्थ प्रकाशन की इच्छा रूप दो प्रकार की होती है । उनमें से पहिली [शब्द के स्वरूप प्रकाशन की इच्छा] शाब्द व्यवहार [शब्द बोध] का अङ्ग [उपकारिणी] नहीं है । केवल प्राणित्व मात्र की प्रतीति ही उसका फल है । [शब्द का स्वरूपमात्र अर्थात् अर्थहीन व्यक्त या अव्यक्त ध्वनि कोई प्राणी कर सकता है, अचेतन नहीं । इसलिए शब्द के स्वरूप मात्र प्रकाशन से

---

१. शब्दकारणव्यवहारनिबन्धनम् नि०, दी० ।

प्रतिपाद्यस्तु प्रयोक्तुरर्थप्रतिपादनसमीहाविषयीकृतोऽर्थः । स च द्विविधो, वाच्यो व्यङ्ग्यश्च । प्रयोक्ता हि कदाचित् स्वशब्देनार्थं प्रकाशयितुं समीहते, कदाचित् स्वशब्दानभिधेयत्वेन प्रयोजनापेक्षया कयाचित् । स तु द्विविधोऽपि प्रतिपाद्यो विषयः शब्दानां न लिङ्गितया स्वरूपेण प्रकाशते, अपितु कृत्रिमेणाकृत्रिमेण वा सम्बन्धान्तरेण । विवक्षाविषयत्वं हि तस्यार्थस्य शब्दैर्लिङ्गितया[1] प्रतीयते न तु स्वरूपम् ।

प्राणी का ज्ञान तो अवश्य हो सकता है परन्तु उससे किसी प्रकार के अर्थ का ज्ञान न हो सकने से वह शब्द बोध या शब्द व्यवहार में अनुपयोगी है] दूसरी [अर्थ प्रकाशनेच्छा रूप] शब्द विशेष [वाचकादि] के अवधारण से व्यवहित होने पर भी शब्दकारणक व्यवहार अर्थात् शब्द बोध व्यवहार का अङ्ग होती है । ये दोनों [शब्द सम्बन्धी इच्छाएं] शब्दों का अनुमेय विषय हैं । [विशेष प्रकार के शब्द को सुन कर शब्द स्वरूप प्रकाशन की इच्छा अथवा शब्द द्वारा अर्थ प्रकाशन की इच्छा का अनुमान होता है । इसलिए यह दोनों इच्छाएं शब्दों का अनुमेय विषय हैं ।]

[शब्द] प्रयोक्ता की अर्थ प्रतिपादन की इच्छा का विषयीभूत अर्थ [शब्द का] प्रतिपाद्य विषय होता है । और वह वाच्य तथा व्यङ्ग्य दो प्रकार का है । प्रयोक्ता कभी अपने [वाचक] शब्द से अर्थ को प्रकाशित करना चाहता है और कभी किसी प्रयोजन विशेष [गोपनकृत सौन्दर्यातिशय लाभादि के बोधन] की दृष्टि से स्व शब्द [वाचक शब्द] से अनभिधेय रूप से । [इनमें से पहिला स्वशब्दाभिधेय अर्थ वाच्य और दूसरा स्वशब्दानभिधेय अर्थ व्यङ्ग्य अर्थ होता है] शब्दों का यह दोनों प्रकार का प्रतिपाद्य [विषय अनुमेय रूप से स्वरूपतः प्रकाशित नहीं होता अपितु [नैयायिक मत में संकेतादि रूप] कृत्रिम [अनित्य] अथवा [मीमांसक मत में नित्य शब्दार्थ सम्बन्ध] अकृत्रिम [अभिधा व्यञ्जना रूप] अन्य सम्बन्ध से [प्रकाशित होता है] । [वक्ता के शब्दों को सुन कर, लिङ्ग रूप उन] शब्दों से उस अर्थ का विवक्षा विषयत्व [वक्ता अमुक अर्थ कहना चाहता है यह बात] तो अनुमेय रूप में प्रतीत हो सकता है परन्तु [अर्थ का] स्वरूप [अनुमेय रूप से] नहीं [प्रतीत होता] ।

---

१. लिङ्गतया नि० दी० ।

यदि हि लिङ्गितया तत्र शब्दानां व्यापारः[1] स्यात् तच्छब्दार्थे सम्यङ् मिथ्यात्वादिविवादा एव न प्रवर्त्तेरन्, धूमादिलिङ्गानुमितानुमेयान्तरवत्।

यहाँ अनुमान का स्वरूप यह होगा—'अयमर्थो अस्य विवक्षाविषयः एतदुच्चरितशब्दबोध्यत्वात्।' इस अनुमान से विवक्षाविषयता ही साध्य है, अर्थ का स्वरूप नहीं। अर्थ का स्वरूप तो 'पक्ष' रूप होने से 'साध्य' नहीं हो सकता। अतएव अनुमान से विवक्षाविषयत्व ही की सिद्धि होने से वही उसका विषय हो सकता है। और अर्थ का स्वरूप 'पक्ष' होने से अनुमिति विषय नहीं हो सकता है। 'पक्ष' का लक्षण 'सन्दिग्ध साध्यवान् पक्षः' है—जिसमें साध्य की सिद्धि की जाय उसको 'पक्ष' कहते हैं। यहाँ 'अयमर्थः' में 'विवक्षाविषयः' विवक्षाविषयत्व सिद्ध किया जा रहा है। अतः अर्थ का स्वरूप यहां पक्ष है, अनुमेय नहीं।

यदि उस [अर्थ] के विषय में लिङ्गी रूप से शब्द का व्यापार हो [अर्थात् शब्द से अनुमान द्वारा अर्थ की सिद्धि हो] तो धूम आदि लिङ्गों से अनुमित दूसरे [वह्नि आदि] अनुमेयों के समान शब्द के अर्थ के विषय में भी यह ठीक है अथवा मिथ्या इस प्रकार के विवाद न उठें।

'नानुपलब्धे न निर्णीतेऽर्थे न्यायः प्रवर्तते किन्तर्हि संशयितेऽर्थे'—इस न्याय सिद्धांत के अनुसार सन्देह होने पर ही अनुमान की प्रवृत्ति होती है और अर्थ के अव्यभिचारी व्याप्तियुक्त हेतु से साध्य की सिद्धि की जाती है। अतएव शुद्ध हेतु से अनुमान द्वारा जो अर्थ की सिद्धि होती है वह प्रायः यथार्थ ही होती है, उसमें न सन्देह का अवसर होता है और न मिथ्यात्व की सम्भावना। इसी प्रकार यदि शब्द से उत्पन्न होने वाला ज्ञान अनुमिति रूप हो तो उस अर्थ के विषय में भी सम्यक्त्व अथवा मिथ्यात्व के विषय में विवाद नहीं हों।

वैशेषिक दर्शन में शब्द का अन्तर्भाव अनुमान में किया गया है और उसका हेतु 'समानविधित्व' दिया गया है। 'शब्दादीनामप्यनुमानेऽन्तर्भावः समानविधित्वात्।' अर्थात् जिस प्रकार अनुमान में पहिले १ व्याप्तिग्रह, २ लिङ्गदर्शन, ३ व्याप्तिस्मृति, और उसके बाद ४ अनुमिति होती है, ठीक इसी प्रकार शब्द में पहिले १ संकेतग्रह, २ पदज्ञान, ३ पदार्थस्मृति के बाद ४ शब्द बोध होता है। इस प्रकार दोनों की विधि समान होने से शब्द अनुमान ही है यह वैशेषिक का

---

१. व्यवहारः नि०, दी०।

व्यङ्ग्यश्चार्थो वाच्यसामर्थ्याक्षिप्ततया वाच्यवच्छब्दस्य सम्बन्धी भवत्येव। साक्षादसाक्षाद्भावो हि सम्बन्धस्याप्रयोजकः। वाच्यवाचक-भावाश्रयत्वं च व्यञ्जकत्वस्य प्रागेव दर्शितम्। तस्माद्वक्त्रभिप्रायरूप एव[1] व्यङ्ग्ये लिङ्गतया शब्दानां व्यापारः। तद्विषयीकृते तु प्रतिपाद्यतया। प्रतीयमाने तस्मिन्नभिप्रायरूपेऽनभिप्रायरूपे[2] च वाचकत्वेनैव व्यापारः सम्बन्धान्तरेण वा। न तावद्वाचकत्वेन यथोक्तं प्राक्। सम्बन्धान्तरेण व्यञ्जकत्वमेव।

मत है। न्याय आदि में इसका खण्डन अन्य प्रकार से किया गया है। परन्तु यहां आलोककार ने जो युक्ति दी है वह उनसे बिल्कुल भिन्न नई युक्ति है।

[यहां व्यङ्ग्य अर्थ के शब्द द्वारा बोध होने के विषय में यह शङ्का हो सकती है कि व्यङ्ग्य अर्थ शब्द से कोई साक्षात् सम्बन्ध नहीं है इसलिए शब्द से उसकी प्रतीति नहीं हो सकती है। इस शङ्का को मन में रख कर अगली पंक्ति लिखी गई है] और व्यङ्ग्य अर्थ वाच्य अर्थ की सामर्थ्य से आक्षिप्त होने से वाच्य के समान शब्द का सम्बन्धी होता ही है। साक्षाद्भाव अथवा असाक्षाद्भाव सम्बन्ध का प्रयोजक नहीं है। [अर्थात् साक्षात् सम्बन्ध भी हो सकता है और असाक्षात् परम्परा से भी सम्बन्ध हो सकता है। इसी लिए न्याय दर्शन में प्रत्यक्ष ज्ञान में अपेक्षित इन्द्रिय तथा अर्थ का छः प्रकार का सम्बन्ध माना गया है। उन छः सम्बन्धों में संयोग और समवाय सम्बन्ध तो साक्षात् सम्बन्ध होते हैं और शेष संयुक्त समवाय, संयुक्त समवेत समवाय, समवेत समवाय और विशेष्य-विशेषण भाव आदि परम्परा सम्बन्ध माने गए हैं।] व्यञ्जकत्व का वाच्यवाचकभाव पर आश्रितत्व पहिले ही [पृष्ठ पर] दिखा चुके हैं। इसलिए वक्ता के अभिप्राय रूप व्यङ्ग्य के विषय में ही शब्दों का लिङ्ग रूप से व्यापार होता है और उसके विषयभूत [अर्थ के] विषय में तो प्रतिपाद्य रूप से [शब्द व्यापार होता है] यहां वक्ता के अभिप्राय को व्यङ्ग्य कहा है सो केवल स्थूल रूप से चल रहे व्यङ्ग्य शब्द की दृष्टि से कह दिया है। वास्तव में तो परेच्छारूप अभिप्राय के केवल अनुमानसाध्य होने से अभिप्राय अनुमेय ही होता है [व्यङ्ग्य नहीं] उस प्रतीयमान [व्यङ्ग्य] अनभिप्राय रूप [वस्तु] और अभिप्राय रूप [जैसे, 'उमामुखे बिम्ब-

---

१. एव पाठ नि०, दी० में नहीं है। २. अनभिप्रायरूपे पाठ नि० में नहीं है।

न च व्यञ्जकत्वं लिङ्गत्वरूपमेव, आलोकादिष्वन्यथा दृष्टत्वात्। तस्मात् प्रतिपाद्यो विषयः शब्दानां न लिङ्गत्वेन सम्बन्धी वाच्यवत्। यो हि लिङ्गित्वेन[1] तेषां[2] सन्बन्धी यथा दर्शितो विषयः, स न वाच्यत्वेन प्रतीयते, अपितूपाधित्वेन[3]। प्रतिपाद्यस्य च विषयस्य लिङ्गित्वे तद्-विषयाणां विप्रतिपत्तीनां लौकिकैरेव क्रियमाणानामभावः प्रसज्येतेति। एतच्चोक्तमेव।

फलाधरोष्ठे व्यापारयामास विलोचनानि' इत्यादि में चुम्बनाभिप्राय रूप] में या तो वाचकत्व से ही व्यापार हो सकता है अथवा अन्य [व्यञ्जकत्व] सम्बन्ध से। [अभिप्राय को अभी ऊपर की पंक्ति में अनुमेय कहा है, और यहां उसको व्यङ्ग्य कह रहे हैं, इससे 'वदतोव्याघात' की शङ्का नहीं करनी चाहिए। जहां अभिप्राय को अनुमेय कहा है वहां वक्ता के अभिप्राय से मतलब है। वक्ता का अभिप्राय अनुमेय ही है। और जहां उसको व्यङ्ग्य कहा है वहां 'उमामुखे' जैसे उदाहरणों में शिव के अभिप्राय आदि का ग्रहण है। इस वाक्य में शिव का चुम्बनाभिलाष व्यङ्ग्य ही है। वाच्य या अनुमेय नहीं। इस प्रकार विषय-भेद से विरोध का परिहार हो जाता है] उनमें वाचकत्व से तो बनता नहीं जैसा कि पहिले कह चुके हैं [क्योंकि व्यङ्ग्य अर्थ के साथ संकेतग्रह नहीं है] और सम्बन्धान्तर [मानने] से व्यञ्जकत्व ही होता है।

[दीपक के] आलोक आदि में अन्यथा [अर्थात् लिङ्गत्व के अभाव में भी घटादि का व्यञ्जकत्व] देखे जाने से, व्यञ्जकत्व [सदा] लिङ्गत्व रूप ही नहीं होता है। [प्रकाश घटादि का अभिव्यञ्जक तो होता है, परन्तु वह घटादि का अनुमिति हेतु न होने से लिङ्ग नहीं होता। इसलिए व्यञ्जक का लिङ्ग ही होना आवश्यक नहीं है] इस लिए प्रतिपाद्य [व्यङ्ग्य] विषय वाच्य की तरह ही लिङ्गित्वेन शब्द से सम्बद्ध नहीं है। [अर्थात् जैसे वाच्य अर्थ शब्द से अनुमेय नहीं है इसी प्रकार व्यङ्ग्य अर्थ भी शब्द से अनुमेय नहीं है] और जो लिङ्गी रूप से उन [शब्दों] का सम्बन्धी [शब्दों से अनुमेय] है जैसा कि [ऊपर] दिखाया हुआ [वक्ता का अभिप्राय या विवक्षा रूप] विषय, वह वाच्य रूप से प्रतीत नहीं होता है, अपितु औपाधिक [वाच्यादि अर्थ में विशेषणीभूत] रूप से प्रतीत होता है। प्रतिपाद्य विषय

---

१. लिङ्गत्वेन नि०, दी०। २. तेषां पाठ नि०, से नहीं है। ३. औ-पाधिकत्व नि०, दी०।

को लिङ्गी [अनुमेय] मानने पर उसके विषय में लौकिक पुरुषों द्वारा ही की जाने वाली विप्रतिपत्तियों का अभाव प्राप्त होगा। यह कह ही चुके हैं। [पृष्ठ ३८० पर कह चुके हैं कि अनुमेय अर्थ निश्चित ही होता है, उसमें सम्यक् मिथ्यात्व आदि विप्रतिपत्तियों का अवसर नहीं है।]

ज्ञान के प्रामाण्य के विषय में दो प्रकार के दार्शनिक मत हैं। एक मीमांसक का 'स्वतः प्रामाण्यवाद' और दूसरा नैयायिक का 'परतः प्रामाण्यवाद'। 'स्वतः प्रामाण्य' का अर्थ है 'ज्ञानग्राहकातिरिक्तानपेक्षत्वं स्वतस्त्वम्'। अर्थात् ज्ञानग्राहक और प्रामाण्यग्राहक सामग्री यदि एक ही हो तो स्वतः प्रामाण्य होता है। मीमांसक मत में ज्ञान और प्रामाण्य दोनों का ग्रहण 'ज्ञाततान्यथानुपपत्तिप्रसूता अर्थापत्ति' से होता है इसलिए स्वतः प्रामाण्य है। 'ज्ञातताऽन्यथानुपपत्ति' का आशय यह है कि पहिले 'अयं घटः' यह ज्ञान होता है। इस ज्ञान से घट में ज्ञातता नाम का एक धर्म उत्पन्न होता है। इस धर्म को मींमांसक 'ज्ञातता' धर्म कहता है। यह 'ज्ञातता' धर्म 'अयं घटः' इस ज्ञान से पहिले नहीं था, 'अयं घटः' इस ज्ञान के बाद घट में उत्पन्न हुआ है। इस लिए वह ज्ञानजन्य ही होता है। अर्थात् उसका कारण ज्ञान ही होता है। 'ज्ञातता' धर्म की प्रतीति बाद में होने वाले 'ज्ञातो मया घटः' इत्यादि रूप में होती है। इस 'ज्ञातो मया घटः' में घट में रहने वाली ज्ञातता प्रतीत होती है। यह 'ज्ञातता' अपने कारण ज्ञान के बिना घट में नहीं आ सकती थी। इसलिए अन्यथा अर्थात् अपने कारण रूप ज्ञान के अभाव में अनुपपन्न होकर अपने उपपादक अर्थ ज्ञान की कल्पना कराती है। इसीको 'ज्ञातता अन्यथानुपपत्तिप्रसूता अर्थापत्ति' कहते हैं। इस प्रकार 'ज्ञाततान्यथानुपपत्तिप्रसूता अर्थापत्ति' से ज्ञान का और उसके साथ ही ज्ञान में रहने वाले 'प्रामाण्य' दोनों का ग्रहण एक ही सामग्री से हो जाने और 'ज्ञानग्राहकातिरिक्तानपेक्षत्व रूप' स्वतस्त्व बन जाने से ज्ञान को 'स्वतः प्रमाण' ही मानना चाहिए, यह मीमांसक का मत है।

नैयायिक इस स्वतः प्रामाण्यवाद की आधारभूत 'ज्ञातता' को ही नहीं मानता है। उसका कहना है कि यदि 'ज्ञातो मया घटः' इस प्रतीति के बल पर घट में आप एक 'ज्ञातता' धर्म मानते हैं तो फिर 'दृष्टो मया घटः' के आधार पर 'दृष्टता' धर्म, 'कृतो मया घटः' के आधार पर 'कृतता' धर्म, 'इष्टो घटः' के आधार पर 'इष्टता' आदि धर्म भी मानने चाहियें। इस प्रकार नए-नए धर्मों की कल्पना की जाय तो बड़ा गौरव होगा, इस लिए 'ज्ञातता' नाम का कोई धर्म नहीं है। मीमांसक यदि यह कहे कि विषय नियम के उपपादन के लिए ज्ञातता का मानना

आवश्यक है तो उसका उत्तर यह है कि विषय नियम का उपपादन ज्ञातता के आधार पर नहीं होता है अपितु घट और ज्ञान का 'विषय-विषयि-भाव' स्वाभाविक है।

विषय नियम के उपपादन में ज्ञातता का उपयोग मीमांसक इस प्रकार मानता है कि 'अयं घटः' इस ज्ञान का विषय घट ही होता है पट नहीं होता। इसका क्या कारण है ? नैयायिक यदि यह कहे कि 'अयं घटः' यह ज्ञान 'घट' से पैदा होता है इसलिए इस ज्ञान का विषय घट ही होता है पट नहीं, तो यह ठीक नहीं होगा, क्योंकि 'अयं घटः' ज्ञान जैसे घट से पैदा होता है इसी प्रकार आलोक और चक्षु भी तो उसकी उत्पत्ति के कारण होते हैं। तब फिर घट के ही समान आलोक तथा चक्षु को भी 'अयं घटः' इस ज्ञान का विषय मानना चाहिए। इसलिए नैयायिक के पास विषय नियम के उपपादन का कोई मार्ग नहीं है। हम मीमांसकों के मत में ज्ञातता ही इस विषय नियम का उपपादन करती है। 'अयं घटः' इस ज्ञान से उत्पन्न होने वाली ज्ञातता घट में ही रहती है, इसलिए 'अयं घटः' इस ज्ञान का विषय घट ही होता है पट नहीं। इस प्रकार विषय नियम का उपपादन करने के लिए 'ज्ञातता' का मानना आवश्यक है। उसी 'ज्ञातता' के द्वारा उसके कारणभूत ज्ञान का, और ज्ञानगत धर्म 'प्रामाण्य' का एक साथ ही ग्रहण होने से ज्ञान का स्वतःप्रामाण्य मानना ही उचित है। यह मीमांसक मत है।

इस पर नैयायिक का कहना है कि 'ज्ञातता' के आधार पर विषय नियम मानने में दो दोष आ जावेंगे। एक तो 'अतीतानगतयोर्विषयत्वं न स्यात्' और दूसरा 'अनवस्था च स्यात्'। इसका अभिप्राय यह है कि मीमांसक के कहने के अनुसार घटादि पदार्थ ज्ञान का विषय इसलिए होते हैं कि उनमें ज्ञातता धर्म रहता है। धर्म उसी पदार्थ में रह सकता है जो विद्यमान हो। यदि धर्मी पदार्थ ही विद्यमान न हो तो 'ज्ञातता' धर्म कहां रहेगा ? परन्तु अतीत इतिहास आदि के पढ़ने से चाणक्य, चन्द्रगुप्त आदि अतीत व्यक्तियों का और ज्योतिष आदि से भावी सूर्यग्रहण आदि का ज्ञान हमको होता है। अर्थात् वह अतीत और अनागत पदार्थ हमारे ज्ञान के विषय होते हैं। यह अतीत और अनागत पदार्थ विद्यमान नहीं हैं इसलिए उनमें ज्ञातता धर्म नहीं रह सकता है। यदि ज्ञातता धर्म के रहने से ही विषय माना जाय तो फिर अतीत और अनागत पदार्थ विषय नहीं हो सकेंगे। यह एक दोष होगा।

दूसरा दोष अनवस्था है। उसका आशय यह है कि ज्ञातता का भी हमको ज्ञान होता है तो ज्ञातता उस ज्ञान का विषय होती है। इसलिए ज्ञातता में ज्ञातता माननी होगी। और वह दूसरी ज्ञातता भी ज्ञान का विषय होती है इसलिए उसमें तीसरी, इसी प्रकार चौथी आदि अनन्त ज्ञातताएं माननी होंगी और इस प्रकार अनवस्था होगी। इसलिए इन दो महा दोषों के कारण ज्ञातता के आधार पर विषय नियम मानना उचित नहीं है। अपितु घट और ज्ञान का विषय-विषयिभाव स्वाभाविक है। अतः ज्ञातता के मानने की कोई आवश्यकता नहीं। यह ज्ञातता ही मीमांसक के स्वतः प्रामाण्यवाद का मूल आधार थी। जब उसका ही खण्डन हो गया तब 'छिन्ने मूले नैव पत्रं न शाखा' न्याय के अनुसार स्वतः प्रामाण्यवाद का स्वयं ही खण्डन हो जाता है। इस प्रकार मीमांसक के स्वतः प्रामाण्यवाद का खण्डन कर नैयायिक अपने परतःप्रामाण्यवाद को निम्न प्रकार स्थापित करता है।

परतः प्रामाण्य का लक्षण 'ज्ञानग्राहकातिरिक्तापेक्षत्वं परतस्त्वम्' है। अर्थात् ज्ञान ग्राहक और प्रामाण्य ग्राहक सामग्री एक न होकर अलग-अलग होने पर परतः प्रामाण्य होता है। नैयायिक मत में ज्ञान ग्राहक सामग्री तो 'अनुव्यवसाय' है और प्रामाण्य ग्राहक सामग्री 'प्रवृत्तिसाफल्यमूलक अनुमान' है। ज्ञान विषयक ज्ञान को 'अनुव्यवसाय' कहते हैं। 'अयं घटः' ज्ञान के बाद 'घटमहं जानामि' यह ज्ञान होता है। 'अयं घटः' इस प्रथम ज्ञान का विषय घट होता है और उसके बाद 'घटज्ञानवान् अहम्' या 'घटमहं जानामि' आदि द्वितीय ज्ञान का विषय 'घटज्ञान' होता है। इस ज्ञान-विषयक द्वितीय ज्ञान को नैयायिक 'अनुव्यवसाय' कहता है। इसकी उत्पत्ति, प्रथम 'अयं घटः' इस ज्ञान से ही होती है। मीमांसक की 'ज्ञातता' भी 'अयं घट' इस ज्ञान से ही उत्पन्न होती है और नैयायिक का 'अनुव्यवसाय' भी उसी से उत्पन्न होता है। परन्तु उन दोनों में भेद यह है कि मीमांसक की 'ज्ञातता' घट में रहने वाला धर्म है, और नैयायिक का 'अनुव्यवसाय' आत्मा में रहने वाला धर्म है।

नैयायिक के मत में ज्ञान का ग्रहण तो इस 'अनुव्यवसाय' से होता है। और उसके प्रामाण्य का ग्रहण पीछे 'प्रवृत्तिसाफल्यमूलक अनुमान' से होता है। प्रवृत्तिसाफल्यमूलक अनुमान, का अभिप्राय यह है कि पहिले मनुष्य को जल आदि किसी पदार्थ का ज्ञान होता है। उसके बाद वह उसके ग्रहण आदि के लिए प्रवृत्त होता है। इस प्रवृत्ति के होने पर यदि उसकी प्रवृत्ति सफल होती है तो वह अपने ज्ञान को प्रमाण समझता है। और मरुमरीचिका आदि में प्रवृत्ति के

यथा च वाच्यविषये प्रमाणान्तरानुगमेन सम्यक्त्वप्रतीतौ क्वचित् क्रियमाणायां तस्य प्रमाणान्तरविषयत्वे सत्यपि न शब्द-व्यापारविषयताहानिस्तद्वद् व्यङ्ग्यस्यापि ।

बाद जल की उपलब्धि न होने से प्रवृत्ति विफल होने पर अप्रामाण्य का ग्रहण होता है । इस प्रकार प्रवृत्तिसाफल्यमूलक अनुमान से प्रामाण्य और प्रवृत्ति वैफल्य मूलक अनुमान से अप्रामाण्य का ग्रहण होता है । अतः ज्ञान और प्रामाण्य की ग्राहक सामग्री अलग-अलग होने से प्रामाण्य और अप्रामाण्य दोनों परतः हैं । मीमांसक प्रामाण्य को स्वतः और अप्रामाण्य को परतः मानता है । नैयायिक का कहना है कि यह 'अर्धजरतीय'–'आधी तीतर आधी बटेर' वाला न्याय ठीक नहीं है । अतः या तो प्रामाण्य और अप्रामाण्य दोनों को स्वतः मानो या फिर दोनों को परतः ही मानो । और इन दोनों पक्षों में से दोनों को परतः मानना ही ठीक है ।

इस प्रकार प्रामाण्य और अप्रामाण्य के निर्णय में मीमांसक जिस अर्थापत्ति को प्रमाण कहता है वह भी नैयायिक के मत में अनुमान ही मानी जाती है । इसलिए दोनों के ग्रहण में अनुमान का सम्बन्ध आता है । अतः प्रामाण्य और अप्रामाण्य सत्यत्व और असत्यत्व के अनुमान साध्य होने से व्यङ्ग्य अर्थ के सत्यत्व असत्यत्व ग्रहण के लिए भी अनुमान की आवश्यकता होगी ही । अतः व्यङ्ग्य अर्थ भी अनुमान का विषय होता ही है । फिर सिद्धान्त पक्ष की ओर से उस व्यङ्ग्य अर्थ की अनुमानविषयता का जो खण्डन किया गया है वह उचित नहीं है । इस शङ्का को मन में रख कर अगला प्रकरण आरम्भ करते हैं ।

जैसे वाच्य [अर्थ] के विषय में अन्य [अर्थापत्ति, अथवा अनुमान आदि] प्रमाणों के सम्बन्ध से प्रामाण्य का ग्रहण होने पर कहीं उस [वाच्य अर्थ] के प्रमाणान्तर [अर्थापत्ति अनुमान आदि] का विषय होने पर भी शब्द व्यापार के विषयत्व की हानि नहीं होती है [उसे शब्द व्यापार शाब्दबोध का विषय माना ही जाता है] । इसी प्रकार व्यङ्ग्यार्थ में भी [प्रामाण्य और अप्रामाण्य के निश्चय में अर्थापत्ति अथवा अनुमान आदि प्रमाणों का उपयोग होने पर भी उसे व्यञ्जना रूप शब्द व्यापार का विषय मानने में कोई हानि नहीं है] समझना चाहिए ।

[अन्य लौकिक तथा वैदिक वाक्यों के अनुष्ठान आदि परक होने से उनमें प्रामाण्य या अप्रामाण्य ज्ञान का उपयोग है परन्तु काव्य वाक्यों का उपयोग तो केवल चामत्कारिक प्रतीति कराना ही है । उस में

काव्यविषये च व्यङ्ग्यप्रतीतीनां सत्यासत्यनिरूपणस्याप्रयोजकत्वमेवेति तत्र प्रमाणान्तरव्यापारपरीक्षोपहासायैव सम्पद्यते। तस्माल्लिङ्गिप्रतीतिरेव सर्वत्र व्यङ्ग्यप्रतीतिरिति न शक्यते वक्तुम्।

[1]यत्त्वनुमेयरूपव्यङ्ग्यविषयं शब्दानां व्यञ्जकत्वं, तद् ध्वनिव्यवहारस्याप्रयोजकम्। अपि तु व्यञ्जकत्वलक्षणः शब्दानां व्यापार औत्पत्तिकशब्दार्थसम्बन्धवादिनाप्यभ्युपगन्तव्य इति प्रदर्शनार्थमुपन्यस्तम्। तद्धि व्यञ्जकत्वं कदाचिल्लिङ्गत्वेन कदाचिद्रूपान्तरेण शब्दानां वाचकानामवाचकानां च सर्ववादिभिरप्रतिक्षेप्यमित्ययमस्माभिर्यत्न आरब्धः।

प्रामाण्य—अप्रामाण्य के ज्ञान का कोई उपयोग नहीं है इसलिए वहां इस दृष्टि से अनुमान का प्रवेश मानने की भी आवश्यकता नहीं है] काव्य के विषय में व्यङ्ग्य प्रतीति के सत्यत्व और असत्यत्व के निरूपण का अप्रयोजकत्व होने से उनमें प्रमाणान्तर के व्यापार का विचार [यह केवल शुष्क तर्कवादी है रसिक नहीं इस प्रकार] उपहासजनक ही होगा। इसलिए सर्वत्र अनुमिति [लिङ्गि-प्रतीति] ही व्यङ्ग्य प्रतीति होती है यह नहीं कहा जा सकता है।

और जो अनुमेय रूप व्यङ्ग्य [वक्ता का अभिप्राय आदि] के विषय में शब्दों का व्यञ्जकत्व है वह ध्वनि व्यवहार का प्रयोजक नहीं है। अपितु शब्द अर्थ का नित्य सम्बन्ध मानने वाले [मीमांसक] को भी [वक्ता के अभिप्रायादि में] शब्दों का [वाचकत्व से भिन्न] व्यञ्जकत्व रूप व्यापार स्वीकार करना ही होगा इस बात के दिखलाने के लिए ही [वास्तव में अनुमेय परन्तु अभिधादि विलक्षण व्यापार के कारण व्यङ्ग्य रूप से निर्दिष्ट वक्ता के अभिप्राय के विषय में शब्दों का व्यञ्जकत्व व्यापार] यह [मीमांसक के मत के प्रसङ्ग में] दिखाया था। वह व्यञ्जकत्व कहीं अनुमान रूप से [वक्ता के अभिप्राय रूप व्यङ्ग्य के बोधन में] और कहीं अन्य रूप से [घटादि की अभिव्यक्ति में दीपादि की प्रत्यक्ष रूप से व्यञ्जकता, अवाचक गीत-ध्वनि आदि की रसादि के विषय में स्वरूपप्रत्यक्षेण व्यञ्जकता, विवक्षितान्यपर वाच्य ध्वनि में अभिधा सहकार से व्यञ्जकता, अविवक्षित वाच्य ध्वनि में गुणवृत्ति के सहयोग से व्यञ्जकता इत्यादि किसी रूप में]

---

१. यत्वनुमेयरूपं नि०, दी०।

तदेवं गुणवृत्तिवाचकत्वादिभ्यः शब्दप्रकारेभ्यो नियमेनैव तावद्विलक्षणं व्यञ्जकत्वम्। तदन्तःपातित्वेऽपि तस्य 'हठादभिधीयमाने तद्विशेषस्य ध्वनेर्यत्प्रकाशनं विप्रतिपत्तिनिरासाय सहृदयव्युत्पत्तये वा तत्क्रियमाणमनतिसन्धेयमेव[2]। नहि सामान्यमात्रलक्षणेनोपयोगिविशेषलक्षणानां प्रतिक्षेपः शक्यः कर्तुम्। एवं हि सति सत्तामात्रलक्षणे कृते सकलसद्वस्तुलक्षणानां पौनरुक्त्यप्रसङ्गः ॥३३॥

तदेवम्—

विमतिविषयो य आसीन्मनीषिणां सततमविदितसतत्वः।
ध्वनिसंज्ञितः प्रकारः काव्यस्य व्यञ्जितः सोऽयम् ॥३४॥

वाचक-अवाचक [सभी प्रकार के] शब्दों का, सभी वादियों को स्वीकार करना ही पड़ेगा इसीलिए हमने यह यत्न प्रारम्भ किया है।

इस प्रकार गुणवृत्ति और वाचकत्व आदि शब्द प्रकारों से व्यञ्जकत्व अवश्य ही भिन्न है। हठपूर्वक उस [व्यञ्जकत्व] को उस [अभिधा अथवा गुणवृत्ति] के अन्तर्गत मानने पर भी, उसके विशेष प्रकार ध्वनि का विप्रतिपत्तियों के निराकरण करने के लिए अथवा सहृदयों की व्युत्पत्ति [परिज्ञान] के लिए जो प्रकाशन [ग्रन्थकार के द्वारा] किया जा रहा है उसको अस्वीकार नहीं किया जा सकता है। [किसी पदार्थ के] सामान्य लक्षण मात्र से [उसके अवान्तर] उपयोगी विशेष लक्षणों का निषेध नहीं हो जाता है। यदि ऐसा [निषेध] हो तब तो [वैशेषिक मत में द्रव्य गुण कर्म इन तीनों में रहने वाली जाति] सामान्य मात्र का लक्षण कर देने पर [उसके अन्तर्गत पृथिव्यादि नौ द्रव्य, रूप-रस आदि २४ गुण, और उत्क्षेपणादि पञ्चविध कर्म आदि] सब सद् वस्तुओं के लक्षण ही व्यर्थ [पुनरुक्त] हो जावेंगे। [इसलिए लक्षणा और गुणवृत्ति से भिन्न व्यङ्ग्य प्रधान ध्वनि के बोध के लिए व्यञ्जना को अलग वृत्ति मानना ही होगा] ॥३३॥

इस प्रकार,

ध्वनि नाम का जो काव्य भेद [तार्किक आदि] विद्वानों की विमति [मतभेद] का विषय [अतएव अब तक] निरन्तर अविदित सदृश रहा उसको हमने इस प्रकार प्रकाशित किया ॥३४॥

---

१. न ग्रहादमिधीयमानस्येतद्विशेष्यस्य नि०, दी०। २. अनभिसन्धेयमेव दी०।

प्रकारोऽन्यो गुणीभूतव्यङ्ग्यः काव्यस्य दृश्यते ।
यत्र व्यङ्ग्यान्वये वाच्यचारुत्वं स्यात् प्रकर्षवत् ॥३५॥

व्यङ्ग्योऽर्थो ललनालावण्यप्रख्यो यः प्रतिपादितस्तस्य प्राधान्ये ध्वनिरित्युक्तम् । तस्य[1] तु गुणीभावेन वाच्यचारुत्वप्रकर्षे गुणीभूतव्यङ्ग्यो नाम काव्यप्रभेदः प्रकल्प्यते । तत्र वस्तुमात्रस्य व्यङ्ग्यस्य तिरस्कृतवाच्येभ्यः[2] प्रतीयमानस्य कदाचिद्वाच्यरूपवाक्यार्थापेक्षया गुणीभावे सति गुणीभूतव्यङ्ग्यता ।

गुणीभूत व्यङ्ग्य का निरूपण—

इस प्रकार ध्वनि नामक प्रधान काव्यभेद का सविस्तर और सप्रभेद निरूपण करके अब गुणीभूत व्यङ्ग्य रूप दूसरे काव्य भेद का निरूपण प्रारम्भ करते हैं। जहां व्यङ्ग्य अर्थ से वाच्य अर्थ अधिक चमत्कारी हो जावे उसे गुणीभूत व्यङ्ग्य कहते हैं। गुणीभूत व्यङ्ग्य के आठ भेद माने गए हैं। १. इतराङ्ग व्यङ्ग्य, २. काकु से आक्षिप्त व्यङ्ग्य, ३. वाच्य सिद्धि का अङ्गभूत व्यङ्ग्य, ४. सन्दिग्धप्राधान्यव्यङ्ग्य, ५. तुल्यप्राधान्यव्यङ्ग्य, ६. अस्फुट व्यङ्ग्य, ५. अगूढ़ व्यङ्ग्य और ८. असुन्दर व्यङ्ग्य, इन्हीं का निरूपण आगे करेंगे।

जहां व्यङ्ग्य के सम्बन्ध होने पर वाच्य का चारुत्व अधिक प्रकर्ष युक्त हो जाता है वह गुणीभूत व्यङ्ग्य नाम का काव्य का दूसरा भेद होता है।

[प्रतीयमानं पुनरन्यदेव, वस्त्वस्ति वाणीषु महाकवीनाम् । यत्तत् प्रसिद्धावयवातिरिक्तं विभाति लावण्यमिवाङ्गनासु ॥ १,४ इत्यादि कारिका में] ललनाओं के लावण्य के समान जिस व्यङ्ग्य अर्थ का प्रतिपादन किया है उसका प्राधान्य होने पर ध्वनि [काव्य] होता है यह कह चुके हैं। उस [व्यङ्ग्य] के गुणीभाव हो जाने से वाच्य [अर्थ] के चारुत्व की वृद्धि हो जाने पर गुणीभूत व्यङ्ग्य नाम का काव्य भेद माना जाता है । उनमें [अविवक्षित वाच्य, लक्षणा मूल ध्वनि के अत्यन्त तिरस्कृत वाच्य प्रभेद में] तिरस्कृत वाच्य [वाले] शब्दों से प्रतीयमान वस्तु मात्र व्यङ्ग्य के कभी वाच्य रूप वाक्यार्थ की अपेक्षा गुणीभाव [अप्राधान्य] होने पर गुणीभूत व्यङ्ग्य [काव्य] होता है। जैसे :—

---

१. तस्यैव नि०, दी० । २. शब्देभ्यः पाठ नि०, दी० में अधिक है।

यथा :—

लावण्यसिन्धुरपरैव हि केयमत्र यत्रोत्पलानि शशिना सह सम्प्लवन्ते।
उन्मज्जति द्विरदकुम्भतटी च यत्र यत्रापरे कदलिकाण्डमृणालदण्डाः॥

अतिरस्कृतवाच्येभ्योऽपि शब्देभ्यः प्रतीयमानस्य व्यङ्ग्यस्य कदाचिद्वाच्यप्राधान्येन [1]काव्यचारुत्वापेक्षया गुणीभावे सति गुणीभूत-व्यङ्ग्यता। यथोदाहृतं, 'अनुरागवती सन्ध्या' इत्येवमादि।

[नदी के किनारे स्नानार्थ आई हुई किसी तरुणी को देख कर किसी रसिक जन की यह उक्ति है। इसमें युवती को स्वयं नदी रूप में वर्णन किया है।] यहां [नदी तट पर] यह नई कौन सी लावण्य की नदी आगई है जिसमें चन्द्रमा के साथ कमल तैरते हैं, जिसमें हाथी की गण्डस्थली उभर रही है, और जहां कुछ और ही प्रकार के कदली काण्ड तथा मृणाल दण्ड दिखाई देते हैं।

यहां सिन्धु शब्द से परिपूर्णता, उत्पल शब्द से कटाक्षच्छटा, शशि शब्द से मुख, द्विरदकुम्भतटी शब्द से स्तनयुगल, कदलीकाण्ड शब्द से ऊरुयुगल और मृणाल दण्ड शब्द से भुजा रूप अर्थ अभिव्यक्त होता है। इन सब शब्दों का मुख्यार्थ यहां सर्वथा अनुपपन्न होने से 'निश्वासान्ध इवादर्शश्चन्द्रमा न प्रकाशते' इत्यादि उदाहरण के समान उनका अत्यन्त तिरस्कार हो जाने से, वह व्यङ्ग्य अर्थ का प्रकाशन करते हैं। इसलिए अत्यन्त तिरस्कृत वाच्य वस्तुध्वनि है। परन्तु उसका 'लावण्यसिन्धुरपरैव हि केयमत्र' से वाच्य, अंश की शोभावृद्धि में ही उपयोग होता है अतएव वह वाच्यसिद्ध्यङ्गरूप गुणीभूत व्यङ्ग्य है।

कभी अतिरस्कृत वाच्य शब्दों से प्रतीयमान व्यङ्ग्य का काव्य के चारुत्व की अपेक्षा से वाच्य का प्राधान्य होने से गुणीभाव हो जाने पर गुणीभूत व्यङ्ग्यता हो जाती है जैसे, अनुरागवती सन्ध्या इत्यादि उदाहरण [पृष्ठ ६० पर] दे चुके हैं।

यहां अनुरागवती सन्ध्या आदि श्लोक में अतिरस्कृत वाच्य, सन्ध्या दिवस शब्द से व्यङ्ग्य नायक-नायिका व्यवहार की प्रतीति के वाच्य के ही चमत्कार का हेतु होने से इतराङ्ग व्यङ्ग्य नामक गुणीभूत व्यङ्ग्य है।

---

१. काव्य पद नि०, दी० में नहीं है।

तस्यैव स्वयमुक्त्या प्रकाशीकृतत्वेन गुणीभावो[1] यथोदाहृतम्, 'संकेतकालमनसम्' इत्यादि। रसादिरूपव्यङ्ग्यस्य गुणीभावो रसवदलङ्कारे[2] दर्शितः। तत्र च तेषामाधिकारिकवाक्यापेक्षया गुणीभावो [3]विवहनप्रवृत्तभृत्यानुयायिराजवत्।

व्यङ्ग्यालङ्कारस्य गुणीभावे दीपकादिविषयः ॥३५॥

उसी [व्यङ्ग्य वस्तु] के स्वयं [अपने वचन द्वारा] प्रकाशित कर देने से [वाच्यसिद्ध्यङ्ग व्यङ्ग्य] गुणीभाव होता है। जैसे 'संकेत कालमनसं' इत्यादि उदाहरण [पृ० १८३ पर] दिया जा चुका है।

रसादि रूप व्यङ्ग्य का गुणीभाव रसवत् अलङ्कार [के प्रसङ्ग] में दिखा चुके हैं। वहां [रसवदलङ्कार में] उन [रसादि] का आधिकारिक [मुख्य] वाक्य की अपेक्षा से विवाह में प्रवृत्त [वर रूप] भृत्य के अनुयायी राजा के समान् गुणीभाव होता है।

इसका अभिप्राय यह है कि यद्यपि व्यङ्ग्य होने से रस ही सर्व प्रधान होता है। 'परन्तु जैसे राजा यदि कभी अपने किसी कृपापात्र सेवक के विवाह में सम्मिलित हो तो वहां वर रूप होने से सेवक का प्राधान्य होगा और राजा उसका अनुयायी होने से गौण ही होगा। इसी प्रकार रसवदलङ्कार आदि की स्थिति में रस के प्रधान होते हुए भी उस समय मुख्यता किसी अन्य की ही होने से रसादि उसके अङ्ग अर्थात् गुणीभूत होते हैं।

'आधिकारिक' शब्द का लक्षण दशरूपक में इस प्रकार किया गया है।

अधिकारः फलस्वाम्यमधिकारी च तत्प्रभुः।
तन्निर्वर्त्यमभिव्यापि वृत्तं स्यादाधिकारिकम् ॥

दशरूप० १, १२।

फल के स्वामित्व को अधिकार और उस फल के भोक्ता को अधिकारी कहते हैं। उस अधिकारी द्वारा सम्पादित व्यापक वृत्त को 'आधिकारिक' वस्तु कहते हैं।

व्यङ्ग्य अलङ्कार के गुणीभाव का विषय दीपक आदि [अलङ्कार] हैं।

प्रस्तुत और अप्रस्तुत पदार्थों में एक धर्म का सम्बन्ध होने पर दीपकालङ्कार

---

१. गुणभावः नि० दी०। २. गुणीभावे रसवदलङ्कारविषयः प्राक् दर्शितः दी० गुणीभावे रसवदलङ्कारो दर्शितः नि०। ३. विवाह नि०।

तथा :—

प्रसन्नगम्भीरपदाः काव्यबन्धाः सुखावहाः ।
ये च तेषु प्रकारोऽयमेव[1] योज्यः सुमेधसा ॥३६॥

ये चैते[2]ऽपरिमितस्वरूपा अपि प्रकाशमानास्तथाविधार्थरमणीयाः[3] सन्तो विवेकिनां सुखावहाः काव्यबन्धास्तेषु सर्वेष्वेवायं प्रकारो गुणीभूतव्यङ्ग्यो नाम योजनीयः । यथा :—

होता है । 'प्रस्तुताप्रस्तुतयोर्दीपकन्तु निगद्यते' । द्वितीय उद्योत में पृष्ठ १६२ पर 'चन्द्रमऊएहि णिसा' इत्यादि श्लोक उद्धृत करके यह दिखाया है कि उसमें चन्द्र मयूखैः, कमलैः, कुसुमगुच्छैः, और 'सज्जनैः' में तथा निशा, नलिनी, लता और काव्यशोभा में सादृश्य व्यङ्ग्य है परन्तु वह सादृश्य या उपमा चमत्कारजनक नहीं है अपितु दीपकत्व अर्थात् एकधर्माभिसम्बन्ध के ही चमत्कार जनक होने से दीपक नाम से ही अलङ्कार व्यवहार होता है । उपमा नाम से नहीं । अर्थात् उपमा व्यङ्ग्य होने पर भी वाच्य दीपकालङ्कार का अङ्ग है । अतएव गुणीभूत व्यङ्ग्य है । दीपकादि में आदि पद से उसी प्रकार के रूपक, परिणाम आदि अलङ्कारों का भी ग्रहण कर लेना चाहिये । इस प्रकार व्यङ्ग्य के वस्तु अलङ्कार तथा रसादि यह तीनों भेद गुणीभूत हो सकते हैं ॥३५॥

प्रसन्न [प्रसाद गुण-युक्त] और गम्भीर [व्यङ्ग्य सम्बन्ध से अर्थ-गाम्भीर्य युक्त] जो आनन्ददायक काव्य रचनाएं, [हों] उनमें बुद्धिमान् कवि को इसी प्रकार का उपयोग करना चाहिये । [ध्वनि के सम्भव न होने पर गुणीभूत व्यङ्ग्य की योजना से भी कवि को कविपद की प्राप्ति हो सकती है । अन्यथा तो फिर कविता उपहासयोग्य ही होती है ।]

और जो यह नाना प्रकार [अपरिमितस्वरूपाः] की उस [अलौकिक व्यङ्ग्य के संस्पर्श] प्रकार के अर्थ से रमणीय प्रकाशमान रचनाएं विद्वानों के लिए आनन्ददायक होती हैं उन सभी काव्य रचनाओं में गुणीभूत व्यङ्ग्य नाम का यह प्रकार उपयोग में लाना चाहिए । जैसे :—

---

१. प्रकारोऽयमेवं नि०, दी० । २. परिमितस्वरूपा नि०, दी० । ३. तथा रमणीयाः नि०, दी० ।

लच्छी दुहिदा जामाउत्रो हरी तंस घरिणिआ गङ्गा ।
अमिअमिअङ्का च सुआ अहो कुडुम्बं महोअहिणो ॥
[लक्ष्मीर्दुहिता जामाता हरिस्तस्य गृहिणी गङ्गा ।
अमृतमृगाङ्कौ च सुतावहो कुटुम्बं महोदधेः ॥
—इतिच्छाया ॥३६॥]

वाच्यालङ्कारवर्गोऽयं व्यङ्ग्यांशानुगमे सति ।
प्रायेणैव परां छायां बिभ्रल्लक्ष्ये निरीक्ष्यते ॥३७॥

वाच्यालङ्कारवर्गोऽयं व्यङ्ग्यांशस्यालङ्कारस्य वस्तुमात्रस्य वा[1] यथायोगमनुगमे सति च्छायातिशयं बिभ्रल्लक्षणकारैरेकदेशेन दर्शितः । स तु तथारूपः प्रायेण सर्व एव परीक्ष्यमाणो लक्ष्ये निरीक्ष्यते ।

लक्ष्मी [समुद्र की] पुत्री है, विष्णु जामाता हैं, गङ्गा उसकी पत्नी है, अमृत और चन्द्रमा [सरीखे] उसके पुत्र हैं । अहो महोदधि का ऐसा [उत्तम] परिवार है ।

यहां 'लक्ष्मी' पद से सर्वस्पृहणीयता, 'विष्णु' पद से परमैश्वर्य, 'गङ्गा' पद से परमपावनत्व तथा सकलमनोरथपूरणक्षमत्व, 'अमृत' पद से मरणभयो-पशमकत्व, और मृगाङ्क पद से लोकोत्तराह्लादजनकत्वादि रूप व्यज्यमान वस्तु व्यङ्ग्य है, और वह 'अहो कुटुम्बं' से वाच्य विस्मय का पोषक होकर गुणीभूत व्यङ्ग्य रूप से चमत्कारजनक होती है ।

लोचनकार ने यहां 'अमृतपद' का अर्थ वारुणी किया है और उससे गङ्गा स्नान तथा हरिचरणाराधन आदि शतशः उपायों से उपलब्ध लक्ष्मी का चन्द्रोदय पानगोष्ठी आदि रूप में उपयोग ही मुख्य फल है । इसलिए वह लक्ष्मी त्रैलोक्यसारभूत प्रतीत होकर 'अहो' शब्द वाच्य विस्मय का अङ्ग होकर गुणीभूत व्यङ्ग्यता का उपपादन करती है । इस प्रकार की व्याख्या की है । यह व्याख्या पाशुपत सम्प्रदाय के अनुकूल प्रतीत होती है ॥३६॥

यह [प्रसिद्ध] वाच्य अलङ्कारों का वर्ग व्यङ्ग्य अंश के संस्पर्श से काव्यों में प्रायः अत्यन्त शोभातिशय को प्राप्त होता हुआ पाया जाता है ।

यह [प्रसिद्ध] वाच्य अलङ्कारों का समुदाय व्यङ्ग्यांश रूप अलङ्कार अथवा

---

१. वा नि० में नहीं है ।

तथाहि दीपकसमासोक्त्यादिवदन्येऽप्यलङ्काराः प्रायेण व्यङ्ग्या-लङ्कारान्तरवस्त्वन्तरसंस्पर्शिनो[1] दृश्यन्ते। यतः प्रथमं तावदतिशयोक्ति-गर्भता सर्वालङ्कारेषु शक्यक्रिया। कृतैव च सा महाकविभिः कामपि काव्यच्छविं पुष्यति[2]। कथं ह्यतिशययोगिता स्वविषयौचित्येन क्रियमाणा सती काव्ये नोत्कर्षमावहेत्। भामहेनाप्यतिशयोक्तिलक्षणे यदुक्तम्:—

सैषा सर्वैव[3] वक्रोक्तिरनयाऽर्थो विभाव्यते।
यत्नोऽस्यां कविना कार्यः कोऽलङ्कारोऽनया विना॥ इति

वस्तु के संस्पर्श होने पर अत्यन्त शोभातिशय युक्त होता हुआ लक्षणकारों ने स्थालीपुलाकन्याय से [एकदेशेन] दिखाया है। [अर्थात् व्यङ्ग्य उपमादि अलङ्कार के संस्पर्श से दीपक, तथा व्यङ्ग्य नायक-नायिका व्यवहारादि वस्तु के संस्पर्श से समासोक्ति आदि अलङ्कारों में शोभा वृद्धि के जो कतिपय उदाहरण दिए हैं वह स्थाली पुलाक न्याय से ही दो तीन उदाहरण दे दिए हैं] परन्तु विशेष परीक्षा करने पर तो प्रायः सभी अलङ्कार उसी रूप में [व्यङ्ग्य के संस्पर्श से शोभातिशय को प्राप्त] काव्यों में देखे जा सकते हैं।

जैसे, दीपक और समासोक्ति [जिनके उदाहरण इस रूप में दिए जा चुके हैं] आदि के समान अन्य अलङ्कार भी प्रायः व्यङ्ग्य अन्य अलङ्कार अथवा वस्तु के संस्पर्श से युक्त दिखाई देते हैं। क्योंकि सबसे पहिले तो सभी अलङ्कार अतिशयोक्ति-गर्भ हो सकते हैं। महाकवियों द्वारा विरचित वह [अन्य अलङ्कारों की अतिशयोक्ति-गर्भता] काव्य को अनिर्वचनीय शोभा प्रदान करती ही है। अपने विषय के अनुसार उचित रूप में किया गया अतिशयोक्ति का सम्बन्ध काव्य में उत्कर्ष क्यों नहीं लाएगा [अवश्य लाएगा]। भामह ने भी अतिशयोक्ति के लक्षण में जो कहा है कि :—

[जो अतिशयोक्ति पहिले कह चुके हैं सब अलङ्कारों को चमत्कार जननी] यह सब वही वक्रोक्ति है। इसके द्वारा [पुराना] पदार्थ [भी विलक्षणतया वर्णित किए जाने से] चमक उठता है। [अतः] कवि को इसमें [विशेष] यत्न करना चाहिये। इसके बिना [और] अलङ्कार [ही] क्या है।

---

१. व्यङ्ग्यालङ्कारवस्त्वन्तरसंस्पर्शिनो नि०, दी०। २. पुष्यतीति नि०, दी०। ३. सर्वत्र नि० दी०।

तत्रातिशयोक्तिर्यमलङ्कारमधितिष्ठति कविप्रतिभावशात्तस्य चारुत्वातिशययोगोऽन्यस्य त्वलङ्कारमात्रतैवेति सर्वालङ्कारशरीरस्वीकरण-योग्यत्वेनाभेदोपचारात् सैव सर्वालङ्काररूपा, इत्ययमेवार्थोऽवगन्तव्यः।

तस्याश्चालङ्कारान्तरसंकीर्णत्वं कदाचिद्वाच्यत्वेन, कदाचिद् व्यङ्ग्यत्वेन। व्यङ्ग्यत्वमपि कदाचित् प्राधान्येन कदाचिद् गुणभावेन। तत्राद्ये पक्षे वाच्यालङ्कारमार्गः। द्वितीये तु ध्वनावन्तर्भावः। तृतीये तु गुणीभूतव्यङ्ग्यरूपता।

उस में कवि की प्रतिभावश अतिशयोक्ति जिस अलङ्कार को प्रभावित करती है उसको [ही] शोभातिशय प्राप्त होता है। अन्य तो [चमत्कारातिशयरहित केवल] अलङ्कार ही रह जाते हैं। इसी से सब अलङ्कारों का रूप धारण कर सकने की क्षमता के कारण अभेदोपचार से वही सर्वालङ्कार रूप है, यही अर्थ समझना चाहिए। [भामह ने जो कहा है उसका यह अर्थ समझना चाहिये इस प्रकार यहाँ बड़ा लम्बा अन्वय होता है]।

निर्णयसागरीय संस्करण में 'सर्वैव वक्रोक्तिः' के स्थान पर 'सर्वत्र वक्रोक्तिः' पाठ है। परन्तु यहां वृत्तिकार ने जो 'सैव सर्वालङ्काररूपा' व्याख्या की है उससे 'सर्वैव वक्रोक्तिः' यही पाठ उचित प्रतीत होता है। परन्तु भामह के काव्यालङ्कार के मुद्रित संस्करण में 'सर्वत्र' पाठ ही पाया जाता है। और अन्य प्राचीन ग्रन्थों में भी जहां-जहां भामह की यह कारिका उद्धृत हुई है उनमें 'सर्वत्र' पाठ ही रखा गया है। इससे भामह का मूल पाठ तो 'सर्वत्र' ही जान पड़ता है परन्तु ध्वन्यालोककार ने उसके स्थान पर 'सर्वैव' पाठ उद्धृत किया है और तदनुसार ही उसकी वृत्ति में व्याख्या की गई है। इसलिए यहां ध्वन्यालोककार का अभिमत पाठ ही मूल में रखा गया है। भामह का वास्तविक पाठ नहीं।

उस [अतिशयोक्ति] का अन्य अलङ्कारों के साथ सङ्कर कभी वाच्यत्वेन और कभी व्यङ्ग्यत्वेन [होता है]। व्यङ्ग्यत्व भी कभी प्रधान रूप से और कभी गौणरूप से [होता है]। उनमें से पहिले [वाच्य रूप] पक्ष में वाच्यालङ्कार का मार्ग है। दूसरे [प्राधान्येन व्यङ्ग्य] पक्ष में ध्वनि में अन्तर्भाव होता है। और तीसरे [व्यङ्ग्य के अप्राधान्य पक्ष] में गुणीभूत व्यङ्ग्यता होती है।

अयं च प्रकारोऽन्येषामप्यलङ्काराणामस्ति। तेषां तु[1] न सर्व-विषयोऽतिशयोक्तेस्तु सर्वालङ्कारविषयोऽपि सम्भवतीत्ययं विशेषः। येषु चालङ्कारेषु सादृश्यमुखेन तत्वप्रतिलम्भः, यथा रूपकोपमातुल्ययोगिता-निदर्शनादिषु तेषु गम्यमानधर्ममुखेनैव यत्सादृश्यं तदेव शोभातिशय-शालि भवतीति ते सर्वेऽपि चारुत्वातिशययोगिनः सन्तो गुणीभूत-व्यङ्ग्यस्यैव विषयाः[2]। समासोक्त्याक्षेपपर्यायोक्तादिषु तु गम्यमानांशा-विनाभावेनैव तत्वव्यवस्थानाद् गुणीभूतव्यङ्ग्यता निर्विवादैव।

और यह [अलङ्कारान्तानुप्रवेश द्वारा तत्पोषण रूप] प्रकार अन्य [उपमादि] अलङ्कारों में भी होता है। उनके तो सब [अलङ्कार] विषय नहीं होते अतिशयोक्ति के तो सारे अलङ्कार भी विषय हो सकते हैं इतना भेद है। जिन अलङ्कारों में सादृश्य द्वारा अलङ्कारत्व [तत्व] की प्राप्ति होती है जैसे रूपकोपमा, तुल्ययोगिता, निदर्शना आदि में उनमें गम्यमान [व्यङ्ग्य] धर्म रूप से प्राप्त जो सादृश्य है वही शोभातिशय युक्त होता है इसलिए वे सभी चारुत्व के अतिशय से युक्त होने पर गुणीभूत व्यङ्ग्य के ही भेद होते हैं। समासोक्ति, आक्षेप, पर्यायोक्त आदि में तो व्यङ्ग्य अंश के अविनाभूत रूप में ही तत्व [उन अलङ्कारों के स्वरूप] की प्रतिष्ठा होती है अतः उन में गुणीभूतव्यङ्ग्यता निर्विवाद ही है।

रूपक, उपमा, तुल्ययोगिता, निदर्शना आदि अलङ्कार सादृश्यमूलक हैं, इनमें से एक उपमा को छोड़कर शेष सब में सादृश्य गम्यमान, व्यङ्ग्य होता है। वह व्यङ्ग्य सादृश्य वाच्य अलङ्कार के चारुत्वातिशय का हेतु होता है। इसलिए व्यङ्ग्य, वाच्य की अपेक्षा गौण होने से गुणीभूतव्यङ्ग्यता स्पष्ट ही है। इसीलिए उन अलङ्कारों के नाम व्यङ्ग्य सादृश्य के आधार पर नहीं, अपितु वाच्य तुल्य-योगिता आदि के अनुसार रखे गये हैं। इस सूची में रूपक के साथ उपमा का नाम भी है। परन्तु उसके साथ के अन्य अलङ्कारों में जिस प्रकार सादृश्य गम्यमान होता है उस तरह उपमा में सादृश्य गम्यमान नहीं होता है। इसलिए कुछ लोग रूपक और उपमा को एक ही पद मानकर रूपकोपमा को रूपक का ही वाचक मानते हैं। और दूसरे लोग 'चन्द्र एव मुखम्' इत्यादि स्थलों में आल्हाद विशेषजनकत्व रूप साधर्म्य को व्यङ्ग्य मानकर उसका समन्वय करते हैं। और तीसरे लोग उपमा शब्द से उपमामूलक अलङ्कारों का ग्रहण करके सङ्गति लगाते

---

१. तु पाठ नि०, दी० में नहीं है। २. विषयः नि०, दी०।

हैं। समासोक्ति आदि में तो व्यङ्ग्य अंश के बिना उनका स्वरूप ही नहीं बनता है अतः गुणीभूतव्यङ्ग्यता स्पष्ट ही है।

यहां प्रस्तुत किए गए अलङ्कारों के लक्षणादि इस प्रकार है :—

१—रूपकं रूपितारोपो विषये निरपह्नवे।
तत् परम्परितं साङ्गं निरङ्गमिति च त्रिधा॥
—सा० द० १०, २८।

जैसे, मुख चन्द्र इत्यादि में मुख और चन्द्र का आल्हादकत्वादि सादृश्य व्यङ्ग्य होता है। परन्तु वह वाच्य रूपक के चारुत्वातिशय का ही हेतु होता है अतः गुणीभूत व्यङ्ग्य होता है।

२—सम्भवन् वस्तुसम्बन्धोऽसम्भवन्नपि कुत्रचित्।
यत्र बिम्बानुबिम्बत्वं बोधयेत् सा निदर्शना॥
—सा० द० १०, ५१।

जसे:—

क्व सूर्यप्रभवो वंशः क्व चाल्पविषया मतिः।
तितीर्षुर्दुस्तरं मोहादुडुपेनास्मि सागरम्॥ रघुवंश, १, २।

यहाँ सूर्यवंश का वर्णन सागर के पार करने के समान कठिन और मेरी मन्द मति बजरा [छोटी नौका] के समान है। यह सादृश्य व्यङ्ग्य होने पर भी वह बिम्बानुबिम्बत्व रूप निदर्शना के चारुत्व का हेतु होने से गुणीभूत व्यङ्ग्य है।

३—पदार्थानां प्रस्तुतानामन्येषां वा यदा भवेत्।
एकधर्माभिसम्बन्धो स्यात् तदा तुल्ययोगिता॥
—सा० द० १०, ४७।

जैसे :—

दानं वित्तादृतं वाचः, कीर्तिधर्मौ तथायुषः।
परोपकरणं कायादसारात्सारमाहरेत्॥

यहां वित्त का दान, वाणी का सत्य, आयु का कीर्ति और धर्म तथा शरीर का परोपकारकरण सार के सदृश हैं यह व्यङ्ग्य सादृश्य, दान आदि के साथ 'असारात् सारमाहरेत्' रूप एक धर्म के सम्बन्ध से, होने वाले वाच्य तुल्ययोगिता-लङ्कार का पोषक होने से गुणीभूत व्यङ्ग्य है।

४—समासोक्तिः समैर्यत्र कार्यलिङ्गविशेषणैः।
व्यवहारसमारोपः प्रकृतेऽन्यस्य वस्तुनः॥
—सा० द० १०, ५६।

तत्र च गुणीभूतव्यङ्ग्यतायामलङ्काराणां केषाञ्चिदलङ्कारविशेष-

जसे :—

असमाप्तजिगीषस्य स्त्रीचिन्ता का मनस्विनः ।
अनाक्रम्य जगत्सर्वं नो सन्ध्यां भजते रविः ॥

यहां रवि और सन्ध्या में नायक-नायिका के व्यवहार का आरोप गम्यमान है । परन्तु वह वाच्य समासोक्ति का अविनाभूत है । उसके बिना समासोक्ति बन ही नहीं सकती है अतएव वह गुणीभूत होने से गुणीभूत व्यङ्ग्य है ।

५ —पर्यायोक्तं यदा भङ्ग्या गम्यमेवाभिधीयते ॥ सा० द० १०, ६० ।

जैसे :—

स्पृष्टास्ता नन्दने शच्या केशसम्भोगलालिताः ।
सावज्ञं पारिजातस्य मञ्जर्यो यस्य सैनिकैः ॥

यहां हयग्रीव ने स्वर्ग को विजय कर लिया है यह व्यङ्ग्य अंश है परन्तु उसके बिना पर्यायोक्त का स्वरूप ही नहीं बनता है अतएव पर्यायोक्त का अविनाभूत होने से व्यङ्ग्य गुणीभूत होता है ।

६—वस्तुनो वक्तुमिष्टस्य विशेषप्रतिपत्तये ।
निषेधाभास आक्षेपो वक्ष्यमाणोक्तगो द्विधा ॥
—सा० द० १०, ६४ ।

जैसे :—

तव विरहे हरिणाक्षी निरीक्ष्य नवमालिकां दलिताम् ।
हन्त नितान्तमिदानीं आः किं हतजल्पितैरथवा ॥

यहां व्यङ्ग्य अर्थ है 'मरिष्यति ।' परन्तु वह वाच्य आक्षेप का अविनाभूत है । उसके बिना आक्षेप अलङ्कार का स्वरूप ही नहीं बन सकता है अतएव यह गुणीभूत व्यङ्ग्य होता है ।

१—उस गुणीभूत व्यङ्ग्यता में किन्हीं अलङ्कारों का अलङ्कार विशेष गर्भित होने का नियम है । जैसे व्याज स्तुति के प्रेयोऽलङ्कारगर्भत्व [के विषय] में ।

उक्ता व्याजस्तुतिः पुनः ।
निन्दास्तुतिभ्यां वाच्याभ्यां गम्यत्वे स्तुतिनिन्दयोः ॥
—सा० द० १०, ५६ ।

गर्भतायां नियमः । यथा व्याजस्तुतेः प्रेयोऽलङ्कारगर्भत्वे । केषाञ्चिदलङ्कार-मात्रगर्भतायां नियमः । यथा सन्देहादीनामुपमागर्भत्वे ।

केषाञ्चिदलङ्काराणां परस्परगर्भतापि सम्भवति, यथा दीपकोपमयोः ।

व्याजस्तुति में वाच्य निन्दा से प्रतीयमान राजा या देवादि विषयक रति रूप 'भाव' व्यङ्गय होता है । और वह स्तावकनिष्ठ स्तवनीयविषयक प्रेम रूप व्यङ्गय 'भाव', वाच्य व्याजस्तुति के गर्भ में अवश्य रहेगा । अन्यथा व्याजस्तुति बन ही नहीं सकती । अतएव गुणीभूत व्यङ्गय होता है । यह राजा या देवादि विषयक रति, 'भाव' कहलाती है । और भाव के अन्याङ्ग होने पर प्रेयोऽलङ्कार होता है । इसलिए व्याजस्तुति में प्रेयोऽलङ्कार का होना आवश्यक है ।

२—किन्हीं अलङ्कारों में अलङ्कार मात्र गर्भित होने का नियम है । जैसे सन्देहादि के उपमा गर्भ होने में । [उपमा शब्द यहां सादृश्य मूलक अलङ्कारों का ग्राहक है ।]

सन्देह अलङ्कार का लक्षण निम्न है :—

सन्देहः प्रकृतेऽन्यस्य संशयः प्रतिभोत्थितः ।
शुद्धो निश्चयगर्भोऽसौ निश्चयान्त इति त्रिधा ॥

—सा० द० १०, ३५ ।

जैसे :—

अयं मार्तण्डः किं, स खलु तुरगैः सप्तभिरितः ।
कृशानुः किं सर्वाः प्रसरति दिशो नैष नियतम् ॥
कृतान्तः किं साक्षान्महिषवहनोऽसाविति पुनः,
समालोक्याजौ त्वां विदधति विकल्पान् प्रतिभटाः ॥

इत्यादि सन्देहालङ्कार के उदाहरणों में उपमा नियमतः गर्भ में रहती है । वैसे तो उपमा भी एक अलङ्कार विशेष का ही नाम है । अतएव इसको भी अलङ्कार विशेष गर्भता के नियम वाले वर्ग में ही रखना चाहिए था । परन्तु उपमा में नाना अलङ्कारों का रूप धारण करने की सामर्थ्य है इसलिए उसे अलङ्कार सामान्य मान कर ही अलङ्कारमात्र गर्भता का उदाहरण माना है ।

३—किन्हीं अलङ्कारों में परस्पर गर्भता भी हो सकती है । जैसे

तत्र दीपकमुपमागर्भत्वेन प्रसिद्धम् । उपमापि कदाचिद्दीपकच्छायानुयायिनी । यथा मालोपमा । तथा हि 'प्रभामहत्या शिखयेव दीपः' इत्यादौ स्फुटैव दीपकच्छाया लक्ष्यते ।

तदेवं व्यङ्ग्यांशसंस्पर्शे सति चारुत्वातिशययोगिनो रूपकादयोऽलङ्काराः सर्व एव गुणीभूतव्यङ्ग्यस्य मार्गः । गुणीभूतव्यङ्ग्यत्वं च तेषां तथाजातीयानां सर्वेषामेवोक्तानामनुक्तानां सामान्यम् । तल्लक्षणे सर्व एवैते सुलक्षिता भवन्ति ।

दीपक और उपमा में । उनमें से उपमागर्भ दीपक प्रसिद्ध ही है परन्तु कभी-कभी उपमा भी दीपक की छायानुयायिनी होती है । जैसे मालोपमा में इसी से 'प्रभामहत्या शिखयेव दीपः' इत्यादि में दीपक की छाया स्पष्ट ही प्रतीत होती है ।

प्रभामहत्या शिखयेव दीपस्त्रिमार्गयेव त्रिदिवस्य मार्गः ।
संस्कारवत्येव गिरा मनीषी तया स पूतश्च विभूषितश्च ॥ कुमार सं० १,२८

यह कुमारसम्भव का श्लोक है । इसमें मालोपमा अलङ्कार है । मालोपमा का लक्षण है—'मालोपमा यदेकस्योपमानं बहु दृश्यते' । यदि एक उपमेय के अनेक उपमान हों तो मालोपमा अलङ्कार होता है । यहां पार्वती के जन्म से हिमालय ऐसे पवित्र और सुशोभित हुआ जैसे प्रभायुक्त दीप शिखा से दीपक, अथवा जैसे त्रिमार्गगा गङ्गा से आकाश, अथवा जैसे संस्कारवती वाणी से विद्वान् पुरुष पवित्र और अलंकृत होता है । यहां एक उपमेय के तीन उपमान होने से मालोपमा है । परन्तु मालोपमा के गर्भ में दीपक अलङ्कार है' प्रस्तुताप्रस्तुयोर्दीपकं तु निगद्यते' । प्रस्तुत और अप्रस्तुत पदार्थों में एक धर्माभिसम्बन्ध होने से दीपक अलङ्कार होता है । यहां पार्वती के सम्बन्ध से हिमालय का पवित्र होना प्रस्तुत है और उसके उपमानभूत तीनों अर्थ अप्रस्तुत हैं । उन चारों में 'पूतत्व' और 'विभूषितत्व' रूप एक धर्म का सम्बन्ध होने से दीपकालङ्कार हुआ । अतएव यह दीपकगर्भ उपमा का उदाहरण हुआ ।

इस प्रकार व्यङ्ग्य के संस्पर्श होने पर शोभातिशय को प्राप्त होने वाले रूपक आदि सब ही अलङ्कार गुणीभूत व्यङ्ग्य के मार्ग हैं । और गुणीभूत व्यङ्ग्यत्व उस प्रकार के [व्यङ्ग्य संस्पर्श से चारुत्वयोगी] कहे गए [दीपक तुल्ययोगिता आदि] या न कहे हुए [सन्देह आदि] उन सभी अलङ्कारों में सामान्य रूप से रहता है । उस [गुणीभूत व्यङ्ग्य] के लक्षण

एकैकस्य [1]स्वरूपविशेषकथनेन तु सामान्यलक्षणरहितेन प्रतिपदपाठेनेव[2] शब्दा न शक्यन्ते तत्वतो निर्ज्ञातुम् । आनन्त्यात् । अनन्ता हि वाग्विकल्पास्तत्प्रकारा एव चालङ्काराः ।

हो जाने पर [या समझ लेने मे] यह सब ही [अलङ्कार] सुलक्षित हो जाते हैं ।

इस का अभिप्राय यह है कि विच्छित्ति विशेष के आधायक व्यङ्गय-संस्पर्श के अभाव में, 'गौरिव गवयः' यहां उपमा, 'आदित्यो यूपः' इत्यादि में रूपक, 'स्थाणुर्वा पुरुषो वा' इत्यादि में सन्देह; शुक्ति में 'इदं रजतम्' इत्यादि में भ्रान्तिमान्, उसी शुक्ति में 'नेयं शुक्तिः इदं रजतम्' इत्यादि में अपन्हुति, इसके विपरीत उसी शुक्ति में 'नेदं रजतं इयं शुक्तिः' इत्यादि में निश्चय, 'आद्यन्तौ टकितौ' इत्यादि में यथासंख्य, 'अक्षा 'भज्यन्ताम् भुज्यन्ताम् दीव्यन्ताम्' इत्यादि में श्लेष, 'पीनो देवदत्तः दिवा न भुङ्क्ते' इत्यादि में अर्थापत्ति, 'स्थाध्वोरिच्च' इत्यादि में तुल्ययोगिता, 'गामश्वं पुरुषं पशुं' इत्यादि में पुरुष के प्रस्तुत होने पर दीपक, 'द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया' इत्यादि में अतिशयोक्ति अलङ्कार नहीं हैं। इसलिए व्यङ्गय के अभाव में अलङ्कारत्व का अभाव होने से 'तदभावे तदभावो व्यतिरेकः' इत्यादि रूप व्यतिरेक, तथा चन्द्र इव मुखम्। मुखं चन्द्रः इत्यादि में आ-ल्हादकत्व आदि व्यङ्गय का सम्बन्ध होने पर अलङ्कारत्व होने से 'तत्सत्वे तत्सत्ता-न्वयः' रूप अन्वय का ग्रहण होने से, अन्वय व्यतिरेक से यह निर्णय होता है कि व्यङ्गय सम्बन्ध ही अलङ्कारता का प्रयोजक है। जैसे ईषन्निगूढ़ कामिनी के कुच-कलश अपने से सम्बद्ध हार आदि अलङ्कारों के शोभाजनक होते हैं इसी प्रकार यह गुणीभूत व्यङ्गय, उपमादि अलङ्कारों को चारुत्वातिशय प्रदान करता है। यह गुणीभूत व्यङ्गयत्व सभी अलङ्कारों का साधारण धर्म है। गुणीभूत व्यङ्गय के लक्षण होने से ही अलङ्कारों का लक्षण पूर्ण हो जाता है। इसी से अलङ्कार सुलक्षित, पूर्णतया लक्षित होते हैं; अन्यथा 'गौरिव गवयः' आदि के समान उनमें अव्याप्ति आदि आना अनिवार्य है।

सामान्य लक्षण रहित प्रत्येक अलङ्कार के अलग अलग स्वरूप कथन से तो प्रतिपद पाठ से [अनन्त] शब्दों के [ज्ञान] के समान उन [अलङ्कारों] का, अनन्त होने से, पूर्ण ज्ञान नहीं हो सकता । कथन की अनन्त शैलियां हैं और वही अनन्त अलङ्कार के प्रकार हैं ।

---

१ रूपविशेषकथनेन नि०, दी० । २. प्रतिपदपाठेनैव नि०, दी० ।

गुणीभूतव्यङ्ग्यस्य च प्रकारान्तरेणापि व्यङ्ग्यार्थानुगमलक्षणेन विषयत्वमस्त्येव । तदयं ध्वनिनिष्यन्दरूपो द्वितीयोऽपि महाकविविषयोऽतिरमणीयो लक्षणीयः सहृदयैः । सर्वथा नास्त्येव सहृदयहृदयहारिणः काव्यस्य स प्रकारो यत्र न प्रतीयमानार्थसंस्पर्शेन सौभाग्यम् । तदिदं काव्यरहस्यं परमिति सूरिभिर्विभावनीयम् ॥३७॥

सामान्य लक्षण द्वारा ही उनका ज्ञान हो सकता है । अलग-अलग प्रत्येक अलङ्कार के समस्त भेदोपभेद आदि का ज्ञान सम्भव नहीं है । जैसे प्रतिपद पाठ से शब्दों का ज्ञान असम्भव है । यह 'प्रतिपदपाठ' शब्द महाभाष्य में आए हुए प्रकरण की ओर संकेत करता है । महाभाष्य में शब्दानुशासन की पद्धति का निर्धारण करते हुए लिखा है:—

"अथैतस्मिन् शब्दोपदेशे कर्त्तव्ये सति किं शब्दानां प्रतिपत्तौ प्रतिपदपाठः कर्तव्यः, गौरश्वः पुरुषो हस्ती शकुनिर्मृगो ब्राह्मण इत्येवमादयः शब्दाः पठितव्याः ? नेत्याह । अनभ्युपायः शब्दानां प्रतिपत्तौ प्रतिपदपाठः । एवं हि श्रूयते बृहस्पतिरिन्द्राय दिव्यं वर्षसहस्रं प्रतिपदोक्तानां शब्दानां शब्दपारायणं प्रोवाच, न चान्तं जगाम । बृहस्पतिश्च प्रवक्ता, इन्द्रश्च ध्येता, दिव्यं वर्षसहस्रमध्ययनकालो न चान्तं जगाम । किं पुनरद्यत्वे यः सर्वथा चिरं जीवति स वर्षशतं जीवति ।

और गुणीभूत व्यङ्ग्य का विषय [केवल एक अलङ्कार में दूसरे व्यङ्ग्य अलङ्कार के सम्बन्ध से ही नहीं अपितु वस्तु अथवा रसादि रूप अन्य] व्यङ्ग्य अर्थ के सम्बन्ध से अन्य प्रकार से भी होता ही है । इसलिए अति रमणीय महाकवि विषयक यह दूसरा ध्वनि-प्रवाह भी सहृदयों को समझ लेना चाहिए । सहृदयों के हृदय को मुग्ध करने वाले काव्य का ऐसा कोई भेद नहीं है, जिसमें व्यङ्ग्य अर्थ के सम्बन्ध से सौन्दर्य न आजाता हो । इसलिए विद्वानों को यह समझ लेना चाहिए कि यह [व्यङ्ग्य, और केवल व्यङ्ग्यसंस्पर्श ही] काव्य का परम रहस्य है ।

यहां गुणीभूत व्यङ्ग्य को ध्वनि का निःष्यन्द कहा है । उसका अर्थ उसकी दूसरी धारा या उससे उत्पन्न दूसरा प्रवाह ही हो सकता है । उसका सार नहीं समझना चाहिए । दधि का सार नवनीत है । इस प्रकार गुणीभूत व्यङ्ग्य को ध्वनि का सार नहीं कहा जा सकता है । उसे अधिक से अधिक 'आमिक्षा' छेना के जल का स्थान दिया जा सकता है । गर्म दूध में दही डाल देने से वह फट जाता है उसका जो जलीय अंश है उसे 'आमिक्षा' कहते हैं—'तप्ते पयसि दध्यानय,

मुख्या महाकविगिरामलंकृतिभृतामपि ।
प्रतीयमानच्छायैषा भूषा लज्जेव योषिताम् ॥३८॥

अनया सुप्रसिद्धोऽप्यर्थः किमपि कामनीयकमानीयते । तद्यथा—
विस्रम्भोत्था मन्मथाज्ञाविधाने ये मुग्धाक्ष्याः केऽपि लीलाविशेषाः[1] ।
अक्षुण्णास्ते चेतसा केवलेन, स्थित्वैकान्ते सन्ततं भावनीयाः ॥

इत्यत्र, केऽपीत्यनेन पदेन वाच्यमस्पष्टमभिदधता प्रतीयमानं [2]वस्त्वक्लिष्टमनन्तमर्पयता का छाया नोपपादिता ॥३८॥

सा वैश्वदेव्यामिक्षा' । गुणीभूत व्यङ्ग्य अधिक से अधिक आमिक्षा स्थानीय हीं हो सकता है नवनीत स्थानीय नहीं । इसी प्रकार उस गुणीभूत व्यङ्ग्य काव्य में अतिरमणीयता ध्वनि की अपेक्षा नहीं अपितु चित्रकाव्यादि की दृष्टि से ही हो सकती है । प्रथम उद्योत में ध्वनि को 'सकलसत्कविकाव्योपनिषद्भूतं' कहा था, उसी का उपसंहार 'काव्यरहस्यं' शब्द से यहां किया है । इसी बात को अगली कारिका में उपमा द्वारा समर्थित करते हैं ।

अलङ्कार आदि से युक्त होने पर भी जैसे लज्जा ही कुलवधुओं का मुख्य अलङ्कार होती है, उसी प्रकार [उपमादि अलङ्कारों से भूषित होने पर भी] यह व्यङ्ग्यार्थ की छाया ही महाकवियों की वाणी का मुख्य अलङ्कार है ।

इस [प्रतीयमान की छाया या व्यङ्ग्य के संस्पर्श] से सुप्रसिद्ध [बहुवर्णित होने से बासी हुए] अर्थ में भी कुछ अनिर्वचनीय [नूतन] सौन्दर्य आ जाता है । जैसे :—

[अनुल्लंघ्यशासन] कामदेव की आज्ञापालन में मुग्धाक्षी [वाम-लोचना सुन्दरी] के विश्वास [परिचय, तथा मदनोद्रेकजन्य त्रपा साध्वस आदि के ध्वंस] से उत्पन्न और केवल चित्त से [भी] अक्षुण्ण प्रतिक्षण नवीन जो कोई अनिर्वचनीय हाव-भाव [होते] हैं, वह एकान्त में बैठ कर [तन्मय होकर] चिन्तन करने योग्य होते हैं ।

इस उदाहरण में वाच्य अर्थ को स्पष्ट रूप से न कहने वाले 'केऽपि' इस पद ने अनन्त और अक्लिष्ट व्यङ्ग्य का बोधन कराते हुए कौन सा सौन्दर्य नहीं उत्पन्न कर दिया है ॥३८॥

आगे काक्वाक्षिप्त गुणीभूत व्यङ्ग्य का निरूपण करते हैं —

---

१. विलासाः नि०, दी० । २. नि०, दी० में वस्तु पद नहीं है ।

अर्थान्तरगतिः काक्वा या चैषा परिदृश्यते ।
सा व्यङ्ग्यस्य गुणीभावे प्रकारमिममाश्रिता ॥३९॥

या चैषा काक्वा क्वचिदर्थान्तरप्रतीतिर्दृश्यते सा व्यङ्ग्यस्यार्थस्य गुणीभावे सति गुणीभूतव्यङ्ग्यलक्षणं काव्यप्रभेदमाश्रयते ।

यथा :—

'स्वस्था भवन्ति मयि जीवति धार्तराष्ट्राः' ।

और काकु द्वारा जो यह [प्रसिद्ध] अर्थान्तर [बिल्कुल भिन्न अर्थ, अथवा उसी अर्थ का वैशिष्ट्य, अथवा उसका अभाव रूप अन्य अर्थ] की प्रतीति दिखाई देती है वह व्यङ्ग्य के गौण होने से इसी [गुणीभूत व्यङ्ग्य] भेद के अन्तर्गत होती है ।

और कहीं काकु से जो यह [प्रसिद्ध] अन्य [वाच्य अर्थ से भिन्न १. अर्थान्तर, अथवा उसी वाच्य अर्थ का २. अर्थान्तर संक्रमित विशेष, अथवा ३. तदभाव रूप त्रिविध] अर्थ की प्रतीति देखी जाती है वह व्यङ्ग्य अर्थ के गुणीभाव होने पर गुणीभूत व्यङ्ग्य नामक काव्यभेद के अन्तर्गत होती है । जैसे :—

'मेरे [भीमसेन के] जीवित रहते धृतराष्ट्र के पुत्र [कौरव] स्वस्थ रहें ।'

यह 'वेणीसंहार' नाटक में भीमसेन की उक्ति का अन्तिम चरण है । पूरा श्लोक इस प्रकार है :—

लाक्षागृहानलविषान्न सभाप्रवेशैः,
प्राणेषु वित्तनिचयेषु च नः प्रहृत्य ।
आकृष्य पाण्डववधूपरिधानकेशान्,
स्वस्था भवन्ति मयि जीवति धार्तराष्ट्राः ॥

लाक्षागृह में आग लगाकर, विष का अन्न खिला कर और द्यूतसभा द्वारा हमारे प्राणों और धन सम्पत्ति पर प्रहार कर और पाण्डवों की स्त्री द्रौपदी के वस्त्र खींचने की दुश्चेष्टा करके भी, मुझ भीमसेन के जीते जी धृतराष्ट्र के पुत्र निश्चिन्त होकर बैठ जाएं । यहां 'यह असम्भव है' यह अर्थ काकु से अभिव्यक्त होता है ।

बोलने के ढंग या लहजे को 'काकु' कहते हैं—'भिन्नकण्ठध्वनिर्धीरैः काकुरित्यभिधीयते' । काकु शब्द 'कक लौल्ये' धातु से बना है । साकांक्ष या निराकांक्ष रूप में विशेष ढंग से बोला जाने वाला काकु युक्त वाक्य प्रकृत वाच्यार्थ

यथा वा :—

आम असइओ ओरम पइव्वए ण तुए मलिणिअं सीलम् ।
किं उण जणस्स जाअ व्व चन्दिलं तं ण कामेमो ॥
[*आम असत्यः, उपरम पतिव्रते न त्वया मलिनितं शीलम् ।*
किं पुनर्जनस्य जायेव नापितं तं न कामयामहे ॥
—इतिच्छाया ।

शब्दशक्तिरेव हि स्वाभिधेयसामर्थ्याक्षिप्तकाकुसहाया सती, अर्थविशेषप्रतिपत्तिहेतुर्न काकुमात्रम् । विषयान्तरे स्वेच्छाकृतात् काकुमात्रात् तथाविधार्थप्रतिपत्त्यसम्भवात् । स चार्थः काकुविशेषसहाय-शब्दव्यापारोपारूढोऽप्यर्थलभ्य इति व्यङ्ग्यरूप एव । वाचकत्वानुगमेनैव तु यदा तद्विशिष्टवाच्यप्रतीतिस्तदा गुणीभूतव्यङ्ग्यतया तथाविधार्थ-

---

से अतिरिक्त अन्य अर्थ की भी आकांक्षा करता है यही उसका लौल्य है । इसी के कारण उसे काकु कहते हैं ।

अथवा जैसे :—

अच्छा ठीक है, हम असती हैं, पतिव्रता महारानी, पर आप चुप रहिए । आपने तो अपना चरित्र भ्रष्ट नहीं किया । हम क्या साधारण जन की स्त्रियों के समान उस नाई की कामना न करें ।

यहां स्वयं नीच नापित पर अनुरक्त होकर भी हमारे ऊपर आक्षेप करती है । इत्यादि अनेक व्यङ्ग्य, अनेक पदों में, काकु द्वारा प्रतीत होते हैं । अतएव यह गुणीभूत व्यङ्ग्य का उदाहरण है ।

[काकु के उदाहरणों में] शब्द की [अभिधा] शक्ति ही अपने वाच्यार्थ की सामर्थ्य से आक्षिप्त, काकु की सहायता से अर्थविशेष [व्यङ्ग्य] की प्रतीति का कारण होती है, अकेली काकुमात्र [ही] नहीं । क्योंकि अन्य स्थलों में स्वेच्छाकृत काकुमात्र से उस प्रकार के अर्थ की प्रतीति असम्भव है । और वह [काकु से आक्षिप्त] अर्थ काकु विशेष की सहायता से शब्द व्यापार [अभिधा] में उपारूढ़ होने पर भी अर्थ की सामर्थ्य से लभ्य होने से व्यङ्ग्य रूप ही होता है । उस [आक्षिप्त अर्थ] से विशिष्ट वाच्यार्थ की प्रतीति जब वाचकत्व [अभिधा] की अनुगामिनी [गुणीभूत] रूप में होती है तब उस अर्थ के प्रकाशक काव्य में गुणीभूत व्यङ्ग्यत्व रूप से व्यवहार होता है । व्यङ्ग्य विशिष्ट वाच्य का कथन करने वाले [काव्य] का गुणीभूत व्यङ्ग्यत्व [होता] है ।

द्योतिनः काव्यस्य व्यपदेशः । व्यङ्ग्यविशिष्टवाच्याभिधायिनो हि गुणीभूतव्यङ्ग्यत्वम् ॥३६॥

इस उन्तालीसवीं कारिका में 'सा व्यङ्ग्यस्य गुणीभावे प्रकारमिममाश्रिता' पाठ आया है । उससे कुछ लोग यह अर्थ लगाते हैं कि काकु से जो अर्थान्तर की प्रतीति होती है उसके गुणीभाव होने पर गुणीभूत व्यङ्ग्य होता है । अर्थात् उसका प्राधान्य होने पर ध्वनि काव्य भी हो सकता है । इस प्रकार काकु में ध्वनि और गुणीभूत व्यङ्ग्य दोनों प्रकार मानते हैं और उन दोनों अर्थात् 'काकु ध्वनि' और काकु गुणीभूत व्यङ्ग्य की विषय व्यवस्था इस प्रकार करते हैं कि जहां काकु से आक्षिप्त अर्थ के बिना भी वाच्यार्थ की प्रतीति पूर्ण हो जाय और प्रकरणादि की पर्यालोचना के बाद व्यङ्ग्य अर्थ का बोध हो वहां 'काकु ध्वनि' होती है और जहां काकु से आक्षिप्त अर्थ के बिना, वाच्यार्थ की प्रतीति ही समाप्त न हो वहां 'गुणीभूत व्यङ्ग्य काकु होता है । ऐसे लोगों ने :—

> तथाभूतां दृष्ट्वा नृपसदसि पञ्चालतनयां,
> वने व्याधैः सार्धं सुचिरमुषितं वल्कलधरैः ।
> विराटस्यावासे स्थितमनुचितारम्भनिभृतं,
> गुरुः खेदं खिन्ने मयि भजति नाद्यापि कुरुषु ॥

इत्यादि श्लोक को 'काकु ध्वनि' का उदाहरण माना है । यह श्लोक भी पूर्व उदाहृत श्लोक के समान वेणीसंहार नाटक में भीमसेन के द्वारा कहा गया है । उसका भाव यह है कि राजा धृतराष्ट्र की सभा में नङ्गी की जाती हुई द्रौपदी को देख कर गुरु युधिष्ठिर को दुःख नहीं हुआ । हम वल्कल धारण कर व्याधों के साथ वर्षों वन में रहे, इससे भी उनको खेद नहीं हुआ । और विराट के यहां बृहन्नला तथा पाचक आदि का अनुचित वेश धारण कर जब हम सब पाण्डव छिप कर रहे तब भी उनको क्रोध नहीं आया । पर आज जब मैं कौरवों पर क्रोध करता हूँ तब वह मेरे ऊपर नाराज़ होते हैं ।

यह वाच्य अर्थ यहां व्यङ्ग्य अर्थ के बिना भी परिपूर्ण हो जाता है । परन्तु इसके बाद प्रकरण आदि की आलोचना करने पर मेरे ऊपर नाराज़ होना उचित नहीं है कौरवों पर ही क्रोध करना चाहिये । इस, काकु से आक्षिप्त, अर्थ की प्रतीति होती है । इसलिए इसको 'काकु ध्वनि' का उदाहरण मानते हैं और पिछले 'स्वस्था भवन्ति मयि जीवति धार्तराष्ट्राः' इत्यादि को 'गुणीभूत व्यङ्ग्य काकु' का उदाहरण मानते हैं ।

प्रभेदस्यास्य विषयो यश्च युक्त्या प्रतीयते ।
विधातव्या सहृदयैर्न तत्र ध्वनियोजना ॥ ४० ॥

सङ्कीर्णो हि कश्चिद् ध्वनेर्गुणीभूतव्यङ्ग्यस्य च लक्ष्ये दृश्यते मार्गः । तत्र यस्य[1] युक्तिसहायता तत्र तेन व्यपदेशः कर्तव्यः । न सर्वत्र ध्वनिरागिणा भवितव्यम् । यथा :—

पत्युः शिरश्चन्द्रकलामनेन स्पृशेति सख्या परिहासपूर्वम् ।
सा रञ्जयित्वा चरणौ कृताशीर्माल्येन तां निर्वचनं जघान ॥

परन्तु लोचनकार काकु में ध्वनि मानने के लिए तैयार नहीं हैं। वे काकु को सदैव गुणीभूत व्यङ्ग्य ही मानते हैं। 'काकुप्रयोगे सर्वत्र शब्दस्पृष्टत्वेन व्यङ्ग्यस्योन्मीलितस्यापि गुणीभावात्' । काकु के प्रयोग में प्रतीयमान व्यङ्ग्य भी सदा शब्द से स्पृष्ठ होने से गुणीभूत ही रहता है । अतएव 'काकुध्वनि' मानना उचित नहीं है । इस मत के अनुसार कारिका में 'गुणीभावे' पद की सप्तमी, 'सति सप्तमी' नहीं, अपितु 'निमित्ते सप्तमी' है ॥ ३९ ॥

और जो [काव्य] तर्क से [युक्त्या] इस [गुणीभूत व्यङ्ग्य] भेद का विषय प्रतीत होता है, सहृदय पुरुषों को उसमें ध्वनि को नहीं जोड़ना चाहिए ।

ध्वनि और गुणीभूत व्यङ्ग्य के सङ्कर का भी कोई मार्ग उदाहरणों में दिखाई देता हैं । उनमें जो [पक्ष] तर्क से समर्थित होता है उसी के अनुसार नामकरण [व्यवहार] करना चाहिए। सब जगह ध्वनि का अनुरागी नहीं होना चाहिए । [बिना युक्ति के ध्वनि के अनुराग में गुणीभूत व्यङ्ग्य को भी ध्वनि नहीं कहने लगना चाहिए] ।

जैसे —

[यह कुमारसम्भव के सत्रहवें सर्ग का १९ वां श्लोक है । सखी ने पार्वती के] चरणों को [लाक्षारागं से] रञ्जित कर [यह आशीर्वाद दिया कि] इस चरण से [सुरत के किसी बन्ध विशेष में, अथवा सपत्नी होने से] पति [शिव] के सिर पर स्थित चन्द्रकला का स्पर्श करना इस प्रकार परिहासपूर्वक आशीर्वाद प्राप्त पार्वती ने बिना कुछ बोले माला से उस [सखी] को मारा ।

---

१. पक्षस्य नि० ।

यथा च :—

प्रयच्छतोच्चैः कुसुमानि मानिनी विपक्षगोत्रं दयितेन लम्भिता ।
न किञ्चिदूचे चरणेन केवलं लिलेख वाष्पाकुललोचना भुवम् ॥

इत्यत्र 'निर्वचनं जघान', 'न किञ्चिदूचे', इति प्रतिषेधमुखेन व्यङ्ग्यस्यार्थस्योक्त्या किञ्चिद् विषयीकृतत्वाद् गुणीभाव एव शोभते । [1]यदा वक्रोक्ति विना व्यङ्ग्योऽर्थस्तात्पर्येण प्रतीयते [2]तदा तस्य प्राधान्यम् । यथा 'एवंवादिनि देवर्षौ' इत्यादौ । इह पुनरुक्तिभङ्ग्यास्तीति[3] वाच्यस्यापि प्राधान्यम् । तस्मान्नात्रानुरणनरूपव्यङ्ग्यध्वनिव्यपदेशो विधेयः ॥४०॥

और जैसे —

[यह किरात के अष्टम सर्ग में अर्जुन के तपोभङ्ग के लिए आई हुई अप्सराओं के वर्णन प्रसङ्ग में किसी अप्सरा के वर्णन का श्लोक है] ।

ऊंचे [उस अप्सरा की पहुँच से अधिक ऊंचाई पर लगे हुए, अथवा उत्कृष्ट] फूलों को [तोड़ कर] देते हुए प्रिय के द्वारा अन्य अप्सरा [विपक्ष] के नाम से संबोधित की गई मानिनी अप्सरा कुछ बोली नहीं आंखों में आंसू भर कर केवल पैर से जमीन को कुरेदती रही ।

यहां [इन दोनों श्लोकों में क्रमशः] 'निर्वचनं जघान' बिना कुछ कहे मारा और 'न किञ्चिदूचे' कुछ कहा नहीं इस प्रतिषेध द्वारा, व्यङ्ग्य अर्थ [प्रथम श्लोक में लज्जा, अवहित्था, हर्ष, ईर्ष्या, सौभाग्य, अभिमान आदि और दूसरे श्लोक में सातिशय मन्यु सम्भार] किसी अंश में अभिधा [उक्ति] का ही विषय हो गया है अतः [उसका] गुणीभाव ही उचित प्रतीत होता है । और जब उक्ति के बिना तात्पर्य रूप से व्यङ्ग्य अर्थ प्रतीत होता है तब उस [व्यङ्ग्य] का प्राधान्य होता है। जैसे 'एवंवादिनि देवर्षौ' [पृ० १८१] इत्यादि में । यहां [पत्युः 'शिरश्चन्द्रकलां' तथा 'प्रयच्छतोच्चैः' इत्यादि दोनों श्लोकों में] तो कथन की शैली से [व्यङ्ग्य की प्रतीति] है, इसलिए वाच्य का भी प्राधान्य है । इसलिए यहां संलक्ष्यक्रम व्यङ्ग्य ध्वनि व्यवहार उचित नहीं है । [अर्थात् यह दोनों गुणीभूत व्यङ्ग्य ही के उदाहरण हैं । संलक्ष्यक्रम व्यङ्ग्य ध्वनि के उदाहरण नहीं हैं] ॥४०॥

---

१. तस्माद् यत्रोक्ति विना दी० । २. तत्र दी० । ३. अस्ति नि०

प्रकारोऽयं गुणीभूतव्यङ्ग्योऽपि ध्वनिरूपताम् ।
धत्ते रसादितात्पर्यपर्यालोचनया पुनः ॥ ४१ ॥

गुणीभूतव्यङ्ग्योऽपि काव्यप्रकारो रसभावादितात्पर्यालोचने पुनर्ध्वनिरेव सम्पद्यते । यथात्रैवानन्तरोदाहृते [1]श्लोकद्वये ।
यथा च :—

> दुराराधा राधा सुभग यदनेनापि मृजत-
> स्तवैतत्प्राणेशाजघनवसनेनाश्रु पतितम् ।
> कठोरं स्त्रीचेतस्तदलमुपचारैर्विरम हे,
> क्रियात्कल्याणं वो [2]हरिरनुनयेष्वेवमुदितः ॥

यह गुणीभूत व्यङ्ग्य का प्रकार भी रस आदि तात्पर्य का विचार करने से फिर ध्वनि [काव्य] हो जाता है। [संलक्ष्यक्रम व्यङ्ग्य की दृष्टि से गुणीभूत होने पर भी रसादि के विचार से वह ध्वनि रूप में परिगणित हो सकता है]।

गुणीभूत व्यङ्ग्य नामक काव्य का भेद रस आदि के तात्पर्य के विचार करने से फिर ध्वनि रूप ही हो जाता है। जैसे ऊपर उदाहृत [पत्युः 'शिरश्चन्द्र-कलां' तथा 'प्रयच्छतोच्चैः'] दोनों श्लोकों में। [गुणीभूत व्यङ्ग्यत्व का उपपादन कर चुके हैं। फिर भी उन दोनों में शृङ्गार रस के प्राधान्य होने से ध्वनि काव्यत्व उचित ही है]।

और [दूसरा उदाहरण] जैसे :—

हे सुभग [कृष्ण मुझसे भिन्न अपनी किसी और] प्राणेश्वरी की [सुरतोत्तरकाल में भूल से स्वयं धारण की हुई] इस साड़ी से [मेरे] गिरते हुए आंसुओं को पोंछने पर भी [सौन्दर्य-सौभाग्यादि-अभिमानशालिनी यह वृषभानुसुता] राधा तुम से प्रसन्न होने वाली नहीं [दुराराधा] है। स्त्री का चित्त [सपत्नी सम्भोगादि रूप अपमान को सहन न कर सकने वाला बड़ा] कठोर होता है, इसलिये तुम्हारे यह सब [मानापनोदन के लिए की जाने वाली चाटु रूप] उपाय व्यर्थ हैं, उनको रहने दो। मनाने के अवसरों [अनुनयेषु] पर [राधा द्वारा] इस प्रकार कहे जाने वाले कृष्ण तुम्हारा कल्याण करें।

---

१. यथात्रैवोदाहृतेऽनन्तरश्लोकद्वये। यथा च दी०। २. हरिरनुतयेष्वेव-मुदितः नि०।

एवं स्थिते च 'न्यक्कारो ह्ययमेव' इत्यादि श्लोकनिर्दिष्टानां पदानां व्यङ्ग्यविशिष्टवाच्यप्रतिपादनेऽप्येतद्वाक्यार्थीभूतरसापेक्षया व्यञ्जकत्व-मुक्तम्। न तेषां[1] पदार्थानामर्थान्तरसंक्रमितवाच्यध्वनिभ्रमो विधातव्यः। विवक्षितवाच्यत्वात् तेषाम् । तेषु हि व्यङ्ग्यविशिष्टत्वं वाच्यस्य प्रतीयते न तु व्यङ्ग्यरूपपरिणतत्वम्। तस्माद्वाक्यं तत्र ध्वनिः, पदानि तु गुणीभूतव्यङ्ग्यानि।

यहां सुभग विशेषण से बहुवल्लभत्व और उन अनेक स्त्रियों से अमुक्तत्व, अन्य स्त्री की साड़ी [जघनवसन] के प्रत्यक्ष होने से उसका अनपह्नव-नीयत्व तथा सप्रेम धारणीयत्व, विपक्षनायिका के प्रति कोप का औचित्य, उसके छिपाने के प्रयत्न से उसके प्रति आदराधिक्य, राधा इस अपने नाम के उच्चारण से परिभवासहिष्णुत्व, दुराराधा पद से मान की दृढ़ता और अपराध की उग्रता, चित्त की कठोरता से स्वाभाविक सौकुमार्य का परित्याग सहज और प्रसादनानर्हत्व, 'उपचारैः' के बहुवचन से नायक का चाटुकपटपाटवत्व, 'अनुनयेषु' के बहुवचन से नायक की इस प्रकार की अवस्था की बहुलता और नायिका का सौभाग्यातिशय आदि, व्यङ्ग्य होने पर भी, वाच्य के ही उपकारी होते हैं इसलिए उसकी दृष्टि से यह गुणीभूत व्यङ्ग्य काव्य है। परन्तु इस में ईर्ष्या विप्रलम्भ की प्रधान रूप से अभिव्यञ्जना हो रही है इसलिए उसकी दृष्टि से यह ध्वनि काव्य है। इसलिए यहां भी पूर्ववत् ध्वनि और गुणीभूत व्यङ्ग्य दोनों का योग है।

इस प्रकार [ध्वनि और गुणीभूत व्यङ्ग्य के विषय विभाग की व्यवस्था हो जाने से], 'न्यक्कारो ह्ययमेव' इत्यादि श्लोक में निर्दिष्ट पदों के व्यङ्ग्य विशिष्ट वाच्य के प्रतिपादक [उस दृष्टि से गुणीभूत व्यङ्ग्य होने] पर भी समस्त श्लोक के प्रधान व्यङ्ग्य [वीर] रस की दृष्टि से [उसको] ध्वनि [व्यञ्जकत्व,] कहा है। उन [श्लोकोक्त व्यञ्जक पदों] में अर्थान्तर संक्रमित वाच्य ध्वनि का भ्रम नहीं करना चाहिए क्योंकि उनमें वाच्य विवक्षित है। [अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य ध्वनि, लक्षणामूल अविवक्षित वाच्य का भेद होता है। यहा श्लोकस्थ व्यञ्जक पदों में वाच्य अविवक्षित नहीं विवक्षित है। अतः अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य ध्वनि उनमें नहीं समझना चाहिए] उनमें वाच्य अर्थ का व्यङ्ग्य विशिष्टत्व प्रतीत होता है। व्यङ्ग्य रूप में परिणतत्व

---

१ न त्वेषां दी०।

न च केवलं गुणीभूतव्यङ्ग्यान्येव पदान्यलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यध्वने-र्व्यञ्जकानि, यावदर्थान्तरसंक्रमितवाच्यानि ध्वनिप्रभेदरूपाण्यपि। यथात्रैव श्लोके 'रावण' इत्यस्य¹ प्रभेदान्तररूपव्यञ्जकत्वम्। यत्र तु वाक्ये रसादितात्पर्यं नास्ति गुणीभूतव्यङ्ग्यैः पदैरुद्भासितेऽपि तत्र गुणीभूत-व्यङ्ग्यतैव समुदायधर्मः।

यथा :—

राजानमपि सेवन्ते विषमप्युपभुञ्जते।
रमन्ते च सह स्त्रीभिः कुशलाः खलु मानवाः॥

इत्यादौ।

नहीं [अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य के "कदली कदली, करभः करभः, करिराजकरः करिराजकरः" इत्यादि उदाहरणों में वाच्यार्थ व्यङ्ग्यरूपतया परिणत हो जाता है] इसलिए उस ['न्यक्कारः' आदि] में वाक्य [सम्पूर्ण श्लोक] ध्वनिरूप है और पद तो गुणीभूत व्यङ्ग्यरूप हैं।

और केवल गुणीभूतव्यङ्ग्य पद ही असंलक्ष्यक्रम व्यङ्ग्य [रसादि] ध्वनि के व्यञ्जक नहीं होते हैं अपितु अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य ध्वनि स्वरूप वाले पद भी [रसादि ध्वनि के अभिव्यञ्जक होते हैं] जैसे इसी श्लोक में 'रावण' इस [पद] का ध्वनि के दूसरे प्रभेद [अर्थान्तर संक्रमित वाच्य] का [वीर रस का] व्यञ्जकत्व है। जहां गुणीभूत व्यङ्ग्य पदों से [रसादि के] प्रकाशित होने पर भी, वाक्य रसादिपर नहीं होता वहां गुणीभूत व्यङ्ग्यता ही समुदाय [वाक्य] का भी धर्म होती है। जैसे :—

चतुर मनुष्य [अत्यन्त दुःसाध्य] राजा की सेवा भी कर सकते हैं, [सद्यः प्राण विनाशक] विष भी खा सकते हैं, और [त्रियाचरित वाली] स्त्रियों के साथ रमण भी कर सकते हैं।

इत्यादि में।

यहां 'राजा की सेवा, विष का भक्षण, और स्त्रियों के साथ विहार अत्यन्त कष्ट साध्य और विपरीत परिणामजनक होते हैं'। इत्यादि व्यङ्ग्य से विशिष्ट वाच्य अर्थ चमत्कार युक्त हो जाता है। अतः यहाँ गुणीभूत व्यङ्ग्यता है। साथ ही शान्त रस के अङ्ग निर्वेद स्थायी भाव की भी अभिव्यक्ति उन से होती

---

१. ध्वनिप्रभेदान्तररूपस्य, नि० दी०।

वाच्यव्यङ्ग्ययोश्च प्राधान्याप्राधान्यविवेके परः प्रयत्नो विधातव्यः। येन ध्वनिगुणीभूतव्यङ्ग्ययोरलङ्काराणां चासङ्कीर्णो विषयः सुज्ञातो भवति। अन्यथा तु प्रसिद्धालङ्कारविषय एव व्यामोहः प्रवर्तते। यथा[1] :—

लावण्यद्रविणव्ययो न गणितः क्लेशो महान् स्वीकृतः[2],
[3]स्वच्छन्दस्य सुखं जनस्य वसतश्चिन्तानलो दीपितः।
एषापि स्वयमेव तुल्यरमणाभावाद्वराकी हता,
कोऽर्थश्चेतसि वेधसा विनिहितस्तन्व्यास्तनुं तन्वता॥

इत्यत्र [4]व्याजस्तुतिरलङ्कार इति व्याख्यायि केनचित्, तन्न चतुरस्रम्। यतोऽस्याभिधेयस्य, एतदलङ्कारस्वरूपमात्रपर्यवसायित्वे [5]न सुश्लिष्टता।

है। परन्तु उसका प्राधान्य विवक्षित न होने से पद और वाक्य दोनों ही गुणीभूत व्यङ्ग्य हैं।

वाच्य और व्यङ्ग्य के प्राधान्य अप्राधान्य के परिज्ञान के लिए अत्यन्त यत्न करना चाहिए जिससे ध्वनि, गुणीभूत व्यङ्ग्य और अलङ्कारों का सङ्कर रहित विषय भली प्रकार से समझ में आ जावे। [अन्यथा तु] उसके बिना तो प्रसिद्ध [वाच्य] अलङ्कारों के विषय में ही भ्रम हो जाता है। जैसे—

[इसके शरीर निर्माण में विधाता ने] लावण्य सम्पत्ति के व्यय की चिन्ता भी नहीं की, [स्वयं] महान् कष्ट उठाया, स्वच्छन्द और सुखपूर्वक बैठे हुए [सम्बन्धी] लोगों के लिए चिन्ताग्नि प्रदीप्त कर दिया और अनुरूप वर के अभाव में यह विचारी भी मारी गई। मालूम नहीं विधाता ने इस सुन्दरी के शरीर की रचना करने में कौन लाभ सोचा था।

इसमें व्याजस्तुति अलङ्कार है ऐसी व्याख्या किसी ने की है, वह ठीक नहीं है। इसके अर्थ को केवल व्याजस्तुति के स्वरूप पर्यवसायी मानने से वह [इसका वाच्यार्थ] सुसङ्गत नहीं होता। क्योंकि यह किसी रागी [उस सुन्दरी में अनुरक्त, अथवा मलिन वासना वाले पुरुष] का वितर्क [विचार-

---

१. तथाहि नि०, दी०। २. अर्जितः नि०। ३. स्वच्छन्दं चरतो जनस्य हृदये चिन्ताज्वरो निर्मितः नि० सखीजनस्य दी०। ४. इति। अत्र दी०। ५. पर्यवसायित्वेन नि०।

यतो न तावदयं रागिणः कस्यचिद्विकल्पः। तस्य 'एषापि स्वयमेव तुल्यरमणाभावाद्वराकी हता' इत्येवंविधोक्त्यनुपपत्तेः। नापि नीरागस्य। तस्यैवंविधविकल्पपरिहारैकव्यापारत्वात्।

न चायं श्लोकः क्वचित् प्रबन्ध इति श्रूयते, येन तत्प्रकरणानुगतार्थतास्य परिकल्प्यते।

तस्मादप्रस्तुतप्रशंसेयम्। यस्मादनेन वाक्येन गुणीभूतात्मना निःसामान्यगुणावलेपाध्मातस्य निजमहिमोत्कर्षजनित समत्सरजनज्वरस्य

धारा] नहीं है। उस [अनुरागयुक्त अथवा मलिन वासना युक्त] की [ओर से] अनुरूप पति के न मिलने से यह विचारी भी मारी गई इस प्रकार का कथन सङ्गत नहीं जान पड़ता। [क्योंकि अनुरक्त पुरुष तो अपने को ही उसके योग्य समझता है। उसके मुंह स्वयं अपनी निन्दा अनुपपन्न है। और मलिन वासना वाले पुरुष की ओर से यह कारुण्योक्ति सम्भव नहीं हो सकती] और न किसी राग रहित पुरुष की [यह उक्ति है] क्योंकि उस [वीतराग पुरुष] का इस प्रकार के [रागजन्य] विक्षेपों का परिहार ही प्रधान व्यापार है। [वीतराग पुरुष जगत् से अत्यन्त उदासीन होता है वह इस प्रकार के विषय का विचार भी नहीं कर सकता है]।

यहां निष्फल और असङ्गत कार्य करने वाले विधाता की निन्दा वाच्य है। उससे अनन्यसामान्य सौन्दर्यशालिनी रमणी के निर्माण कौशल की सम्पत्ति द्वारा, व्यङ्ग्य रूप से विधाता की स्तुति सूचित होने से, व्याजस्तुति हो सकती है। यह व्याजस्तुति मानने वाले का आशय है। खण्डन करने का आशय यह है कि इसमें असाधारण सौन्दर्यशालिनी रमणी के निर्माण से जो विधाता की स्तुति गम्य मानी जा सकती है, वह तभी, जब कि यह किसी अनुरक्त पुरुष की उक्ति हो। परन्तु अनुरक्त पुरुष कुरूप होने पर भी कामावेश में अपने को ही उसके अनुरूप समझता है उसके मुख से 'तुल्यरमणाभावद्वाराकी हता' यह उक्ति उचित नहीं प्रतीत होती। इसलिए यहां विधाता की स्तुति गम्य न होने से यह व्याजस्तुति अलङ्कार नहीं है।

और यह श्लोक किसी प्रबन्ध [काव्य] में है, यह भी नहीं सुना है जिससे उस के प्रकरण के अनुकूल अर्थ की कल्पना की जा सके [और उसके आधार पर व्याजस्तुति अलङ्कार की सङ्गति लगाई जाय]।

इसलिए यह अप्रस्तुत प्रशंसा [अलङ्कार] है। क्योंकि इस [गुणी-

विशेषज्ञमात्मनो न कञ्चिदेवापरं पश्यतः परिदेवितमेतदिति प्रकाश्यते। तथा चायं धर्मकीर्तेः श्लोक इति प्रसिद्धिः। सम्भाव्यते च तस्यैव। यस्मात्—

अनध्यवसितावगाहनमनल्पधीशक्तिना-
प्यदृष्टपरमार्थतत्वमधिकाभियोगैरपि।
मतं मम जगत्यलब्धसदृशप्रतिग्राहकं,
प्रयास्यति पयोनिधेः पय इव स्वदेहे जराम्॥

इत्यनेनापि श्लोकेनैवंविधोऽभिप्रायः प्रकाशित एव।

भूत स्वरूप] अप्रस्तुत वाच्य [अर्थ] से अलोकसामान्य [लोकोत्तर ज्ञानादि] गुणों के दर्प से गर्वित, अपने [पाण्डित्य आदि] महिमा के उत्कर्ष से, ईर्ष्यालु प्रतिपक्षियों के मन में ईर्ष्या ज्वर उत्पन्न कर देने वाले और किसी को अपने [ग्रन्थादि का] विशेषज्ञ न समझने वाले, किसी [धर्मकीर्ति सरीखे महाविद्वान्] का यह निर्वेद सूचक वचन है। ऐसा प्रतीत होता है। जैसा कि यह धर्मकीर्ति का श्लोक है। यह प्रसिद्ध भी है। [क्षेमेन्द्र ने अपनी औचित्य विचार चर्चा में लिखा है कि लावण्यद्रविण व्ययो न गणितः इत्यादि 'धर्म कीर्तेः'] और उस ही का हो भी सकता है। क्योंकि—

अनल्प-प्रचुर-धीशक्ति [बुद्धि] वाले पुरुष भी जिस मेरे दार्शनिक मत को [अवगाहन] पूर्णतया समझ नहीं सकते हैं और अधिक ध्यान देने पर भी उसके रहस्य तक नहीं पहुँच पाते हैं ऐसा मेरा मत [दार्शनिक सिद्धान्त] संसार में योग्य गृहीता के अभाव के कारण, अनल्पशक्ति युक्त पुरुष भी जिस [समुद्र-जल] के अवगाहन का साहस न कर सकें, और अत्यन्त ध्यान देने पर भी जिस के रत्नों को न देख सके, ऐसे समुद्र के जल के समान अपने [धर्मकीर्ति अथवा समुद्र के] शरीर में ही जीर्ण हो जावेगा।

इस श्लोक में भी इसी प्रकार [अपने अनन्य सदृश पाण्डित्य का गर्व और योग्य गृहीता न मिलने से अपने ज्ञान के निष्फलत्व से उत्पन्न निर्वेद रूप] का अभिप्राय प्रकट किया ही गया है।

यहां पहिले श्लोक में प्रथम चरण के वाच्य लावण्यद्रविणव्यय के गणनाभाव और क्लेशातिशय स्वीकार से परिदेवक, धर्मकीर्ति अथवा उसकी कृति के अद्भुतगुणमण्डितत्व, द्वितीय चरण के वाच्य अप्रस्तुत स्वच्छन्द जनों के चिन्तानलोत्पादन से अपने अथवा अपनी कृति के उत्कर्ष के कारण प्रतिस्पर्धी विद्वानों में

अप्रस्तुतप्रशंसायां च यद्वाच्यं तस्य कदाचिद्विवक्षितत्वं, कदाचिद-विवक्षितत्वं, कदाचिद्विवक्षिताविवक्षितत्वमिति त्रयी बन्धच्छाया। तत्र विवक्षितत्वं यथा—

परार्थे यः पीडामनुभवति भङ्गेऽपि मधुरो,
यदीयः सर्वेषामिह खलु विकारोऽप्यभिमतः।
न संप्राप्तो वृद्धिं यदि स भृशमक्षेत्रपतितः,
किमिक्षोर्दोषोऽसौ न पुनरगुणाया मरुभुवः॥

'ईर्ष्योद्भावन रूप और तृतीय चरण के वाच्य अप्रस्तुत तुल्यरमणाभावाद्वराकी हता आदि से सर्वाधिकम्मन्यत्व और विधाता के तन्वीनिर्माण निष्फलत्व रूप, चतुर्थ चरण के अप्रस्तुत वाच्य से अपने अथवा अपनी कृति के निर्माण के निष्फलत्व से निर्वेद रूप प्रस्तुत की प्रतीति होने से 'अप्रस्तुतात्प्रस्तुतं चेद् गम्यते' इत्यादि रूप अप्रस्तुत प्रशंसा अलङ्कार है।

अगला अनध्यवसितावगाहन आदि श्लोक भी धर्मकीर्ति का श्लोक है। उसमें भी इसी प्रकार का निर्वेद अभिव्यक्त होता है। धर्मकीर्ति बौद्ध दार्शनिक हुए हैं। उनके 'प्रमाण वार्तिक' और 'न्याय बिन्दु' ग्रन्थ बौद्ध न्याय के उत्कृष्ट ग्रन्थ है और अत्यन्त प्रसिद्ध है। इस श्लोक में उन्होंने इस बात पर दुःख प्रकट किया है कि उनके मत को यथार्थ रूप में समझने वाला कोई नहीं मिलता है। योग्य समझ सकने वाले विद्वान् के अभाव में उनका मत समुद्र के पानी के समान उनके भीतर ही पड़ा-पड़ा जरा को प्राप्त हो जायगा। इस श्लोक के समानार्थ ही पूर्वोक्त लावण्यादि श्लोक भी धर्मकीर्ति का ही श्लोक प्रतीत होता है और उसमें अप्रस्तुतप्रशंसा अलङ्कार ही मानना उचित है। व्याजस्तुति मानना ठीक नहीं है।

अप्रस्तुत प्रशंसा में जो वाच्य होता है वह कहीं [उपपद्यमान होने से] विवक्षित, कहीं [अनुपपद्यमान होने से] अविवक्षित और कहीं [अंशतः उपपद्यमान होने से] विवक्षिताविवक्षित होता है। इस प्रकार तीन प्रकार की रचना-शैली होती है। [अप्रस्तुतप्रशंसा के पांच भेदों में से अन्तिम तुल्य अप्रस्तुत से तुल्य प्रस्तुत की प्रतीति रूप जो पञ्चम भेद है उसके ही यह तीन भेद होते हैं। शेष चारों के नहीं] उनमें से [वाच्य अप्रस्तुत] के विवक्षितत्व का [उदाहरण] जैसे—

['परार्थे यः पीड़ां' इत्यादि श्लोक प्रथम उद्योत में पृष्ठ ८५ पर आ

यथा वा ममैव—

> अमी ये दृश्यन्ते ननु सुभगरूपाः, सफलता
> भवत्येषां यस्य क्षणमुपगतानां विषयताम् ।
> निरालोके लोके कथमिदमहो चक्षुरधुना,
> समं जातं सर्वैर्न सममथवान्यैरवयवैः ॥

अनयोर्हि द्वयोः श्लोकयोरिक्षुचक्षुषी विवक्षितस्वरूपे एव, न च[1] प्रस्तुते । महागुणस्याविषयपतितत्वादप्राप्तपरभागस्य कस्यचित्स्वरूपमुपवर्णयितुं द्वयोरपि श्लोकयोस्तात्पर्येण प्रस्तुतत्वात् ।

अविवक्षितत्वं यथा—

चुका है । वहां से उसका अर्थ देखो । यहां अप्रस्तुत विवक्षित वाच्य इक्षु पद से प्रस्तुत महापुरुष की प्रतीति होने से अप्रस्तुतप्रशंसा अलङ्कार है और वाच्यार्थ भी उपपद्यमान होने से विवक्षित है ।]

अथवा जैसे मेरा ही—

यह जो सुन्दर आकृति वाले [मनुष्यों के हाथ, पैर, मुख आदि अवयव] दिखाई देते हैं, इन [अङ्गों] की सफलता जिस [चक्षु] के क्षणमात्र को विषय होने [दिखाई देने के] कारण होती है, आश्चर्य है कि [इस समय] इस अन्धकारमय जगत् में वह चक्षु भी कैसे अन्य सब अवयवों के समान [व्यर्थ] अथवा समान भी नहीं [अपितु उन से भी गई बीती] हो गई है । [क्योंकि अन्धकार में भी हाथ, पैर आदि अवयवों से काम लिया जा सकता है परन्तु चक्षु तो बिल्कुल ही बेकार है । यहाँ अप्रस्तुत चक्षु से किसी अत्यन्त कुशल महापुरुष की, निरालोक-विवेकहीन स्वामी आदि के सम्बन्ध से अन्य अवययों के साम्य से कार्याक्षमत्व आदि प्रस्तुत की प्रतीति होने से अप्रस्तुत प्रशंसा है और उसमें वाच्यार्थ, उपपन्न होने से विवक्षित है ।]

इन दोनों ['परार्थे यः पीडां०' इत्यादि तथा 'अमी ये०' इत्यादि श्लोकों] में इक्षु और चक्षु दोनों विवक्षित स्वरूप और अप्रस्तुत हैं । अस्थान [निर्गुण स्वामी आदि] के सम्बन्ध से उत्कर्ष को प्राप्त न हो सकने वाले

---

१. तु नि०, दी० ।

कस्त्वं भोः ! कथयामि दैवहतकं मां विद्धि शाखोटकं,
वैराग्यादिव वक्षि, साधु विदितं, कस्मादिदं कथ्यते ।
वामेनात्र वटस्तमध्वगजनः सर्वात्मना सेवते,
न च्छायाऽपि परोपकारकरणे मार्गस्थितस्यापि मे ॥

न हि वृक्षविशेषेण सहोक्तिप्रत्युक्ती सम्भवत इत्यविवक्षिताभिधेयेनैवानेन श्लोकेन समृद्धासत्पुरुषसमीपवर्तिनो निर्धनस्य कस्यचिन्मनस्विनः परिदेवितं तात्पर्येण वाक्यार्थीकृतमिति प्रतीयते ।

विवक्षितत्वाविवक्षितत्वं यथा—

उप्पहजाआए असोहिणीएँ फलकुसुमपत्तरहिआए ।
वेरीएँ वइं देन्तो पामर हो ओहसिज्जिहसि ।

किसी महा गुणवान् पुरुष के स्वरूप की प्रशंसा के लिए ही दोनों श्लोक तात्पर्य रूप से प्रस्तुत हैं । [अप्रस्तुत इक्षु तथा चक्षु से प्रस्तुत महापुरुष की प्रशंसा करना ही दोनों श्लोकों का तात्पर्य है अतः यहाँ अप्रस्तुत प्रशंसा अलङ्कार है और इक्षु, चक्षु दोनों विवक्षित हैं] ।

अविवक्षित वाच्य [का उदाहरण] जैसे—

अरे तुम कौन हो ? बताता हूँ, मुझे भाग्य का मारा [अभागा] शाखोट [सिहोरा नामक वृक्ष विशेष] जानो । कुछ वैराग्य से कह रहे हो ऐसा जान पड़ता है । ठीक समझे । ऐसे क्यों कह रहे हो [क्या बात है] । यहाँ से बाईं [रास्ते से हट कर उलटी] ओर बड़ा बड़ का वृक्ष है । पथिक लोग [उसके नीचे लेटने, बैठने, रोटी बनाने, सोने आदि में] सब प्रकार से उसका सहारा लेते हैं और ठीक रास्ते में खड़ा होने पर भी मेरी छाया से भी किसी का उपकार नहीं होता । [इसी बात का मुझे दुःख है] ।

वृक्ष विशेष [शाखोट] के साथ प्रश्नोत्तर नहीं हो सकते हैं इसलिए अविवक्षित वाच्य [जिसका वाच्य अप्रस्तुत अर्थ शाखोट और प्रश्नकर्ता पथिक आदि अर्थ विवक्षित नहीं हैं] इस श्लोक में समृद्ध दुष्ट पुरुष के समीप रहने वाले किसी निर्धन मनस्वी पुरुष के दुःखोद्गार ही को तात्पर्य रूप से वाक्यार्थ बनाया है ऐसा प्रतीत होता है ।

विवक्षिताविवक्षित [वाच्य अप्रस्तुत प्रशंसा का उदाहरण] जैसे—

कुमार्ग [दूसरे पक्ष में नीच कुल] में उत्पन्न हुई, कुरूप [वृक्ष पक्षमें

[*उत्पथजाताया अशोभनायाः फलकुसुमपत्ररहितायाः ।*
बदर्या वृत्तिं ददत् पामर भो अवहसिष्यसे ॥ इतिच्छाया]

अत्र हि वाच्यार्थो नात्यन्तं सम्भवी न चासम्भवी[1] ।
तस्माद्वाच्यव्यङ्ग्ययोः प्राधान्याप्राधान्ये यत्नतो निरूपणीये ॥४१॥

गुणप्रधानभावाभ्यां व्यङ्ग्यस्यैवं व्यवस्थिते ।
काव्ये उभे ततोऽन्यद्यत् तच्चित्रमभिधीयते ॥४२॥
चित्रं शब्दार्थभेदेन द्विविधं च व्यवस्थितम् ।
तत्र किञ्चिच्छब्दचित्रं वाच्यचित्रमतः परम् ॥४३॥

कंटीली और स्त्री पक्ष में बदसूरत], फल, फूल और पत्रों से रहित [स्त्री पक्ष में सन्तान आदि से रहित], बेरी [दूसरे पक्ष में ऐसी किसी स्त्री] की बाड़ लगाते हुए [स्त्रीपक्ष में उसकी रक्षा करते या घर में बसाते हुए] अरे मूर्ख तेरा सब लोग उपहास करेंगे ।

यहाँ [अप्रस्तुत बेरी की बाड़ लगाना अनुचित होने से वाच्य अविवक्षित, और प्रस्तुत स्त्री पक्ष में किसी प्रकार वृत्ति-शरण-देना या घर में बसाना आदि रूप से उपयोगी होने से वाच्य विवक्षित हो सकता है । इस प्रकार विवक्षिताविवक्षित वाच्य अप्रस्तुत प्रशंसा का उदाहरण है] वाच्य न सर्वथा सम्भवी है और न अत्यन्त असम्भवी है ।

इसलिए वाच्य और व्यङ्ग्य के प्राधान्य और अप्राधान्य का यत्नपूर्वक निरीक्षण करना चाहिए ॥४१॥

इस प्रकार ध्वनि और गुणीभूत व्यङ्ग्य के निरूपण का उपसंहार कर अब आगे काव्य के तीसरे भेद चित्र काव्य का निरूपण प्रारम्भ करते हैं ।

चित्रकाव्य निरूपण—

इस प्रकार व्यङ्ग्य के प्रधान और गुणभाव से स्थित होने पर वह दोनों [ध्वनि और गुणीभूत व्यङ्ग्य] काव्य होते हैं । और उन से भिन्न जो [काव्य रह जाता] है उसे [चित्र के समान काव्य के तात्विक व्यङ्ग्यरूप से विहीन छन्दोबद्ध काव्य की प्रतिकृति के समान होने से] चित्र [काव्य] कहते हैं ।

---

१. नि०, दी० में 'न चासम्भवी' इतना पाठ नहीं है ।

व्यङ्ग्यस्यार्थस्य प्राधान्ये [1]ध्वनिसंज्ञितकाव्यप्रकारः, गुणभावे तु गुणीभूतव्यङ्ग्यता। ततोऽन्यद्रसभावादितात्पर्यरहितं व्यङ्ग्यार्थविशेषप्रकाशनशक्तिशून्यं च काव्यं केवलवाच्यवाचकवैचित्र्यमात्राश्रयेणोपनिबद्धमालेख्यप्रख्यं यदाभासते तच्चित्रम्। न तन्मुख्यं काव्यम्। काव्यानुकारो ह्यसौ। तत्र किञ्चिच्छब्दचित्रं, यथा दुष्करयमकादि। वाच्यचित्रं ततः शब्दचित्रादन्यद् व्यङ्ग्यार्थसंस्पर्शरहितं, प्राधान्येन वाक्यार्थतया स्थितं रसादितात्पर्यरहितमुत्प्रेक्षादि।

शब्द और अर्थ के भेद से चित्र [काव्य] दो प्रकार का होता है। इनमें से कुछ शब्द चित्र होते हैं और उन [शब्द चित्र] से भिन्न अर्थचित्र [कहलाते] हैं।

व्यङ्ग्य अर्थ का प्राधान्य होने पर ध्वनि नाम का काव्य भेद [होता है] और गौण होने पर गुणीभूत व्यङ्ग्यत्व होता है। उन [ध्वनि तथा गुणीभूत व्यङ्ग्य दोनों] से भिन्न रस, भाव आदि में तात्पर्य से रहित, और व्यङ्ग्यार्थ विशेष के प्रकाशन की शक्ति से रहित, केवल वाच्य वाचक [अर्थ और शब्द] के वैचित्र्य के आधार पर निर्मित जो काव्य आलेख्य [चित्र] के समान [तात्त्विक रूप रहित प्रतिकृति मात्र] प्रतीत होता है उस को चित्र [काव्य] कहते हैं। वह मुख्य रूप से [यथार्थ] काव्य नहीं है अपितु काव्य की अनुकृति [नक़ल] मात्र है। उनमें से कुछ शब्द चित्र होते हैं जैसे दुष्कर यमक आदि। और अर्थचित्र शब्दचित्र से भिन्न, व्यङ्ग्य संस्पर्श रहित, रसादि तात्पर्य से शून्य, प्रधान वाक्यार्थ रूप से स्थित उत्प्रेक्षा आदि [अर्थचित्र या वाच्यचित्र] होते हैं।

'चित्र काव्य' को रसादि तात्पर्य रहित और व्यङ्ग्यार्थविशेष के प्रकाशन की शक्ति से शून्य कहा है। यह दोनों विशेषण रसादि के अविवक्षितत्व और व्यङ्ग्यार्थ विशेष के अविवक्षितत्व को मान कर ही सङ्गत होंगे। वैसे तो प्रत्येक पदार्थ का काव्य में किसी न किसी रस से कुछ न कुछ सम्बन्ध होता ही है। क्योंकि अन्ततः विभावत्व तो सभी पदार्थों में आ सकता है। इसलिये उनका सर्वथा रसादि रहित होना सम्भव नहीं है। इसलिये रसादि तात्पर्य रहित का अर्थ यही है कि व्यङ्ग्य अर्थ होने पर भी यदि वह विवक्षित नहीं है तो 'चित्र काव्य' होगा। इसी प्रकार व्यङ्ग्यार्थविशेषप्रकाशन शक्ति शून्यता भी व्यङ्ग्य वस्तु आदि के अविवक्षित होने पर ही समझनी चाहिये।

---

१. ध्वनिसंज्ञितः दी०, संजित नि०।

अथ किमिदं चित्रं नाम ? यत्र न प्रतीयमानार्थसंस्पर्शः । प्रतीयमानो ह्यर्थस्त्रिभेदः प्राक् प्रदर्शितः । तत्र, यत्र वस्त्वलङ्कारान्तरं वा व्यङ्ग्यं नास्ति स नाम चित्रस्य कल्प्यतां विषयः । यत्र तु रसादीनामविषयत्वं स काव्यप्रकारो न सम्भवत्येव । यस्माद्वस्तुसंस्पर्शिता काव्यस्य नोपपद्यते । वस्तु च सर्वमेव जगद्गतमवश्यं कस्यचिद् रसस्य [1]भावस्य वाङ्गत्वं प्रतिपद्यते, [2]अन्ततो विभावत्वेन । चित्तवृत्तिविशेषा हि रसादयः । न च तदस्ति वस्तु किञ्चिद् यन्न चित्तवृत्तिविशेषमुपजनयति । तदनुत्पादने वा कविविषयतैव तस्य न स्यात् । कविविषयश्च चित्रतया कश्चिन्निरूप्यते ।

[पूर्वपक्ष] अच्छा यह 'चित्र काव्य' क्या है ? जिस में प्रतीयमान [व्यङ्ग्य] अर्थ का सम्बन्ध न हो ? [उसी को चित्र काव्य कहते हैं, न ?] प्रतीयमान अर्थ [वस्तु, अलङ्कार और रसादि रूप] तीन प्रकार का होता है यह बात पहिले प्रतिपादन कर चुके हैं। उनमें से जहां वस्तु अथवा अलङ्कारादि व्यङ्ग्य न हो उसको उसे 'चित्र काव्य' का विषय भले ही मान लो। [परन्तु] जो रसादि का विषय न हो ऐसा कोई काव्य भेद सम्भव नहीं है। क्योंकि काव्य में किसी वस्तु का संस्पर्श [पदार्थ बोधकत्व] न हो यह युक्तिसङ्गत नहीं है। और संसार की सभी वस्तुएं किसी रस या भाव का अङ्ग अवश्य ही बन जाती हैं [अन्य रूप से रस सम्बन्ध न सम्भव हो सके तो भी] अन्ततः विभाव रूप से [प्रत्येक वस्तु का किसी न किसी रस से सम्बन्ध हो ही जाता है] रसादि [के अनुभवात्मक होने से और अनुभव के चित्तवृत्ति रूप होने से] चित्तवृत्ति विशेष रूप ही है। और [संसार में] ऐसी कोई वस्तु नहीं है जो किसी प्रकार की चित्तवृत्ति को उत्पन्न न करे। अथवा यदि वह [वस्तु] उस [चित्तवृत्ति] को उत्पन्न नहीं करती है तो वह कवि का विषय ही नहीं हो सकती है। [क्योंकि सांख्य, योग आदि दर्शनों के सिद्धान्त में इन्द्रिय प्रणालिका अर्थात् श्रोत्र आदि द्वारा चित्त का विषय के साथ सम्बन्ध होने पर चित्त का अर्थाकार जो परिणाम होता है उसी को चित्तवृत्ति कहते हैं। और उसी से पुरुष को बोध होता है। चित्तवृत्ति प्रमाण अर्थात् प्रमा का साधन रूप होती है और उससे पुरुष को जो बोध होता है वही प्रमा या उसका फल कहलाता है। इसी को ज्ञान कहते हैं। इसलिए यदि चित्तवृत्ति उत्पन्न न हो तो उस

---

१. कस्यचिद्रसस्य चाङ्गत्वं नि० । २. अन्ततो पाठ नि० में नहीं है ।

अत्रोच्यते। सत्यं न तादृक् काव्यप्रकारोऽस्ति यत्र रसादीनामप्रतीतिः[1]। किन्तु यदा रसभावादिविवक्षाशून्यः कविः शब्दालङ्कारमर्थालङ्कारं वोपनिबध्नाति तदा तद्विवक्षापेक्षया रसादिशून्यतार्थस्य परिकल्प्यते। विवक्षोपारूढ एव हि काव्ये शब्दानामर्थः। वाच्यसामर्थ्यवशेन च कविविवक्षाविरहेऽपि तथाविधे विषये रसादिप्रतीतिर्भवन्ती परिदुर्बला भवतीत्यनेनापि प्रकारेण नीरसत्वं परिकल्प्य चित्रविषयो व्यवस्थाप्यते। तदिदमुक्तम्—

रसभावादिविषयविवक्षाविरहे सति।
अलङ्कारनिबन्धो यः स चित्रविषयो मतः॥
रसादिषु विवक्षा तु स्यात्तात्पर्यवती यदा।
तदा नास्त्येव तत्काव्यं ध्वनेर्यत्र[2] न गोचरः॥

एतच्च चित्रं कवीनां विशृङ्खलगिरां रसादितात्पर्यमनपेक्ष्यैव काव्य-

---

पदार्थ का ज्ञान ही नहीं हो सकता है। अतः वह कवि के ज्ञान का विषय नहीं हो सकती है।] कवि का विषय [भूत] कोई पदार्थ ही चित्र [काव्य, कवि कर्म] कहलाता है।

[सिद्धान्त पक्ष] ठीक है, ऐसा कोई काव्य प्रकार नहीं है जिसमें रसादि की प्रतीति न हो। किन्तु रस, भाव आदि की विवक्षा से रहित कवि, जब अर्थालङ्कार अथवा शब्दालङ्कार की रचना करता है तब उसकी विवक्षा की दृष्टि से [काव्य में] रसादिशून्यता की कल्पना करते हैं। काव्य में विवक्षित अर्थ ही शब्द का अर्थ होता है। उस प्रकार के [चित्र काव्य] के विषय में कवि की [रसादि विषयक] विवक्षा न होने पर भी यदि रसादि की प्रतीति होती है तो वह दुर्बल होती है इसलिए भी उसको नीरस मान कर चित्र काव्य का विषय माना है। सो ऐसा कहा भी है—

रस, भाव आदि की विवक्षा के अभाव में जो अलङ्कारों की रचना है वह चित्र [काव्य] का विषय माना गया है।

और जब रस भाव आदि की तात्पर्य रूप [प्रधान रूप] से विवक्षा हो तब ऐसा कोई काव्य नहीं हो सकता है जो ध्वनि का विषय न हो।

विशृङ्खल वाणी वाले कवियों की, रसादि में तात्पर्य की अपेक्षा किए बिना

---

१. रसादीनामविप्रतिपत्तिः नि०। २. यत्तु दी०।

प्रवृत्तिदर्शनादस्माभिः परिकल्पितम् । इदानीन्तनानां तु न्याय्ये काव्य-नयव्यवस्थापने क्रियमाणे नास्त्येव ध्वनिव्यतिरिक्तः काव्यप्रकारः । यतः परिपाकवतां कवीनां रसादितात्पर्यविरहे व्यापार एव न शोभते । रसादितात्पर्ये च नास्त्येव तद्वस्तु यदभिमतरसाङ्गतां नीयमानं न प्रगुणी· भवति । अचेतना अपि हि भावा यथायथमुचितरसविभावतया[1] चेतन-वृत्तान्तयोजनया वा न सन्त्येव ते ये यान्ति न रसाङ्गताम् । तथा चेदमुच्यते—

> अपारे काव्यसंसारे कविरेकः प्रजापतिः ।
> यथास्मै रोचते विश्वं तथेदं परिवर्तते ॥
> शृङ्गारी चेत्कविः काव्ये जातं रसमयं जगत् ।
> स एव वीतरागश्चेन्नीरसं सर्वमेव तत् ॥
> भावानचेतनानपि चेतनवच्चेतनानचेतनवत् ।
> व्यवहारयति यथेष्टं सुकविः काव्ये स्वतन्त्रतया ॥

ही काव्य [रचना की] प्रवृत्ति देखने से ही हमने इस चित्र [काव्य] की कल्पना की है । उचित काव्यमार्ग का निर्धारण कर दिए जाने पर [ध्वनि प्रस्थापन के बाद के] आधुनिक कवियों के लिए तो ध्वनि से भिन्न और कोई काव्य प्रकार है ही नहीं । रसादि तात्पर्य के बिना परिपाकवान् कवियों का व्यापार ही शोभित नहीं होता । [यत्पदानि त्यजन्त्येव परिवृत्तिसहिष्णुताम् । तं शब्दन्यास-निष्णाताः शब्दपाकं प्रचक्षते ॥ रसादि की दृष्टि से उचित शब्द और अर्थ की, जिसमें एक भी शब्द को इधर उधर अथवा परिवर्तन करने का अवकाश न हो—इस प्रकार की रचना का जिनको अभ्यास हो गया है वह कवि परिपाक-युक्त कवि होते हैं] । रसादि [में] तात्पर्य होने पर तो कोई वस्तु ऐसी नहीं है जो अभिमत रस का अङ्ग बनाने पर चमक न उठे । [प्रशस्तगुण युक्त न हो जाय] । अचेतन पदार्थ भी कोई ऐसे नहीं हैं जो कि ढंग से, उचित रस के विभाव रूप से अथवा [उनके साथ] चेतन व्यवहार के सम्बन्ध द्वारा रस का अङ्ग न बन सकें । जैसा कि कहा भी है—

अनन्त काव्य जगत् में [उसका निर्माता] केवल कवि ही एक प्रजापति [ब्रह्मा] है । उसे जैसा अच्छा लगता है यह विश्व उसी प्रकार बदल जाता है ।

---

१. उचितरसभावतया नि०, दी० ।

तस्मान्नास्त्येव तद्वस्तु यत्सर्वात्मना रसतात्पर्यवतः कवेस्तदिच्छया तदभिमतरसाङ्गतां न धत्ते। तथोपनिबध्यमानं वा न चारुत्वातिशयं पुष्णाति सर्वमेतच्च महाकवीनां काव्येषु दृश्यते। अस्माभिरपि स्वेषु काव्यप्रबन्धेषु यथायथं दर्शितमेव। स्थिते चैवं सर्व एव काव्यप्रकारो न ध्वनिधर्मतामतिपतति। रसाद्यपेक्षायां कवेर्गुणीभूतव्यङ्ग्यलक्षणोऽपि प्रकारस्तदङ्गतामवलम्बते, इत्युक्तं[1] प्राक्।

यदा तु चाटुषु देवतास्तुतिषु वा रसादीनामङ्गतया व्यवस्थानं, हृदयवतीषु च [2]सप्रज्ञकगाथासु कासुचिद् व्यङ्ग्यविशिष्टवाच्ये[3] प्राधान्यं तदपि गुणीभूतव्यङ्ग्यस्य ध्वनिनिष्यन्दभूतत्वमेवेत्युक्तं प्राक्। तदेवमिदानीन्तनकविकाव्यनयोपदेशे क्रियमाणे प्राथमिकानामभ्यासार्थिनां यदि परं चित्रेण व्यवहारः। प्राप्तपरिणतीनान्तु ध्वनिरेव काव्यमिति स्थितमेतत्।

यदि कवि रसिक [शृङ्गार प्रधान] है तो यह सारा जगत् रसमय [शृङ्गारमय] हो जाता है और यदि वह वैरागी है तो यह वह सब ही नीरस हो जाता है।

सुकवि [अपने] काव्य में अचेतन पदार्थों को भी चेतन के समान और चेतन पदार्थों को भी अचेतन के समान जैसा चाहता है वैसा व्यवहार कराता है।

पूर्ण रूप से रस में तत्पर कवि की ऐसी कोई वस्तु नहीं हो सकती है जो उसकी इच्छा से उसके अभिमत रस का अङ्ग न बन जाय अथवा इस प्रकार [रसाङ्गतया] उपनिबद्ध हो कर चारुत्वातिशय को पोषित न करे। यह सब कुछ ,महाकवियों के काव्यों में दृष्टिगोचर होता है। हमने भी अपने काव्य-प्रबन्धों [विषमबाणलीला, अर्जुनचरित और देवीशतक आदि] में उचित रूप से दिखाया है। इस प्रकार [सब पदार्थों का रस के साथ सम्बन्ध] स्थित हो जाने पर [सर्व एव] कोई भी काव्य प्रकार ध्वनिरूपता का अतिक्रमण नहीं करता। कवि को रसादि की अपेक्षा होने पर गुणीभूतव्यङ्ग्य रूप भेद भी इस [ध्वनि] का अङ्ग बन जाता है, यह पहिले कह चुके हैं।

जब राजा आदि की स्तुतियों [चाटु, खुशामद, राजादि की स्तुति]

---

१. इत्युक्तं नि० में नहीं है। २. षड्प्रज्ञादिगाथासु नि०, षट् प्रज्ञादिगाथासु दी० ३. व्यङ्ग्यविशिष्टवाच्यात् नि०, दी०।

तदयमत्र संग्रहः—

यस्मिन् रसो वा भावो वा तात्पर्येण प्रकाशते ।
संवृत्याभिहितं[1] वस्तु यत्रालङ्कार एव वा ॥
काव्याध्वनि ध्वनिर्व्यङ्ग्यप्राधान्यैकनिबन्धनः[2] ।
सर्वत्र तत्र विषयी ज्ञेयः सहृदयैर्जनैः ॥४३॥

सगुणीभूतव्यङ्ग्यैः सालङ्कारैः सह प्रभेदैः स्वैः ।
सङ्करसंसृष्टिभ्यां पुनरप्युद्योतते बहुधा ॥४४॥

अथवा देवताओं की स्तुतियों में रसादि की अङ्गरूप से [भावरूप से] स्थिति हो, और [प्राकृत कवियों की गोष्ठी में हिअअललिया नाम से प्रसिद्ध विशेष प्रकार की] हृदयवती [नामक] सहृदयों ['सप्रज्ञकाः सहृदया उच्यन्ते' इति लोचनम्] की किन्हीं गाथाओं में व्यङ्ग्य विशिष्ट वाच्य में प्राधान्य हो तब भी गुणीभूतव्यङ्ग्य, ध्वनि की विशेष धारा रूप ही होता है यह बात पहिले कह आए हैं । [दीधितिकार ने सप्रज्ञक की जगह षट्प्रज्ञक पाठ माना है—धर्मार्थकाममोक्षेषु लोकतत्वार्थयोरपि । षट्सु प्रज्ञास्ति यस्योच्चैः षट्प्रज्ञ इति संस्मृतः ॥ इति त्रिकाण्ड शेषः ।] इस प्रकार [ध्वनि के ही प्रधान होने पर] आधुनिक कवियों के लिए काव्यनीति का उपदेश [शिक्षण] करने में [स्थिति इस प्रकार है कि] यदि [आवश्यकता हो तो], केवल अभ्यासार्थी भले ही 'चित्र काव्य' का व्यवहार कर लें, परन्तु परिपक्व [सिद्धहस्त] कवियों के लिए तो ध्वनि ही [एकमात्र] काव्य है यह सिद्ध हो गया ।

इसलिए इस विषय में यह [सारांश] संग्रह हुआ :—

जिस काव्य मार्ग में रस अथवा भाव, तात्पर्य [प्रधान] रूप से प्रकाशित हों अथवा जिसमें गोप्यमान रूप [कामिनी कुच कलशवत् सौन्दर्यातिशय हेतु से] से वस्तु अथवा अलङ्कार प्रकाशित हों, उन सब में केवल व्यङ्ग्य के प्राधान्य के कारण सहृदयजन, ध्वनि को विषयी [तीनों प्रकार की ध्वनि जिसका विषय है ऐसा] अथवा प्रधान समझें ॥४३॥

अलङ्कारों सहित गुणीभूत व्यङ्ग्यों के साथ, और अपने भेदों के साथ सङ्कर तथा संसृष्टि से [ध्वनि] फिर अनेक प्रकार का प्रकाशित होता है ।

---

१. संवृत्याभिहितौ बा० प्रि० । ५. ध्वनेर्व्यङ्ग्यं प्राधान्यैकनिबन्धनः नि०, दी० ।

तस्य च ध्वनेः स्वप्रभेदैः, गुणीभूतव्यङ्ग्येन, वाच्यालङ्कारैश्च सङ्करसंसृष्टिव्यवस्थायां क्रियमाणायां बहुप्रभेदता लक्ष्ये दृश्यते। तथाहि स्वप्रभेदसङ्कीर्णः, स्वप्रभेदसंसृष्टो, गुणीभूतव्यङ्ग्यसङ्कीर्णो, गुणीभूतव्यङ्ग्यसंसृष्टो, वाच्यालङ्कारान्तरसङ्कीर्णो, वाच्यालङ्कारान्तरसंसृष्टः, संसृष्टालङ्कारसङ्कीर्णः, संसृष्टालङ्कारसंसृष्टश्चेति बहुधा ध्वनिः प्रकाशते।

उस ध्वनि के अपने भेदों के साथ, गुणीभूत व्यङ्ग्य के साथ, और वाच्यालङ्कारों के साथ, सङ्कर और संसृष्टि [दो या अधिक भेदों की परस्पर निरपेक्ष स्वतन्त्र रूप से एक जगह स्थिति को संसृष्टि कहते हैं। और अङ्गाङ्गि-भाव आदि रूप में स्थिति होने पर सङ्कर होता है। सङ्कर के 'अङ्गाङ्गिभाव सङ्कर', 'एकाश्रयानुप्रवेश सङ्कर' और 'सन्देहसङ्कर' यह तीन भेद होते हैं] की व्यवस्था करने पर लक्ष्य [काव्यों] में बहुत भेद दिखाई देते हैं। इस प्रकार १—अपने भेदों [ध्वनि के मुख्य भेदों] के साथ सङ्कीर्ण [त्रिविधसङ्कर युक्त] २—अपने भेदों के साथ संसृष्ट, [अनपेक्षतया स्थित] ३—गुणीभूत व्यङ्ग्य के साथ सङ्कीर्ण, ४—गुणीभूत व्यङ्ग्य के साथ संसृष्ट, ५—वाच्य अन्य अलङ्कारों के साथ सङ्कीर्ण, ६—वाच्य अन्य अलङ्कारों के साथ संसृष्ट, ७—संसृष्ट अलङ्कारों के साथ सङ्कीर्ण, ८—संसृष्ट अलङ्कारों के साथ संसृष्ट इस रूप में बहुत प्रकार का ध्वनि प्रकाशित होता है।

लोचनकार के अनुसार ध्वनि के ३५ भेदों की गणना :—

लोचनकार ने द्वितीय उद्योत की ३१ वीं कारिका तथा तृतीय उद्योत की इस तेंतालीसवीं कारिका की व्याख्या करते हुए दो जगह ध्वनि के प्रभेदों की गणना की है। पहिली जगह 'एवं ध्वनेः प्रभेदान् प्रतिपाद्य' इस मूल ग्रन्थ की व्याख्या करते हुए ध्वनि के पैंतीस भेदों की गणना इस प्रकार की है :—

'अविवक्षितवाच्यो विवक्षितान्यपरवाच्यश्चेति द्वौ मूलभेदौ। आद्यस्य द्वौ भेदौ, अत्यन्ततिरस्कृतवाच्योऽर्थान्तरसंक्रमितवाच्यश्च। द्वितीयस्य द्वौ भेदौ, अलक्ष्यक्रमोऽनुरणनरूपश्च। प्रथमोऽनन्तभेदः। द्वितीयो द्विविधः, शब्दशक्तिमूलोऽर्थशक्तिमूलश्च। पश्चिमस्त्रिविधः कविप्रौढोक्तिकृतशरीरः, कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्तिकृतशरीरः, स्वतःसम्भवी च। ते च प्रत्येकं व्यङ्ग्यव्यञ्जकयोरुक्तभेदनयेन चतुर्धेति द्वादशविधोऽर्थशक्तिमूलः। आद्याश्चत्वारो भेदा इति षोडश मुख्यभेदाः। ते च पदवाक्यप्रकाशत्वेन प्रत्येकं द्विविधा वक्ष्यन्ते। अलक्ष्यक्रमस्य तु वर्णपदवाक्यसङ्घटनाप्रबन्धप्रकाश्यत्वेन पञ्चत्रिंशद् भेदाः।'

अर्थात् ध्वनि के अविवक्षितवाच्य [लक्षणामूल] और विवक्षितान्य-

परवाच्य [अभिधामूल] यह दो मूल भेद हैं। उनमें से प्रथम अर्थात् अविवक्षित वाच्य के अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य और अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य यह दो भेद होते हैं। द्वितीय अर्थात् विवक्षितान्यपरवाच्य [अभिधा मूल] ध्वनि के असंलक्ष्यक्रम-व्यङ्ग्य और संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य यह दो भेद होते हैं। इनमें से प्रथम असंलक्ष्यक्रम व्यङ्ग्य [रसादि ध्वनि] के अनन्त भेद हैं। इसलिए वह सब मिला कर एक ही माना जाता है। दूसरे अर्थात् संलक्ष्यक्रम व्यङ्ग्य के शब्दशक्तिमूल और अर्थशक्तिमूल इस प्रकार दो भेद होते हैं। इनमें से अन्तिम अर्थात् अर्थशक्त्युद्भव ध्वनि के स्वतःसम्भवी, कविप्रौढ़ोक्तिसिद्ध तथा कविनिबद्ध-वक्तृप्रौढ़ोक्तिसिद्ध यह तीन भेद होते हैं। इन तीनों भेदों में से प्रत्येक, व्यङ्ग्य और व्यञ्जक दोनों में उक्तभेद [वस्तु और अलङ्कार] नीति से चार भेद होकर कुल बारह प्रकार का अर्थशक्त्युद्भव ध्वनि होता है। इन बारह भेदों में से पहिले चार भेद अर्थात् अविवक्षित वाच्य के दो भेद तीसरा असंलक्ष्यक्रम व्यङ्ग्य और चौथा शब्दशक्त्युत्थ भेद मिला देने से बारह और चार मिल कर सोलह भेद हुए। यह सब पदगत और वाक्यगत होने से दो प्रकार के होकर ३२ भेद हुए। असंलक्ष्यक्रम व्यङ्ग्य पद और वाक्य के अतिरिक्त वर्ण, सङ्घटना तथा प्रबन्ध में भी प्रकाश्य होने से उसके तीन भेद और जुड़ कर ध्वनि के कुल ३५ भेद हो जाते हैं। इनमें जहां 'व्यङ्ग्यव्यञ्जकयोरुक्तभेदनयेन चतुर्धेति' लिखा है वहां कुछ पाठ भ्रष्ट हो गया जान पड़ता है।

काव्यप्रकाश कृत ५१ ध्वनिभेद :—

जहां लोचनकार ने ध्वनि के कुल ३५ भेद माने हैं, वहां काव्य-प्रकाश ने ५१ शुद्ध भेदों की गणना की है। उनकी गणना की शैली इस प्रकार है :—

अविवक्षितवाच्यो यस्तत्र वाच्यं भवेद् ध्वनौ।
अर्थान्तरे संक्रमितमत्यन्तं वा तिरस्कृतम् ॥ २४ ॥
विवक्षितं चान्यपरं वाच्यं यत्रापरस्तु सः।
कोऽप्यलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यो लक्ष्यव्यङ्ग्यक्रमः परः ॥ २५ ॥
रसभावतदाभासभावशान्त्यादिरक्रमः ।
भिन्नो रसाद्यलङ्कारादलङ्कार्यतया स्थितः ॥ २६ ॥
अनुस्वानाभसंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यस्थितिस्तु यः ।
शब्दार्थोभयशक्त्युत्थस्त्रिधा स कथितो ध्वनिः ॥ २७ ॥

अलङ्कारोऽथ वस्त्वेव शब्दाद्यत्रावभासते ।
प्रधानत्वेन स ज्ञेयः शब्दशक्त्युद्भवो द्विधा ॥ २८ ॥
अर्थशक्त्युद्भवोऽप्यर्थो व्यञ्जकः सम्भवी स्वतः ।
प्रौढोक्तिमात्रात्सिद्धो वा कवेस्तेनोम्भितस्य वा ॥ २९ ॥
वस्तु वालंकृतिर्वेति षड्भेदोऽसौ व्यनक्ति यत् ।
वस्त्वलङ्कारमथवा तेनायं द्वादशात्मक : ॥
शब्दार्थोभयभूरेकः, भेदा अष्टादशास्य तत् ।
रसादीनामनन्तत्वाद् भेद एको हि गण्यते ॥

अर्थात् अविवक्षितवाच्य में अर्थान्तरसंक्रमित वाच्य तथा अत्यन्त-तिरस्कृत वाच्य यह दो भेद और विवक्षितान्यपर वाच्य में शब्दशक्त्युत्थ के वस्तु, अलङ्कार रूप दो भेद, अर्थशक्त्युत्थ के बारह भेद, उभय शक्त्युत्थ का एक भेद और असंलक्ष्य क्रम व्यङ्ग्य का एक भेद इस प्रकार विवक्षितान्यपर वाच्य के २+१२+१+१=१६, तथा अविवक्षितवाच्य के दो कुल मिलाकर १६+२=१८ अठारह भेद हुए।

वाक्ये द्व्युत्थः, पदेऽप्यन्ये, प्रबन्धेऽप्यर्थशक्तिभू : ।
पदैकदेशरचनावर्णेष्वपि रसादयः ॥
भेदास्तदेकपञ्चाशत् ॥

अर्थात् ऊपर जो १८ भेद दिखाए थे उनमें से उभयशक्त्युत्थ भेद केवल पद में होने से एक, और शेष सत्रह भेद पद तथा वाक्य में होने से ३४ और अर्थशक्त्युद्भव के बारह भेद प्रबन्धगत भी होने से बारह और मिल कर १+३४+१२=४७ और रसादि असंलक्ष्यक्रम के १. पदैकदेश, २. रचना, ३. वर्ण, तथा अपि शब्द से ४. प्रबन्धगत चार भेद और मिला कर ४७+४=५१ भेद होते हैं। साहित्यदर्पणादि में भी यही ५१ भेद प्रकारान्तर से दिखाए हैं। साहित्यदर्पण के भेदों का वह प्रकार हम इस उद्योत के प्रारम्भ में पृ० २११ पर दिखा चुके हैं।

'लोचन' तथा 'काव्यप्रकाश' के भेदों की तुलना—

ऊपर दिए हुए विवरण के अनुसार 'लोचन' में ध्वनि के शुद्ध ३५ भेद दिखाए है और 'काव्यप्रकाश' तथा 'साहित्यदर्पण' आदि में उनके स्थान पर ५१ भेद दिखाए गए हैं। इस प्रकार 'लोचन' तथा 'काव्यप्रकाश' आदि के भेदों में १६

भेदों का अन्तर है। अर्थात् काव्यप्रकाश आदि में लोचन से सोलह भेद अधिक दिखाए गए हैं। यह सोलहों भेदों का अन्तर विवक्षितान्यपरवाच्य अर्थात् अभिधामूल ध्वनि के भेदों में ही हुआ है। जिनमें मुख्य भेद तो अर्थशक्त्युद्भव ध्वनि के भेदों में है। लोचनकार ने अर्थशक्त्युद्भव ध्वनि के बारह भेद दिखा कर फिर उनके पद और वाक्य गत भेद दिखाए हैं। इस प्रकार अर्थशक्त्युद्भव ध्वनि के २४ भेद हो जाते हैं। 'काव्यप्रकाशकार' ने पद और वाक्य के अतिरिक्त प्रबन्ध में भी अर्थशक्त्युद्भव के बारह भेद माने हैं। जो लोचनकार ने नहीं दिखाए। इस प्रकार लोचन के मत में अर्थशक्त्युद्भव के २४ भेद और काव्यप्रकाश के अनुसार ३६ भेद होते हैं। अर्थात् बारह भेदों का अन्तर तो इस में है। इसके अतिरिक्त शब्दशक्त्युत्थ ध्वनि के लोचनकार ने केवल पदगत तथा वाक्यगत यह दो भेद किए हैं। वस्तु और अलङ्कार के भेद से भेद नहीं किए हैं। काव्यप्रकाश में शब्दशक्त्युत्थ के वस्तु और अलङ्कार व्यङ्ग्य के भेद से दो भेद करके फिर उनके पद-गत तथा वाक्यगत भेद किए हैं। अतः काव्यप्रकाश में शब्दशक्त्युत्थ के चार भेद होते हैं और लोचन में केवल दो भेद। अतः दो भेदों का अन्तर यहां आता है। इसके अतिरिक्त लोचन में उभयशक्त्युत्थ नाम का कोई भेद परिगणित नहीं किया है। काव्यप्रकाश में उभयशक्त्युत्थ को भी एक भेद माना गया है। इस लिए काव्यप्रकाश में एक भेद यह बढ़ जाता है। इस प्रकार शब्दशक्त्युत्थ में वस्तु तथा अलङ्कार के दो भेद, अर्थशक्त्युत्थ में प्रबन्धगत बारह भेद, और उभयशक्त्युत्थ का एक भेद यह सब मिलकर १५ भेद तो संलक्ष्यक्रम व्यङ्ग्य के अन्तर्गत काव्यप्रकाश में अधिक दिखाए हैं। और सोलहवां भेद असंलक्ष्यक्रम की गणना में अधिक है। असंलक्ष्यक्रम व्यङ्ग्य रसादि ध्वनि का वैसे तो 'लोचन' तथा काव्यप्रकाश दोनों जगह एक ही भेद माना है। परन्तु लोचन में उस असंलक्ष्यक्रम व्यङ्ग्य के १ पद, २ वाक्य, ३ वर्ण, ४ सङ्घटना तथा ५ प्रबन्ध में व्यङ्ग्य होने से पांच भेद माने हैं। काव्यप्रकाश में इन पांचों के अतिरिक्त पदैकदेश अर्थात् प्रकृति-प्रत्ययादि गत एक भेद और माना है। अतः काव्य-प्रकाश में असंलक्ष्यक्रम व्यङ्ग्य के भेदों में भी एक भेद अधिक होने से 'लोचन' की अपेक्षा कुल सोलह भेद अधिक हो जाते हैं। इसलिए जहां लोचन में ध्वनि के शुद्ध ३५ भेद दिखाए हैं, वहां काव्यप्रकाश में ध्वनि के शुद्ध ५१ भेद दिखाए गए हैं।

संसृष्टि तथा सङ्कर भेद से लोचनकार की गणना—

न केवल इन शुद्ध भेद की गणना में ही यह अन्तर पाया जाता है अपितु

उन शुद्ध भेदों का संसृष्टि तथा सङ्कर भेद से जब आगे विस्तार किया जाता है तो उस विस्तार में भी साहित्यशास्त्र के विविध ग्रन्थों में अत्यन्त महत्वपूर्ण भेद पाया जाता है। लोचनकार ने गुणीभूतव्यङ्ग्य, अलङ्कार तथा ध्वनि के अपने भेदों के साथ संसृष्टि तथा सङ्कर से ध्वनि के ७४२० भेद दिखाए हैं। काव्यप्रकाशकार ने केवल ध्वनि के इक्यावन शुद्ध भेदों की संसृष्टि तथा सङ्कर से १०४०४ और उनमें ५१ शुद्ध भेदों को जोड़ कर १०४५५ भेद दिखाए हैं। और साहित्यदर्पणकार ने सङ्कर तथा संसृष्टि कृत ५३०४ तथा ५१ शुद्ध भेदों को जोड़ कर ५३५५ भेद दिखाए हैं।

पूर्वे ये पञ्चत्रिंशद्भेदा उक्तास्ते गुणीभूतव्यङ्ग्यस्यापि मन्तव्याः। स्वप्रभेदास्तावन्तः। अलङ्कार इत्येकसप्ततिः। तत्र सङ्करत्रयेण संसृष्ट्या च गुणने द्वे शते चतुरशीत्यधिके [२८४]। तावता पञ्चत्रिंशतो मुख्यभेदानां गुणने सप्त सहस्राणि चत्वारि शतानि विंशत्यधिकानि [७४२०] भवन्ति।

लोचन० उद्योत ३, का० ४३

भेदास्तदेकपञ्चाशत् तेषां चान्योन्ययोजने।
सङ्करेण त्रिरूपेण संसृष्ट्या चैकरूपया॥
वेदखाब्धिवियच्चन्द्राः [१०४०४], शरेषुयुगखेन्दवः। [१०४५५]

काव्यप्रकाश चतुर्थोल्लास ६२, ६५।

तदेवमेकपञ्चाशद्भेदास्तस्य ध्वनेर्मताः।
सङ्करेण त्रिरूपेण संसृष्ट्या चैकरूपया।
वेदखाग्निशराः [५३०४], शुद्धैरिषुबाणाग्निसायकाः। [५३५५]

साहित्यदर्पण चतुर्थ परिच्छेद १२।

इन तीनों में यद्यपि लोचनकार सबसे अधिक प्राचीन और सबसे अधिक प्रामाणिक हैं, परन्तु इस विषय में उनकी गणना सबसे अधिक चिन्त्य है। उन्होंने ध्वनि के शुद्ध ३५ भेद, उतने ही [३५ ही] गुणीभूत व्यङ्ग्य के, और अलङ्कारों का मिला कर एक भेद, इस प्रकार कुल ७१ भेदों की संसृष्टि तथा सङ्कर दिखाने के लिए ७१ को चार से गुणा कर ७१×४=२८४ भेद किए। और उनको फिर शुद्ध पैंतीस भेदों से गुणा कर २८४×३५=७४२० भेद दिखाए हैं। इस में सबसे बड़ी त्रुटि तो यही दिखाई देती है कि २८४ और ३५ का गुणा करने से गुणनफल ९९४० होता है परन्तु लोचनकार उसके स्थान पर केवल

७४२० लिख रहे हैं। यह गणना की प्रत्यक्ष दिखाई देने वाली त्रुटि है। इसके अतिरिक्त और भी विशेष बात इस प्रसङ्ग में चिन्तनीय है।

'लोचन' की एक और चिन्त्य गणना :—

लोचनकार ने 'पूर्वं ये पञ्चत्रिंशद्भेदा उक्तास्ते गुणीभूतव्यङ्गयस्यापि मन्तव्याः।' लिख कर जितने ध्वनि के भेद होते हैं उतने ही गुणीभूत व्यङ्गय के भी भेद माने हैं। परन्तु काव्यप्रकाश ने इस विषय का प्रतिपादन कुछ भिन्न प्रकार से किया है। वह लिखते है :—

'एषां भेदा यथायोगं वेदितव्याश्च पूर्ववत्।

यथायोगमिति :—

व्यज्यन्ते वस्तुमात्रेण यदालंकृतयस्तदा।
ध्रुवं ध्वन्यङ्गता तासां काव्यवृत्तेस्तदाश्रयात्॥ [ध्व० २, २९]

इति ध्वनिकारोक्तदिशा वस्तुमात्रेण यत्रालङ्कारो व्यज्यते न तत्र गुणीभूत व्यङ्गयत्वम्।'　　का० प्र० ५, ४६।

'तथा हि स्वतःसम्भवि-कविप्रौढ़ोक्तिसिद्ध-कविनिबद्धवक्तृप्रौढ़ोक्तिसिद्ध-वस्तुव्यङ्गयालङ्काराणां पदवाक्यप्रबन्धगतत्वेन वस्तुव्यङ्गयालङ्कारस्य नवविधत्वमिति ध्वनिप्रभेदसंख्यैकपञ्चाशतो नवन्यूनेन [५१ – ९ = ४२] अष्टानां भेदानां प्रत्येकं द्विचत्वारिंशद् [४२] विधत्वमिति मिलित्वा ४२ × ८ = ३३६। गुणीभूत-व्यङ्गयस्य षट्त्रिंशदधिकत्रिशतभेदाः [३३६]'　　काव्यप्रकाश टीका।

इसके अनुसार काव्यप्रकाशकार ने ध्वनि के अर्थशक्त्युद्भव भेद के अन्तर्गत वस्तु से अलङ्कार व्यङ्गय के स्वतःसम्भवी, कविप्रौढ़ोक्तिसिद्ध, तथा कवि-निबद्धवक्तृप्रौढ़ोक्तिसिद्ध यह तीन भेद और उनमें से प्रत्येक के पद, वाक्य तथा प्रबन्ध गत होने से ३ × ३ = ९ वस्तु से अलङ्कार व्यङ्गय के कुल नौ भेद दिखाए थे। इन नौ प्रकारों में केवल ध्वनि ही होता है गुणीभूत व्यङ्गय नहीं जसा कि ध्वन्यालोक की ऊपर उद्धृत कारिका से सिद्ध होता है। अतः ध्वनि के ५१ भेदों में से इन नौ को कम करके ५१ – ९ = ४२ भेद होते हैं। इसलिए कुल मिलाकर ४२ × ८ = ३३६ गुणीभूत व्यङ्गय के शुद्ध भेद होते हैं। यह काव्यप्रकाशकार का आशय है।

इसका अभिप्राय यह हुआ कि काव्यप्रकाश ने ध्वन्यालोक की ऊपर उद्धृत की हुई [२, २९] कारिका के आधार पर वस्तु से अलङ्कार व्यङ्गय के

नौ भेदों को कम करके गुणीभूत व्यङ्ग्य के भेद माने हैं। क्योंकि जहां वस्तु से अलङ्कार व्यङ्ग्य होता है, वहां ध्वन्यालोक की उक्त कारिका के अनुसार 'ध्रुवं ध्वन्यङ्गता' ध्वनि ही होती है। गुणीभूत व्यङ्ग्य नहीं। लोचनकार ने इस ओर ध्यान नहीं दिया है। न केवल इस गणना में अपितु वस्तु तथा अलङ्कार व्यङ्ग्य के भेद से गणना करने का ध्यान भी उनको नहीं रहा है। इसलिए अर्थशक्त्युद्भव के जो बारह भेद उन्होंने दिखाए हैं, उसमें भी त्रुटि रह गई है। उभयशक्त्युद्भव को भी जो लोचनकार छोड़ गए हैं वह सब चिन्त्य है।

'काव्यप्रकाश' तथा 'साहित्यदर्पण' की गणना :—

जैसा कि ऊपर दिखाया जा चुका है 'काव्यप्रकाश' तथा 'साहित्यदर्पण' दोनों में ध्वनि के शुद्ध ५१ भेद माने गए हैं। परन्तु इनकी संसृष्टि और सङ्कर प्रक्रिया से जो भेद संख्या दोनों ग्रन्थों में निकाली गई है उसमें दोनों ग्रन्थों में बहुत भेद है। 'काव्यप्रकाश' में संसृष्टि सङ्कर कृत भेदों की संख्या १०४०४ तथा साहित्य दर्पण में ५३०४ संख्या दी गई है। इस संख्या भेद का कारण वस्तुतः गणना शैलियों का भेद है। 'साहित्यदर्पण' ने 'सङ्कलनप्रक्रिया' से और 'काव्य-प्रकाश' ने 'गुणनप्रक्रिया' से भेदों की गणना की है। इसीलिए इन दोनों में संख्या का इतना भेद आता है।

गुणन प्रक्रिया :—

इसका अभिप्राय यह है कि ध्वनि के ५१ भेदों का एक दूसरे के साथ मिश्रण करने से प्रत्येक भेद का एक अपने सजातीय और पचास विजातीय भेदों के साथ मिश्रण हो सकता है। उदाहरण के लिए अर्थान्तरसंक्रमितवाच्यध्वनि के उसी उदाहरण में दूसरे अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य ध्वनि की भी निरपेक्षतया स्थिति हो सकती है। उस दशा में 'मिथोऽनपेक्षतयैषां स्थितिः संसृष्टिरुच्यते।' एक उदाहरण में दो जगह अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य ध्वनि के रहने से उनकी संसृष्टि हो सकती है। यह तो सजातीय भेद के साथ संसृष्टि हुई। इसी प्रकार उसकी पचास अन्य भेदों के साथ जो संसृष्टि होगी, वह विजातीय भेदों से संसृष्टि कहलावेगी। इस प्रकार एक भेद के संसृष्टि जन्य इक्यावन भेद हो सकते हैं।

ध्वनि के शुद्ध इक्यावन भेदों में से प्रत्येक के यह इक्यावन भेद हो सकते है। परन्तु उन सब का योग क्या होगा। इस प्रश्न पर जब विचार करते हैं तब वहीं सङ्कलन और गुणन की प्रक्रियाओं का भेद उपस्थित होता है। साधारणतः इक्यावन भेदों में से प्रत्येक के इक्यावन भेद होते हैं इस लिए इक्यावन को इक्यावन

से गुणा कर देने पर ५१४५१=२६०१ भेद संसृष्टि जन्य हो सकते हैं। यह परिणाम 'गुणनप्रक्रिया' से निकल सकता है। इसी को यहां हमने 'गुणनप्रक्रिया' कहा है। इस संसृष्टि के अतिरिक्त १. 'अङ्गाङ्गिभाव सङ्कर', २. 'सन्देह सङ्कर' और ३. एकाश्रयानुप्रवेश सङ्कर यह तीन प्रकार का सङ्कर भी हो सकता है। इसलिए इससे तिगुने अर्थात् २६०१ × ३ = ७८०३ सङ्कर कृत भेद हो सकते हैं। संसृष्टि तथा सङ्कर कृत इन कुल भेदों को जोड़ देने से २६०१ + ७८०३ = १०४०४ भेद होते हैं। यही संख्या काव्यप्रकाश में ध्वनि भेदों की दी है। इसमें ५१ शुद्ध भेदों को और जोड़ देने से १०४५५ भेद काव्यप्रकाश के अनुसार हो जाते है। इस प्रक्रिया में संसृष्टि के भेद मालूम करने के लिए इक्यावन इक्यायन का गुणा किया गया है इसलिए हमने इस प्रक्रिया को 'गुणनप्रक्रिया' कहा है। और काव्यप्रकाश ने इस गुणनप्रक्रिया को ही यहां अपनाया है।

सङ्कलन प्रक्रिया —

यहाँ ध्वनि भेदों की गणना में काव्यप्रकाशकार ने 'गुणनप्रक्रिया' का अवलम्बन किया है। परन्तु काव्यप्रकाश के दशम उल्लास में विरोधालङ्कार के प्रकरण में उन्होंने इससे भिन्न प्रक्रिया का अवलम्बन किया है।

जातिश्चतुर्भिर्जात्याद्यैर्विरुद्धा स्याद्गुणस्त्रिभिः।
क्रिया द्वाभ्यामपि द्रव्यं द्रव्येणैवेति ते दश॥

इसका अभिप्राय यह है कि १. जाति, २. गुण, ३. क्रिया और ४. द्रव्य इन चारों का परस्पर विरोध वर्णन करने पर विरोधालङ्कार होता है। और उसके दस भेद होते हैं। साधारणतः जाति का जाति आदि चारों के साथ विरोध हो सकता है। इसलिए उसके विरोध के चार भेद हुए, एक सजातीय के साथ और तीन विजातीयों के साथ। इसी प्रकार गुण का भी एक सजातीय और तीन विजातीयों के साथ विरोध हो कर चार भेद हो सकते हैं। इसी प्रकार क्रिया और द्रव्य के भी चार-चार भेद हो सकते हैं। इसलिए यदि ध्वनि स्थल वाली 'गुणन-प्रक्रिया' का अवलम्बन किया जाय तो यहाँ भी चार और चार का गुणा करके विरोध के सोलह भेद होने चाहिएं। परन्तु काव्यप्रकाशकार ने यहाँ केवल दस भेद माने हैं। और उनका परिगणन इस प्रकार किया है कि यद्यपि चारों के चार-चार भेद ही होते हैं परन्तु जाति का गुण के साथ जो विरोध है उसकी गणना जाति विरोध वाले चार भेदों में आ चुकी है। इसलिए गुण के जाति के साथ भेद की गणना में विद्यमान उस भेद को सबका हिसाब करते समय कम कर

देना चाहिए। अन्यथा वह एक भेद दो जगह जुड़ जाने से संख्या ठीक नहीं रहेगी। इसलिए जाति के विरोध के चार भेद होंगे परन्तु गुण के विरोध में तीन ही भेद रह जावेंगे। क्योंकि एक भेद की गणना पहिले आ चुकी है। इसी प्रकार क्रिया विरोध के भेदों में एक और कम होकर दो और द्रव्य के विरोध के भेदों में क्रमश: एक और कम होकर केवल एक ही भेद गणना योग्य रह जायगा। इसलिए विरोध की कुल संख्या जानने के लिए चार और चार का गुणा नहीं करना चाहिए अपितु एक से लेकर चार तक की संख्याओं को जोड़ना चाहिए। क्योंकि जाति के ४, गुण के ३, क्रिया के २ और द्रव्य का १ भेद ही गणना में सम्मिलित होने योग्य रह जाता है। अतएव एक से लेकर चार तक जोड़ देने से विरोध के १० भेद होते हैं। इस प्रकार विरोध अलङ्कार के दस भेद होते हैं। इस प्रक्रिया में एक से लेकर चार तक का सङ्कलन या जोड़ किया गया है। इसलिए इस प्रकार को हमने 'सङ्कलन प्रक्रिया' कहा है।

साहित्यदर्पण की 'सङ्कलन प्रक्रिया' की शैली—

साहित्यदर्पणकार ने ध्वनि प्रभेदों की गणना में इसी 'सङ्कलन प्रक्रिया' वाली शली का अवलम्बन किया है। ध्वनि के शुद्ध भेद तो काव्यप्रकाश तथा 'साहित्यदर्पण' दोनों में इक्यावन ही माने गए हैं। परन्तु उनके संसृष्टि तथा सङ्कर कृत भेदों की संख्या में बहुत अधिक अन्तर हो गया है। इसका कारण यही गुणन तथा सङ्कलन प्रक्रिया वाली शलियों का भेद है। काव्यप्रकाशकार ने विरोधालङ्कार के स्थल में जिस शैली का अवलम्बन किया है, साहित्यदर्पणकार ने ध्वनि भेदों की गणना में उसी शली का अवलम्बन किया है। इस प्रक्रिया के अनुसार ध्वनि के प्रथम भेद की एक सजातीय और पचास विजातीय भेदों के साथ मिल सकने से ५१ प्रकार की संसृष्टि होगी। इसी प्रकार दूसरे भेद की भी ५१ प्रकार की संसृष्टि होगी। परन्तु उनमें से एक की गणना पहिले भेद के साथ हो चुकी है इसलिए दूसरे भेद की केवल ५० प्रकार की संसृष्टि परिगणनीय रह जायगी। इसी प्रकार तीसरे भेद की ४६, चौथे भेद की ४८, इत्यादि क्रम से एक-एक घटते-घटते अन्तिम भेद की केवल एक प्रकार की संसृष्टि गणना योग्य रह जायगी। इसलिए संसृष्टि के कुल भेदों की संख्या जानने के लिए इक्यावन को इक्यावन से गुणा न करके एक से लेकर इक्यावन तक की संख्याओं को जोड़ना उचित है। साहित्यदर्पणकार ने एक से इक्यावन तक की संख्याओं को जोड़ कर ही १३२६ प्रकार की संसृष्टि और उससे तिगुने १३२६ × ३ = ३९७८ सङ्कर

भेदों को जोड़ कर यह १३२६+३६७८=५३०४ संख्या निकाली है। इसलिए साहित्यदर्पण की शली को हमने सङ्कलन प्रक्रिया की शैली कहा है।

सङ्कलन की लघु प्रक्रिया—

सङ्कलन प्रक्रिया के अनुसार एक से लेकर इक्यावन तक की संख्याओं के जोड़ने के लिए गणित शास्त्र की प्राचीन संस्कृत पुस्तक 'लीलावती' में एक विशेष प्रकार दिया है—

एको राशिर्द्विधा स्थाप्य एकमेकाधिकं कुरु।
समार्धेनासमो गुण्य एतत्सङ्कलितं लघु॥

अर्थात् एक से लेकर जहाँ तक जोड़ करना हो उस अन्तिम राशि को दो जगह लिख लो, और उनमें से एक संख्या में एक और जोड़ दो। ऐसा करने से एक संख्या सम हो जायगी और एक विषम। इनमें जो सम संख्या हो उसका आधा करके उससे विषम संख्या को गुणा कर दो। जैसे यहाँ एक से लेकर इक्यावन तक जोड़ना है तो एक जगह इक्यावन और दूसरी जगह उसमें एक जोड़ कर बावन लिखा जाय। इसमें बावन संख्या सम है इसलिए उसका आधा कर छब्बीस से विषम संख्या इक्यावन को गुणा कर देने से ५१×२६=१३२६ संख्या आती है। यही एक से लेकर इक्यावन तक जोड़ होगा। इसको चौगुना कर देने से ५३०४ संसृष्टि तथा सङ्कर कृत भेद हुए और उनमें ५१ शुद्ध भेदों को मिला देने से साहित्यदर्पण की [सङ्कलन] प्रक्रिया के अनुसार ध्वनि के ५३५५ भेद होते हैं।

इस प्रकार काव्यप्रकाश तथा साहित्यदर्पण में ध्वनि भेदों की गणना में जो यह भेद पाया जाता है इसका कारण दोनों जगह अपनाई गई गुणन प्रक्रिया और सङ्कलन प्रक्रिया वाली शैलियों का भेद है यह स्पष्ट हो गया।

काव्यप्रकाश की द्विविध शैली का कारण :—

'काव्यप्रकाश' और 'साहित्यदर्पण' में ध्वनि के भेदों की संख्या में जो अन्तर पाया जाता है उसका कारण ज्ञात हो जाने पर भी एक प्रश्न यह रह जाता है कि काव्यप्रकाशकार ने ध्वनि तथा विरोधालङ्कार की गणना के प्रसङ्ग में अलग-अलग शैलियों का अवलम्बन क्यों किया। साधारणतः विरोधालङ्कार के स्थल में उन्होंने जो 'सङ्कलनप्रक्रिया' का अवलम्बन किया है वही उचित प्रतीत होता है। उसी के अनुसार ध्वनिभेदों की भी गणना वैसे ही करनी चाहिए थी जसे साहित्यदर्पण में की गई है। परन्तु काव्यप्रकाशकार ने ध्वनि के प्रसङ्ग में उस

शैली का अवलम्बन नहीं किया है। यद्यपि उन्होंने इस भेद का कोई कारण स्वयं नहीं दिया है परन्तु उनके टीकाकारों ने उसकी सङ्गति लगाने का प्रयत्न किया है।

ऊपर यह दिखाया था कि ध्वनि के ५१ शुद्ध भेदों में से प्रत्येक की इक्यावन प्रकार की संसृष्टि हो सकती है। परन्तु गणना का योग करते समय प्रथम भेद के इक्यावन प्रकार के बाद दूसरे भेद के ५० प्रकार ही गिने जावेंगे क्योंकि दूसरे भेद के साथ प्रथम भेद की जो संसृष्टि होगी उसकी गणना तो प्रथम भेद की गणना में ही आ चुकी है। इसी प्रकार अगले भेदों में एक-एक संख्या घटते-घटते अन्तिम भेद की केवल एक ही प्रकार की संसृष्टि गणना योग्य रह जायगी। इसलिए 'सङ्कलनप्रक्रिया' वाली शली में एक से लेकर इक्यावन तक का जोड़ किया जाता है। परन्तु 'गुणनप्रक्रिया' वाली शैली में एक-एक भेद घटाने वाला क्रम नहीं रहता है। उसमें प्रत्येक भेद की इक्यावन प्रकार की ही संसृष्टि होती है। इसलिये ५१ × ५१ का गुणा ही किया जाता है। गुणन प्रक्रिया में जो एक-एक भेद को घटाया नहीं जाता है इसका कारण उन संसृष्टियों में वैजात्य की कल्पना है। अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य की अत्यन्त तिरस्कृत वाच्य के साथ जो संसृष्टि है वह इन दोनों के भेद में आवेगी। इसलिए 'सङ्कलनप्रक्रिया' में उसको केवल एक ही जगह सम्मिलित किया जाता है। परन्तु यह भी हो सकता है कि अर्थान्तर संक्रमित वाच्य की अत्यन्त तिरस्कृत वाच्य के साथ जो संसृष्टि हो वह, अत्यन्त तिरस्कृत वाच्य के साथ अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य की संसृष्टि भिन्न प्रकार की हो। एक में अर्थान्तर संक्रमित का और दूसरे में अत्यन्त तिरस्कृत का प्राधान्य होने से वह दोनों संसृष्टियां अलग-अलग ही हों। इसलिए उन दोनों की ही गणना होना आवश्यक है। अतः उसको छोड़ने की आवश्यकता नहीं है। ऐसा मान कर ही कदाचित् काव्यप्रकाशकार ने ध्वनि भेदों में से प्रत्येक के ५१, ५१ ही संसृष्टि प्रकार माने हैं। और उनका गुणा कर ५१ × ५१ = २६०१ संसृष्टि के तथा उससे तिगुने २६०१ × ३ = ७८०३ सङ्कर भेदों को मिला कर २६०१ + ७८०३ = १०४०४ संसृष्टि सङ्कर कृत भेद माने हैं।

टीकाकारों ने काव्यप्रकाश की गुणन प्रक्रिया के समर्थन के लिए यह एक प्रकार दिखाया है। उससे यहाँ पर की गुणन प्रक्रिया वाली शैली का समर्थन तो कथञ्चित् हो जाता है। परन्तु विरोधालङ्कार वाले स्थल में भी इसी प्रकार का वैजात्य क्यों नहीं माना इसका कोई विनिगमक हेतु नहीं दिया है। इसलिए मूल शङ्का का निवारण नहीं हो पाता है।

तत्र स्वप्रभेदसङ्कीर्णत्वं कदाचिदनुग्राह्यानुग्राहकभावेन, यथा, 'एवं-वादिनि देवर्षौ' इत्यादौ । अत्र ह्यर्थशक्त्युद्भवानुरणनरूपव्यङ्ग्यध्वनि-प्रभेदेनालक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यध्वनिप्रभेदोऽनुगृह्यमाणः प्रतीयते ।

एवं कदाचित्प्रभेदद्वयसम्पातसन्देहेन यथा :—

खणपाहुणिआ देअर एसा जाआए किंपि ते भणिदा ।
रुअइ पडोहरवलहीघरम्मि अणुणिज्जउ वराई ॥
[*क्षणप्राघुणिका देवर एषा जायया किमपि ते भणिता ।*
रोदिति शून्यवलभीगृहेऽनुनीयतां वराकी ॥ इतिच्छाया]

अत्र ह्यनुनीयतामित्येतत् पदमर्थान्तरसंक्रमितवाच्यत्वेन विवक्षितान्यपरवाच्यत्वेन च सम्भाव्यते । न चान्यतरपक्षनिर्णये प्रमाणमस्ति ।

उनमें से अपने भेदों के साथ सङ्कर [तीन प्रकार से होता है जिसमें पहिला प्रकार] कभी अनुग्राह्य-अनुग्राहक भाव से [होता है] जैसे 'एवं-वादिनि देवर्षौ' [पृष्ठ १८१] इत्यादि में। यहां अर्थशक्त्युद्भव 'संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य [लज्जा अथवा अवहित्था] भेद से असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य [अभिलाषहेतुक विप्रलम्भ शृङ्गार] अनुगृह्यमाण [पोष्यमाण] प्रतीत होता है। [लज्जा यहां व्यभिचारीभाव रूप से प्रतीत हो रही है इसलिए भाव रूप न होने से संलक्ष्यक्रम व्यङ्ग्य है । और वह अभिलाषहेतुक विप्रलम्भ शृङ्गार को पोषण कर रही है। इस प्रकार यहां अङ्गाङ्गिभाव सङ्कर है।]

कभी दो भेदों के आजाने से सन्देह से [सन्देह सङ्कर हो जाता है] जैसे :—

हे देवर तुम्हारी पत्नी ने [क्षण] उत्सव की पाहुनी [अतिथि, उत्सव में आई हुई] इससे कुछ कह दिया है [जिससे] वह शून्य वलभी गृह में रो रही है। उस बिचारी को मना लेना चाहिए।

यहां 'अनुनीयताम्' यह पद [उपभोग प्रकर्ष सूचन रूप प्रयोजन से, तात्पर्यानुपपत्ति मूलक लक्षणा द्वारा] अर्थान्तरसंक्रमित वाच्य [रूप अविवक्षित वाच्य, तथा रोदन निवृत्तिजनक व्यापार रूप अनुनय अभिधा द्वारा बोधित होने से] और विवक्षितान्यपरं वाच्य [ध्वनि दोनों] रूप से सम्भव है । और [दोनों ही पक्षों में उपभोग व्यङ्ग्य होने से] किसी पक्ष में निर्णय करने में कोई [विनिगमक] प्रमाण नहीं है । [अतः यहां सन्देह सङ्कर है]।

एकव्यञ्जकानुप्रवेशेन तु व्यङ्ग्यत्वमलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यस्य स्वप्रभेदान्तरापेक्षया बाहुल्येन सम्भवति । यथा 'स्निग्धश्यामल' इत्यादौ । स्वप्रभेदसंसृष्टत्वं च यथा पूर्वोदाहरण एव । अत्र ह्यर्थान्तरसंक्रमितवाच्यस्यात्यन्ततिरस्कृतवाच्यस्य च संसर्गः ।

गुणीभूतव्यङ्ग्यसङ्कीर्णत्वं यथा 'न्यक्कारो ह्ययमेव मे यदरयः' इत्यादौ । [1]यथा वा :—

असंलक्ष्यक्रम व्यङ्ग्य [रसादि ध्वनि] का अपने अन्य प्रभेदों के साथ [अन्यप्रभेदापेक्षया] एकाश्रयानुप्रवेश [रूप सङ्कर] बहुत अधिक हो सकता है । [क्योंकि काव्यों में एक ही पद से अनेक रसादि भावादि की अभिव्यक्ति पाई जाती है ।] जैसे 'स्निग्धश्यामल' इत्यादि में । [यहां स्निग्धश्यामल इत्यादि से विप्रलम्भ श्रृङ्गार और उसके व्यभिचारी भाव शोकावेग दोनों की अभिव्यक्ति होने से एकाश्रयानुप्रवेश सङ्कर है ।] अपने भेद के साथ संसृष्टि जैसे पूर्वोक्त [स्निग्धश्यामल] उदाहरण में ही । यहां [राम पद के अत्यन्त दुःखसहिष्णु राम परक होने से] अर्थान्तरसंक्रमित वाच्य ध्वनि और [लिप्त तथा सुहृत् शब्द से व्यङ्ग्य] अत्यन्त तिरस्कृत वाच्य ध्वनि का [निरपेक्षतया स्थिति रूप] संसर्ग [होने से संसृष्टि] है ।

इस प्रकार ध्वनि के अपने भेदों के साथ सङ्कर तथा संसृष्टि को दिखा चुकने के बाद अब गुणीभूत व्यङ्ग्य के साथ सङ्कर के दो उदाहरण देते हैं । इन उदाहरणों में तीनों प्रकार के सङ्कर आजाते हैं ।

गुणीभूत व्यङ्ग्य का [ध्वनि के साथ] सङ्कर [का उदाहरण] जैसे :— 'न्यक्कारो ह्ययमेव यदरयः' इत्यादि [श्लोक] में ।

इस श्लोक की व्याख्या पीछे हो चुकी है । इसके अलग-अलग पदों से प्रकाशित गुणीभूत व्यङ्ग्य का समस्त श्लोक से प्रकाशित असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य रस ध्वनि के साथ अङ्गाङ्गिभाव सङ्कर होता है । यहां समस्त वाक्य से प्रकाश्य असंलक्ष्यक्रम व्यङ्ग्य रसादि ध्वनि कौन सी है इस विषय में व्याख्याकारो में प्रायः तीन प्रकार के मत दिखाई देते हैं :—

१—लोचनकार ने इस श्लोक की व्याख्या में लिखा है—"तथाहि मे

---

१. यथा दी० ।

कर्ता द्यूतच्छलानां जतुमयशरणोद्दीपनः सोऽभिमानी,
कृष्णाकेशोत्तरीयव्यपनयनपटुः पाण्डवा यस्य दासाः।
राजा दुःशासनादेर्गुरुरनुजशतस्याङ्गराजस्य मित्रं,
क्वास्ते दुर्योधनोऽसौ कथयत न रुषा द्रष्टुमभ्यागतौ स्वः ॥

यदरयः इत्यादिभिः सर्वैरेव पदार्थैर्विभावादिरूपतया रौद्र एवानुगृह्यते ।" अर्थात् उनके मत में रौद्ररस इस श्लोक का प्रधान ध्वनि है ।

२—साहित्यदर्पण के टीकाकार तर्कवागीश जी ने इस श्लोक में शान्त रस के स्थायीभाव निर्वेद को व्यङ्ग्य माना है । उन्होंने लिखा है—"जीवत्यहो रावणः" इत्यादिना व्यज्यमानेन स्वानौजस्यरूपदैन्येनानुभावेन संवलितं स्वावमाननं निर्वेदाख्यं भावरूपोऽसंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यो ध्वनिः ।

यह दोनों मत एक दूसरे से विरुद्ध ध्वनि मान रहे हैं ।

३—तीसरा नवीन मत यह है कि रावण के क्रोध और निर्वेद आदि से पोषित रावण का युद्धोत्साह ही आस्वाद पदवी को प्राप्त होता है । अतः वीर रस ही इस श्लोक का प्रधान व्यङ्ग्य है ।

ध्वन्यालोककार ने स्वयं इसको खोला नहीं है । उन्होंने असंलक्ष्यक्रम व्यङ्ग्य को वाक्यार्थीभूत मानकर व्यङ्ग्यविशिष्ट वाच्यार्थ का अभिधया बोधन करने वाले पदों से द्योत्य, गुणीभूत व्यङ्ग्य के साथ सङ्कर दिखा दिया है । परन्तु वाक्यार्थीभूत असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य, रौद्र; वीर; अथवा निर्वेद कौन सा है इस विषय पर उन्होंने कोई प्रकाश नहीं डाला है ।

[इसी गुणीभूतव्यङ्ग्य के साथ सङ्कर का दूसरा उदाहरण देते हैं]।

अथवा जैसे :—

[वेणीसंहार नाटक के पञ्चम अङ्क में कौरवों का विध्वंस करने के बाद, भागे हुए दुर्योधन को खोजते हुए भीम और अर्जुन की यह उक्ति है] जुए के छलों [पाण्डवों का राज्यापहरण करने के लिये जुए के शठता पूर्ण छल प्रपञ्च] का करने वाला, [पाण्डवों के विनाश के लिए वारणावत में बनवाए हुए] लाख के घर में आग लगाने वाला, द्रौपदी के केश और वस्त्र खींचने में चतुर, पाण्डव जिसके दास हैं [अर्थात् पाण्डवों को अपना दास बताने वाला] दुःशासन आदि का राजा, सौ अनुजों का गुरु [अपने से छोटे सब कौरवों का ज्येष्ठ या पूज्य] अङ्गराज [कर्ण] का मित्र, वह अभिमानी दुर्योधन कहां है ? बताओ, हम

अत्र ह्यलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यस्य वाक्यार्थीभूतस्य व्यङ्ग्यविशिष्टवाच्याभिधायिभिः पदैः सम्मिश्रता[1]।

[भीम और अर्जुन] क्रोध से [उसे मारने] नहीं, [इस समय तो केवल] देखने आए हैं।

यहां [अर्थात् 'न्यक्कारो' और 'कर्ता द्यूतच्छलानां' इन दोनों श्लोकों में] वाक्यार्थीभूत [समस्त श्लोक से प्रकाशित] असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य [रौद्र, वीर या निर्वेद आदि किसी का नामतः उल्लेख नहीं किया है] का, व्यङ्ग्य विशिष्ट वाच्यार्थ [गुणीभूत व्यङ्ग्य] को अभिधा से बोधन करने वाले पदों [से द्योत्य गुणीभूत व्यङ्ग्य] के साथ सङ्कर [अङ्गाङ्गिभाव रूप] है। [पदैः सम्मिश्रता में 'पदैः' से पद-द्योत्य गुणीभूत व्यङ्ग्य अर्थ ही लेना चाहिए। क्योंकि साक्षात् पदों के साथ ध्वनि का सङ्कर सम्भव नहीं है।]

इन दो उदाहरणों में गुणीभूत व्यङ्ग्य के साथ ध्वनि के तीनों प्रकार के सङ्कर आ जाते हैं। ग्रन्थकार ने वाक्यार्थीभूत असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य रसादिध्वनि के साथ पदप्रकाश्य गुणीभूतव्यङ्ग्य का 'अङ्गाङ्गिभाव' रूप एक ही सङ्कर दिखाया है। दूसरा 'सन्देह सङ्कर' इस प्रकार होता है कि दूसरे श्लोक में 'पाण्डवा यस्य दासाः' इस अंश से व्यङ्ग्य विशिष्ट वाच्यार्थ ही क्रोधोद्दीपक हो सकता है इसलिए यहां गुणीभूत व्यङ्ग्य हो सकता है। अथवा 'कृतकृत्य दास को जाकर स्वामी का दर्शन अवश्य करना चाहिए' इस प्रकार का अर्थशक्त्युद्भवध्वनि भी हो सकता है। यह दोनों ही चमत्कारजनक हैं अतएव साधक-बाधक प्रमाण के अभाव में उन दोनों का 'सन्देह-सङ्कर' भी हो सकता है। और वाचक पदों में ही गुणीभूत-व्यङ्ग्य के साथ रसध्वनि भी रहता है इसलिए उन दोनों का एकाश्रयानुप्रवेश सङ्कर भी हो सकता है, अतएव इन दो उदाहरणों से ही गुणीभूतव्यङ्ग्य के साथ त्रिविध सङ्कर का निरूपण हो जाता है।

इन श्लोकों में गुणीभूतव्यङ्ग्य और ध्वनि अर्थात् प्रधानव्यङ्ग्य का [त्रिविध] सङ्कर दिखाया है। इसमें यह शङ्का हो सकती है कि एक ही श्लोक में अभिव्यक्त होने वाला व्यङ्ग्य अर्थ प्रधान ध्वनि रूप भी रहे, और गुणीभूत व्यङ्ग्य भी बन जाय यह कैसे हो सकता है। आगे इसका समाधान करते हैं। समाधान का आशय यह है कि गुणीभूत व्यङ्ग्य पदों में रहता है और ध्वनि या

---

१. संक्रमिता नि०।

अतएव च पदार्थाश्रयत्वे गुणीभूतव्यङ्ग्यस्य, वाक्यार्थाश्रयत्वे च ध्वनेः सङ्कीर्णतायामपि[1] न विरोधः स्वप्रभेदान्तरवत्। यथा हि ध्वनिप्रभेदान्तराणि परस्परं सङ्कीर्यन्ते, पदार्थवाक्यार्थाश्रयत्वेन च न विरुद्धानि।

प्रधान व्यङ्ग्य वाक्य में रहता है। अतः उन दोनों का आश्रय भेद हो जाने से उसमें कोई विरोध नहीं होता।

इसीलिए [उदाहरणों में ध्वनि और गुणीभूत व्यङ्ग्य दोनों के एक साथ पाए जाने से] ध्वनि के अपने प्रभेदों के समान, गुणीभूत व्यङ्ग्य को पदार्थ में आश्रित और ध्वनि को वाक्यार्थ में आश्रित मानने पर [उनका] सङ्कर होने पर भी कोई विरोध नहीं आता। जैसे ध्वनि के अन्य भेदों का परस्पर सङ्कर होता है और [एक के] पदार्थ [और दूसरे के] वाक्यार्थ में आश्रित होने से विरोध नहीं होता [इसी प्रकार ध्वनि और गुणीभूत व्यङ्ग्य को भी क्रमशः वाक्यार्थ और पदार्थ आश्रित मानने से उनके सङ्कर में कोई विरोध नहीं होता।]

यहाँ किसी पुस्तक में 'तथाहि' पाठ मिलता है और किसी में 'यथाहि'। यह पाठ भेद लोचनकार के समय में भी था। और वह स्वयं भी ठीक पाठ का निश्चय नहीं कर सके इसलिए उन्होंने 'तदेव व्याचष्टे यथाहीति। तथाऽत्रापीत्यध्याहारोऽत्र कर्तव्यः। तथाहि इति वा पाठः'। यह लिखा है। अर्थात् यदि 'यथाहि' यह पाठ माना जाय तब तो 'तथा अत्रापि' इतने पद का अध्याहार करना चाहिए। तब अर्थ ठीक होगा। अथवा फिर तथाहि यह पाठ होना चाहिए। इससे प्रतीत होता है कि लोचनकार को 'यथाहि' यही पाठ ही मिला था। और 'तथाहि' पाठ का उनका सुझाव है। कदाचित् इसीलिए आगे दोनों पाठ मिलने लगे हैं।

ध्वनि और गुणीभूत व्यङ्ग्य को क्रमशः वाक्याश्रित और पदाश्रित मान कर उन दोनों के सङ्कर का जो उपपादन ऊपर किया है वह 'अङ्गाङ्गिभाव सङ्कर' और 'सन्देह सङ्कर' में तो ठीक हो जाता है परन्तु 'एकाश्रयानुप्रवेश सङ्कर' में तो दोनों का एक ही आश्रय होगा अतएव आश्रय भेद से ध्वनि और गुणीभूतव्यङ्ग्य की स्थिति का जो अविरोध निर्णय किया था, वह वहां लागू नहीं हो सकेगा। क्योंकि एकाश्रय में ध्वनि और गुणीभूत व्यङ्ग्य दोनों कैसे रह सकेंगे। यह शङ्का है, इसका

---

१. संकीर्णतायामविरोधः नि० दी०।

किञ्चैकव्यङ्ग्याश्रयत्वे तु प्रधानगुणभावो विरुद्ध्यते न तु व्यङ्ग्यभेदापेक्षया, ततोऽप्यस्य न विरोधः।

अयं च सङ्करसंसृष्टिव्यवहारो बहूनामेकत्र वाच्यवाचकभाव इव व्यङ्ग्यव्यञ्जकभावेऽपि निर्विरोध एव मन्तव्यः।

यत्र तु पदानि कानिचिदविवक्षितवाच्यान्यनुरणनरूपव्यङ्ग्य-वाच्यानि वा, तत्र ध्वनिगुणीभूतव्यङ्ग्ययोः संसृष्टत्वम्। यथा 'तेषां गोपवधूविलाससुहृदाम्' इत्यादौ। अत्र हि 'विलाससुहृदां' 'राधारहः-साक्षिणां' इत्येते पदे ध्वनिप्रभेदरूपे। 'ते','जाने' इत्येते च पदे गुणीभूत-व्यङ्ग्यरूपे।

समाधान आगे करते हैं। समाधान का आशय यह है कि पहिला परिहार व्यञ्जक भेद से किया था, उसी प्रकार यहां व्यङ्ग्य भेद से परिहार हो सकता है। अर्थात् एकाश्रय में रहने वाले दो अलग-अलग व्यङ्ग्य है, एक प्रधान या ध्वनि रूप, और दूसरा गुणीभूत। यह दोनों भिन्न-भिन्न व्यङ्ग्य एक जगह रह सकते हैं। इसमें कोई विरोध नहीं है। यदि एक ही व्यङ्ग्य को ध्वनि और उसी को गुणीभूत कहा जाय, तब तो विरोध होता। परन्तु दोनों व्यङ्ग्य के भिन्न होने से विरोध नहीं है। यह समाधान 'एकाश्रयानुप्रवेश सङ्कर' में प्रतीत होने वाले विरोध का परिहार तो करता ही है उसके साथ 'अङ्गाङ्गिभाव' और 'सन्देह सङ्कर' में भी लागू हो सकता है। क्योंकि उन दोनों भेदों में भी व्यङ्ग्य अलग-अलग होने से ध्वनि और गुणीभूत व्यङ्ग्य के 'अङ्गाङ्गिभाव' अथवा 'सन्देह सङ्कर' में कोई विरोध नहीं आता है। इसी बात को सूचित करने के लिए मूल में 'ततोऽप्यस्य न विरोधः' कहा है। यहां अपि शब्द पूर्व परिहार की अपेक्षा इसका 'सर्वतोमुखत्व' सूचित करता है।

और एक ही व्यङ्ग्य में आश्रित प्रधान और गुणभाव तो विरुद्ध हो सकते हैं परन्तु व्यङ्ग्य भेद की अपेक्षा से [भिन्न-भिन्न व्यङ्ग्यों में स्थित प्रधान गुणभाव विरोधी] नहीं। इसलिए भी इस [ध्वनि और गुणीभूत व्यङ्ग्य के सङ्कर] का विरोध नहीं है। [सङ्कर और संसृष्टि प्रायः वाच्य अलङ्कारों में ही प्रसिद्ध हैं, परन्तु वह व्यङ्ग्य अर्थों में भी हो सकते हैं इसका उपपादन करते हैं] वाच्य वाचक भाव [वाच्यालङ्कार रूप] में बहुत से [अलङ्कारों] का सङ्कर और संसृष्टि व्यवहार जिस प्रकार होता है उसी प्रकार व्यङ्ग्य-व्यञ्जक भाव [व्यङ्ग्य रूप अनेक ध्वनि प्रभेदों अथवा ध्वनि और गुणीभूत व्यङ्ग्य] में भी उसे निर्विरोध समझना चाहिए।

[ध्वनि और गुणीभूत व्यङ्ग्य के सङ्कर का प्रदर्शन कर अब उनकी

वाच्यालङ्कारसङ्कीर्णत्वमलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यापेक्षया रसवति सालङ्कारे[1] काव्ये सर्वत्र सुव्यवस्थितम् । प्रभेदान्तराणामपि कदाचित्सङ्कीर्णत्वं भवत्येव । यथा ममैव—

संसृष्टि का उपपादन करते हुए उदाहरण देते हैं] जहाँ कुछ पद अविवक्षित वाच्य [लक्षणामूल ध्वनि परक] और कुछ पद [कानिचित् पद दोनों की निरपेक्षता का सूचक है। जिससे सङ्कर का अवकाश नहीं रहता।] संलक्ष्यक्रम व्यङ्ग्य परक हों वहाँ [वाक्य से व्यङ्ग्य] ध्वनि और [उस प्रधान वाक्यार्थीभूत ध्वनि की अपेक्षा से गुणीभूत अविवक्षित वाच्य अथवा संलक्ष्यक्रम रूप] गुणीभूत व्यङ्ग्य की संसृष्टि है। जैसे 'तेषां गोपवधूविलाससुहृदाम्' इत्यादि में । यहाँ 'विलाससुहृदाम्' और 'राधारहःसाक्षिणाम्' यह दोनों पद [लतागृहों के विशेषण रूप हैं। परन्तु अचेतन लतागृहों में 'मैत्री' और 'साक्षित्व' जो कि वस्तुतः चेतन धर्म हैं नहीं रह सकते हैं। अतएव उनमें अत्यन्त तिरस्कृत वाच्य ध्वनि होने से] ध्वनि [अविवक्षित वाच्य ध्वनि के भेद] रूप है। और 'ते' तथा 'जाने' यह दोनों पद [वाच्य के उपकारक अनुभवैकगोचरत्व और उत्प्रेक्षाविषयीभूतत्व रूप] गुणीभूत व्यङ्ग्य [के] रूप हैं। [इस प्रकार वाक्यार्थीभूत, प्रवासहेतुक विप्रलम्भ शृङ्गार के साथ 'विलाससुहृदाम्' और 'राधारहःसाक्षिणाम्' पदों से द्योत्य अत्यन्त तिरकृत वाच्य ध्वनि के यहाँ गुणीभूत हो जाने से गुणीभूत व्यङ्ग्य की निरपेक्षतया स्थिति होने के कारण ध्वनि और गुणीभूत व्यङ्ग्य दोनों की संसृष्टि है।]

इस प्रकार गुणीभूत व्यङ्ग्य के साथ ध्वनि की संसृष्टि और सङ्कर का उपपादन कर आगे वाच्यालङ्कारों के साथ भी उनका उपपादन करते हैं।

रसध्वनि युक्त और [रसवत्] अलङ्कार युक्त सभी काव्यों में असंलक्ष्यक्रम व्यङ्ग्य [रसादि व्यङ्ग्य की अपेक्षा के साथ से] वाच्य अलङ्कारों का [अर्थात् व्यङ्ग्य अलङ्कार नहीं । अलङ्कार के व्यङ्ग्य होने पर तो यदि वह अलङ्कार प्रधान है तो अलङ्कार ध्वनि का और अप्रधान होने पर गुणीभूत व्यङ्ग्य का सङ्कर हो जायगा । अतएव वाच्य विशेषण रखा है] सङ्कर सुनिश्चित ही है [रसादि ध्वनि से भिन्न वस्तुध्वनि तथा अलङ्कार ध्वनि रूप] अन्य प्रभेदों का भी कभी [वाच्य अलङ्कारों के साथ] सङ्कर हो ही जाता है। जैसे मेरे ही [निम्न श्लोक में]—

---

१ रसवति रसालङ्कारे च काव्ये नि,० दी० ।

या व्यापारवती रसान् रसयितुं काचित् कवीनां नवा,
दृष्टिर्या परिनिष्ठितार्थविषयोन्मेषा च वैपश्चिती।
ते द्वे अप्यवलम्ब्य विश्वमनिशं निर्वर्णयन्तो वयं,
श्रान्ता, नैव च लब्धमब्धिशयन! त्वद्भक्तितुल्यं सुखम् ॥

इत्यत्र विरोधालङ्कारेणार्थान्तरसंक्रमितवाच्यस्य ध्वनिप्रभेदस्य सङ्कीर्णत्वम्।

वाच्यालङ्कारसंसृष्टत्वं च पदापेक्षयैव। यत्र हि कानिचित्पदानि वाच्यालङ्कारभाञ्जि कानिचिच्च ध्वनिप्रभेदयुक्तानि। यथा—

हे समुद्रशायी [विष्णु भगवान्] रसों के आस्वाद के लिए [शब्द योजना में] प्रयत्नशील कवियों की [प्रतिपल नवोन्मेषशालिनी] जो कुछ अपूर्व दृष्टि है, और प्रमाणसिद्ध अर्थों को प्रकाशित करने वाली जो विद्वानों की 'वैपश्चिती' दृष्टि है, उन दोनों के द्वारा इस विश्व को रात दिन देखते-देखते हम थक गए, परन्तु आपकी भक्ति के समान सुख [अन्यत्र] कहीं नहीं मिला।

यहां विरोधालङ्कार के साथ अर्थान्तरसंक्रमित वाच्य ध्वनि भेद का सङ्कर है।

यहां कवि की प्रतिभा और दार्शनिक की परिणत बुद्धि से 'निर्वर्णन' अर्थात् 'चाक्षुष ज्ञान' या देखना-सम्भव नहीं है, अतएव विरोध उपस्थित होता है। परन्तु 'निर्वर्णन' पद का 'सामान्य ज्ञान' अर्थ करने से उस विरोध का परिहार हो जाता है। इस प्रकार विरोधाभास अलङ्कार होता है। और 'निर्वर्णन' पदार्थ अर्थात् चाक्षुष ज्ञान के सामान्य ज्ञान रूप अर्थान्तर में संक्रमित हो जाने से अर्थान्तर संक्रमित वाच्य ध्वनि भी होता है, ऐसा मानकर विरोधालङ्कार तथा अर्थान्तर संक्रमित वाच्य ध्वनि का एकाश्रयानुप्रवेश रूप सङ्कर होता है।

वाच्य अलङ्कारों की [ध्वनि के साथ] संसृष्टि [निरपेक्षतया स्थिति] पदों की दृष्टि से ही होती है [वाक्य से प्रकाशित समासोक्ति आदि अलङ्कार तो ध्वनि रूप प्रधान व्यङ्ग्य के परिपोषक ही होते हैं, निरपेक्ष नहीं। अतएव उनका सङ्कर ही बन सकता है। संसृष्टि नहीं।] जहां कुछ पद वाच्य अलङ्कार से युक्त हों और कुछ ध्वनि के प्रभेद से युक्त हों [वहीं ध्वनि और वाच्यालङ्कार की संसृष्टि होती है] जैसे—

[यह कालिदास के मेघदूत का श्लोक है। विशाला, उज्जयिनी] नगरी का वर्णन करते हुए यक्ष मेघ से कहता है।] जहां [जिस विशाला

दीर्घीकुर्वन् पटु मदकलं कूजितं सारसानां,
प्रत्यूषेषु स्फुटितकमलामोदमैत्रीकषायः।
यत्र स्त्रीणां हरति सुरतग्लानिमङ्गानुकूलः,
शिप्रावातः प्रियतम इव प्रार्थनाचाटुकारः॥

अत्र हि मैत्रीपदमविवक्षितवाच्यो ध्वनिः, पदान्तरेष्वलङ्कारान्तराणि।

उज्जयिनी नगरी में] प्रातः काल सारसों के रमणीय और मद के कारण अत्यन्त मधुर शब्द को फैलाने वाला, खिले हुए कमलों की सुगन्धि के सम्पर्क से सुगन्धित और अङ्गों को अच्छा लगने वाला, शिप्रा नदी का वायु नव-निधुवन की] प्रार्थना में [खुशामद करने वाले] चाटुकार प्रियतम के समान, स्त्रियों की सुरत जन्य श्रान्ति को हरण करता है।

यहां मैत्री पद में अविवक्षित वाच्य ध्वनि और अन्य पदों में अन्य [पटु, दीर्घीकुर्वन् में गम्योत्प्रेक्षा, प्रत्यूषेषु में स्वभावोक्ति, प्रियतम इव में उपमा आदि] अलङ्कार हैं। [अतः ध्वनि की वाच्यालङ्कारों के साथ संसृष्टि है।]

लोचनकार ने लिखा है 'शिप्रापरिचितोऽसौ वात इति नागरिको, न त्वविदग्धो ग्राम्यप्राय इत्यर्थः।......यत्र च पवनोऽपि तथा नागरिकः स तवावश्यमभिगन्तव्यो देश इति मेघदूते मेघं प्रति कामिन इयमुक्तिः'। इसके नागरिक पद के प्रयोग पर टिप्पणी करते हुए लोचन तथा बालप्रिया टीका सहित मुद्रित वाराणसीय संस्करण में टिप्पणीकार ने लिखा है—

'अयं शब्दो 'नगरात्कुत्सनप्रावीण्ययोः' इति पाणिनीयसूत्रेण ठका निष्पन्नः। तत्र भवता भट्टोजिदीक्षितेन तु नागरिकशब्दश्चौरशिल्पिनोरुदाहृतो न तु सामान्यतो निपुणे।'

टिप्पणीकार का यह लेख एकदम प्रमाद-विजृम्भित जान पड़ता है। 'नगरात्कुत्सनप्रावीण्ययोः' सूत्र से ठक् प्रत्यय नहीं 'वुञ्' प्रत्यय होता है। नगर शब्द से वुञ् प्रत्यय करके 'नागरक' शब्द बनता है, 'नागरिक' नहीं। भट्टोजि-दीक्षित ने भी कौमुदी में इस सूत्र की वृत्ति में 'वुञ्' प्रत्यय का ही विधान किया है। ''नगरशब्दाद् वुञ् स्यात् कुत्सने प्रावीण्ये च गम्ये। नागरकश्चौरः शिल्पी वा। कुत्सन इति किम्, नागरा ब्राह्मणाः।'' जान पड़ता है कि टिप्पणीकार ने कौमुदी याद करते समय इस सूत्र में 'नागरक' के स्थान पर 'नागरिक' यह

संसृष्टालङ्कारसङ्कीर्णो ध्वनिर्यथा :—

> दन्तक्षतानि करजैश्च विपाटितानि,
> प्रोद्भिन्नसान्द्रपुलके भवतः शरीरे।
> दत्तानि रक्तमनसा मृगराजवध्वा,
> जातस्पृहैर्मुनिभिरप्यवलोकितानि ॥

अत्र हि समासोक्तिसंसृष्टेन विरोधालङ्कारेण सङ्कीर्णस्यालक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यस्य ध्वनेः प्रकाशनम्, दयावीरस्य परमार्थतो वाक्यार्थीभूतत्वात्।

अशुद्ध उदाहरण याद कर लिया है। उसी अशुद्ध स्मृति के आधार पर यह टिप्पणी लिख दी है। और 'नगरात्कुत्सनप्रावीण्ययोः' सूत्र की वृत्ति के देखने का भी कष्ट उठाए बिना ही इस सूत्र से ठक् प्रत्यय का विधान कर डाला है। इस प्रकार भट्टोजिदीक्षित के लेख की भी दुर्गति कर डाली है।

संसृष्ट अलङ्कार के साथ सङ्कीर्ण ध्वनि का [उदाहरण] जैसे :—

अत्यधिक भूख के कारण अपने ही बच्चे को खा जाने के लिए उद्यत किसी सिंहिनी को देखकर उस बच्चे को बचाने के लिए अपना शरीर भक्षणार्थ सिंहिनी को दे देने वाले 'बोधिसत्व' की प्रशंसा करते हुए कोई कहता है।

[कारुण्यवश और दूसरे पक्ष में शृङ्गारवश] सघन रोमाञ्चयुक्त आपके शरीर पर, रक्तपान की इच्छा वाली और दूसरे पक्ष में अनुरक्त मन वाली, मृगराजवधू [सिंहिनी, पक्षान्तर में किसी राजवधू] ने जो दन्तक्षत और नखक्षत किए उन्हें मुनियों ने भी सतृष्ण [दूसरों की प्राणरक्षा में अपने शरीर का उपहार दे देने का यह सौभाग्य हमको भी प्राप्त होता इस भावना से, और दूसरे शृङ्गार पक्ष में अनुरक्त मन वाली राजवधू के दन्तक्षत और नखक्षत प्राप्त करने की इच्छा से युक्त] होकर देखा।

यहां [सिंहिनी में राजपत्नी के व्यवहार का समारोप होने से] समासोक्ति से संसृष्ट ['मुनिभिरपि सस्पृहैः' से सूचित] विरोध अलङ्कार के साथ सङ्कीर्ण [रोमाञ्चादि अनुभाव द्वारा परिपोषित बोधिसत्व के दयावीर रस का स्थायीभाव दयोत्साह रूप अभिव्यज्यमान] असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य ध्वनि का प्रकाशन होता है। क्योंकि वास्तव में दयावीर [रस] ही [मुख्य] वाक्यार्थीभूत है।

संसृष्टालङ्कारसंसृष्टत्वं ध्वनेर्यथा :—

अहिणअपओअरसिएसु पहिअसामाइएसु दिअहेसु ।
सोहइ पसारिअगिआणं णच्चिअं मोरवन्दाणम् ॥

[अभिनवपयोदरसितेषु पथिकश्यामायितेषु [सामाजिकेषु] दिवसेषु ।
शोभते प्रसारितग्रीवाणां [गीतानां] नृत्तं मयूरवृन्दानाम् ॥
इतिच्छाया]

अत्र ह्युपमारूपकाभ्यां शब्दशक्त्युद्भवानुरणनरूपव्यङ्ग्यस्य ध्वनेः संसृष्टत्वम् ॥४४॥

संसृष्टालङ्कार के साथ ध्वनि की संसृष्टि [का उदाहरण] जैसे :—

[यह गाथा सप्तशती का पद्य है] अभिनव मेघों का गर्जन जिनमें हो रहा है और पथिक रूप सामाजिकों से युक्त, अथवा पथिकों को श्याम से मालूम होते हुए, [वर्षा के] दिनों में गर्दन फैलाकर अथवा गान करते हुए मोरों का नृत्य [बड़ा] सुन्दर लगता है।

यहां उपमा और रूपक [की संसृष्टि] के साथ शब्दशक्त्युद्भव संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य [वस्तुध्वनि] की संसृष्टि है।

यहां 'पहिअसामाइएसु' इस प्राकृत पद की संस्कृत छाया दो प्रकार की हो सकती है। एक तो 'पथिकश्यामायितेषु' और दूसरी 'पथिकसामाजिकेषु'। इनमें से पहिली छाया अर्थात् 'पथिकश्यामायितेषु' के मानने पर श्यामा अंधेरी रात के समान आचरण वाले इस अर्थ में 'कर्तुः क्यङ् सलोपश्च' ३, १,११ इस सूत्र से उपमान वाची श्यामा शब्द से क्यङ् प्रत्यय होने के कारण उपमा अलङ्कार, और 'पथिकसामाजिकेषु' ऐसी छाया मानने पर 'पथिका एव सामाजिकाः' इस प्रकार रूपक हो सकता है। इन दोनों के परस्पर सापेक्ष न होने से दोनों की संसृष्टि है। और उसके साथ 'सामाइएसु' इस शब्द के परिवृत्त्यसह होने के कारण शब्दशक्तिमूल, उद्दीपकत्वातिशय रूप वस्तुध्वनि की संसृष्टि होती है। आलोककार ने यहां उपमा और रूपक की संसृष्टि मानी है परन्तु साहित्यदर्पणकार ने 'पहिअसामाइएसु' इस एक पद में ही दोनों अलङ्कारों के होने से 'एकाश्रयानुप्रवेश सङ्कर' माना है।

यहां संसृष्टालङ्कार सङ्कीर्णत्व तथा संसृष्टालङ्कार संसृष्टत्व इन दो के उदाहरण दिये हैं। इनके साथ ही सङ्कीर्णालङ्कार सङ्कीर्णत्व और सङ्कीर्णालङ्कार संसृष्टत्व यह दो भेद और भी हो सकते हैं परन्तु उनके उदाहरण इन्हीं के अन्तर्गत आ गए हैं इस लिए अलग नहीं दिए गए हैं। जसा कि अभी साहित्य-

एवं ध्वनेः प्रभेदाः प्रभेदभेदाश्च केन शक्यन्ते ।
संख्यातुं, दिङ्मात्रं तेषामिदमुक्तमस्माभिः ॥४५॥

अनन्ता हि ध्वनेः प्रकाराः । सहृदयानां व्युत्पत्तये तेषां दिङ्मात्रं कथितम् ॥४५॥

इत्युक्तलक्षणो यो ध्वनिर्विवेच्यः प्रयत्नतः सद्भिः ।
सत्काव्यं कर्तुं वा ज्ञातुं वा सम्यगभियुक्तैः ॥४६॥

उक्तस्वरूपध्वनिनिरूपणनिपुणा हि सत्कवयः सहृदयाश्च नियतमेव काव्यविषये परां प्रकर्षपदवीमासादयन्ति ॥४६॥

अस्फुटस्फुरितं काव्यतत्त्वमेतद्यथोदितम् ।
अशक्नुवद्भिर्व्याकर्तुं रीतयः सम्प्रवर्तिताः ॥४७॥

दर्पणकार का मत दिखाया है उसके अनुसार 'पहिअसामाइएसु' पद में उपमा और रूपक का सङ्कर होता है । उस दशा में यही सङ्कीर्णालङ्कार संसृष्टत्व का उदाहरण बन जाता है। उसमें उपमा और रूपक के सङ्कर के साथ वस्तु ध्वनि की संसृष्टि है। और उन्हीं के साथ रसध्वनि का अङ्गाङ्गिभावसङ्कर मानने से वही सङ्कीर्णालङ्कार सङ्कीर्णत्व का उदाहरण बन सकता है । अतः इन दो भेदों के अलग उदाहरण देने की आवश्यकता नहीं रही ॥४४॥

इस प्रकार ध्वनि के प्रभेद और उन प्रभेदों के अवान्तर भेदों की गणना कौन कर सकता है। हमने उनका यह दिङ्मात्र प्रदर्शन किया है।

ध्वनि के अनन्त प्रकार हैं। सहृदयों के ज्ञान के लिए उनमें से थोड़े से दिङ्मात्र [ही हमने] कहे हैं ॥४५॥

उत्तम काव्य को बनाने अथवा समझने के लिए प्रस्तुत सज्जनों को इस प्रकार जिस ध्वनि का लक्षण किया गया है उसका प्रयत्न पूर्वक विवेचन करना चाहिए।

उक्त स्वरूप ध्वनि के निरूपण में निपुण सत्कवि और सहृदय निश्चय ही काव्य के विषय में अत्यन्त उत्कृष्ट पदवी को प्राप्त करते हैं। [यह प्रकर्ष-लाभ ही ध्वनि विवेचना का फल है] ॥४६॥

अस्फुट रूप से प्रतीत होने वाले इस पूर्वोक्त काव्य तत्त्व की व्याख्या कर सकने में असमर्थ [वामन आदि] ने रीतियां प्रचलित कीं।

एतद्ध्वनिप्रवर्तनेन[1] निर्णीतं काव्यतत्वमस्फुटस्फुरितं सद-शक्नुवद्भिः प्रतिपादयितुं वैदर्भी गौड़ी पाञ्चाली चेति रीतयः प्रवर्तिताः। रीतिलक्षणविधायिनां हि काव्यतत्वमेतदस्फुटतया मनाक् स्फुरितमासी-दिति लक्ष्यते[2]। तदत्र स्फुटतया सम्प्रदर्शितमित्यन्येन[3] रीतिलक्षणेन न किञ्चित् ॥४७॥

इस ध्वनि के प्रतिपादन से [अब स्पष्ट रूप से] निर्णीत [परन्तु रीति प्रवर्तक वामन आदि के समय में] अस्फुट रूप से प्रतीत होने वाले इस [ध्वनि रूप] काव्य तत्व को प्रतिपादन कर सकने में असमर्थ [वामन आदि आचार्यों] ने वैदर्भी, गौड़ी, और पाञ्चाली आदि रीतियां प्रचलित कीं। रीतिकारों को यह [ध्वनि रूप] काव्य तत्व अस्पष्ट रूप से कुछ थोड़ा-थोड़ा भासता [अवश्य] था ऐसा प्रतीत होता है। उसको [अब हमने] यहां स्पष्ट रूप से प्रतिपादन कर दिया इसलिए अब [ध्वनि से भिन्न] अन्य रीति लक्षणों की कोई आवश्यकता नहीं है।

जब ध्वनि का कोई स्पष्ट चित्र लोगों के सामने नहीं था केवल एक अस्पष्ट धुंधली छाया प्रतीत होती थी और उस समय के आचार्यों में ध्वनि की उस अस्पष्ट रूप रेखा को स्पष्ट रूप से चित्रित करने की प्रतिभा का अभाव था, उस समय काव्य सौन्दर्य के उस मूल तत्व को उन्होंने रीति रूप में प्रतिपादन करने का प्रयत्न किया। अब हमने काव्य के आत्मभूत उस मूल ध्वनि तत्व को अत्यन्त स्पष्ट और विस्तृत रूप में प्रतिपादन कर दिया है इस लिए उन रीतियों के लक्षण आदि करने की आवश्यकता नहीं है। ध्वनि का क्षेत्र बहुत विस्तृत है। रीतियों का बहुत परिमित। इस लिए रीतियों में ध्वनि का नहीं अपितु ध्वनि में रीतियों का अन्तर्भाव हो सकता है। इस लिए रीतियों के लक्षण की आवश्यकता नहीं है। यह ग्रन्थकार का अभिप्राय है।४७॥

रीतियों के अतिरिक्त शब्द और अर्थ के उचित व्यवहार की प्रवर्तक दो प्रकार की वृत्तियों का उल्लेख प्राचीन साहित्य में पाया जाता है। भरत के नाट्य शास्त्र में 'वृत्तयो नाट्यमातरः' तथा 'सर्वेषामेव काव्यानां वृत्तयो मातृकाः स्मृताः।' इत्यादि वचन मिलते हैं। नाट्य शास्त्र में मुख्यतः नाट्योपयोगी भारती, सात्वती, कैशिकी और आरभटी इन चार प्रकार की रीतियों का उल्लेख किया

---

१. वर्णनेन नि० दी०। २. लक्ष्यते पाठ नि०, दी० में नहीं है। ३. सम्प्रदर्शितेनान्येन बा० प्रि०।

[1]शब्दतत्वाश्रयाः काश्चिदर्थतत्वयुजोऽपराः ।
वृत्तयोऽपि प्रकाशन्ते ज्ञातेऽस्मिन् काव्यलक्षणे ॥४८॥

अस्मिन् व्यङ्ग्यव्यञ्जकभावविवेचनामये काव्यलक्षणे ज्ञाते सति याः काश्चित्प्रसिद्धा उपनागरिकाद्याः शब्दतत्वाश्रया वृत्तयो याश्चार्थतत्व-सम्बद्धाः कैशिक्यादयस्ताः सम्यग् रीतिपदवीमवतरन्ति । अन्यथा तु तासामदृष्टार्थानामिव वृत्तीनामश्रद्धेयत्वमेव स्यान्नानुभवसिद्धत्वम् । एवं स्फुटतयैव लक्षणीयं स्वरूपमस्य ध्वनेः ।

है । दशरूपक ने 'तद्व्यापारात्मिका वृत्तिः' कह कर नायकादि के व्यवहार को ही वृत्ति बताया है । ध्वन्यालोककार ने भी 'व्यवहारो हि वृत्तिरित्युच्यते' [३,३३] लिख कर व्यवहार को ही वृत्ति बताया है । वृत्तियों का निरूपण हम पहिले कर चुके हैं।

भरत की चारों वृत्तियों का सम्बन्ध रसों से है और वह व्यवहार रूप हैं इसलिए ध्वन्यालोककार ने उनको 'अर्थाश्रित वृत्ति' कहा है । इनके अतिरिक्त उद्भट आदि ने जिन उपनागरिका आदि चार वृत्तियों का प्रतिपादन किया है । उनका वर्णन भी हम कर आए हैं। इन उपनागरिका आदि वृत्तियों का सम्बन्ध मुख्यतः शब्दों से है इसलिए आलोककार ने इनको 'शब्दाश्रित वृत्ति' माना है । इन दोनों प्रकार की वृत्तियों का प्रयोजन सहृदयानुभवगोचर चमत्कार विशेष को उत्पन्न करना ही है । और ध्वनि का प्रयोजन भी यही है । इसलिए जब तक ध्वनि के सिद्धान्त का स्पष्ट रूप से आविर्भाव नहीं हुआ था तब तक इन वृत्तियों की सत्ता अलग बनी रही सो ठीक है । परन्तु ध्वनि सिद्धान्त के स्पष्टीकरण के बाद जैसे 'रीति' की अलग आवश्यकता नहीं रही, इसी प्रकार 'वृत्तियों' की भी आवश्यकता समाप्त हो जाती है । यह ध्वनिकार का कथन है । इसी बात का उपपादन आगे के प्रकरण में किया गया है ।

इस [ध्वनि रूप] काव्य स्वरूप के जान लेने पर कुछ शब्द तत्व में आश्रित [भट्टोद्भटादि की अभिमत उपनागरिकादि] और दूसरी अर्थतत्व पर आश्रित [भरताभिमत कैशिकी आदि] जो कोई वृत्तियां हैं वह भी [रीतियों के समान व्यापक रूप ध्वनि के अन्तर्गत] प्रकाशित हो जाती हैं। [कारिका के उत्तरार्द्ध में कुछ अध्याहार किए बिना वाक्य अपूर्ण रह जाता है। वृत्तिकार

---

१. शब्दतत्वाश्च याः नि० ।

यत्र शब्दानामर्थानां च केषाञ्चित्प्रतिपत्तृविशेषसंवेद्यं जात्यत्वमिव रत्नविशेषाणां चारुत्वमनाख्येयमवभासते काव्ये तत्र ध्वनिव्यवहार इति यल्लक्षणं ध्वनेरुच्यते केनचित्तदयुक्तमिति [1]नाभिधेयतामर्हति । यतः शब्दानां [2]स्वरूपाश्रयस्तावदक्लिष्टत्वे सत्यप्रयुक्तप्रयोगः, वाचकाश्रयस्तु प्रसादो व्यञ्जकत्वं चेति विशेषः । अर्थानां च स्फुटत्वेनावभासनं व्यङ्ग्यपरत्वं [3]व्यङ्ग्यांशविशिष्टत्वं चेति विशेषः । तौ च विशेषौ व्याख्यातुं [4]शक्येते व्याख्यातौ च बहु प्रकारम् ।

ने भी उसकी व्याख्या में 'ताः सम्यग् रीतिपदवीमवतरन्ति' लिख कर उसकी व्याख्या की है । अर्थात् वह वृत्तियां भी रीतियों के समान ध्वनि में अन्तर्भूत हो जाती हैं ।

इस व्यङ्ग्य-व्यञ्जकभाव के विवेचनामय काव्य लक्षण के विदित हो हो जाने पर जो प्रसिद्ध उपनागरिकादि शब्दतत्त्वाश्रित वृत्तियां और जो अर्थ-तत्त्व से सम्बद्ध कैशिकी आदि वृत्तियां हैं वह पूर्णरूप से रीति मार्ग का अवलम्बन करती हैं । [अर्थात् जैसे व्यापक रूप ध्वनि में रीतियों का अन्तर्भाव हो जाता है, इसी प्रकार दोनों प्रकार की वृत्तियों का अन्तर्भाव भी व्यापक ध्वनि में हो जाता है । उनके अलग लक्षण आदि की आवश्यकता नहीं रहती] अन्यथा [यदि सहृदयानुभवगोचर चमत्कार विशेष जनक ध्वनि के साथ वृत्तियों का तादात्म्य अभेद न माने तो सहृदयानुभवगोचर चमत्कार विशेष जनकत्व के अतिरिक्त वृत्तियों का और कोई दृष्ट प्रयोजन बन ही नहीं सकता है इसलिए] अदृष्ट पदार्थों के समान वृत्तियाँ, अश्रद्धेय हो जावेंगी, अनुभव सिद्ध नहीं रहेगी ।

इस प्रकार इस ध्वनि का स्पष्ट रूप से लक्षण किया जा सकता है ।

'जहाँ किन्हीं शब्दों और अर्थों का चारुत्व विशेष, रत्नों के जात्यत्व [उत्कृष्ट जातीयत्व] के समान विशेषज्ञ संवेद्य और अवर्णनीय रूप में प्रतीत होता है उस काव्य में ध्वनि व्यवहार होता है' किसी ने यह जो ध्वनि का लक्षण किया है वह अयुक्त और इसलिए कहने योग्य नहीं है । [दीधिति-कार ने 'अभिधेयतां' की जगह 'अवधेयतां' पाठ रखा है । इसके अनुसार ध्यान

---

१. नावधेयतामर्हति नि०,दी० । २. स्वरूपभेदास्तावत् नि० । ३. व्यङ्ग्य-विशिष्टत्वं नि० । ४. व्याख्यातुमशक्यौ व्याख्यातौ बहुप्रकारम् नि०, दी० ।

तद्व्यतिरिक्तानाख्येयविशेषसम्भावना तु विवेकावसादभावमूलैव[1]। यस्मादनाख्येयत्वं [2]सर्वशब्दागोचरत्वेन न कस्यचित्सम्भवति। अन्ततोऽनाख्येयशब्देन तस्याभिधानसम्भवात्।[3]

सामान्यसंस्पर्शिविकल्पशब्दागोचरत्वे सति प्रकाशमानत्वं तु [4]यदनाख्येयत्वमुच्यते क्वचित् तदपि काव्यविशेषाणां रत्नविशेषाणामिव न सम्भवति। तेषां लक्षणकारैर्व्याकृतरूपत्वात्। रत्नविशेषाणां च

देने योग्य नहीं है। यह अर्थ होगा] क्योंकि शब्दों का स्वरूपगत विशेष अक्लिष्टत्व [श्रुतिकटु आदि दोषराहित्य] होकर अपुनरुक्तत्व, तथा [शब्दों का ही दूसरा] वाचकत्व [बोधकत्व] गत विशेष प्रसाद [गुण] तथा व्यञ्जकत्व, [यह दो शब्द के विशेष धर्म हो सकते हैं इसी प्रकार] और अर्थों की स्पष्ट प्रतीति, व्यङ्ग्यपरता, तथा व्यङ्ग्यविशिष्टता यह विशेष [धर्म] हो सकते हैं। वह दोनों [शब्दगत तथा अर्थगत] विशेष [धर्म] व्याख्या करने योग्य हैं। और [उनकी हमने] अनेक प्रकार से व्याख्या की [भी] है। [दीधितिकार ने 'व्याख्यातुमशक्यौ' पाठ माना है और, 'किन्हीं की दृष्टि में उनका व्याख्यान असम्भव होने पर भी' यह अर्थ किया है] इन [शब्द और अर्थ निष्ठ विशेष चारुत्व हेतुओं] के अतिरिक्त किसी अवर्णनीय विशेष की सम्भावना [कल्पना] विवेक के अत्यन्ताभाव से [अर्थात् मूर्खतावश] ही हो सकती है।

क्योंकि अनाख्येयत्व [अवर्णनीयत्व] का अर्थ समस्त शब्दों का अविषयत्व ही है। [और] वह [सर्वशब्दागोचरत्व रूप अनाख्येयत्व] किसी [भी पदार्थ] का सम्भव नहीं है। [क्योंकि प्रत्येक पदार्थ का कोई न कोई नाम होगा ही उसी नाम से वह आख्येय होगा। और दुर्जनतोष न्याय से ऐसा कोई संज्ञारहित पदार्थ मान भी लें तो भी] अन्ततः 'अनाख्येय' इस शब्द से तो उसका अभिधान [कथन] सम्भव होगा ही। [इसलिए किसी पदार्थ को अनाख्येय नहीं कहा जा सकता। अतएव ध्वनि को अनाख्येय कहना उचित नहीं है।]

सामान्य [जात्यादि] को ग्रहण करने वाला जो सविकल्पक ज्ञान [नामजात्यादियोजनासहितं सविकल्पकम्] उसका विषय न होकर [अर्थात्

---

१. विवेकावसादगर्भरभसमूलैव नि०, दी०। २. शब्दार्थगोचरत्वेन दी०। ३. तदभिधानात् दी०। ४. तदनाख्येयत्वमुच्यते नि०।

सामान्यसम्भावनयैव मूल्यस्थितिपरिकल्पनादर्शनाच्च । उभयेषामपि तेषां प्रतिपत्तृविशेषसंवेद्यत्वमस्त्येव । वैकटिका एव हि रत्नतत्वविदः, सहृदया एव हि काव्यानां रसज्ञा इति कस्यात्र विप्रतिपत्तिः ।

यत्वनिर्देश्यत्वं सर्वलक्षणविषयं बौद्धानां प्रसिद्धं तत् तन्मतपरीक्षायां ग्रन्थान्तरे निरूपयिष्यामः । इह तु ग्रन्थान्तरश्रवणलवप्रकाशनं सहृदय-वैमनस्यप्रदायीति न प्रक्रियते । बौद्धमतेन वा यथा प्रत्यक्षादिलक्षणं तथाऽस्माकं ध्वनिलक्षणं भविष्यति ।

निर्विकल्पक ज्ञान के रूप में] प्रकाश्यमानता रूप जो अनाख्येयत्व [का लक्षण] कहीं बताया गया है वह भी रत्न विशेषों के समान काव्य विशेषों में सम्भव नहीं है । क्योंकि लक्षणकारों ने उनकी व्याख्या कर दी है । [अत एव रत्न और काव्य दोनों ही विकल्प ज्ञान के अविषय नहीं अपितु विषय होने से अनाख्येय नहीं हो सकते हैं] और रत्नों में तो सामान्य [रत्नत्व] सम्भावना से ही मूल्य स्थिति की कल्पना देखी जाती है । और वह दोनों [रत्न और काव्य] विशेषज्ञों द्वारा संवेद्य हैं । क्योंकि [वैकटिक] जौहरी रत्नों के तत्व को समझते हैं । और सहृदय काव्य के रसज्ञ होते हैं । इसमें किस को मतभेद हो सकता है ।

बौद्ध दर्शन क्षणभङ्गवादी दर्शन है । उसके मत में सभी पदार्थ क्षणिक हैं । इसलिए उनके लक्षण नहीं किये जा सकते हैं । अतएव ध्वनि पदार्थ का भी लक्षण सम्भव नहीं है । और वह अनाख्येय ही है । यह पूर्वपक्ष होने पर उत्तर देते हैं ।

बौद्धों के मत में समस्त पदार्थों का जो अलक्षणीयत्व [अनिर्वचनीयत्व] प्रसिद्ध है उसका विवेचन हम अपने दूसरे ग्रन्थ ['विनिश्चय' नामक बौद्ध ग्रन्थ की 'धर्मोत्तमा' नामक विवृत्ति ग्रन्थ] में उनके मत की परीक्षा के अवसर पर करेंगे । [जिसका सार यह होगा कि बौद्धों का क्षणभङ्गवाद का सिद्धान्त ही ठीक नहीं है । अतएव उसके आधार पर अलक्षणीयत्व का सिद्धान्त भी नहीं बन सकता है] ।

यहां तो [उस अत्यन्त शुष्क और कठिन] दूसरे ग्रन्थ के विषय की तनिक सी चर्चा [प्रकाशन] भी सहृदयों के लिए वैमनस्य दायक होगी इसलिए [हम उसको इस समय] नहीं कर रहे हैं । [फिर भी इतना कह देना तो उचित होगा कि बौद्ध लोग सब वस्तुओं को क्षणिक और अलक्षणीय

[1]तस्माल्लक्षणान्तरस्याघटनादशब्दार्थत्वाच्च तस्योक्तमेव ध्वनि-लक्षणं साधीयः ।

तदिदमुक्तम् :—

अनाख्येयांशभासित्वं निर्वाच्यार्थतया ध्वनेः ।
न लक्षणं, लक्षणं तु साधीयोऽस्य यथोदितम् ।।

इति श्री राजानकानन्दवर्धनाचार्यविरचिते ध्वन्यालोके
तृतीय उद्योतः



मानते हुए भी प्रत्यक्षादि प्रमाणों के लक्षण करते हैं अतएव] बौद्धों के मत में [क्षणिकत्व और अलक्षणीयत्व होते हुए भी] प्रत्यक्षादि के लक्षण के समान हमारा ध्वनि लक्षण भी हो सकता है ।

इसलिए [हमारे लक्षण के अतिरिक्त] अन्य कोई लक्षण न किए जाने और उस [ध्वनि] के वाच्य अर्थ न [अ-शब्दार्थ] होने से पूर्वोक्त [हमारा किया हुआ] ध्वनि लक्षण ही ठीक है ।

इसी को [संग्रह रूप में] इस प्रकार कहा है :—

ध्वनि के निर्वचनीय अर्थ होने से अनाख्येयांशभासित्व उसका लक्षण नहीं है । उसका ठीक लक्षण जैसा हमने कहा है वही है ।



श्री राजानक आनन्दवर्धनाचार्य विरचित ध्वन्यालोक में
तृतीय उद्योत समाप्त हुआ



इति श्रीमदाचार्यविश्वेश्वरसिद्धान्तशिरोमणिविरचितायां
'आलोकदीपिकाख्यायां' हिन्दीव्याख्यायां
तृतीय उद्योतः समाप्तः



१. तस्माल्लक्षणान्तरस्याघटनादर्शनादशब्दार्थत्वाच्च नि० ।

चतुर्थ उद्योतः



एवं ध्वनिं सप्रपञ्चं विप्रतिपत्तिनिरासार्थं व्युत्पाद्य, तद्व्युत्पादने प्रयोजनान्तरमुच्यते :—

ध्वनेर्यो गुणीभूतव्यङ्ग्यस्याध्वा प्रदर्शितः ।
अनेनानन्त्यमायाति कवीनां प्रतिभागुणः ॥१॥

य एष ध्वनेर्गुणीभूतव्यङ्ग्यस्य च मार्गः प्रकाशितस्तस्य फलान्तरं कविप्रतिभानन्त्यम् ॥१॥

अथ 'आलोकदीपिकायां' चतुर्थ उद्योतः

इस प्रकार विप्रतिपत्तियों के निराकरण के लिए भेदोपभेद सहित ध्वनि का निरूपण करके, उसके प्रतिपादन का दूसरा प्रयोजन [भी] बताते हैं।

गुणीभूतव्यङ्ग्य सहित ध्वनि का जो मार्ग प्रदर्शित किया है इस [मार्ग का अवलम्बन करने] से कवियों की प्रतिभा शक्ति अनन्तता को प्राप्त कर लेती है।

यह जो ध्वनि और गुणीभूत व्यङ्ग्य का पथ प्रदर्शित किया है उसका दूसरा फल कवि की प्रतिभा [काव्योत्कर्ष जनक शक्ति] का आनन्त्य [अविच्छिन्नत्व] है ॥१॥

[प्रश्न] ध्वनि और गुणीभूतव्यङ्ग्य यह दोनों काव्यनिष्ठ धर्म हैं। प्रतिभा गुण कविनिष्ठ धर्म है। अतः यह दोनों व्यधिकरण धर्म हैं। अर्थात् इन दोनों के अधिकरण-आधार अलग-अलग हैं। कार्य-कारणभाव समानाधिकरण धर्मों में ही हो सकता है। व्यधिकरण धर्मों में कार्यकारणभाव मानने से तो देवदत्त का कर्म यज्ञदत्त के फलभोग का अथवा देवदत्त का ज्ञान यज्ञदत्त की स्मृति का कारण होने लगेगा। अतः व्यधिकरण धर्मों में कार्य-कारण भाव नहीं हो सकता। ऐसी दशा में ध्वनि और गुणीभूत व्यङ्ग्य, भिन्न अधिकरण में रहने वाली, [व्यधिकरण] कविप्रतिभा के आनन्त्य के हेतु कैसे हो सकेंगे। यह प्रश्न कर्ता का आशय है। इसके उत्तरपक्ष का आशय यह है कि ध्वनि और गुणी-

कथमिति चेत्—

अतो ह्यन्यतमेनापि प्रकारेण विभूषिता ।
वाणी नवत्वमायाति पूर्वार्थान्वयवत्यपि ॥२॥

अतो[1] ध्वनेरुक्तप्रभेदमध्याद्न्यतमेनापि प्रकारेण विभूषिता सती वाणी पुरातनकविनिबद्धार्थसंस्पर्शवत्यपि नवत्वमायाति । तथाह्यविवक्षितवाच्यस्य ध्वनेः प्रकारद्वयसमाश्रयणेन नवत्वं पूर्वार्थानुगमेऽपि यथा—

स्मितं किञ्चिन्मुग्धं तरलमधुरो दृष्टिविभवः,
परिस्पन्दो वाचामभिनवविलासोर्मिसरसः ।[2]

भूत व्यङ्ग्य नहीं अपितु उनका 'ज्ञान' कविप्रतिभा के आनन्त्य का हेतु होता है । 'ज्ञान' और 'प्रतिभा' दोनों कविनिष्ठ धर्म हैं । अतएव 'ज्ञानद्वारक सामानाधिकरण्य' को लेकर कार्य-कारण भाव मानने में कोई दोष नहीं है । इसी आशय से पूर्वपक्ष उठाकर अगली कारिका में उसका उत्तर दिया है ।

यदि कोई पूछे कि [ध्वनि और गुणीभूत व्यङ्ग्य कवि प्रतिभा के आनन्त्य के हेतु] कैसे [होंगे] तो [उत्तर यह है कि] :—

उन [ध्वनि तथा गुणीभूत व्यङ्ग्य] में से किसी एक से भी विभूषित [कवि] की वाणी [वाल्मीकि, व्यास आदि अन्य कवियों द्वारा प्रतिपादित अतएव] पुराने अर्थों से युक्त [वाच्य-वाचक भाव से सम्बद्ध] होने पर भी नवीनता [अभिनव चारुत्व] को प्राप्त हो जाती है ।

इन ध्वनि के उक्त भेदों [ध्वनि और गुणीभूत व्यङ्ग्य] में से किसी एक भी भेद से युक्त [कवि की] पुरातन कवि निबद्ध अर्थों का वर्णन करने वाली वाणी [भी] नवीनता [अभिनव चारुत्व] को प्राप्त हो जाती है । पूर्व [कविवर्णित] अर्थ का सम्बन्ध होने पर भी अविवक्षित वाच्य [लक्षणामूल] ध्वनि के दोनों [अर्थान्तरसंक्रमित वाच्य तथा अत्यन्ततिरस्कृत वाच्य] प्रकारों के आश्रय से नवीनता [का उदाहरण] जैसे :—

नव यौवन का स्पर्श करने वाली [वयः सन्धि में वर्तमान] मृगनयनी

---

१. अतो हि नि०, दी० । २. विलासोक्तिसरसः नि० ।

गतानामारम्भः किसलयितलीलापरिमलः[1],
स्पृशन्त्यास्तारुण्यं किमिव हि न रम्यं मृगदृशः ॥

इत्यस्य—

सविभ्रमस्मितोद्भेदा लोलाक्ष्यः प्रस्खलद्गिरः ।
नितम्बालसगामिन्यः कामिन्यः कस्य न प्रियाः ॥

इत्येवमादिषु श्लोकेषु सत्स्वपि तिरस्कृतवाच्यध्वनिसमाश्रयेणा-पूर्वत्वमेव प्रतिभासते ।

की तनिक सी मधुर मुस्कान, चञ्चल और सुलक्षण मीठी दृष्टि का सौन्दर्य, नवीन [विलास] पूर्ण उक्तियों से सरस वाणी का प्रयोग, विविध हावभावों को विकसित करने वाली गतियों का उपक्रम, [इत्यादि में से] कौन सी चीज़ मनोहर नहीं है । [सभी कुछ सुन्दर और रमणीय है] ।

इस [श्लोक] का—

विभ्रम [शृङ्गार चेष्टा विशेष] से युक्त, जिनकी मन्द मुस्कान खिल रही है, आंखें चञ्चल और वाणी लड़खड़ा रही है, और नितम्बों [के अति भार] के कारण जो धीरे-धीरे चलने वाली कामिनियाँ हैं, वह किसको प्रिय नहीं लगती हैं ।

इत्यादि [पूर्व कवि रचित] श्लोकों के रहते हुए भी [उसी भाव को लेकर लिखे गए 'स्मितं किञ्चिन्मुग्धं' इत्यादि नवीन श्लोक में मुग्ध, मधुर, विभव, परिस्पन्द, सरस, किसलयित, परिकर आदि पदों में उन शब्दों के मुख्यार्थ के अत्यन्त बाधित होने से लक्षणामूल अत्यन्त] तिरस्कृत वाच्य ध्वनि के सम्बन्ध से नवीन चारुत्व प्रतीत ही होता है ।

यहाँ 'मधुर' पद से सौन्दर्यातिरेक, 'मुग्ध' पद से सकल-हृदय-हरणक्षमत्व, 'विभव' पद से अविच्छिन्न सौन्दर्य, 'परिस्पन्द' शब्द से लज्जापूर्वक मन्दोच्चारण-जन्य चारुता, 'सरस' पद से तृप्तिजनकत्व, 'किसलयित' पद से सन्तापोपशमकत्व, 'परिकर' पद से अपरिमितता, और 'स्पर्श' पद से स्पृहणीयतमत्व आदि व्यङ्ग्यों के वैशिष्ट्य से पुराना अर्थ भी नवीन हो उठा है ।

---

१. परिकरः नि० दी० ।

तथा—

य: प्रथम:, प्रथम: स तु तथा हि हतहस्तिबहलपललाशी ।
श्वापदगणेषु सिंह:, सिंह: केनाधरीक्रियते ॥

इत्यस्य,

स्वतेजःक्रीतमहिमा केनान्येनातिशय्यते ।
महद्भिरपि मातङ्गैः सिंह: [1]किमभिभूयते ॥

इत्येवमादिषु श्लोकेषु सत्स्वप्यर्थान्तरसंक्रमितवाच्यध्वनिसमाश्रयेण नवत्वम् ।

तथा—

जो प्रथम है वह तो प्रथम [ही] है, जैसे हिंस्र प्राणियों में, मारे हुए हाथियों के प्रचुर मांस को खाने वाला सिंह, सिंह ही है, उसे कौन नीचा [तिरस्कृत] कर सकता है ।

इसका,

अपने प्रताप से गौरव प्राप्त करने वाले [महापुरुष] से बढ़ कर कौन हो सकता है । क्या बड़े-बड़े [विशालकाय] हाथी भी सिंह को दबा सकते हैं ?

इत्यादि [प्राचीन] श्लोकों के होते हुए भी ['यः प्रथमः' इत्यादि नवीन श्लोक में द्वितीय बार प्रयुक्त 'सिंहः' तथा 'प्रथमः' पदों में] अर्थान्तर-संक्रमित वाच्य ध्वनि के आश्रय से नवीनता आ गई है ।

यहां 'य: प्रथम:' इत्यादि श्लोक के पूर्वार्द्ध में दूसरी बार प्रयुक्त 'प्रथमः' पद, और उत्तरार्द्ध में दूसरी बार प्रयुक्त 'सिंहः' पद पुनरुक्त होने से, यथाश्रुत, अन्वित न हो सकने के कारण अजहत्स्वार्था लक्षणा के द्वारा असाधारण्य, परानभिभवनीयत्व, आदि विशिष्ट 'प्रथम' तथा 'सिंह' अर्थ के बोधक होते हैं । अतः उनमें अर्थान्तरसंक्रमित वाच्य ध्वनि के सम्बन्ध से यह नवीनता प्रतीत होने लगती है ।

---

१. केनाभिभूयते नि०, दी० ।

विवक्षितान्यपरवाच्यस्यापि, उक्तप्रकारसमाश्रयेण नवत्वं [1]यथा—

निद्राकैतविनः प्रियस्य वदने विन्यस्य वक्त्रं वधूः,
बोधत्रासनिरुद्धचुम्बनरसाऽप्याभोगलोलं स्थिता।
वैलक्ष्याद्विमुखीभवेदिति पुनस्तस्याप्यनारम्भिणः,
साकांक्षप्रतिपत्ति नाम हृदयं यातं तु पारं रतेः॥

[2]इत्यादेः श्लोकस्य—

शून्यं वासगृहं विलोक्य शयनादुत्थाय किञ्चिच्छनै-
र्निद्राव्याजमुपागतस्य सुचिरं निर्वर्ण्य पत्युर्मुखम्।

अविवक्षित वाच्यध्वनि के सम्पर्क से नूतन चारुत्व की प्राप्ति के उदाहरण दिखा कर अब विवक्षितान्यपरवाच्य ध्वनि के असंलक्ष्यक्रम व्यङ्ग्य भेद के संस्पर्श से नवीन चारुत्व की प्राप्ति का उदाहरण देते हैं।

विवक्षितान्यपर वाच्य [अभिधामूल ध्वनि] के भी पूर्वोक्त [संलक्ष्य-क्रम व्यङ्ग्य तथा असंलक्ष्यक्रम व्यङ्ग्य] प्रकारों [में से असंलक्ष्यक्रम व्यङ्ग्य ध्वनि रूप प्रकार] के समाश्रय से नवीनता [प्राप्ति] का [उदाहरण] जैसे—

[नव परिणीता] वधू नींद का बहाना करके लेटे हुए, पति के मुख पर अपना मुख रख कर, उनके जग जाने के डर से अपनी चुम्बन की इच्छा को रोक कर भी [आभोग] चुम्बनेच्छा के प्रतिक्षण बढ़ने के कारण चञ्चल [अथवा बार-बार निद्रा की परीक्षा करते हुए चञ्चल] खड़ी है। और [मेरे चुम्बन कर लेने से] लज्जा के कारण यह कहीं विमुख न हो जाय, यह सोच कर [चुम्बन व्यापार का] आरम्भ न कर सकने वाले उस [नायक] का भी हृदय [मनोरथ पूर्ति न हो पाने से साकांक्ष भले ही हो, परन्तु] रति [रसास्वाद] के पार पहुंच गया।

इत्यादि श्लोक,

वास गृह [अपने सोने के कमरे] को [अन्य सखी आदि से] शून्य [ख़ाली, एकान्त] देख कर, धीरे से पलंग पर से थोड़ा सा उठकर, नींद का बहाना किए हुए पति के मुख को बहुत देर तक [कहीं जाग तो नहीं रहे हैं

---

१. तत्रालक्ष्यक्रमप्रकारसमाश्रयेणान्यथात्वम् नि०, दी० में यथा के पूर्व इतना पाठ अधिक है। २. इत्यस्य नि०।

विस्रब्धं परिचुम्ब्य जातपुलकामालोक्य गण्डस्थलीं,
लज्जानम्रमुखी प्रियेण हसता बाला चिरं चुम्बिता ॥

इत्यादिषु श्लोकेषु सत्स्वपि नवत्वम् ।

यथा वा 'तरङ्गभ्रूभङ्गा' इत्यादि श्लोकस्य 'नानाभङ्गिभ्रमद्भ्रूः' । इत्यादि श्लोकापेक्षयाऽन्यत्वम् ॥२॥

[1]युक्त्यानयानुसर्तव्यो रसादिर्बहुविस्तरः[2] ।
[3]मितोऽप्यनन्ततां प्राप्तः काव्यमार्गो यदाश्रयात् ॥३॥

इस दृष्टि से] देखने के बाद [वास्तव में सो रहे हैं ऐसा समझ कर] विश्वास पूर्वक चुम्बन कर के, उनके कपोलों को [चुम्बन के कारण] रोमाञ्च युक्त देख कर, लज्जा से नम्रमुखी उस नवोढ़ा वधू को हंसते हुए पति ने बहुत देर तक चुम्बन किया।

इत्यादि श्लोकों के रहते हुए भी ['निद्राकैतविनः' इत्यादि नवीन श्लोक में] नूतनता प्रतीत होती है।

'शून्यं वासगृहं' इत्यादि श्लोक में बाला रूप आलम्बन, शून्य वासगृहादि उद्दीपन विभाव, लज्जा आदि व्यभिचारीभाव, उभयारब्ध परिचुम्बन रूप अनुभाव आदि से यद्यपि शृङ्गार रस चर्वणा गोचर होता है परन्तु फिर भी लज्जा व्यभिचारीभाव के स्वशब्दवाच्यत्व तथा 'निर्वर्ण्य' पद में श्रुतिकटुत्व आदि दोषों के कारण रसापकर्ष होना अनिवार्य है। उसकी अपेक्षा प्रायः उसी अर्थ के बोधक 'निद्राकैतविनः' इत्यादि श्लोक में दोनों की परस्पर चुम्बनाभिलाषधारा से संसूच्यमान रति, दोनों की समानाकार चित्तवृत्ति को प्रकाशित करती हुई कुछ अद्भुत रूप से परिपोष को प्राप्त होकर आस्वाद का विषय बनती है। और उस रस के आस्वाद में कोई प्रतिबन्धक नहीं है। अतएव असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य ध्वनि के साम्राज्य के कारण इसमें अपूर्वता प्रतीत होती है।

अथवा जैसे 'तरङ्गभ्रूभङ्गा' इत्यादि [पृ० १२८ पर दिए हुए] श्लोक की 'नानाभङ्गिभ्रमद्भ्रू' इत्यादि [प्राचीन] श्लोक की अपेक्षा [असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य ध्वनि के प्रभाव से] अपूर्वता प्रतीत होती है ॥२॥

इसी प्रकार अत्यन्त विस्तृत रसादि का अनुसरण करना चाहिए।

---

१. दिशा नि० । २. रसादिबहुविस्तरः नि० । ३. मितो बा० प्रि० ।

बहुविस्तारोऽयं रसभावतदाभासतत्प्रशमलक्षणो मार्गो यथास्वं विभावानुभावप्रभेदकलनया, यथोक्तं प्राक। स सर्व एवानया [1]युक्त्यानुसर्तव्यः। यस्य रसादेराश्रयादयं काव्यमार्गः पुरातनैः कविभिः सहस्रसंख्यैरसंख्यैर्वा बहुप्रकारं क्षुण्णत्वान्मितोऽप्यनन्ततामेति[2]। रसभावादीनां हि प्रत्येकं विभावानुभावव्यभिचारिसमाश्रयादपरिमितत्वम्। तेषां चैकैकप्रभेदापेक्षयापि तावज्जगद्वृत्तमुपनिबध्यमानं सुकविभिस्तदिच्छावशादन्यथा स्थितमप्यन्यथैव विवर्तते। प्रतिपादितं चैतच्चित्रविचारावसरे।

गाथा चात्र कृतैव महाकविना—

अतहट्ठिए वि तहसण्ठिए व्व हिअअम्मि जा णिवेसेइ।
अत्थविसेसे सा जअइ विकडकइगोअरा वाणी॥

[*अतथास्थितानपि तथा संस्थितानिव हृदये या निवेशयति।*
अर्थविशेषान् सा जयति विकटकविगोचरा वाणी॥ इतिच्छाया]

जिसके आश्रय से परिमित काव्य मार्ग भी अनन्तता को प्राप्त हो जाता है।

जैसा कि पहिले कह चुके हैं रस, भाव, तदाभास और तत्प्रशम रूप [रसादि] मार्ग अपने विभाव, अनुभाव आदि प्रभेदों की गणना से अत्यन्त विस्तृत हो जाता है। उस सबका उसी प्रकार अनुसरण करना चाहिए। जिस रसादि के आश्रय से सहस्रों अथवा असंख्य प्राचीन कवियों द्वारा नाना प्रकार से क्षुण्ण होने से परिमित काव्य मार्ग भी अनन्तता को प्राप्त हो जाता है।

रस, भावादि में से प्रत्येक [अपने-अपने] विभाव, अनुभाव, व्यभिचारी भाव के आश्रय से अपरिमित हो जाता है। उनमें से एक-एक भेद की दृष्टि से भी सुकवियों द्वारा वर्णित जगद्वृत्तान्त, [वस्तुतः] अन्य रूप में स्थित होते हुए भी उन [कवियों] की इच्छानुसार अन्य रूप से प्रतीत होता है। यह बात चित्र [काव्य] के विचार के अवसर पर [तृतीय उद्योत की ४२ वीं कारिका के 'भावानचेतनान् चेतनवद्' इत्यादि परिकर श्लोक में] कह चुके हैं।

इस विषय में महाकवि [शालिवाहन अथवा किसी अन्य] ने गाथा भी बनाई है—

जो उस [रमणीय] रूप में [वस्तुतः] स्थित न होने वाले [मुख्य

---

१. दिशा नि०। २. मिथोऽप्यनन्ततामेति बा० प्रि०।

तदित्थं रसभावाद्याश्रयेण काव्यार्थानामानन्त्यं सुप्रतिपादितम् ॥३॥

एतदेवोपपादयितुमुच्यते—

दृष्टपूर्वा अपि ह्यर्थाः काव्ये रसपरिग्रहात् ।
सर्वे नवा इवाभान्ति मधुमास इव द्रुमाः ॥४॥

तथा हि विवक्षितान्यपरवाच्यस्यैव शब्दशक्त्युद्भवानुरणनरूपव्यङ्ग्यप्रकारसमाश्रयेण नवत्वम् । यथा "धरणीधारणायाधुना त्वं शेषः" । इत्यादेः,

शेषो हिमगिरिस्त्वञ्च महान्तो गुरवः स्थिराः ।
यदलङ्घितमर्यादाश्चलन्तीं [1]बिभ्रथ भुवम्[2] ॥

आदि] पदार्थ विशेषों को भी उस [लोकोत्तर रमणीय] रूप में स्थित सा हृदय में जमा देती है । महाकवियों की वह वाणी सर्वोत्कृष्ट है ।

इस प्रकार रस, भाव आदि के आश्रय से काव्यार्थ अनन्त हो जाते हैं यह बात भली प्रकार प्रतिपादित की गई ॥३॥

इसी का उपपादन करने के लिए कहते हैं—

वसन्त ऋतु में वृक्षों के समान काव्य में रस को पाकर पूर्व दृष्ट सारे पदार्थ भी नए से प्रतीत होने लगते हैं ।

जैसे कि विवक्षितान्यपर वाच्य ध्वनि के शब्दशक्त्युद्भव रूप संलक्ष्यक्रम व्यङ्ग्य भेद के आश्रय से नवीनता [की प्रतीति का उदाहरण], जैसे—

'पृथ्वी के धारण करने के लिये अब तुम 'शेष' हो ।

इसकी व्याख्या पृ० २१८ पर हो चुकी है । यहां शेषनाग के साथ राजा की उपमा शब्दशक्त्युद्भव अलङ्कार ध्वनि रूप में व्यङ्ग्य है । उसके कारण यह, लगभग इसी भाव के प्रतिपादक अगले प्राचीन श्लोक की अपेक्षा नवीन प्रतीत होता है ।

शेष नाग, हिमालय और तुम महान् [विपुल आकार वाले तथा महत्वशाली] गुरु [भूभार-सहनक्षम और प्रतिष्ठित] और स्थिर [अचल तथा दृढ़प्रतिज्ञ] हैं । क्योंकि मर्यादा का अतिक्रमण न करते हुए, चलायमान

---

१. बिभ्रते बा० प्रि० । २. क्षितिम् नि०, दी० ।

इत्यादिषु सत्स्वपि ।

तस्यैवार्थशक्त्युद्भवानुरणनरूपव्यङ्ग्यसमाश्रयेण नवत्वम्, यथा—

'एवंवादिनि देवर्षौ' इत्यादि श्लोकस्य,

कृते वरकथालापे कुमार्यः पुलकोद्गमैः ।
सूचयन्ति स्पृहामन्तर्लज्जयावनताननाः ॥

इत्यादिषु सत्सु[1] ।

अर्थशक्त्युद्भवानुरणनरूपव्यङ्ग्यस्य कविप्रौढोक्तिनिर्मितशरीरत्वेन नवत्वम्, यथा—

"सज्जइ सुरहिमासो" इत्यादेः,

सुरभिसमये प्रवृत्ते सहसा प्रादुर्भवन्ति रमणीयाः ।
रागवतामुत्कलिकाः सहैव सहकारकलिकाभिः ॥

[कम्पायमान और सामाजिक मर्यादा से च्युत होती हुई] पृथ्वी को धारण [धारण तथा पालन] करते हैं ।

इत्यादि के होने पर भी [पूर्वोक्त 'धरणीधारणायाधुना त्वं शेषः' इत्यादि उदाहरण में नूतनता प्रतीत होती है क्योंकि उसमें शब्दशक्त्युद्भव अलङ्कार ध्वनि के कारण अभिनव चारुत्व आ गया है ।]

उसी [विवक्षितान्यपरवाच्य] के अर्थशक्त्युद्भव रूप संलक्ष्यक्रम व्यङ्ग्य [भेद] के आश्रय से नवीनता [का उदाहरण] जैसे—'एवंवादिनि देवर्षौ' इत्यादि [पृष्ठ १८१ पर दिए हुए श्लोक] की,

वर की चर्चा के अवसर पर लज्जा से मुख नीचा किए हुए कुमारियां पुलकों के उद्गम से ही आन्तरिक इच्छा को अभिव्यक्त करती हैं ।

इत्यादि के रहने पर भी । [इस श्लोक में लज्जा और स्पृहा वाच्य रूप में कथित होने से उतनी चमत्कार जनक नहीं प्रतीत होती है । 'एवंवादिनि' इत्यादि श्लोक में वही अर्थशक्त्युद्भव ध्वनि रूप व्यङ्ग्य के सम्बन्ध से, विशेष चमत्कारजनक होने से, अपूर्व प्रतीत होती है ।]

अर्थशक्त्युद्भव संलक्ष्यक्रम के कविप्रौढोक्तिसिद्ध भेद से नवीनता । जैसे —'सज्जयति सुरभिमासो' इत्यादि [पृष्ठ १८८ पर उद्धृत] श्लोक की,

---

१. सत्स्वपि नि०, दी० ।

इत्यादिषु सत्स्वप्यपूर्वत्वमेव ।

अर्थशक्त्युद्भवानुरणनरूपव्यङ्ग्यस्य कविनिबद्धवक्तृप्रौढ़ोक्तिनिष्पन्नशरीरत्वे सति, नवत्वं यथा—

'वाणिअअ हत्थिदन्ता' इत्यादि गाथार्थस्य,

करिणी वेहव्वअरो मह पुत्तो एक्कक्कण्डविणिवाई ।
हअसोन्हाएँ तह कहो जह कण्डकरण्डअं वहइ ॥

[*करिणीवैधव्यकरो मम पुत्रः एककाण्डविनिपाती ।*
हतस्नुषया तथा कृतो यथा काण्डकरण्डकं वहति ॥ इतिच्छाया]

एवमादिष्वर्थेषु सत्स्वप्यनालीढ़तैव ।

वसन्त ऋतु के आने पर आम्र मञ्जरियों के साथ ही प्रणयी जनों की रम्य उत्कण्ठाएं सहसा आविर्भूत होने लगती हैं ।

इत्यादि के होने पर भी अपूर्वत्व ही होता है । [यहाँ कविप्रौढ़ोक्तिसिद्ध वस्तु से मदन विजृम्भण रूप वस्तु व्यङ्ग्य होने के कारण नवीन चारुता आ जाती है ।]

अर्थशक्त्युद्भव संलक्ष्यक्रम व्यङ्ग्य के कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्तिसिद्ध रूप होने पर अभिनवत्व [चारुता प्रतीति का उदाहरण] जैसे—

'वणिजक हस्तिदन्ता' [पृष्ठ २२० पर उदाहृत] इत्यादि गाथा के अर्थ की—

[केवल] एक ही बाण के प्रयोग से [मदमत्त हाथियों को मार कर] हथिनियों को विधवा करने वाले मेरे पुत्र को उस अभागिनी पुत्रवधू ने [निरन्तर सम्भोग द्वारा] ऐसा [क्षीणवीर्य] कर दिया है कि [अब वह सारा] तूणीर लादे घूमता है ।

इत्यादि अर्थों [समानार्थक श्लोक] के रहते हुए भी ['वणिजक हस्तिदन्ता' इत्यादि श्लोक में कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्ति सिद्ध व्यङ्ग्य के प्रभाव से] नूतनता ही है ।

जैसे ध्वनि के व्यङ्ग्य भेद के आश्रय से काव्यार्थों में नूतनता आ जाती

यथा व्यङ्ग्यभेदसमाश्रयेण ध्वनेः काव्यार्थानां नवत्वमुत्पद्यते, तथा व्यञ्जकभेदसमाश्रयेणापि । तत्तु ग्रन्थविस्तरभयान्न लिख्यते । स्वयमेव सहृदयैरभ्यूह्यम् ॥४॥

है उसी प्रकार व्यञ्जक भेद के आश्रय से भी [हो सकती है] ग्रन्थ विस्तार के भय से उसे नहीं लिख रहे हैं । सहृदय [पाठक] उसको स्वयं ही समझ लें ।

निर्णयसागरीय तथा दीधिति टीका वाले संस्करण में 'वणिजक' इत्यादि उदाहरण के पूर्व निम्न पाठ और दिया है—

"साअरविइण्णजोव्वणहत्थालम्बं समुण्णमन्तेहिं ।
अब्भुट्ठाणम्मिव मम्महस्स दिण्णं तुह थणेहि ॥

अस्य हि गाथार्थस्य,

उदित्तर कआभोआ जह जह थणआ विणन्ति बालानाम् ।
तह लद्धावासो व्व मम्महो हिअअमाविसइ ॥

[उदित्वरकचाभोगा यथा यथा स्तनका वर्धन्ते बालानाम् ।
तथा तथा लब्धावास इव मन्मथो हृदयमाविशति ॥ इतिच्छाया]

एतद्गाथार्थेन न पौनरुक्त्यम् ।"

[साअर इत्यादि गाथा की छाया तथा व्याख्या पहिले पृष्ठ १९६ पर दी जा चुकी हैं ।] इस गाथा के अर्थ की—

केशपाश से शोभायमान बालिकाओं के स्तन ज्यों-ज्यों बढ़ते हैं त्यों-त्यों अवसर प्राप्त कामदेव हृदय में प्रविष्ट हो जाता है ।

इस गाथा के अर्थ के साथ पुनरुक्ति नहीं होती है । यहां द्वितीय श्लोक में वाच्योत्प्रेक्षा द्वारा यौवनारम्भ में बालिकाओं के हृदय में मदन के प्रवेश का वर्णन है । परन्तु प्रथम श्लोक में वही अर्थ कविनिबद्धवक्तृप्रौढ़ोक्ति-सिद्ध व्यङ्ग्य रूप से प्रतीत होने से अधिक चमत्कारजनक प्रतीत होता है । काशी के बालप्रिया टीकायुक्त संस्करण में 'साअर' इत्यादि और 'उदित्वर' इत्यादि दोनों उदाहरण नहीं दिए हैं । निर्णयसागरीय संस्करण में उदिह .... के आगे कुछ पाठ छुटा हुआ है । दीधितिकार ने उस पाठ को उदित्वर मान कर उसे पूर्ण कर दिया है ।

अत्र च पुनः पुनरुक्तमपि सारतयेदमुच्यते:—

व्यङ्ग्यव्यञ्जकभावेऽस्मिन्विविधे सम्भवत्यपि ।
रसादिमय एकस्मिन्कविः स्यादवधानवान् ॥५॥

अस्मिन्नर्थानन्त्यहेतौ व्यङ्ग्यव्यञ्जकभावे [1]विचित्रे शब्दानां[2] सम्भवत्यपि कविरपूर्वार्थलाभार्थी[3] रसादिमय एकस्मिन् व्यङ्ग्यव्यञ्जकभावे यत्नादवदधीत । रसभावतदाभासरूपे हि व्यङ्ग्यतद्व्यञ्जकेषु च यथानिर्दिष्टेषु वर्णपदवाक्यरचनाप्रबन्धेष्ववहितमनसः कवेः सर्वमपूर्वं काव्यं सम्पद्यते । तथा च रामायणमहाभारतादिषु सङ्ग्रामादयः पुनः पुनरभिहिता अपि नवनवाः प्रकाशन्ते ।

प्रबन्धे चाङ्गी रस एक एवोपनिबध्यमानोऽर्थविशेषलाभं छायातिशयं च पुष्णाति । कस्मिन्निवेति चेत्, यथा रामायणे यथा वा महाभारते । रामायणे हि करुणो रसः स्वयमादिकविना सूत्रितः "शोकः

इस विषय में बार-बार कहे हुए होने पर भी, सार रूप होने से [फिर] यह कहते हैं—

इस व्यङ्ग्य-व्यञ्जक भाव के नाना प्रकार सम्भव होने पर भी कवि केवल एक रसादिमय भेद में [ही] ध्यान लगावे ।

अर्थों की अनन्तता के हेतु इस व्यङ्ग्य-व्यञ्जक भाव के नाना रूप सम्भव होने पर भी, अपूर्व [लोकोत्तर चमत्कार पूर्ण काव्य] अर्थ की सिद्धि के लिए, कवि केवल एक रसादिमय व्यङ्ग्य-व्यञ्जक भाव में प्रयत्नपूर्वक ध्यान दे । रस, भाव और तदाभास [रसाभास तथा भावाभास] रूप व्यङ्ग्य और उसके व्यञ्जक पूर्वोक्त वर्ण, पद, वाक्य, रचना तथा प्रबन्ध में सावधान कवि का सारा ही काव्य अपूर्व बन जाता है । इसीलिए रामायण, महाभारत आदि में संग्राम आदि अनेक बार वर्णित होने पर भी [सब जगह] नए-नए से प्रतीत होते हैं ।

प्रबन्ध [काव्य] में एक ही प्रधान रस उपनिबद्ध होकर अर्थ विशेष की सिद्धि तथा सौन्दर्यातिशय की पुष्टि करता है । जैसे कहां ? यह पूछो तो

---

१. विचित्रं बा० प्रि० । २. शब्दानां पाठ नि०, दी० में नहीं है । ३. लाभार्थे नि०, दी० ।

श्लोकत्वमागतः" इत्येवंवादिना। निर्व्यूढश्च स एव सीतात्यन्तवियोगपर्यन्तमेव स्वप्रबन्धमुपरचयता।

महाभारतेऽपि शास्त्ररूपकाव्यच्छायान्वयिनि वृष्णिपाण्डवविरसावसानवैमनस्यदायिनीं समाप्तिमुपनिबध्नता महामुनिना वैराग्यजननतात्पर्यं प्राधान्येन स्वप्रबन्धस्य दर्शयता मोक्षलक्षणः पुरुषार्थः शान्तो रसश्च मुख्यतया विवक्षाविषयत्वेन सूचितः। एतच्चांशेन विवृतमेवान्यैर्व्याख्याविधायिभिः। स्वयं चोदीर्णं तेनोदीर्णमहामोहमग्नमुज्जिहीर्षता लोकमतिविमलज्ञानालोकदायिना लोकनाथेन—

यथा यथा विपर्येति लोकतन्त्रमसारवत्।
तथा तथा विरागोऽत्र जायते नात्र संशयः॥

इत्यादि बहुशः कथयता। ततश्च शान्तो रसो रसान्तरैः, मोक्षलक्षणः पुरुषार्थः पुरुषार्थान्तरैस्तदुपसर्जनत्वेनानुगम्यमानोऽङ्गित्वेन विवक्षाविषय इति महाभारततात्पर्यं सुव्यक्तमेवावभासते।

[उत्तर यह है कि] जैसे रामायण में अथवा जैसे महाभारत में। रामायण में 'शोकः श्लोकत्वमागतः' कहने वाले आदि कवि [वाल्मीकि] ने स्वयं ही करुण रस [का अङ्गित्व, प्राधान्य] सूचित किया है और सीता के अत्यन्त वियोग पर्यन्त ही काव्य की रचना करके उसका निर्वाह भी किया है।

शास्त्र और काव्य रूप [दोनों] की छाया से युक्त महाभारत में मी यादवों और पाण्डवों के विरस विनाश के कारण वैमनस्यजनक समाप्ति की रचना कर महामुनि [व्यास] ने अपने काव्य के वैराग्योत्पादन रूप तात्पर्य को मुख्यतया प्रदर्शित करते हुए मोक्ष रूप पुरुषार्थ तथा शान्त रस मुख्य [रूप से [इस महाभारत काव्य का] विवक्षा का विषय है यह सूचित किया। अन्य व्याख्याकारों ने भी किसी अंश में यही व्याख्या की है। और उमड़ते हुए घोर अज्ञानान्धकार में निमग्न संसार का उद्धार करने की इच्छा से उज्ज्वल ज्ञान रूप प्रकाश को प्रदान करने वाले विश्वत्राता [व्यासदेव] ने स्वयं भी,

जैसे-जैसे इस विश्व प्रपञ्च की असारता और मिथ्यारूपता की प्रतीति होती है, वैसे-वैसे इसके विषय में वैराग्य होता जाता है इसमें कोई सन्देह नहीं है।

अनेक स्थानों पर इस प्रकार कह कर प्रकट किया है। इसलिए गुणीभूत अन्य

अङ्गाङ्गिभावश्च यथा रसानां तथा प्रतिपादितमेव। पारमार्थिकान्तस्तत्त्वानपेक्षया शरीरस्येवाङ्गभूतस्य रसस्य च स्वप्राधान्येन चारुत्वमप्यविरुद्धम्।

ननु महाभारते यावान्विवक्षाविषयः सोऽनुक्रमण्यां सर्व एवानुक्रान्तो न चैतत्तत्र दृश्यते, प्रत्युत सर्वपुरुषार्थप्रबोधहेतुत्वं सर्वरसगर्भत्वं च महाभारतस्य तस्मिन्नुद्देशे स्वशब्दनिवेदितत्वेन प्रतीयते।

अत्रोच्यते—सत्यं, शान्तस्यैव रसस्याङ्गित्वं महाभारते, मोक्षस्य च सर्वपुरुषार्थेभ्यः प्राधान्यमित्येतन्न स्वशब्दाभिधेयत्वेनानुक्रमण्यां दर्शितम्, दर्शितं तु व्यङ्ग्यत्वेन—

'भगवान्वासुदेवश्च कीर्त्यतेऽत्र सनातनः।'

रसों से अनुगत शान्त रस, तथा गुणीभूत अन्य पुरुषार्थों [धर्म, अर्थ, काम] से अनुगत मोक्ष रूप पुरुषार्थ ही मुख्यतया वर्णनीय है यह महाभारत का तात्पर्य स्पष्ट रूप से प्रतीत होता है।

[प्रधान रस के साथ अन्य] रसों का अङ्गाङ्गिभाव जैसे होता है वह प्रतिपादन कर ही चुके हैं। वास्तविक आन्तरिक तत्त्व [आत्मा] की उपेक्षा करके [गौण] शरीर के प्राधान्य के समान [महाभारत में वास्तविक प्रधानभूत शान्त रस तथा मोक्ष रूप पुरुषार्थ की उपेक्षा करके, अन्य वीर आदि रस तथा धर्म आदि पुरुषार्थ] रस तथा पुरुषार्थ के अपने प्राधान्य से भी चारुत्व मानने में भी कोई विरोध नहीं है। [परन्तु पारमार्थिक रूप में वह मूढ़ विचार के सदृश ही होगा]।

[प्रश्न] महाभारत में जितना प्रतिपाद्य विषय है वह सब ही [उसकी] अनुक्रमणी में क्रम से [स्वयं ही] लिख दिया गया है। परन्तु वहाँ यह [शान्त रस तथा मोक्ष पुरुषार्थ का प्राधान्य] दिखाई नहीं देता है। इसके विपरीत महाभारत का सब पुरुषार्थों के ज्ञान का हेतुत्व और सर्व रसयुक्तत्व उस स्थान [अनुक्रमणी] में स्वयं शब्द से सूचित प्रतीत होता है।

[उत्तर] इस विषय में हम यह कहते हैं कि यह ठीक है महाभारत में शान्त रस का ही मुख्यत्व, और [अन्य] सब पुरुषार्थों की अपेक्षा मोक्ष का प्राधान्य, यह [दोनों] अनुक्रमणी में अपने वाचक शब्दों से नहीं दिखाए हैं, परन्तु व्यङ्ग्य रूप से दिखाए हैं।

इस [महाभारत] में नित्य वासुदेव भगवान् की कीर्ति गाई गई है।

इत्यस्मिन् वाक्ये ।

अनेन ह्ययमर्थो व्यङ्ग्यत्वेन विवक्षितो यदत्र महाभारते पाण्डवादिचरितं यत्कीर्त्यते [1]तत्सर्वमवसानविरसमविद्याप्रपञ्चरूपञ्च, परमार्थसत्यस्वरूपस्तु भगवान् वासुदेवोऽत्र कीर्त्यते । तस्मात्[2] तस्मिन्नेव परमेश्वरे भगवति भवत भावितचेतसो, मा भूत विभूतिषु निःसारासु रागिणो गुणेषु वा नयविनयपराक्रमादिष्वमीषु केवलेषु केषुचित्सर्वात्मना प्रतिनिविष्टधियः । तथा चाग्रे—पश्यत निःसारतां संसारस्येत्यमुमेवार्थं द्योतयन्[3] स्फुटमेवावभासते व्यञ्जकशक्त्यनुगृहीतश्च शब्दः । एवंविधमेवार्थं गर्भीकृतं सन्दर्शयन्तोऽनन्तरश्लोका लक्ष्यन्ते । 'स हि सत्यम्' इत्यादयः ।

इस वाक्य में ।

इस [वाक्य] से यह अर्थ व्यङ्ग्य रूप से विवक्षित है कि इस महाभारत में पाण्डव आदि के चरित्र का वर्णन जो किया जा रहा है वह सब विरसावसान और अविद्या प्रपञ्च रूप है । परमार्थ सत्य स्वरूप भगवान् वासुदेव की ही यहाँ कीर्ति गाई गई है । इसलिए उस परम ऐश्वर्यशाली भगवान् में ही अपना मन लगाओ । निःसार विभूतियों में अनुरक्त मत हो । अथवा नीति विनय, पराक्रम आदि केवल इन किन्हीं गुणों में पूर्ण रूप से अपने मन को मत लगाओ । और आगे—'संसार की निःसारता को देखो' इसी अर्थ को व्यङ्ग्यव्यञ्जक शक्ति से युक्त शब्द अभिव्यक्त करते हुए प्रतीत होते हैं । इसी प्रकार के अन्तर्निहित अर्थ को प्रकट करने वाले आगे के 'स हि सत्यं' इत्यादि श्लोक दिखाई देते हैं ।

अनुक्रमणी के वह श्लोक जिनका निर्देश यहाँ किया गया है इस प्रकार हैं—

वेदं योगं सविज्ञानं धर्मोऽर्थः काम एव च ।
धर्मार्थकामशास्त्राणि शास्त्राणि विविधानि च ॥

---

१. 'तत्सर्वमवसानविरसमविद्याप्रपञ्चरूपञ्च,परमार्थसत्यस्वरूपस्तु भगवान् वासुदेवोऽत्र कीर्त्यते' । इतना पाठ नि० में नहीं है । २. तत् नि० । ३. द्योतयत् नि० ।

अयं च निगूढरमणीयोऽर्थो महाभारतावसाने हरिवंशवर्णनेन समाप्तिं विदधता तेनैव कविवेधसा कृष्णद्वैपायनेन सम्यक्स्फुटीकृतः। अनेन चार्थेन संसारातीते, तत्वान्तरे भक्त्यतिशयं प्रवर्तयता सकल एव सांसारिको व्यवहारः पूर्वपक्षीकृतोऽध्यक्षेण[1] प्रकाशते। देवतातीर्थ-तपःप्रभृतीनां च प्रभावातिशयवर्णनं तस्यैव परब्रह्मणः प्राप्त्युपायत्वेन तद्विभूतित्वेनैव देवताविशेषाणामन्येषां च। पाण्डवादिचरितवर्णनस्यापि वैराग्यजननतात्पर्याद्वैराग्यस्य च मोक्षमूलत्वान्मोक्षस्य च भगवत्प्राप्त्यु-पायत्वेन मुख्यतया गीतादिषु प्रदर्शितत्वात्परब्रह्मप्राप्त्युपायत्वमेव परम्परया।

लोकयात्राविधानं च सम्भूतं दृष्टवान् ऋषिः।
इतिहासाः सवैयाख्या विविधाः श्रुतयोऽपि च।
इह सर्वमनुक्रान्तमुक्तग्रन्थस्य लक्षणम्॥

इत्यादि में सर्वपुरुषार्थ के प्रतिपादन का वर्णन है। वह प्रश्नकर्ता के अभिमत श्लोक हैं। उत्तर पक्ष की ओर से निर्दिष्ट श्लोक निम्न हैं—

भगवान् वासुदेवश्च कीर्त्यतेऽत्र सनातनः।
स हि सत्यमृतं चैव पवित्रं पुण्यमेव च॥
शाश्वतं ब्रह्म परमं ध्रुवं ज्योतिः सनातनम्।
यस्य दिव्यानि कर्माणि कथयन्ति मनीषिणः॥

इस निगूढ़ और रमणीय अर्थ को महाभारत के अन्त में हरिवंश के वर्णन से समाप्ति की रचना करते हुए उन्हीं कवि प्रजापति कृष्ण द्वैपायन [व्यास] ने ही भली प्रकार स्पष्ट कर दिया है। और इस अर्थ से लोकोत्तर भगवत् तत्व में प्रगाढ़ भक्ति को प्रवृत्त करते हुए [महाकवि व्यास] ने समस्त सांसारिक व्यवहार को ही पूर्वपक्ष रूप [बाधित विषय] बना दिया है यह बात प्रत्यक्ष प्रतीत होती है। देवता, तीर्थ और तप आदि के अतिशय के प्रभाव का वर्णन उसी परब्रह्म की प्राप्ति का उपाय होने से ही, और उसकी विभूति रूप होने से अन्य देवता विशेषों का वर्णन [महाभारत में किया गया] है। पाण्डव आदि के चरित्र का वर्णन का भी वैराग्योत्पादन में तात्पर्य होने से और वैराग्य के मोक्ष हेतु तथा मोक्ष के मुख्यतः परब्रह्म की

---

१. न्यक्षेण बा० प्रि०।

वासुदेवादिसंज्ञाभिधेयत्वेन चापरिमितशक्त्यास्पदं परं ब्रह्म गीतादि-प्रदेशान्तरेषु तदभिधानत्वेन लब्धप्रसिद्धि माथुरप्रादुर्भावानुकृतसकल-स्वरूपं विवक्षितं न तु माथुरप्रादुर्भावांश एव, सनातनशब्दविशेषितत्वात्। रामायणादिषु चानया संज्ञया भगवन्मूर्त्यन्तरे व्यवहारदर्शनात्। निर्णी-तश्चायमर्थः शब्दतत्त्वविद्भिरेव।

तदेवमनुक्रमणीनिर्दिष्टेन वाक्येन भगवद्व्यतिरेकिणः सर्वस्या-न्यस्यानित्यतां प्रकाशयता मोक्षलक्षण एवैकः परः पुरुषार्थः शास्त्रनये, काव्यनये च तृष्णाक्षयसुखपरिपोषलक्षणः शान्तो रसो महाभारतस्या-ङ्गित्वेन विवक्षित इति सुप्रतिपादितम्।

प्राप्ति का उपाय रूप से गीतादि में प्रतिपादन होने से परम्परया [पाण्डवादि चरित वर्णन भी] परब्रह्म की प्राप्ति के उपाय रूप में ही है।

'वासुदेव' आदि इन संज्ञाओं का वाच्यार्थ गीतादि अन्य स्थलों में इस नाम से प्रसिद्ध, अपरिमित शक्ति युक्त, मथुरा में प्रादुर्भूत [कृष्णावतार] द्वारा धारण किए [रामादि] समस्त रूप युक्त, परब्रह्म ही अभिप्रेत है। केवल मथुरा में प्रादुर्भूत [वसुदेव के पुत्र कृष्ण] अंशमात्र नहीं। क्योंकि उसके साथ सनातन विशेषण दिया हुआ है। और रामायण आदि में इस [वासुदेव] नाम से भगवान् के अन्य स्वरूपों का भी व्यवहार दिखाई देता है। शब्द तत्त्व के विशेषज्ञों [वैयाकरणों] ने इस विषय का निर्णय भी कर दिया है।

'ऋष्यन्धकवृष्णिकुरुभ्यश्च' इस पाणिनि सूत्र के 'भाष्य' पर 'महाभाष्य के टीकाकार 'कैयट' ने लिखा है—

"कथं पुनर्नित्यानां शब्दानामनित्यान्धकादिवंशाश्रयेणान्वाख्यानं युज्यते ? अत्र समाधिः। त्रिपुरुषानूकं नाम कुर्यादिति न्यायेनान्धकादिवंशा अपि नित्या एव। अथवाऽनित्योपाश्रयेणापि नित्यान्वाख्यानं दृश्यते। यथा शकाश्रयेण कालस्य"।

इसी सूत्र पर काशिकाकार ने लिखा है कि—

"शब्दा हि नित्या एव सन्तोऽनन्तरं काकतालीयवशात् तथा संकेतिताः।"

इस प्रकार भगवान् को छोड़ कर अन्य सब वस्तुओं की अनित्यता प्रकाशित करने वाले अनुक्रमणी निर्दिष्ट वाक्य से, शास्त्र दृष्टि से केवल मोक्षरूप परम पुरुषार्थ [ही महाभारत का मुख्य पुरुषार्थ] और काव्य दृष्टि से तृष्णा

अत्यन्तसारभूतत्वाच्चायमर्थो व्यङ्ग्यत्वेनैव दर्शितो, न तु वाच्यत्वेन। सारभूतो ह्यर्थः स्वशब्दानभिधेयत्वेन प्रकाशितः सुतरामेव शोभामावहति। प्रसिद्धिश्चेयमस्त्येव विदग्धविद्वत्परिषत्सु यदभिमततरं वस्तु व्यङ्ग्यत्वेन प्रकाश्यते न साक्षाच्छब्दवाच्यत्वेनैव। तस्मात्स्थितमेतत्—अङ्गीभूतरसाद्याश्रयेण काव्ये क्रियमाणे नवनवार्थलाभो भवति बन्धच्छाया च महती सम्पद्यत इति।

अतएव च रसानुगुणार्थविशेषोपनिबन्धमलङ्कारान्तरविरहेऽपि छायातिशययोगि लक्ष्ये दृश्यते। यथा :—

मुनिर्जयति योगीन्द्रो महात्मा कुम्भसम्भवः।
येनैकचुलके दृष्टौ दिव्यौ तौ मत्स्यकच्छपौ॥

इत्यादौ। अत्र ह्यद्भुतरसानुगुणमेकचुलके मत्स्यकच्छपदर्शनं छायातिशयं पुष्णाति। तत्र ह्येकचुलके सकलजलनिधिसन्निधानादपि

के क्षय से जन्य सन्तोष सुख के परिपोष रूप शान्त रस ही महाभारत का प्रधान रस अभिप्रेत है यह भली प्रकार प्रतिपादन कर दिया गया।

अत्यन्त सार रूप होने से यह अर्थ [महाभारत में शान्तरस और मोक्ष पुरुषार्थ का प्राधान्य] व्यङ्ग्य [ध्वनि] रूप से ही प्रदर्शित किया है वाच्य रूप से नहीं। सारभूत अर्थ अपने वाचक शब्द से वाच्य रूप में उपस्थित न होकर [व्यङ्ग्य रूप से] प्रकाशित होता है तो अत्यन्त शोभा को प्राप्त होता है। चतुर विद्वानों की मण्डली में यह प्रसिद्ध है ही कि अधिक अभिमत वस्तु व्यङ्ग्य रूप से ही प्रकाशित की जाती है साक्षात् वाच्य रूप से नहीं। इसलिए यह सिद्ध हुआ कि प्रधानभूत रस के आश्रय से काव्य की रचना करने पर नवीन अर्थ की प्राप्ति होती है और रचना का सौन्दर्य बहुत अधिक बढ़ जाता है।

इसीलिए अन्य अलङ्कारों के अभाव में भी रस के अनुरूप अर्थ विशेष की रचना काव्यों में सौन्दर्यातिशयशालिनी दिखाई देती है। जैसे :—

योगिराट् महात्मा अगस्त्य मुनि [की जय हो] सर्वोत्कृष्ट हैं। जिन्होंने एक ही चुल्लू में उन दिव्य मत्स्य और कच्छप [अवतारों] का दर्शन कर लिया।

इत्यादि में। यहां अद्भुत रस के अनुकूल एक चुल्लू में मत्स्य और कच्छप का दर्शन [अद्भुत रस के] सौन्दर्य को अत्यन्त बढ़ाता है। उसमें

दिव्यमत्स्यकच्छपदर्शनमक्षुण्णत्वादद्भुतरसानुगुणतरम् । क्षुण्णं हि वस्तु लोकप्रसिद्ध्याद्भुतमपि नाश्चर्यकारि भवति । न चाक्षुण्णं वस्तूपनिबध्यमानमद्भुतरसस्यैवानुगुणं यावद्रसान्तरस्यापि । तद्यथा :—

सिज्जइ रोमञ्चिज्जइ वेवइ रच्छातुलग्गपडिलग्गो ।
सोपासो अज्ज वि[1] सुहअ तीइ जेणासि वोलीणो ॥

[स्विद्यति रोमाञ्चति वेपते रथ्यातुलाग्रप्रतिलग्नः ।
स पार्श्वोऽद्यापि सुभग येनास्यतिक्रान्तः ॥ इतिच्छाया]

एतद् गाथार्थाद्भाव्यमानाद्या रसप्रतीतिर्भवति, सा त्वां दृष्ट्वा स्विद्यति रोमाञ्चते वेपते इत्येवंविधादर्थात् [2]प्रतीयमानान्मनागपि नो जायते ।

तदेवं ध्वनिप्रभेदसमाश्रयेण यथा काव्यार्थानां नवत्वं जायते तथा प्रतिपादितम् । गुणीभूतव्यङ्ग्यस्यापि त्रिभेदव्यङ्ग्यापेक्षया ये

एक चुल्लू में सम्पूर्ण समुद्र के समा जाने से भी अधिक दिव्य मत्स्य और कच्छप का दर्शन बिल्कुल अपूर्व होने से अद्भुत रस के अधिक अनुकूल है। लोक प्रसिद्धि में अत्यन्त अद्भुत होने पर भी अनेक बार की देखी हुई वस्तु आश्चर्योत्पादक नहीं होती। अपूर्व वस्तु का वर्णन न केवल अद्भुत रस के अपितु अन्य रसों के भी अनुकूल होता है। जैसे :—

हे सुभग, उस संकरी गली में [तुलाग्रेण, काकतालीयेन], अकस्मात् उस [मेरी सखी, नायिका] के जिस पार्श्व से लग कर तुम निकल गए थे वह पार्श्व अब भी स्वेदयुक्त, रोमाञ्चित और कम्पित हो रहा है।

इस गाथा के अर्थ की भावना करने से जो रस की प्रतीति होती है वह, 'तुमको देख कर [स्पृष्ट्वा पाठ भी है, छूकर] वह [नायिका] स्वेदयुक्त पुलकित और कम्पित होती है' इस प्रकार के प्रतीयमान अर्थ से बिल्कुल नहीं होती है। [त्वां दृष्ट्वा स्विद्यति इत्यादि अर्थ चिरपरिचित है और] उस के व्यङ्ग्य होने पर भी उतना चमत्कार नहीं प्रतीत होता जितना ऊपर के श्लोक में वर्णित नवीन कल्पना युक्त अर्थ के व्यङ्ग्य होने पर प्रतीत होता है]।

इस प्रकार ध्वनि भेदों के आश्रय से जिस प्रकार काव्यार्थों में नवीनता आ जाती है वह प्रतिपादन कर दिया। तीन प्रकार के व्यङ्ग्य [रसादि, वस्तु

---

१. सह अतीइ नि० । २. प्रतीयमानात्मना नि० ।

प्रकारास्तत्समाश्रयेणापि काव्यवस्तूनां नवत्वं भवत्येव । तत्त्वति विस्तारकारीति नोदाहृतं, सहृदयैः स्वयमुत्प्रेक्षणीयम् ॥५॥

ध्वनेरित्थं गुणीभूतव्यङ्ग्यस्य च समाश्रयात् ।
न काव्यार्थविरामोऽस्ति यदि स्यात्प्रतिभागुणः ॥६॥

सत्स्वपि पुरातनकविप्रबन्धेषु यदि स्यात्प्रतिभागुणः । तस्मिंस्त्वसति न किञ्चिदेव कवेर्वस्त्वस्ति । बन्धच्छायाप्यर्थद्वयानुरूपशब्दसन्निवेशो[1]ऽर्थप्रतिभानाभावे कथमुपपद्यते । अनपेक्षितार्थविशेषाक्षररचनैव बन्धच्छायेति नेदं नेदीयः सहृदयानाम् । एवं हि सत्यर्थानपेक्षचतुरमधुरवचनरचनायामपि काव्यव्यपदेशः प्रवर्तेत[2] । शब्दार्थयोः

तथा अलङ्कार की] दृष्टि से गुणीभूत व्यङ्ग्य के भी जो भेद होते हैं उनके आश्रय से भी काव्य वस्तुओं में नवीनता आ जाती है। वह [उदाहरण देने पर] अत्यन्त विस्तार जनक है इसलिए उसके उदाहरण नहीं दिए। सहृदयों को स्वयं समझ लेने चाहिएं ॥५॥

यदि [कवि में] प्रतिभा गुण हो तो इस प्रकार ध्वनि और गुणीभूत व्यङ्ग्य के आश्रय से काव्य के [वर्णनीय रमणीय] अर्थों की कभी समाप्ति ही नहीं हो सकती है।

प्राचीन कवियों के प्रबन्धों [काव्यों] के रहते हुए भी, यदि [कवि में] प्रतिभा गुण है [तो नवीन वर्णनीय तत्त्वों की समाप्ति नहीं हो सकती है]। और उस [प्रतिभा] के न होने पर तो कवि के [पास] कोई वस्तु नहीं है [जिससे वह अपूर्व चमत्कारयुक्त काव्य का निर्माण कर सके]। दोनों अर्थों [ध्वनि तथा गुणीभूत व्यङ्ग्य] के अनुरूप शब्दों के सन्निवेश रूप, रचना का सौन्दर्य भी [आवश्यक] अर्थ की प्रतिभा [प्रतिभान, प्रतिभा] के अभाव में कैसे आ सकता है। [ध्वनि अथवा गुणीभूत व्यङ्ग्य] अर्थ की अपेक्षा के बिना ही अक्षरों की रचनामात्र ही रचना का सौन्दर्य [रचना सौन्दर्य जनक] है यह बात सहृदयों के [हृदय के] समीप नहीं पहुँच सकती। ऐसा होने पर [ध्वनि अथवा गुणीभूत व्यङ्ग्य के बिना भी अक्षर रचनामात्र से रचना में सौन्दर्य मानने से] तो अर्थहीन [ध्वनि, गुणीभूत

---

१. सन्निवेशोऽर्थ बा० प्रि० । २. प्रवर्तते नि० ।

साहित्येन काव्यत्वे कथं तथाविधे विषये काव्यव्यवस्थेति चेत्, परोपनिबद्धार्थविरचने यथा [1]तत्काव्यत्वव्यवहारस्तथा तथाविधानां काव्यसन्दर्भाणाम् ॥६॥

न चार्थानन्त्यं व्यङ्ग्यार्थापेक्षयैव, यावद्वाच्यार्थापेक्षयापीति प्रतिपादयितुमुच्यते—

अवस्थादेशकालादिविशेषैरपि जायते ।
आनन्त्यमेव वाच्यस्य शुद्धस्यापि स्वभावतः ॥७॥

शुद्धस्यानपेक्षितव्यङ्ग्यस्यापि वाच्यस्यानन्त्यमेव जायते स्वभावतः । स्वभावो ह्ययं वाच्यानां चेतनानामचेतनानां च[2] यदवस्थाभेदाद्देशभेदात्कालभेदात्स्वालक्षण्यभेदाच्चानन्तता भवति तैश्च तथा व्यवस्थितैः

व्यङ्ग्य अर्थ से रहित] चतुर [समास आदि रूप से सङ्गठित] और मधुर [मृदु कोमल अक्षरों से परिपूर्ण] रचना में भी काव्य व्यवहार होने लगेगा। शब्द और अर्थ दोनों के सहभाव [साहित्य] में ही काव्यत्व होता है इसलिए उस प्रकार के [अर्थहीन, चतुर, मधुर रचना] विषय में काव्यत्व की व्यवस्था कैसे होगी [अर्थात् काव्य व्यवहार प्राप्त नहीं होगा] यह कहें तो [उत्तर यह है कि] दूसरे के [मत में] उपनिबद्ध [शब्द निरपेक्ष उत्कृष्ट ध्वनि रूप] अर्थ [से युक्त] रचना में जैसे [केवल अर्थ के वैशिष्ट्य से] काव्य व्यवहार [वह करता] है इसी प्रकार इस प्रकार के [अर्थनिरपेक्ष शब्द रचना मात्र] काव्य सन्दर्भों में भी [काव्य व्यवहार] होने लगेगा। [अतएव अर्थनिरपेक्ष अक्षर रचनामात्र रचना सौन्दर्य का हेतु नहीं है] ॥६॥

केवल व्यङ्ग्य अर्थ के कारण ही अर्थों में अनन्तता [विचित्रता, नूतनता] नहीं आती है अपितु वाच्य अर्थ विशेष की अपेक्षा से भी [अर्थ की अनन्तता, नूतनता] हो सकती है। इसी को प्रतिपादन करने के लिये कहते हैं :—

शुद्ध [व्यङ्ग्य निरपेक्ष] वाच्य अर्थ की भी अवस्था, देश, काल आदि के वैशिष्ट्य से स्वभावतः अनन्तता हो ही जाती है।

शुद्ध अर्थात् व्यङ्ग्य निरपेक्ष वाच्य [अर्थ] का भी स्वभावतः आनन्त्य हो ही जाता है। चेतन और अचेतन वाच्य अर्थों का यह स्वभाव है कि

---

१. तत्काव्यत्वस्य व्यवहारः नि० । २. च नहीं है दी० ।

सद्भिः प्रसिद्धानेकस्वभावानुसरणरूपया स्वभावोक्त्यापि तावदुपनिबध्यमानैर्निरवधिः काव्यार्थः सम्पद्यते । तथा ह्यवस्थाभेदान्नवत्वं यथा—

भगवती पार्वती कुमारसम्भवे 'सर्वोपमाद्रव्यसमुच्चयेन' इत्यादिभिरुक्तिभिः प्रथममेव परिसमापितरूपवर्णनापि पुनर्भगवतः शम्भोर्लोचनगोचरमायान्ती 'वसन्तपुष्पाभरणं वहन्ती'[1] मन्मथोपकरणभूतेन भङ्ग्यन्तरेणोपवर्णिता । सैव च पुनर्नवोद्वाहसमये प्रसाध्यमाना 'तां प्राङ्मुखीं तत्र निवेश्य तन्वीम्' इत्याद्युक्तिभिर्नवेनैव प्रकारेण निरूपितरूपसौष्ठवा[2] । न च ते तस्य कवेरेकत्रैवासकृत्कृता वर्णनप्रकारा अपुनरुक्तत्वेन वा नवनवार्थनिर्भरत्वेन वा प्रतिभासन्ते ।

अवस्था भेद, देशभेद, कालभेद और स्वरूप भेद से [उनकी] अनन्तता हो जाती है । उन [वाच्यार्थों] के उस प्रकार [देश, काल, अवस्थादि भेद से नए-नए अर्थों के प्रकाशन रूप में] व्यवस्थित होने पर अनेक प्रकार के प्रसिद्ध स्वभावों के वर्णन रूप स्वभावोक्ति से भी [वाच्यार्थों की] रचना करने पर काव्यार्थ अनन्त रूप हो जाता है । इनमें से अवस्था भेद के कारण नवीनता जैसे :—

कुमारसम्भव में 'सर्वोपमाद्रव्यसमुच्चयेन' इत्यादि उक्तियों से पहिले [एक बार] भगवती पार्वती के रूप वर्णन के समाप्त हो जाने पर भी फिर शङ्कर भगवान् के सामने आती हुई पार्वती को 'वसन्तपुष्पाभरणं वहन्ती' इत्यादि से कामदेव के साधन रूप में प्रकारान्तर से फिर [दुबारा] वर्णन किया गया है । और फिर नवीन विवाह के समय [सती रूप में विवाह के बाद फिर दूसरे जन्म में पार्वती रूप में शिव के साथ विवाह, नवीन विवाह शब्द से अभिप्रेत है] अलङ्कृत की जाती हुई पार्वती के सौन्दर्य का 'तां प्राङ्मुखीं तत्र निवेश्य तन्वीम्' इत्यादि उक्तियों से फिर [तीसरी बार] नए ढंग से वर्णन किया है । [अवस्था भेद से किए यह वर्णन तो सुन्दर प्रतीत होते हैं ।] परन्तु कवि के एक ही जगह अनेक बार किए हुए वे वर्णन अपुनरुक्त रूप अथवा अभिनवार्थ परिपूर्ण रूप नहीं प्रतीत होते हैं । [उसका ध्यान रखना चाहिए] ।

'न च ते तस्य कवेरेकत्रैवासकृत्कृता वर्णनप्रकारा अपुनरुक्तत्वेन वा नव-

---

१. (इत्यादि) कोष्ठक गत अधिक है नि० । २. निरूपितसौष्ठवा नि० ।

दर्शितमेव चैतद्विषमबाणलीलायाम्—

ण अ ताण घडइ ओही ण अ ते दीसन्ति कह वि पुनरुत्ता ।
जे विब्भमा पिआणं अत्था वा सुकइवाणीणम् ॥

[न च तेषां घटतेऽवधिर्न च ते दृश्यन्ते कथमपि पुनरुक्ताः ।
ये विभ्रमाः प्रियाणामर्था वा सुकविवाणीनाम् ॥ इतिच्छाया]

नवार्थनिर्भरत्वेन प्रतिभासन्ते ।' यह पाठ आपाततः कुछ अटपटा-सा दीखता है । क्योंकि इसके पूर्व वाक्य में यह दिखाया है कि पार्वती के रूप का तीन वार वर्णन करने पर भी वह नवीन ही प्रतीत होता है । इसी प्रकार इस वाक्य के बाद के वाक्य द्वारा विषमबाणलीला का जो श्लोक उद्धृत किया है वह भी इस प्रकार की कवि वाणी की अपुनरुक्तता का ही प्रतिपादन करता है । इसलिए सामान्यतः वे वर्णन पुनरुक्त अथवा नवनवार्थशून्य प्रतीत नहीं होते हैं । इस प्रकार के अभिप्राय को प्रकट करने वाला वाक्य होना चाहिए । अर्थात् अपुनरुक्तत्वेन के स्थान पर पुनरुक्तत्वेन और नवनवार्थनिर्भरत्वेन के नवनवार्थशून्यत्वेन ऐसा पाठ होना चाहिए था । तब इस वाक्य की सङ्गति ठीक लगती । परन्तु सभी संस्करणों में 'अपुनरुक्तत्वेन' और 'नवनवार्थनिर्भरत्वेन' यही पाठ पाया जाता है । अतएव इसको प्रमाद पाठ न मान कर, 'स्थितस्य गतिश्चिन्तनीया' के अनुसार हमने इसकी व्याख्या करने का प्रयत्न किया है ।

इस पाठ के अनुसार इस पंक्ति का भाव यह है कि यद्यपि एक पदार्थ का अनेक बार वर्णन होने पर भी इसमें नवीनता आ जाती है । परन्तु वह सब वर्णन एक स्थान पर नहीं अपितु अलग-अलग होने चाहिएं । एक ही स्थान पर किए हुए ऐसे वर्णनों में तो पुनरुक्ति ही होती है । वे अपुनरुक्ति अथवा नवनवार्थनिर्भरत्वेन नहीं प्रतीत होते । अतएव कवि को इस बात ध्यान रखना चाहिए ।

यह एक विशेष बात बीच में इस वाक्य द्वारा प्रतिपादन कर दी है । इसके बाद जो विषमबाणलीला का उदाहरण दिया है उसका सम्बन्ध इस वाक्य से नहीं अपितु पूर्व वाक्य से है, यह समझना चाहिए । तभी उसकी सङ्गति ठीक होगी । इसी लिए हमने उसे अलग-अलग अनुच्छेद के रूप में रखा है । पहिले अनुच्छेद के साथ मिलाकर पाठ नहीं रखा है ।

यह हम विषमबाणलीला में दिखा ही चुके हैं :—

प्रियतमाओं [अथवा प्रियजनों] के जो हाव-भाव और सुकवियों की वाणी के जो अर्थ हैं इनकी न कोई सीमा ही बन सकती है और न वे [किसी भी दशा में] पुनरुक्त प्रतीत होते हैं ।

अयमपरश्चावस्थाभेदप्रकारो यदचेतनानां सर्वेषां चेतनं द्वितीयं रूपमभिमानित्वप्रसिद्धं हिमवद्गङ्गादीनाम्। तच्चोचितचेतनविषयस्वरूप-योजनयोपनिबध्यमानमन्यदेव सम्पद्यते। यथा कुमारसम्भव एव पर्वत-स्वरूपस्य हिमवतो वर्णनं; पुनः सप्तर्षिप्रियोक्तिषु चेतनतत्स्वरूपापेक्षया प्रदर्शितं तदपूर्वमेव प्रतिभाति। प्रसिद्धश्चायं सत्कवीनां मार्गः। इदं च प्रस्थानं कविव्युत्पत्तये विषमबाणलीलायां सप्रपञ्चं दर्शितम्। चेत-नानां च बाल्याद्यवस्थाभिरन्यत्वं सत्कवीनां प्रसिद्धमेव। चेतनानामव-स्थाभेदेऽप्यवान्तरावस्थाभेदान्नानात्वम्। यथा कुमारीणां कुसुमशर-भिन्नहृदयानामन्यासां च। तत्रापि विनीतानामविनीतानां च।

अचेतनानां च भावानामारम्भाद्यवस्थाभेदभिन्नानामेकैकशः स्वरूपमुपनिबध्यमानमानन्त्यमेवोपयाति। यथा :—

अवस्था भेद का यह और [दूसरा] प्रकार भी है कि हिमालय गङ्गा आदि सभी अचेतन पदार्थों का अभिमानी [अभिमानी देवता] रूप में दूसरा चेतन रूप भी प्रसिद्ध है। और वह उचित चेतन विषय के स्वरूप योजना से उपनिबद्ध [ग्रथित] होकर [अचेतन रूप से भिन्न] कुछ और ही हो जाता है। जैसे कुमारसम्भव में ही [आरम्भ में] पर्वत रूप से हिमालय का वर्णन [है] फिर सप्तर्षियों के प्रिय वचनों [चाटूक्तियों] में उस [हिमालय] के चेतन स्वरूप की दृष्टि से प्रदर्शित वह [हिमालय का दुबारा किया हुआ वर्णन] अपूर्व सा प्रतीत होता है। और सत्कवियों में यह मार्ग [अचेतनों के चेतनवद् वर्णन का मार्ग] प्रसिद्ध ही है। कवियों की व्युत्पत्ति के लिए विषमबाणलीला में इस मार्ग को हमने विस्तारपूर्वक प्रदर्शित किया है।

चेतनों का बाल्य आदि अवस्था भेद से भेद सत्कवियों में प्रसिद्ध ही है। चेतनों के अवस्थाभेद [के वर्णन] में अवान्तर अवस्था भेद से भी भेद हो सकता है। जैसे काम के बाण से विद्ध हृदयवाली तथा अन्य [स्वस्थ] कुमारियों का [अवान्तर अवस्था भेद से] भेद होता है। उनमें भी विनीत [नम्र] और उच्छृङ्खल [कन्याओं] का [अवान्तर अवस्था आदि के भेद से नानात्व हो जाता है]।

आरम्भ आदि अवस्था भेद से भिन्न अचेतन पदार्थों का स्वरूप [भी] अलग-अलग वर्णन से अनन्तता को प्राप्त हो ही जाता है। जैसे :—

हंसानां निनदेषु यैः कवलितैरासज्यते कूजता-
मन्यः कोऽपि कषायकण्ठलुठनादाघर्घरो विभ्रमः ।
ते सम्प्रत्यकठोरवारणवधूदन्ताङ्कुरस्पर्धिनो
निर्याताः कमलाकरेषु बिसिनीकन्दाग्रिमग्रन्थयः ॥

एवमन्यत्रापि दिशानयानुसर्तव्यम् ।

देशभेदान्नानात्वमचेतनानां तावत्, यथा वायूनां नानादिग्देश-चारिणामन्येषामपि सलिलकुसुमादीनां प्रसिद्धमेव । चेतनानामपि मानुष-पशुपक्षिप्रभृतीनां ग्रामारण्यसलिलादिसमेधितानां परस्परं महान्विशेषः समुपलक्ष्यत एव । स च विविच्य यथायथमुपनिबध्यमानस्तथैवानन्त्य-मायाति । तथा हि—मानुषाणामेव तावद्दिग्देशादिभिन्नानां ये व्यवहार-व्यापारादिषु विचित्रा विशेषास्तेषां केनान्तः शक्यते गन्तुम्, विशेषतो योषिताम् । उपनिबध्यते च तत्सर्वमेव सुकविभिर्यथाप्रतिभम् ।

जिन के खाने से कूजते हुए हंसों के निनादों में, मधुर कण्ठ के संयोग से घर्घर ध्वनि युक्त कुछ नया ही [अपूर्व ही] विभ्रम उत्पन्न हो जाता है, करिणी के नए कोमल दन्ताङ्कुरों से स्पर्धा करने वाली मृणाल की वह नवीन ग्रन्थियां इस समय तालाबों में बाहर निकल आई हैं ।

यहां मृणाल की नवीन ग्रन्थियों के आरम्भ का वर्णन होने से अवस्थाभेद मूलक चमत्कार प्रतीत होता है ।

इस प्रकार और जगह भी इस मार्ग का अनुसरण किया जाना चाहिए ।

देश भेद से पहिले अचेतनों का भेद जैसे, [मलय आदि देश और दक्षिण दिशाओं] विभिन्न दिशाओं और स्थानों में संचरण करने वाले पवनों का, और अन्य जल तथा पुष्प आदि का भी भेद प्रसिद्ध ही है । चेतनों में भी ग्राम, अरण्य, जल आदि में पले हुए मनुष्य, पशु, पक्षी प्रभृति में परस्पर भेद दिखाई ही देता है । वह भी विचारपूर्वक ठीक ढंग से वर्णित होने पर उसी प्रकार अनन्त हो जाता है । जैसे नाना दिग् देश आदि से भिन्न मनुष्यों के ही व्यवहार और व्यापार आदि में जो नाना प्रकार के भेद पाए जाते हैं उन सब का पार कौन पा सकता है । विशेषकर स्त्रियों के [विषय में पार पाना असम्भव ही है] । सुकवि लोग अपनी प्रतिभा के अनुसार उस सबका वर्णन करते ही हैं ।

कालभेदाच्च नानात्वम्। यथर्तुभेदाद्दिग्व्योमसलिलादीनामचेतनानाम्। चेतनानां चौत्सुक्यादयः कालविशेषाश्रयिणः प्रसिद्धा एव। स्वालक्षण्यप्रभेदाच्च सकलजगद्गतानां वस्तूनां विनिबन्धनं प्रसिद्धमेव। तच्च यथावस्थितमपि तावदुपनिबध्यमानमनन्ततामेव काव्यार्थस्यापादयति।

अत्र केचिदाचक्षीरन्। यथा सामान्यात्मना वस्तूनि वाच्यतां प्रतिपद्यन्ते, न विशेषात्मना। तानि हि स्वयमनुभूतानां सुखादीनां तन्निमित्तानां च स्वरूपमन्यत्रारोपयद्भिः [1]स्वपरानुभूतरूपसामान्यमात्राश्रयेणोपनिबध्यन्ते कविभिः। न हि तैरतीतमनागतं वर्तमानं च परचित्तादिस्वलक्षणं योगिभिरिव प्रत्यक्षीक्रियते। तच्चानुभाव्यानुभवसामान्यं सर्वप्रतिपत्तृसाधारणं परिमितत्वात्पुरातनानामेव गोचरीभूतम्। तस्य विषयत्वानुपपत्तेः। अतएव स प्रकारविशेषो यैरद्यतनैरभिनवत्वेन प्रतीयते तेषां भ्रममात्रमेव, भणितिकृतं वैचित्र्यमात्रमत्रास्तीति।

काल भेद से भी भेद [होता है] जैसे ऋतुओं के भेद से दिग् आकाश जल आदि अचेतन [का भेद होता है] और काल [वसन्तादि] विशेष के आश्रय से चेतनों के औत्सुक्य आदि प्रसिद्ध ही हैं। समस्त संसार की वस्तुओं की अपने स्वरूप [स्वालक्षण्य] भेद से विशेष [काव्य में] प्रसिद्ध ही है। और वह [स्वरूप] जैसा कुछ है उसी रूप में उपनिबद्ध होकर भी काव्य के विषय की अनन्तता को उत्पन्न करता है।

[पूर्व पक्ष] यहां [स्वालक्षण्यकृत भेद के विषय में] कुछ लोग कह सकते हैं कि वस्तुएं सामान्य रूप से ही वाच्य होती हैं, विशेष रूप से नहीं। कवि लोग उन स्वयं अनुभूत सुखादि वस्तुओं और उन [सुखादि] के साधनों [स्रक्, चन्दन, वनिता आदि] के स्वरूप को अन्यत्र [नायकादि में] आरोपित करके अपने और दूसरों [नायकादि] के अनुभूत सामान्यमात्र के आश्रय से उन [नायकादि के सुखादि और उसके साधनों] का वर्णन करते हैं। वे [कवि लोग] योगियों के समान अतीत, अनागत, वर्तमान दूसरों के चित्त [व्यक्तियों और उनमें रहने वाले सुख-दुःख] आदि का प्रत्यक्ष नहीं कर सकते हैं। और वह अनुभाव्य [सुखादि] तथा अनुभावक [उस

---

१. स्वरूपानुरूपसामान्यमात्राश्रयेण नि०।

तत्रोच्यते। यत्तूक्तं सामान्यमात्राश्रयेण काव्यप्रवृत्तिः, तस्य च परिमितत्वेन प्रागेव गोचरीकृतत्वान्नास्ति नवत्वं काव्यवस्तूनामिति। तदयुक्तम्। यतो यदि सामान्यमात्रमाश्रित्य काव्यं प्रवर्तते किं कृतस्तर्हि महाकविनिबध्यमानानां काव्यार्थानामतिशयः। वाल्मीकिव्यतिरिक्तस्यान्यस्य [1]कविव्यपदेश एव वा। सामान्यव्यतिरिक्तस्यान्यस्य काव्यार्थस्याभावात्। सामान्यस्य चादिकविनैव प्रदर्शितत्वात्।

उक्तिवैचित्र्यान्नैष दोष इति चेत्।

सुखादि के साधन स्रक्, चन्दन वनितादि] सामान्य समस्त अनुभवकर्ताओं के लिए एकरूप [हैं और] परिमित होने से प्राचीनों [कवियों] को ही ज्ञात हो चुके हैं। वह उनको ज्ञात न हुआ हो यह सम्भव नहीं है। इसलिए उस [स्वालक्षण्य रूप] प्रकार विशेष को जो आजकल के लोग अभिनव रूप में अनुभव करते हैं, वह उनका अभिमान मात्र ही है। केवल उक्ति वैचित्र्य ही है [वस्तु में नवीनता नहीं है, उक्ति वैचित्र्य के कारण ही नवीनता का भ्रम या अभिमान होने लगा है। यह पूर्वपक्ष का आशय है।]

[उत्तर पक्ष] उस विषय में हमारा कहना है कि [आपने] जो यह कहा है कि सामान्य मात्र के आश्रय से काव्य रचना होती है और उस [सामान्य] का ज्ञान पहिले ही [कवियों] को हो चुका है अतएव काव्य-वस्तुओं में नवीनता नहीं हो सकती है। यह [कहना] उचित नहीं है। क्योंकि यदि सामान्यमात्र के आश्रय से काव्य की रचना होती है तो महाकवियों द्वारा वर्णित काव्य पदार्थों में विशेष तारतम्य किस [कारण] से होता है। अथवा वाल्मीकि [आदिकवि] को छोड़ कर अन्य किसी को कवि ही किस आधार पर कहा जाता है। क्योंकि [आपके मत में] सामान्य के अतिरिक्त और कोई काव्य का वर्ण्य विषय नहीं हो सकता है और सामान्य का प्रदर्शन आदिकवि [वाल्मीकि] ही कर चुके हैं। [इसलिए अन्य किसी के पास वर्ण्य नवीन विषय न होने से अन्य कोई कवि न कवि हो सकता है और न वाल्मीकि से भिन्न उसकी रचना में कोई नवीनता ही आ सकती है।]

[यह सिद्धान्त पक्ष की ओर से पूर्वपक्ष पर प्रश्न है। पूर्वपक्षी उक्ति-वैचित्र्य के आधार पर इसका उत्तर देता है] उक्ति के वैचित्र्य के कारण यह दोष नहीं आ सकता है। [अर्थात् उक्ति-कथनशैली के विचित्र होने से महा-

---

१. कवि...... । एवं वा नि० ।

किमिदमुक्तिवैचित्र्यम् ? उक्तिर्हि वाच्यविशेषप्रतिपादि [1]वचनम्। तद्वैचित्र्ये[2] कथं न वाच्यवैचित्र्यम् ? वाच्यवाचकयोरविनाभावेन प्रवृत्तेः। वाच्यानां च काव्ये प्रतिभासमानानां यद्रूपं तत्तु [3]ग्राह्यविशेषाभेदेनैव प्रतीयते। तेनोक्तिवैचित्र्यवादिना वाच्यवैचित्र्यमनिच्छताप्यवश्यमेवाभ्युपगन्तव्यम्।

तदयमत्र संक्षेप :—

वाल्मीकिव्यतिरिक्तस्य यद्येकस्यापि कस्यचित्।
इष्यते प्रतिभार्थेषु[4] तत्तदानन्त्यमक्षयम् ॥

कवियों की रचनाओं में तारतम्य होता है और इसी उक्ति वैचित्र्य के आधार पर अन्य कवियों को कवि कहा जा सकता है]।

[आगे सिद्धान्त पक्ष की ओर से इसी को अपने नवीनता पक्ष का साधक बनाया जाता है] यह कहो तो यह उक्ति वैचित्र्य क्या [पदार्थ] है। वाच्यविशेष को प्रतिपादन करने वाले वचन का नाम ही उक्ति है। उस [वचन] के वैचित्र्य मानने पर [उसके] वाच्यार्थ में वैचित्र्य क्यों नहीं होगा ? वाच्य और वाचक की तो अविनाभाव सम्बन्ध से प्रवृत्ति होती है। [इसलिए वाचक उक्ति में वैचित्र्य होने से वाच्य में भी वैचित्र्य होना आवश्यक है] काव्य में प्रतीत होने वाले वाच्यों का जो स्वरूप है वह [कवि के स्वयं अनुभूत] ग्राह्य विशेष [प्रत्यक्ष प्रमाण से कवि द्वारा स्वयं गृहीत सुखादि तथा उसके साधनादि] से अभिन्न रूप में ही प्रतीत होता है। [इसलिए केवल सामान्यमात्र के आश्रय से ही नहीं अपितु स्वयं अनुभूत विशेष के भी आश्रय से काव्य रचना होती है। अतएव उसमें अनन्तता होना अनिवार्य है।] इसलिए उक्तिवैचित्र्य मानने वाले को इच्छा न रहते हुए भी वाच्य का वैचित्र्य अवश्य ही मानना होगा।

अतएव इस विषय का सारांश यह हुआ कि :—

यदि वाल्मीकि के अतिरिक्त किसी एक भी कवि के पदार्थों में प्रतिभा [का सम्बन्ध] मानना अभीष्ट है तो वह आनन्त्य [सर्वत्र] अक्षय है।

---

१. वाच्यविशेषप्रतिपादनवचनम् नि०। २. वैचित्र्येण नि०। ३. ग्राह्य नि०। ४. प्रतिभानन्त्यं नि०।

किञ्च, उक्तिवैचित्र्यं यत्काव्यनवत्वे[1] निबन्धनमुच्यते तदस्मत्पक्षानुगुणमेव। यतो यावानयं काव्यार्थानन्त्यभेदहेतुः प्रकारः प्राग्दर्शितः स सर्व एव पुनरुक्तिवैचित्र्याद् द्विगुणतामापद्यते। यश्चायमुपमाश्लेषादिरलङ्कारवर्गः[2] प्रसिद्धः स भणितिवैचित्र्यादुपनिबध्यमानः स्वयमेवानवधिर्धत्ते पुनः शतशाखताम्। भणितिश्च [3]स्वभाषाभेदेन व्यवस्थिता सती प्रतिनियतभाषागोचरार्थवैचित्र्यनिबन्धनं पुनरपरं काव्यार्थानामानन्त्यमापादयति। यथा ममैव—

[4]महमह इति भणन्त उ वज्जदि कालो जणस्स।
तोइ ण देउ जणद्दण गोअरी भोदि मणसो॥
[मम मम इति भणतो व्रजति कालो जनस्य।
तथापि न देवो जनार्दनो गोचरीभवति मनसः॥ इतिच्छाया]

और उक्ति वैचित्र्य को जो काव्य में नवीनता लाने का हेतु कहते हैं वह तो हमारे पक्ष के अनुकूल ही है। क्योंकि काव्यार्थ के आनन्त्य के हेतु रूप में यह [अवस्था, काल देश आदि] जितने प्रकार पहिले दिखाए हैं वह सब उक्ति के वैचित्र्य से फिर द्विगुण [अनन्त] हो जाते हैं। और जो यह उपमा श्लेष आदि वाच्य अलङ्कार वर्ग प्रसिद्ध हैं वह स्वयं ही अपरिमित होने पर भी उक्ति वैचित्र्य से उपनिबद्ध हो कर फिर सैकड़ों शाखाओं से युक्त हो जाता है। और अपनी भाषाओं के भेद से व्यवस्थित [विभिन्न] उक्ति [भणिति] भी विशेष भाषा [प्रतिनियत, उस विशेष भाषा] विषयक अर्थों के वैचित्र्य के कारण काव्यार्थों में फिर और भी आनन्त्य उत्पन्न कर देती है। जैसे मेरा ही—

[यह] मेरा [वह] मेरा कहते-कहते ही मनुष्य [के जीवन] का [सारा] समय निकल जाता है परन्तु मन में जनार्दन भगवान् का साक्षात्कार नहीं हो पाता।

यहाँ प्रतिक्षण जनार्दन को मेरा-मेरा कहने वाले को भी जनार्दन प्रत्यक्ष नहीं होते यह विरोधच्छाया 'मह मह' इस सैन्धव भाषामयी भणिति से विचित्रता युक्त हो जाती है।

---

१. काव्यनवत्वेन नि०। २. अलङ्कारमार्गः नि०। ३. कथाभेदेन नि०। ४. बहुमह इत्ति भणिन्तउ वं ओई कलिजएस्स ते इएदे। ओ जाए दृणुओगो अरिमो तिमिणं......सा इत्थम्॥ नि० में यह पाठ दिया है और उसका छायानुवाद नहीं दिया है। नि०।

[1]इत्थं यथा यथा निरूप्यते तथा तथा न लक्ष्यतेऽन्तः काव्यार्थानाम् ॥७॥

इदन्तूच्यते,

अवस्थादिविभिन्नानां वाच्यानां विनिबन्धनम् ।

यत्प्रदर्शितं प्राक्,

भूम्नैव दृश्यते लक्ष्ये,

[2]न तच्छक्यमपोहितुम् ।

तत्तु भाति रसाश्रयात् ॥८॥

तदिदमत्र संक्षेपेणाभिधीयते सत्कवीनामुपदेशाय :—

रसभावादिसम्बद्धा यद्यौचित्यानुसारिणी ।
अन्वीयते वस्तुगतिर्देशकालादिभेदिनी ॥९॥

इस प्रकार जितना ही जितना [इस पर] विचार करते हैं उतना-उतना ही काव्यार्थों का अन्त नहीं मिलता है । [उतनी ही काव्यार्थ में अनन्तता प्रतीत होती है] ॥७॥

[अब] यह तो कहना है कि :—

अवस्था आदि के भेद से वाच्यार्थों की रचना,
जो पहिले [सातवीं कारिका में] कही जा चुकी है ।
काव्यों [लक्ष्य] में बहुतायत से दिखाई देती है,
उसका अपलाप नहीं किया जा सकता है ।
वह रस के आश्रय से [ही] शोभित होती है ॥८॥

इसलिए सत्कवियों [सत्कवि बनने के इच्छुक नवीन कवियों] के उपदेश के लिए इस विषय में संक्षेप से यह कहना है कि :—

यदि औचित्य के अनुसार रस, भाव आदि से सम्बद्ध और देशकाल आदि के भेद से युक्त वस्तु रचना का अनुसरण किया जाय ॥९॥

---

१. इत्थं पद नहीं है नि० । २. नि० संस्करण में 'भूम्नैव दृश्यते लक्ष्ये न तच्छक्यं व्यपोहितुम्' को कारिका के उत्तरार्द्ध का पाठ रखा है और 'तत्तु भाति रसाश्रयात्' को वृत्ति माना है ।

तत्का गणना कवीनामन्येषां परिमितशक्तीनाम् ।

वाचस्पतिसहस्राणां सहस्रैरपि यत्नतः ।

निबद्धापि क्षयं नैति प्रकृतिर्जगतामिव ॥१०॥

यथाहि जगत्प्रकृतिरतीतकल्पपरम्पराविर्भूतविचित्रवस्तुप्रपञ्चा सती पुनरिदानीं [1]परिक्षीणपरपदार्थनिर्माणशक्तिरिति न शक्यतेऽभिधातुम् । तद्वदेवेयं काव्यस्थितिरनन्ताभिः कविमतिभिरुपभुक्तापि नेदानीं परिहीयते प्रत्युत नवनवाभिर्व्युत्पत्तिभिः परिवर्धते ॥१०॥

इत्थं स्थितेऽपि,

सम्वादास्तु भवन्त्येव बाहुल्येन सुमेधसाम् ।

स्थितं ह्येतत् संवादिन्य[2] एव मेधाविनां बुद्धयः । किं तु,

नैकरूपतया सर्वे ते मन्तव्या विपश्चिता ॥११॥

तो परिमित शक्ति वाले अन्य [साधारण] कवियों की तो बात ही क्या,

वाचस्पति सहस्रों के सहस्र भी [हजारों लाखों बृहस्पति भी मिलकर] यत्नपूर्वक उसका वर्णन करें तो भी जगत् की प्रकृति [उपादान कारण] के समान उसकी समाप्ति नहीं हो सकती है।

जैसे विगत कल्प-कल्पान्तरों में विविध वस्तुमय प्रपञ्च की रचना करने वाली जगत् की प्रकृति [मूल कारण] होने पर भी अब अन्य पदार्थों के निर्माण में शक्तिहीन हो गई है, यह नहीं कहा जा सकता है। इसी प्रकार यह काव्य स्थिति, अनन्त [असंख्य] कवि बुद्धियों से उपभुक्त [वर्णित] होने पर भी इस समय शक्तिहीन नहीं है अपितु [उन कवियों के वर्णनों से] नयी-नयी व्युत्पत्ति [प्राप्त करने] से और वृद्धि को प्राप्त हो रही है ॥१०॥

ऐसा [देश काल अवस्था आदि भेद से आनन्त्य] होने पर भी,

प्रतिभाशालियो में सम्वाद [समान उक्तियां] तो बहुतायत से होते ही हैं।

यह तो सिद्ध ही है कि प्रतिभाशालियों की बुद्धियां एक दूसरी से मिलती हुई होती हैं।

परन्तु,

विद्वान् पुरुष उन सब [सम्वादों] को एक रूप न समझें ॥११॥

---

१. परिक्षीणपदार्थनिर्माणशक्तिरिति नि० । २. सम्वादिन्यो मेधाविनां नि० ।

कथमिति चेत्,

सम्वादो ह्यन्यसादृश्यं तत्पुनः प्रतिबिम्बवत् ।
आलेख्याकारवत्तुल्यदेहिवच्च शरीरिणाम् ॥१२॥

सम्वादो हि काव्यार्थस्योच्यते यदन्येन काव्यवस्तुना सादृश्यम् । तत्पुनः शरीरिणां प्रतिबिम्बवदालेख्याकारवत्तुल्यदेहिवच्च त्रिधा व्यवस्थितम् । किञ्चिद्धि काव्यवस्तु वस्त्वन्तरस्य शरीरिणः प्रतिबम्बकल्पम्, अन्यदालेख्यप्रख्यम्, अन्यत्तुल्येन शरीरिणा सदृशम् ॥१२॥

तत्र पूर्वमनन्यात्म तुच्छात्म तदनन्तरम् ।
तृतीयं तु प्रसिद्धात्म नान्यसाम्यं त्यजेत्कविः ॥१३॥

तत्र पूर्वं प्रतिबिम्बकल्पं काव्यवस्तु परिहर्तव्यं सुमतिना । यतस्तदनन्यात्म, तात्त्विकशरीरशून्यम् । तदनन्तरमालेख्यप्रख्यमन्यसाम्यं

क्यों [न समझे] यह [प्रश्न] हो तो [उत्तर यह है कि],

अन्य के साथ सादृश्य को ही सम्वाद कहते हैं । और वह [सादृश्य] प्राणियों के प्रतिबिम्ब के समान, चित्र के आकार के समान और दूसरे देह-धारी [प्राणी] के समान [तीन प्रकार का] होता है ।

दूसरी काव्य वस्तु के साथ काव्यार्थ का सादृश्य ही सम्वाद कहा जाता है । फिर वह [सादृश्य] प्राणियों के प्रतिबिम्ब के समान, अथवा चित्र-गत आकार के समान, और तुल्य देही के समान तीन प्रकार से होता है । कोई काव्य वस्तु, अन्य शरीरी [काव्य वस्तु] के प्रतिबिम्ब के सदृश [होती है], दूसरी चित्र के समान और तीसरी तुल्य देही के समान [दूसरी काव्य वस्तु के सदृश होती] है ॥१२॥

उनमें से पहिला [प्रतिबिम्बकल्प सादृश्य पूर्ववर्णित स्वरूप से भिन्न] अपने अलग स्वरूप से रहित है [अतः त्याज्य है] । उसके बाद का [दूसरा चित्राकारतुल्य सादृश्य] तुच्छ स्वरूप [होने से वह भी परित्याज्य] है । और तीसरा [तुल्यदेहिवत्] तो प्रसिद्ध स्वरूप है [अतः] अन्य वस्तु के साथ [इस तृतीय प्रकार के] साम्य को कवि परित्याग न करे ।

उन में से पहिले प्रतिबिम्ब रूप काव्य वस्तु को बुद्धिमान् को छोड़ देना चाहिए । क्योंकि वह अनन्यात्म अर्थात् तात्विक स्वरूप से रहित है । उसके बाद चित्र तुल्य साम्य, शरीरान्तर [स्वरूपान्तर] से [युक्त होने पर

शरीरान्तरयुक्तमपि तुच्छात्मत्वेन त्यक्तव्यम् । तृतीयन्तु [1]विभिन्न-कमनीयशरीरसद्भावे सति ससम्वादमपि काव्यवस्तु न त्यक्तव्यं कविना । न हि शरीरी शरीरिणान्येन सदृशोऽप्येक एवेति शक्यते वक्तुम् ॥१३॥

एतदेवोपपादयितुमुच्यते—

[2]आत्मनोऽन्यस्य सद्भावे पूर्वस्थित्यनुयाय्यपि ।
वस्तु भातितरां तन्व्याः शशिच्छायमिवाननम् ॥१४॥

तत्त्वस्य सारभूतस्यात्मनः सद्भावेऽप्यन्यस्य पूर्वस्थित्यनुयाय्यपि वस्तु भातितराम् । पुराणरमणीयच्छायानुगृहीतं हि वस्तु शरीरवत्परां शोभां पुष्यति । न तु पुनरुक्तत्वेनावभासते । तन्व्याः शशिच्छायमिवाननम् ॥१४॥

भी तुच्छ रूप होने से परित्याज्य ही है । [सदृश होने पर भी] भिन्न, [और] सुन्दर शरीर से युक्त तीसरे [प्रकार] की काव्य वस्तु अन्य से मिलती हुई होने पर भी कवि को नहीं छोड़नी चाहिए । एक देहधारी [मनुष्य या प्राणी] दूसरे देहधारी के समान होने पर भी एक [अभिन्न] ही है ऐसा नहीं कहा जा सकता है ॥१३॥

इसी का उपपादन करने के लिए कहते हैं :—

[प्रसिद्ध वाच्यादि से विलक्षण व्यङ्ग्य रसादि रूप] अन्य आत्मा के होने पर, पूर्व स्थिति [प्राचीन कविवर्णित पदार्थों] का अनुसरण करने वाली वस्तु भी चन्द्रमा की आभा से युक्त कामिनी के मुखमण्डल के समान अधिक शोभित होती है ।

सार [रसादि रूप व्यङ्ग्य] आत्मभूत अन्य तत्त्व के होने पर भी, पूर्व स्थिति का अनुसरण करने वाली [प्राचीन कवियों द्वारा वर्णित] वस्तु भी अधिक शोभित होती है । पुरातन रमणीय छाया से युक्त [अन्य कवियों द्वारा पूर्ववर्णित] वस्तु [तुल्य] शरीर के समान अत्यन्त शोभा को प्राप्त होती है । पुनरुक्त सी प्रतीत नहीं होती । जैसे शशी की [पुरातन रमणीय] छाया से युक्त कामिनी का मुखमण्डल [पुनरुक्त सा प्रतीत नहीं होता अपितु अत्यन्त] सुन्दर लगता है । [इसी प्रकार काव्य में भी समझना चाहिए] ॥१४॥

---

१. 'विभिन्न' पद नि० में नहीं है । २. तत्वस्यान्यस्य नि० ।

एवं तावत्सम्वादानां [1]समुदायरूपाणां वाक्यार्थानां विभक्ताः सीमानः। पदार्थरूपाणां च वस्त्वन्तरसदृशानां काव्यवस्तूनां नास्त्येव दोष इति प्रतिपादयितुमिदमुच्यते :—

अक्षरादिरचनेव योज्यते यत्र वस्तुरचना पुरातनी।
नूतने स्फुरति काव्यवस्तुनि व्यक्तमेव खलु सा न दुष्यति ॥१५॥

न हि वाचस्पतिनाप्यक्षराणि पदानि वा कानिचिदपूर्वाणि घटयितुं शक्यन्ते। तानि [2]तु तान्येवोपनिबद्धानि न काव्यादिषु नवतां विरुध्यन्ति। तथैव पदार्थरूपाणि श्लेषादिमयान्यर्थतत्त्वानि ॥१५॥

तस्मात् :—

इस प्रकार [अब तक] समुदाय रूप [अर्थात्] वाक्यों द्वारा प्रतिपादित सादृश्य युक्त [काव्यार्थों] की सीमा का विभाग किया गया। [अब आगे] अन्य [पुराने पदार्थ रूप] वस्तुओं से मिलती हुई 'पदार्थ रूप' काव्य वस्तुओं [की रचना] में कोई दोष है ही नहीं इसका प्रतिपादन करने के लिए कहते हैं :—

जहां [जिस काव्य में] नवीन स्फुरण होने वाले काव्यार्थ [काव्य वस्तु] में पुरानी [प्राचीन कवि निबद्ध कोई] वस्तु, अक्षर आदि [आदि पद से पद का ग्रहण] की [पुरातनी] रचना के समान निबद्ध की जाती है वह निश्चित रूप से दूषित नहीं होती यह स्पष्ट ही है।

[स्वयं] वाचस्पति भी नवीन अक्षर अथवा पदों की रचना नहीं कर सकते। और काव्य आदि में बार-बार उन्हीं-उन्हीं को उपनिबद्ध करने पर भी [जैसे वह] नवीनता के विरुद्ध नहीं होते, इसी प्रकार पदार्थ रूप या श्लेषादिमय अर्थ तत्त्व। [भी नवीन नहीं बनाए जा सकते हैं और अक्षरादि योजना के समान उनको उपनिबद्ध करने से नवीनता का विरोध नहीं होता। अर्थात् नवीनता आ ही जाती है] ॥१५॥

इसलिए :—

---

१. वाक्यवेदितानां काव्यार्थानां विभक्ताः सीमानः नि०। २. 'तु' नि० में नहीं है।

यदपि तदपि रम्यं यत्र लोकस्य किञ्चित्,
स्फुरितमिदमितीयं बुद्धिरभ्युज्जिहीते ।

[1]स्फुरणेयं काचिदिति सहृदयानां चमत्कृतिरुत्पद्यते :—

अनुगतमपि पूर्वच्छायया वस्तु तादृक्,
सुकविरुपनिबध्नन्निन्द्यतां नोपयाति ॥१६॥

जहां [जिस वस्तु के विषय में] लोगों [सहृदयों] को यह कोई नई सूझ [स्फुरणा] है इस प्रकार की अनुभूति होती है [नई या पुरानी] जो भी हो वही वस्तु रम्य [कहलाती] है ।

जिसके विषय में यह कोई नई सूझ [स्फुरणा] है इस प्रकार की चमत्कृति सहृदयों को उत्पन्न होती है :—

पूर्व [कवियों के वर्णन] की छाया से युक्त होने पर भी उस प्रकार की वस्तु का वर्णन करने वाला कवि निन्दनीयता को प्राप्त नहीं होता ।

---

१. इस कारिका के पूर्वार्द्ध और उत्तरार्द्ध के बीच में वृत्ति की एक पंक्ति जैसी कि हमने मूल पाठ में दी है बालप्रिया वाले संस्करण में पाई जाती है परन्तु दीधिति तथा नि० सा० संस्करण में नहीं पाई जाती । लोचनकार के 'इति कारिकां खण्डीकृत्य वृत्तौ पठिता' इस लेख के अनुसार दोनों भागों को अलग करने वाली यह पंक्ति बीच में होनी ही चाहिए । इसलिए हमने मूल पाठ में रखी है ।

इसी प्रकार इसी उद्योत की आठवीं कारिका के पूर्वार्द्ध के बाद, 'यत्प्रदर्शितं प्राक्' यह वृत्ति, तथा उत्तरार्द्ध के दोनों चरणों के बीच में 'न तच्छक्यं व्यपोहितु' यह वृत्ति ग्रन्थ हैं । अन्य संस्करणों में इस पाठ को अशुद्ध छापा है । इसी प्रकार ग्यारहवीं कारिका के पूर्वार्द्ध और उत्तरार्द्ध के बीच में भी गद्य भाग वृत्ति का है । सोलहवीं कारिका के अन्त की वृत्ति में भी दीधिति तथा नि० सा० संस्करण का पाठ जैसा कि टिप्पणी में दिखाया है, बहुत भिन्न है । इसी प्रकार अगली १७ कीं कारिका के बीच में भी एक पंक्ति वृत्ति रूप में है । यह सब बीच-बीच के वृत्ति भाग लोचन सम्मत होने से ही यहां मूल में रखे गए हैं ।

[1]तदनुगतमपि पूर्वच्छायया वस्तु तादृक् तादृक्त्वं सुकविविवक्षित-व्यङ्ग्यवाच्यार्थसमर्पणसमर्थशब्दरचनरूपया बन्धच्छाययोपनिबध्नन्निन्द्यतां नैव याति ॥१६॥

तदित्थं स्थितम्[2] :—

प्रतायन्तां वाचो निमितविविधार्थामृतरसा,
न सादः[3] कर्तव्यः कविभिरनवद्ये स्वविषये ।

सन्ति नवाः काव्यार्थाः, परोपनिबद्धार्थविरचने न कश्चित् कवेर्गुण इति भावयित्वा :—

परस्वादानेच्छाविरतमनसो वस्तु सुकवेः,
सरस्वत्येवैषा घटयति यथेष्टं भगवती ॥१७॥

परस्वादानेच्छाविरतमनसः सुकवेः सरस्वत्येषा भगवती यथेष्टं घटयति वस्तु । येषां सुकवीनां प्राक्तनपुण्याभ्यासपरिपाकवशेन प्रवृत्ति-

---

पूर्व [कवियों के वर्णित विषयों की] छाया से युक्त होने पर भी उस प्रकार की वस्तु को, जिसमें व्यङ्ग्य विवक्षित हो ऐसे वाच्यार्थ के समर्पण में समर्थ सन्निवेश रूप रचना सौष्ठव से उपनिबद्ध करने वाला कवि कभी निन्दा को प्राप्त नहीं होता ॥१६॥

इस प्रकार यह निर्णय हुआ कि :—

[कविगण] विविध अर्थों के अमृत रस से परिपूर्ण वाणियों का प्रसार करें । अपने [कल्पना से प्रसूत] विषय में कवियों को किसी प्रकार का संकोच या प्रमाद नहीं करना चाहिए ।

नवीन काव्यार्थ हैं, दूसरों के वर्णित अर्थों की रचना में कवि का कोई [प्रशंसा] लाभ नहीं होता ऐसा सोचकर :—

दूसरे के अर्थ को ग्रहण करने की इच्छा से रहित सुकवि के लिए सरस्वती देवी स्वयं ही यथेष्ट वस्तु उपस्थित कर देती है ।

दूसरे [कवि] के अर्थ को ग्रहण करने की इच्छा से विरत मन वाले

---

१. "यदपि तदपि रम्यं काव्यशरीरं यल्लोकस्य किञ्चित्स्फुरितमिदमितीयं बुद्धिरभ्युज्जिहीते स्फुरणेयं काचिदिति सहृदयानां चमत्कृतिरुत्पद्यते" इतना पाठ वाक्यारम्भ में अधिक है नि० । २. स्थिते नि० । ३. वादः नि० ।

स्तेषां परोपरचितार्थपरिग्रहनिःस्पृहाणां स्वव्यापारो न क्वचिदुपयुज्यते। सैव भगवती सरस्वती स्वयमभिमतमर्थमाविर्भावयति। एतदेव हि महाकवित्वं महाकवीनामित्योम्।

[1]इत्यक्लिष्टरसाश्रयोचितगुणालङ्कारशोभाभृतो[2],
यस्माद्वस्तु समीहितं सुकृतिभिः सर्वं समासाद्यते ॥
काव्याख्येऽखिलसौख्यधाम्नि विबुधोद्याने ध्वनिर्दर्शितः
सोऽयं कल्पतरूपमानमहिमा भोग्योऽस्तु भव्यात्मनाम् ॥

सुकवि के लिए यह भगवती सरस्वती यथेष्ट वस्तु सङ्घटित कर देती है। पूर्व जन्मों के पुण्य और अभ्यास के परिपाकवश जिन सुकवियों की [काव्य-निर्माण में] प्रवृत्ति होती है दूसरों के विरचित अर्थ ग्रहण में निःस्पृह उन [सुकवियों] को [काव्य-निर्माण में] अपना प्रयत्न करने की कोई आवश्यकता नहीं होती। वही भगवती सरस्वती अभिवाञ्छित अर्थ को स्वयं ही प्रकट कर देती है। यही महाकवियों का महाकवित्व [महत्व] है।

इत्योम्

—:o:—

यह 'इत्योम्' शब्द वृत्तिग्रन्थ की समाप्ति का सूचक प्रतीत होता है। अतः आगे के उपसंहारात्मक दोनों श्लोक कारिका ग्रन्थ के अंश समझने चाहिएं, परन्तु उनका अर्थ स्पष्ट होने से उन पर कोई वृत्ति लिखने की आवश्यकता न समझ कर ही वृत्ति नहीं लिखी गई है और वृत्ति-भाग को यहीं समाप्त कर दिया गया है। सभी संस्करणों में उनको वृत्तिभाग वाले टाइप में छापा है। उसी परम्परा के अनुसार हम भी उनको वृत्ति वाले टाइप में देरहे हैं। इन श्लोकों में ग्रन्थ के विषय, सम्बन्ध, प्रयोजन आदि का पुनः प्रदर्शन करते हुए ग्रन्थकार अपने ग्रन्थ की समाप्ति कर रहे हैं।

इस प्रकार सुन्दर [अक्लिष्ट] और रस के आश्रय से उचित गुण तथा अलङ्कारों की शोभा से युक्त जिस [ध्वनि रूप कल्पतरु] से सौभाग्यशाली कविजन मनोवाञ्छित सब वस्तुएं प्राप्त कर लेते हैं, सर्वानन्द परिपूरित विद्वज्जनों के काव्य नामक उद्यान में कल्प वृक्ष के समान महिमा वाला वह ध्वनि [हमने यहां] प्रदर्शित किया वह [सौभाग्यशाली] सहृदयों के लिए [भोग्य] आनन्ददायक हो।

१. नित्याक्लिष्ट नि०। २. शोभाहतो नि०।

सत्काव्यतत्त्वनयवर्त्मचिरप्रसुप्त-
कल्पं मनस्सु परिपक्वधियां यदासीत् ।
तद्व्याकरोत्सहृदयोदयलाभहेतो-
रानन्दवर्धन इति प्रथिताभिधानः ॥

इति श्रीराजानकानन्दवर्धनाचार्यविरचिते ध्वन्यालोके
चतुर्थ उद्योतः ॥

समाप्तोऽयं ग्रन्थः ॥

———

उत्तम काव्य [रचना] का तत्व और नीति का जो मार्ग परिपक्व बुद्धि वाले [सहृदय विद्वानों] के मनों में चिर काल से प्रसुप्त के समान [अव्यक्त रूप में] स्थित था, सहृदयों की अभिवृद्धि और लाभ के लिए, आनन्दवर्धन इस नाम से प्रसिद्ध मैंने उसको प्रकाशित किया ।

—:०:—

श्री राजानक आनन्दवर्धनाचार्यविरचित ध्वन्यालोक में
चतुर्थ उद्योत समाप्त हुआ ।

———

ग्रीष्मावकाशमासाभ्यां, द्विसहस्रेऽष्टकोत्तरे ॥
ध्वन्यालोकस्य व्याख्येयं, पूरितालोकदीपिका ॥

—:०:—

उत्तरप्रदेशस्थ 'पीलीभीत' मण्डलान्तर्गत 'मकतुल' ग्रामनिवासिनां
श्री शिवलालबख्शीमहोदयानां तनुजनुषा,
वृन्दावनस्थगुरुकुलविश्वविद्यालयाधीतविद्येन, तत्रत्याचार्यपदमधितिष्ठता,
एम० ए० इत्युपपदधारिणा, श्रीमदाचार्यविश्वेश्वरसिद्धान्तशिरोमणिना
विरचितायां 'आलोकदीपिकाख्यायां' हिन्दीव्याख्यायां
चतुर्थ उद्योतः समाप्तः ।

—:०:—

समाप्तश्चायं ग्रन्थः ।

परिशिष्ट १

(ध्वन्यालोक की कारिकाएँ सूची)

[अ]

१ अकाण्ड एव विच्छित्तिः २८६
२ अङ्गाश्रितास्त्वलङ्काराः १३०
३ अक्षरादिरचनेव योज्यते ४८७
४ अतिव्याप्तेरथाव्याप्तेः ८३
५ अतो ह्यन्यतमेनापि ४५५
६ अनुगतमपि पूर्वच्छायया ४८८
७ अनुस्वानोपमव्यङ्ग्यः १६०
८ अनुस्वानोपमात्मापि २६७
९ अनेनानन्त्यमायाति ४५४
१० अन्वीयते वस्तुगति ४८३
११ अपृथग्यत्ननिर्वर्त्यः १४५
१२ अर्थशक्तेरलङ्कारः १६०
१३ अर्थशक्त्युद्भवस्त्वन्यः १८०
१४ अर्थान्तरगतिः काक्वा ४०४
१५ अर्थान्तरे सङ्क्रमितं ९६
१६ अर्थोऽपि द्विविधो ज्ञेयः १८७
१७ अलङ्कारान्तरव्यङ्ग्य २०५
१८ अलङ्कारान्तरस्यापि १६१
१९ अलंकृतीनां शक्तावपि २५७
२० अलोकसामान्यमभिव्यनक्ति ४५
२१ अवधानातिशयवान् ३२८
२२ अवस्थादिविभिन्नानां ४८३
२३ अवस्थादेशकालादि ४७४
२४ अविरोधी विरोधी वा ३१६
२५ अविवक्षितवाच्यस्य ध्वनेः ९६
२६ अविवक्षितवाच्यस्य पदवाक्य २११
२७ अव्युत्पत्तेरशक्तेर्वा २०६
२८ अशक्नुवद्भिर्व्याकर्तुं ४४७
२९ असंलक्ष्यक्रमोद्योतः १०३
३० असमासा समासेन २२६
३१ अस्फुटस्फुरितं काव्यं ४४७

[आ]

३२ आक्षिप्त एवालङ्कारः १६३
३३ आत्मनोऽन्यस्य सद्भावे ४८६
३४ आनन्त्यमेव वाच्यस्य ४७४
३५ आलेख्याकारवत्तुल्य ४८५
३६ आलोकार्थी यथा दीप ५०

[इ]

३७ इतिवृत्तवशायातां २५७
३८ इत्यक्लिष्ट रसा० ४६०
३९ इत्युक्तलक्षणो यः ४४७

[उ]

४० उक्त्यन्तरेणाशक्यं यत् ८६
४१ उत्प्रेक्षयाप्यन्तराभीष्ट २५७
४२ उद्दीपनप्रशमने २५७

[ए]

४३ एकाश्रयत्वे निर्दोषः ३२३
४४ एको रसोऽङ्गीकर्तव्यः ३१२

४५ एतद्यथोक्तमौचित्यं २५४
४६ एवं ध्वनेः प्रभेदाः ४४७

[औ]

४७ औचित्यवान् यस्ता एताः ३३२

[क]

४८ कस्यचिद् ध्वनिभेदस्य ६४
४९ कार्यमेकं यथा व्यापि ३१३
५० काले च ग्रहणत्यागौ १५०
५१ काव्यप्रभेदाश्रयतः २४८
५२ काव्यस्यात्मा ध्वनिरिति बुधैः ५
५३ काव्यस्यात्मा स एवार्थः ४३
५४ काव्याख्येऽखिल ४६०
५५ काव्ये उभे ततोऽन्यत् ४१८
५६ काव्ये तस्मिन्नलङ्कारः ११६
५७ कृत्तद्धितसमासैश्च २७०
५८ केचिद् वाचां स्थितमविषये ५
५९ क्रमेण प्रतिभात्यात्मा १६२
६० क्रौञ्चद्वन्द्ववियोगोत्थः ४३

[ग]

६१ गुणानाश्रित्य तिष्ठन्ती २३१
६२ गुणप्रधानभावाभ्यां ४१८

[च]

६३ चारुत्वोत्कर्षतो व्यङ्ग्यः २०५
६४ चित्रं शब्दार्थभेदेन ४१८

[त]

६५ त एव तु निवेश्यन्ते २२५
६६ तत्परत्वं न वाच्यस्य १६१
६७ तत्र किञ्चिच्छब्दचित्रं ४१८
६८ तत्र पूर्वमनन्यात्म· ४८५
६९ तत्र वाच्यः प्रसिद्धो यः १८
७० तथा रसस्यापि विधौ ३१३
७१ तदस्यानुरणनरूप २११
७२ तदा तं दीपयन्त्येव २२५
७३ तथा दीर्घसमासेति २२६
७४ तदुपायतया तद्वत् ५०
७५ तद्वत्सचेतसां सोऽर्थः ५२
७६ तद्विरुद्धरसस्पर्शः ३२८
७७ तद्व्यक्तिहेतू शब्दार्थौ १३६
७८ तन्मयं काव्यमाश्रित्य १३०
७९ तद् व्याकरोत् सहृदय ४६१
८० तमर्थमवलम्बन्ते १३०
८१ तस्याङ्गानां प्रभेदा ये १४०
८२ तृतीयन्तु प्रसिद्धात्म ४८५
८३ तेऽलङ्काराः परां छायां २०४
८४ तेषामानन्त्यमन्योन्य १४०

[द]

८५ दिङ्मात्रं तूच्यते येन १४१
८६ दृष्टपूर्वा अपि ह्यर्थाः ४६१

[ध]

८७ धत्ते रसादितात्पर्यं ४०६
८८ ध्रुवं ध्वन्यङ्गता तासां २०४
८९ ध्वनेरस्य प्रबन्धेषु २६७
९० ध्वनेरात्माङ्गिभावेन १०४
९१ ध्वनेरित्थं गुणीभूत ४७३
९२ ध्वनेर्यः स गुणीभूत ४५४
९३ ध्वन्यात्मन्येव शृङ्गारे १३६
९४ ध्वन्यात्मभूते शृङ्गारे यमकादि १४२
९५ ध्वन्यात्मभूते शृङ्गारे समीक्ष्य १४६

[न]

९६ न काव्यार्थविरामोऽत्र ४७३
९७ न तु केवलया शास्त्र २५७

९८ निबद्धा सा क्षयं नैति ४८४
९९ निर्व्यूढावपि चाङ्गत्वे १५०
१०० निवर्तते हि रसयोः ३२६
१०१ नूतने स्फुरति काव्यवस्तुनि ४८७
१०२ नैकरूपतया सर्वे ४८४
१०३ नोपहन्त्यङ्गितां सोऽस्य ३१३

[प]

१०४ परस्वादानेच्छाविरतमनसः ४८९
१०५ परिपोषं गतस्यापि २८६
१०६ परिपोषं न नेतव्यः ३१६
१०७ प्रकारोऽन्यो गुणीभूत ३८६
१०८ प्रकारोऽयं गुणीभूत ४०६
१०९ प्रतायन्तां वाचो निमित ४८९
११० प्रतीयमानं पुनरन्यदेव १६
१११ प्रतीयमानच्छायैषा ४०३
११२ प्रधानगुणभावाभ्यां ४१८
११३ प्रधानेऽन्यत्र वाक्यार्थे ११६
११४ प्रबन्धस्य रसादीनां २५७
११५ प्रबन्धे मुक्तके वापि २८८
११६ प्रभेदस्यास्य विषयो ४०७
११७ प्रसन्नगम्भीरपदाः ३९२
११८ प्रसिद्धेऽपि प्रबन्धानां ३१२
११९ प्रायेणैव परां छायां ३९३
१२० प्रौढोक्तिमात्रनिष्पन्न १८७

[ब]

१२१ बहुधा व्याकृतः सोऽन्यैः १८
१२२ बाध्यानामङ्गभावं वा २६६
१२३ बुद्धिरासादितालोका १४१
१२४ बुद्धौ तत्त्वार्थदर्शिन्यां ५२

[भ]

१२५ भक्त्या बिभर्ति नैकत्वं ८१
१२६ भवेत्तस्मिन् प्रमादो हि ३२८
१२७ भूम्नैव दृश्यते लक्ष्ये ४८३

[म]

१२८ माधुर्यमार्द्रतां याति १३४
१२९ मितोऽप्यनन्ततां प्राप्तः ४५९
१३० मुख्यां वृत्तिं परित्यज्य ८७
१३१ मुख्या महाकविगिरां ४०३

[य]

१३२ यत्तत्प्रसिद्धावयवातिरिक्तं १६
१३३ यत्नः कार्यः सुमतिना २८८
१३४ यत्नतः प्रत्यभिज्ञेयौ ४७
१३५ यत्र प्रतीयमानोऽर्थः २०६
१३६ यत्र व्यङ्ग्यान्वये वाच्य ३८९
१३७ यत्रार्थः शब्दो वा तमर्थं ५३
१३८ यत्राविष्क्रियते स्वोक्त्या १८४
१३९ यथा पदार्थद्वारेण ५१
१४० यथा व्यापारनिष्पत्तौ ५२
१४१ यदपि तदपि रम्यं यत्र ४८८
१४२ यदुद्दिश्य फलं तत्र ८७
१४३ यद्व्यङ्ग्यस्याङ्गिभूतस्य २१०
१४४ यस्तात्पर्येण वस्त्वन्यद् १८०
१४५ यस्त्वलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यः २२४
१४६ यस्मिन्ननुक्तः शब्देन १६३
१४७ युक्त्याऽनयानुसर्तव्यः ४५९
१४८ ये च तेषु प्रकारोऽयं ३९२
१४९ योऽर्थः सहृदयश्लाघ्यः १७

[र]

१५० रचना विषयापेक्षं २५४
१५१ रसभावतदाभास १०४
१५२ रसबन्धोक्तमौचित्यं २५४
१५३ रसस्यारब्धविश्रान्तेः २५७

१५४ रसस्य स्याद् विरोधाय २८६
१५५ रसाक्षिप्ततया यस्य १४५
१५६ रसादिपरता यत्र ११८
१५७ रसादिमय एकस्मिन् ४६५
१५८ रसादिविषयेणैतत् ३३१
१५९ रसाद्यनुगुणत्वेन ३३२
१६० रसान् तन्नियमे हेतुः २३१-४३
१६१ रसान्तरव्यवधिना ३२३
१६२ रसान्तरसमावेशः ३१३
१६३ रसान्तरान्तरितयोः ३२६
१६४ रूढा ये विषयेऽन्यत्र ८६
१६५ रूपकादिरलङ्कारवर्गः १४९-१६१
१६६ रूपकादिरलङ्कारवर्गस्य १५०
१६७ रूपकादिरलङ्कारवर्गो १६१
१६८ रौद्रादयो रसा दीप्त्या १३६

[ल]

१६९ लक्षणेऽन्यैः कृते चास्य ६४
१७० लावण्याद्याः प्रयुक्तास्ते ८६

[व]

१७१ वस्तु भातितरां तन्व्याः ४८६
१७२ वाक्ये सङ्घटनायां च २२४
१७३ वाचकत्वाश्रयेणैव ६१
१७४ वाचस्पतिसहस्राणां ४८४
१७५ वाच्यप्रतीयमानाख्यौ १७
१७६ वाच्यवाचकचारुत्व ११८
१७७ वाच्यस्याङ्गतया वापि २०६
१७८ वाच्यानां वाचकानाञ्च ३३१
१७९ वाच्यार्थपूर्विका तद्वत् ५१
१८० वाच्यालङ्कारवर्गोऽयं ३६३
१८१ वाणी नवत्वमायाति ४५५
१८२ विज्ञायेत्थं रसादीनां ३३१
१८३ विधातव्या सहृदयैः ४०७
१८४ विधिः कथाशरीरस्य २५६
१८५ विनेयानुन्मुखीकर्तुं ३२८
१८६ विभावभावानुभाव २५६
१८७ विमतिविषयो य ३८८
१८८ विरुद्धैकाश्रयो यस्तु ३२१
१८९ विरोधमविरोधञ्च ३२७
१९० विरोधिनः स्युः शृङ्गारे २२५
१९१ विरोधिरससम्बन्धि २८९
१९२ विवक्षा तत्परत्वेन १५०
१९३ विवक्षिताभिधेयस्य १०३
१९४ विवक्षिते रसे लब्ध २९६
१९५ विशेषतस्तु शृङ्गारे ३२७
१९६ विषयं सुकविः काव्यं ३३१
१९७ विषयाश्रयमप्यन्यत् २४८
१९८ विस्तरेणान्वितस्यापि २८९
१९९ वृत्तयोऽपि प्रकाशन्ते ४४९
२०० वेद्यते स तु काव्यार्थ ४६
२०१ व्यङ्क्तः काव्यविशेषः सः ५३
२०२ व्यङ्ग्यव्यञ्जकभावेऽस्मिन् ४६५
२०३ व्यज्यन्ते वस्तुमात्रेण २०४
२०४ व्यञ्जकत्वैकमूलस्य ९१

[श]

२०५ शक्तावपि प्रमादित्वं १४२
२०६ शब्दतत्वाश्रयाः काश्चित् ४४९
२०७ शब्दस्य स च न ज्ञेयः २०९
२०८ शब्दार्थशक्तिमूलत्वात् १६२
२०९ शब्दार्थशक्त्याक्षिप्तोऽपि १८४
२१० शब्दार्थशासनज्ञान ४६
२११ शब्दो व्यञ्जकतां बिभ्रद् ८६
२१२ शरीरीकरणं येषां २०४

२१३ शषौ सरेफसंयोगौ २२५
२१४ शृङ्गारस्याङ्गिनो यत्नात् १४२
२१५ शृङ्गार एव मधुरः १३०
२१६ शृङ्गारे विप्रलम्भाख्ये १३४
२१७ श्रुतिदुष्टादयो दोषाः १३६

[स]

२१८ संख्यातु दिङ्मात्रं ४४७
२१९ संवादास्तु भवन्त्येव ४८४
२२० संवादो ह्यन्यसादृश्यं ४८५
२२१ स गुणीभूतव्यङ्ग्यैः ४२४
२२२ सङ्करसंसृष्टिभ्यां ४२४
२२३ सत्काव्यं कर्तुं वा ज्ञातुं ४४७
२२४ सत्काव्यतत्त्वनय० ४६१
२२५ सन्धिसन्ध्यङ्गघटनम् २५७
२२६ स प्रसादो गुणो ज्ञेयः १३८
२२७ समर्पकत्वं काव्यस्य १३८
२२८ सरस्वती स्वादु तदर्थवस्तु ४५
२२९ सर्वत्र गद्यबन्धेऽपि २५४
२३० सर्वे नवा इवाभान्ति ४६१
२३१ सर्वेष्वेव प्रभेदेषु १४३-२१०
२३२ स विभिन्नाश्रयः कार्यः ३२१
२३३ स सर्वो गम्यमानत्वं १६१
२३४ सा व्यङ्ग्यस्य गुणीभावे ४०४
२३५ सुप्तिङ्वचनसम्बन्धैः २७०
२३६ सोऽर्थस्तद्व्यक्तिसामर्थ्य ४७
२३७ स्वसामर्थ्यवशेनैव ५२
२३८ स्वेच्छाकेसरिणः स्वच्छ १

परिशिष्ट २

(ध्वन्यालोक की उदाहरणादि सूची)

[अ]

१ अंकुरितः पल्लवितः २०३
२ अज्जाए पहारो ८५
३ अण्णत्त वच्च २७६
४ अतहट्ठिएवि ४६०
५ अतिक्रान्तसुखाः कालाः २७३
६ अत्ता एत्थ [गाथा ७, ६७] २२
७ अत्रान्तरे कुसुमयुग १७१
८ अनध्यवसितावगाहन [धर्म०]४१४
९ अनवरतनयनजललव २३४
१० अनिष्टस्य ुतिर्यद्वत [परि०]२२३
११ अनुरागवती सन्ध्या ६०
१२ अनौचित्यादृते [आ०व] २५९
१३ अपारे काव्य [आ०व०] ४२२
१४ अमी ये दृश्यन्ते [आ० व०] ४१६
१५ अम्बा शेतेऽत्र वृद्धा १८६
१६ अयं स रशनोत्कर्षी [महा०] ३१०
१७ अयमेकपदे तया [विक्रमो०] २७६
१८ अवसर रोउ चिअ २७४
१९ अव्युत्पत्तिकृतो [परि०] २४१
२० अहिणअ पओअर ४४६
२१ अहो बतासि स्पृह०[कुमार०]२८०

[आ]

२२ आक्रन्दाः स्तनितैः १५९
२३ आम असइओ ओरम ४०५
२४ आहूतोऽपि सहायैः ६३

[इ]

२५ इत्यक्लिष्टरसा० [आ०व०] ४९०
२६ इत्युक्तलक्ष्यक्रमा एव ३३४

[ई]

२७ ईसाकलुसस्स वित २०१

[उ]

२८ उच्चिणसु पडिअ कुसुमं २०८
२९ उत्कम्पिनी भय० २२६
३० उद्दामोत्कलिकां [रत्ना०] १६४
३१ उन्नतः प्रोल्लसद्धारः १७१
३२ उपोढरागेण [पाणिनिः] ४६
३३ उप्पहजाआएँ असोहिनीएँ ४१७

[ए]

३४ एकन्तो रुअइ पिआ ३१६
३५ एमेअ जणो तिस्सा २१५
३६ एवंवादिनि [कु० सं०] १८१
३७ एहि गच्छ पतोत्तिष्ठ[व्यास] ३०४

[क]

३८ कण्ठाच्छित्वाक्षमाला ३१७
३९ कथाशरीरमुत्पाद्य [परि०] २६३
४० कपोले पत्राली १४६
४१ कमलाअराणं मलिआ २०७
४२ करिणी वेहव्वअरो ४६३
४३ कर्ता द्यूतच्छलानां [वेणीसं०]४३८
४४ कस्त्वं भोः कथयामि ४१७
४५ कः सन्नद्धे [मेघ०] २१२
४६ कस्स व ण होइ [गा०स०] २५
४७ काव्याध्वनि [संग्रहः] ४२४
४८ किमिव हि मधुराणां[शाकु०]२१२
४९ किं हास्येन न मे प्रयास्यसि १२०
५० कुविआओ पसन्नाओ ८४
५१ कृते वरकथालापे ४६२
५२ कोपात्कोमल [अमरु०] १६०-३०३
५३ क्रामन्त्यः क्षतकोमलाङ्ग लि ३११
५४ क्वाकार्यं शश०[विक्रमो०४] ३०१
५५ क्षिप्तो हस्तावलग्नः [अमरुक]१२१

[ख]

५६ खं येऽत्युज्ज्वलयन्ति १७९
५७ खणपाहुणिआ देअर ४३६

[ग]

५८ गअणं च मत्तमेहं[गौड़वहो] १०२
५९ गावो वः पावनानां ३४०

[च]

६० चक्राभिघातप्रसभाज्ञयैव १५२
६१ चञ्चद्भुजभ्रमित [वेणीसं०] १३६
६२ चन्दनासक्तभुजग २००
६३ चन्दमऊ एहि णिसा १६२
६४ चमहिअ माणस १६७
६५ चलापाङ्गां दृष्टिं [शाकु०] १५१
६६ चुम्बिज्जइ सअहुत्तं ८४
६७ चूअंकुरावअंसं [हरिविजय] २१६

[ज]

६८ जा एज्ज वणुद्देसे [गा०स०] १६६

[ण]

६९ ण अ ताण घडइ ओही ४७६

[त]

७० तं ताण सिरिसहो [वि०वा०]१६६
७१ तद्गेहं नतभित्ति २८४
७२ तन्वी मेघजलार्द्रं [विक्रमो०] १२६
७३ तत्परावेव शब्दार्थौ [परि०] ७३
७४ तमर्थमवलम्बन्ते [ध्वन्या०] २३५
७५ तरङ्गभ्रूभङ्गा [विक्रमो०] १२८
७६ तस्या विनापि हारेण १६५
७७ तां प्राङ्मुखीं तत्र [कु०सं०] ४७५
७८ ताला जाअन्ति गुणा [विषम]१००
७९ तालैः शिञ्जद्वलय [मेघ०] २७४
८० तत्तेषां श्रीसहोदर १६६
८१ तेषां गोपवधूविलाससुहृदां १२६
८२ त्रासाकुलः परिपतन् [माघ] २०१

[द]
८३ दत्तानन्दाः प्रजानां १७४
८४ दन्तक्षतानि करजैश्च ४४५
८५ दीर्घीकुर्वन् पटु मदकलं [मे०] ४४४
८६ दुराराधा राधा सुभग ४०९
८७ दृष्ट्या केशवगोपराग १७०
८८ दे आ परिअणिक्षसु २३
८९ देव्वा एतम्मि फले १६७
[ध]
९० धरणी धारणाया० [हर्ष] ४६१
[न]
९१ नानाभङ्गिभ्रमद्भ्रू० ४५६
९२ निद्राकैतविनः प्रियस्य ४५८
९३ नीवाराः शुक [शाकु०] २७८
९४ न च तेषां घटते ४७६
९५ नीरसस्तु प्रबन्धो यः [परि०] २९५
९६ नो कल्पापाय [सूर्य०] १५७
९७ न्यक्कारो ह्ययमेव मे [हनु०] २७१
[प]
९८ पत्युः शिरश्चन्द्र [कु०स०] ४०७
९९ पदानां स्मारकत्वेऽपि [परि०] २२३
१०० परार्थे यः पीड़ां [भ.श.] ८५-४१५
१०१ पाण्डुक्षामं वदनं २०३
१०२ परिम्लानं पीनस्तन [रत्ना०] ८३
१०३ प्रभामहत्या [कु० सं०] ४००
१०४ प्रभ्रश्यत्युत्तरीयत्विषि २७८
१०५ ॥तु जनैरर्थिजनस्य २१७
१०६ प्राप्तश्रीरेष कस्मात् १९३
१०७ प्रयच्छतोच्चैः कुसु० [माघ०] ४०८
१०८ प्रिये जने नास्ति पुनरुक्तम् ३६२
१०९ पूर्वे विशृङ्खलगिरः [परि०] २९५
[भ]
११० भगवान् वासुदेवश्च [महा०] ४६७
१११ भम धम्मिअ [गा०स०श०] २०
११२ भावानचेतनानपि चेतनवद् ४२२
११३ भूरेणुदिग्धान्नवपारिजात ३२६
११४ भ्रमिमरतिमलसहृदयतां १६७
[म]
११५ मनुष्यवृत्त्या समुपाचरन्तं २७६
११६ मन्दारकुसुमरेणुपिञ्जरित २३४
११७ मह मह इति भणन्त ४८२
११८ मा पन्थं रुन्धीओ [गा.स.श.] २७५
११९ मा निषाद प्रतिष्ठां [वा.रामा.] ४३
१२० मुख्या व्यापार [परि०] २९५
१२१ मुनिर्जयति योगीन्द्रो ४७१
१२२ मुहुरङ्गुलिसंवृता [शाकु०] २७७
[य]
१२३ यमकादिनिबन्धे तु [संग्रह] १४६
१२४ यः प्रथमः प्रथमः ४५७
१२५ यत्र च मातङ्ग [हर्ष०] १७६
१२६ यच्च कामसुखं लोके ३२५
१२७ यथा यथा विपर्येति ४६६
१२८ यद्वञ्चनाहितमति [सुभा०] २८२
१२९ यस्मिन्नस्ति न वस्तु [मनो०] ११
१३० यस्मिन् रसो वा [आ०व०] ४२४
१३१ या निशा सर्वभूतानां २१५
१३२ या व्यापारवती रसान् ४४३
१३३ ये जीवन्ति न मान्ति य २८१
१३४ येन ध्वस्तमनो० [चन्द्र०] १६४
१३५ यो यः शस्त्रं [वेणी०] १३७-२३४
[र]
१३६ रक्तस्त्वं नवपल्लवैः १५५
१३७ रम्या इति प्राप्तवतीः [माघ] २०२
१३८ रविसंक्रान्तसौभाग्य [वा०] १०१
१३९ रसभावादिविषय ४२१

१४० रसभावादितात्पर्यं [सं०] १२२
१४१ रसादिषु विवक्षा तु ४२१
१४२ रसवन्ति हि वस्तूनि [संग्रह] १४८
१४३ राजानमपि सेवन्ते ४११
१४४ रसाभासाङ्गभाव [संग्रह] १४६
१४५ रामेण प्रियजीवितेन तु २१४

[ल]

१४६ लच्छी दुहिदा जाआउओ ३१३
१४७ लावण्य कान्ति [जयवर्धन] १६४
१४८ लावण्यद्रविणव्ययो न ४१२
१४९ लावण्यसिन्धुरपरैव ३६०
१५० लीलाकमलपत्राणि [कु० सं०] ३५२

[व]

१५१ वच्च मह व्विअ [गा०] २३
१५२ वत्से मा गा विषादं १८५
१५३ वसन्तपुष्पाभरणं [कु० सं०] ४७५
१५४ वणिअअ हत्थिदन्ता २२०
१५५ वाणीर कुडङ्गोड्डीण २०७
१५६ वाल्मीकिव्यास [परि०] २६५
१५७ वाल्मीकिव्यतिरिक्तस्य ४८१
१५८ विच्छित्तिशोभि० [परि०] २२३
१५९ विमानपर्यङ्कतले निषण्णाः ३२६
१६० विसमइओ काणवि २१६
१६१ विस्रम्भोत्था मन्मथाज्ञा ४०३
१६२ वीराणं रमइ घुसिण १६५
१६३ वृत्तेऽस्मिन् महा [हर्ष] २१८
१६४ व्रीडायोगान्नत [शार्ङ्ग०प०] २२७
१६५ व्यङ्ग्यव्यञ्जक [परि०] ५५
१६६ व्यङ्ग्यस्य यत्रा [परि०] ७३
१६७ व्यङ्ग्यस्य प्रतिभा [परि०] ७३

[श]

१६८ शिखरिणि क्व नु नाम ७९
१६९ शून्यं वासगृहं [अम०] ४५९
१७० शेषो हिमगिरिस्त्वं [भामह] ४६१
१७१ शोकः श्लोकत्व [रामा०] ४६५
१७२ शृङ्गारी चेत् कविः काव्ये ४२२
१७३ श्यामास्वङ्गं चकित [मेघ०] १६०
१७४ श्लाघ्याशेषतनुं १६६

[स]

१७५ संवृत्याभिहितं [आ०व०] ४२४
१७६ संकेतकालमनसं १८३
१७७ सञ्जेइ सुरहिमासो १८८-२२०
१७८ सत्काव्यतत्त्वनय [आ०व०] ४६१
१७९ सत्यं मनोरमा रामाः ३३०
१८० सन्ति सिद्धरसप्रख्याः २६४
१८१ सप्तैताः समिधः [व्यास] ११२
१८२ समविसर्मणिव्विसेसा २८३
१८३ सर्वैकशरणमक्षयं १७८
१८४ सर्वोपमाद्रव्य [कु० सं०] ४७५
१८५ स वक्तुमखिलान् शक्तः १६७
१८६ सविभ्रमस्मितोद्भेदाः ४५६
१८७ सशोणितैः क्रव्यभुजां ३२६
१८८ स हरिर्नाम्ना देवः १५६
१८९ साअरविइण्णजोव्वण १८६
१९० सिज्जइ रोमाञ्चिज्जइ ४७२
१९१ सिहिपिच्छकण्णऊर १९०-२२१
१९२ सुरभिसमये प्रवृत्ते ४६२
१९३ सुवर्णपुष्पां पृथिवीं ७८
१९४ सैषा सर्वत्र वक्रोक्तिः [भामह] ३६४
१९५ स्निग्धश्यामल [महानाटक] ६६
१९६ स्मरनवनदी पूरेणोढा २२८
१९७ स्मितं किञ्चिन्मुग्धं ४५५
१९८ स्वतेजःक्रीतमहिमा ४५७
१९९ स्वस्था भवन्ति [वेणी०] ४०४

[ह]

२०० हंसानां निनदेषु ४७८
२०१ हिअअट्ठाविअमण्णुं १९८

